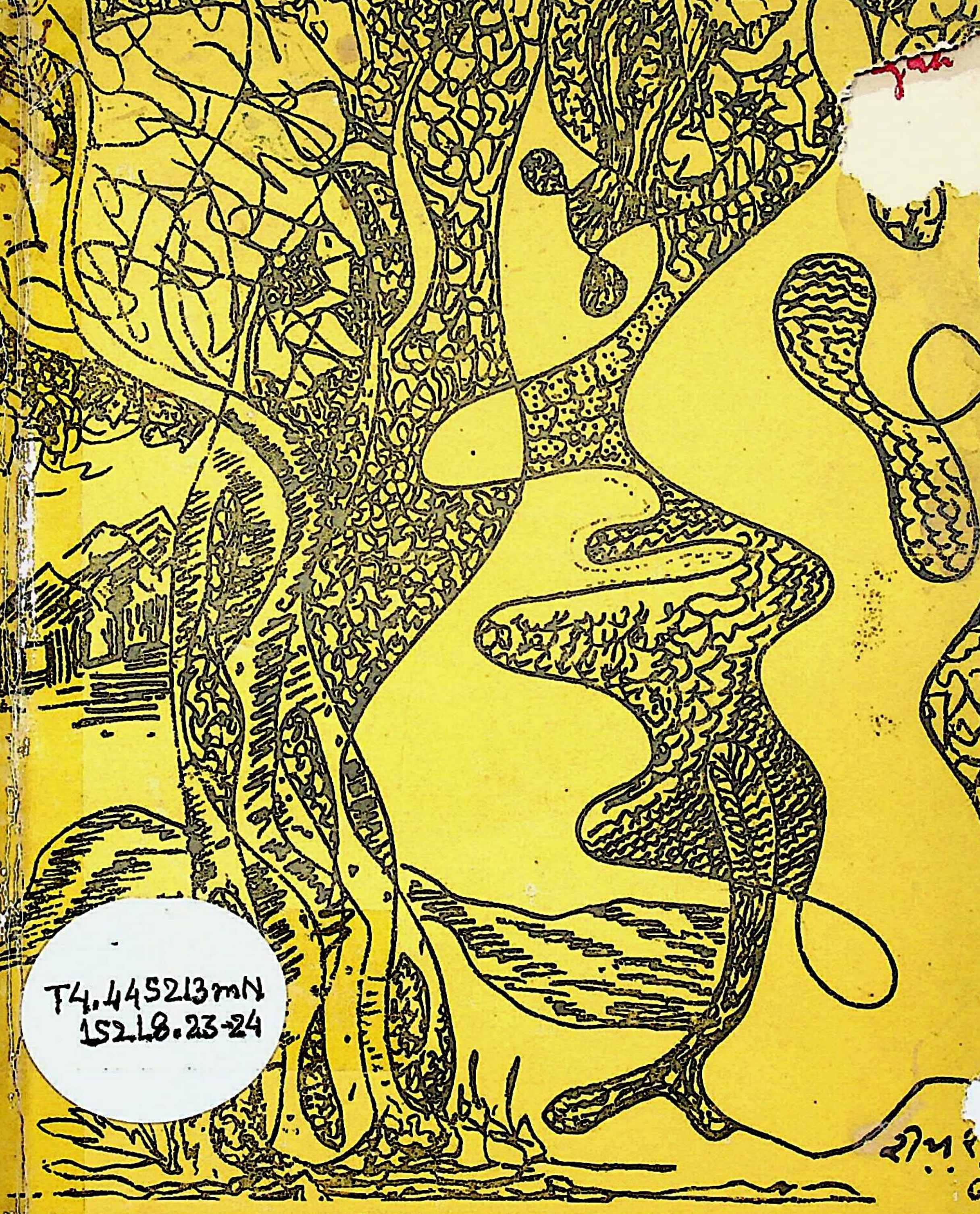


प्रज्ञा

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय पत्रिका

अंक २३ (भाग २) एवं २४ (भाग १) वर्ष—१९७८

नियम

(१) 'प्रज्ञा', जहाँ तक संभव होगा, वर्ष में दो बार प्रकाशित होगी : प्रथम अंक दीपावली के तुरन्त बाद और दूसरा अंक होली के पूर्व ।

(२) सभी प्रकार का शुल्क सह-संपादक, 'प्रज्ञा' काशी हिन्दू विश्वविद्यालय पत्रिका, वाराणसी–२२१००५ के नाम भेजें ।

(३) पत्रिका में प्रकाशनार्थ काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के छात्रों एवं अध्यापकों के लेख प्रथम अंक के लिए २० जुलाई तक और द्वितीय अंक के लिए २० नवम्बर तक संकाय सम्पादकों के पास तथा सम्पादक-मंडल के पास क्रम से ३० जुलाई और ३० नवम्बर तक पहुँच जाना चाहिए ।

(४) लेख फुलस्केप कागज़ पर एक तरफ टंकित होना चाहिए और सामान्यतः १० पृष्ठों से अधिक नहीं होना चाहिए । लेखकों को उनके लेख की रिप्रिन्ट्स की ५० प्रतियाँ दी जायेंगी ।

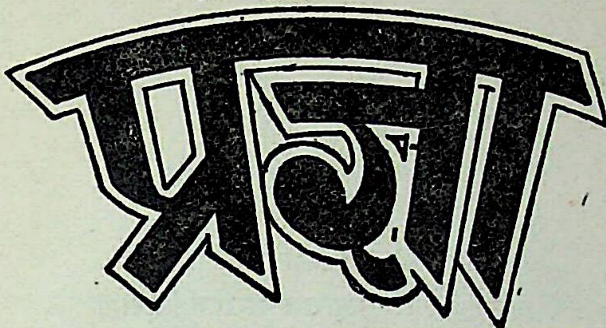
(1) The 'Prajñā', shall, so far as possible, be published twice a year: one issue immediately after the Dipawali, the other immediately before the Holi.

(2) All subscriptions should be sent to the Assistant Editor, "Prajñā", B. H. U. Journal, Varanasi–221005.

(3) ...ed for publication in this Journal by ...s should be submitted to the Faculty ...ly 20 for the first issue and November ...issue and should reach the Editorial ...0 and Nov. 30 respectively.

...rdinarily be type-written on foolscape ...ide only and should not ordinarily ...an 10 pages. Authors contributing ...to the Journal are entitled to receive ...is.

...का मूल्य—पचीस रुपए


प्रज्ञा

नियम

(१) 'प्रज्ञा', जहाँ तक संभव होगा, वर्ष में दो बार प्रकाशित होगी : प्रथम अंक दीपावली के तुरन्त बाद और दूसरा अंक होली के पूर्व ।

(२) सभी प्रकार का शुल्क सह-संपादक, 'प्रज्ञा' काशी हिन्दू विश्वविद्यालय पत्रिका, वाराणसी–२२१००५ के नाम भेजें ।

(३) पत्रिका में प्रकाशनार्थ काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के छात्रों एवं अध्यापकों के लेख प्रथम अंक के लिए २० जुलाई तक और द्वितीय अंक के लिए २० नवम्बर तक संकाय सम्पादकों के पास तथा सम्पादक-मंडल के पास क्रम से ३० जुलाई और ३० नवम्बर तक पहुँच जाना चाहिए ।

(४) लेख फुलस्केप कागज़ पर एक तरफ टंकित होना चाहिए और सामान्यतः १० पृष्ठों से अधिक नहीं होना चाहिए । लेखकों को उनके लेख की रिप्रिन्ट्स की ५० प्रतियाँ दी जायेंगी ।

(1) The 'Prajñā', shall, so far as possible, be published twice a year: one issue immediately after the Dipawali, the other immediately before the Holi.

(2) All subscriptions should be sent to the Assistant Editor, "Prajñā", B. H. U. Journal, Varanasi–221005.

(3) ...ed for publication in this Journal by ...s should be submitted to the Faculty ...ly 20 for the first issue and November ...issue and should reach the Editorial ...0 and Nov. 30 respectively.

(4) ...rdinarily be type-written on foolscape ...ide only and should not ordinarily ...an 10 pages. Authors contributing ...to the Journal are entitled to receive ...is.

...का मूल्य—पचीस रुपए



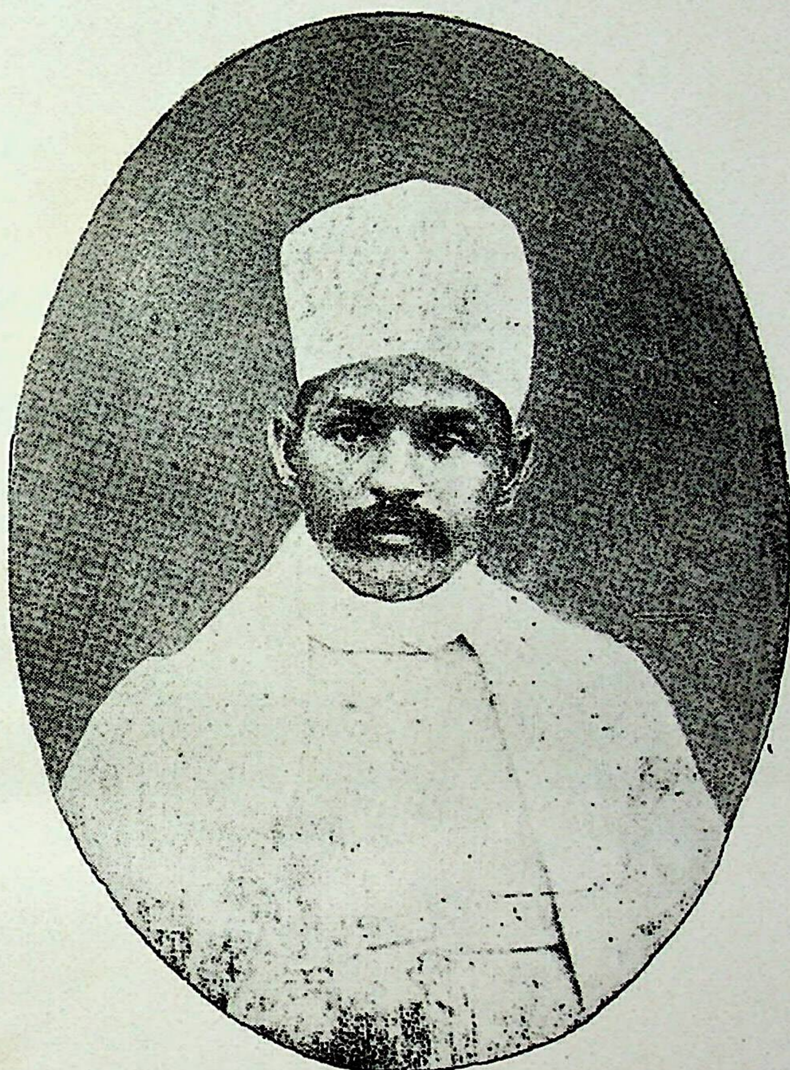
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय पत्रिका

अंक २३ (भाग २) एवं २४ भाग १

संयुक्तांक वर्ष १९७८

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्थापक

पूज्य महामना



हिताय सर्वलोकानां निग्रहाय च दुष्कृतां
धर्मसंस्थापनार्थाय प्रणम्य परमेश्वरम् ।
प्रसादाद्विश्वनाथस्य काश्यां भागीरथीतटे
विश्वविद्यालयः श्रेष्ठः हिन्दूनां मानवर्धनः ॥
हिन्दूराज्याधिपतिभिर्धनिकैर्धार्मिकैस्तथा
मिलित्वा स्थापितः सद्भिर्विद्याधर्मविवृद्धये ॥

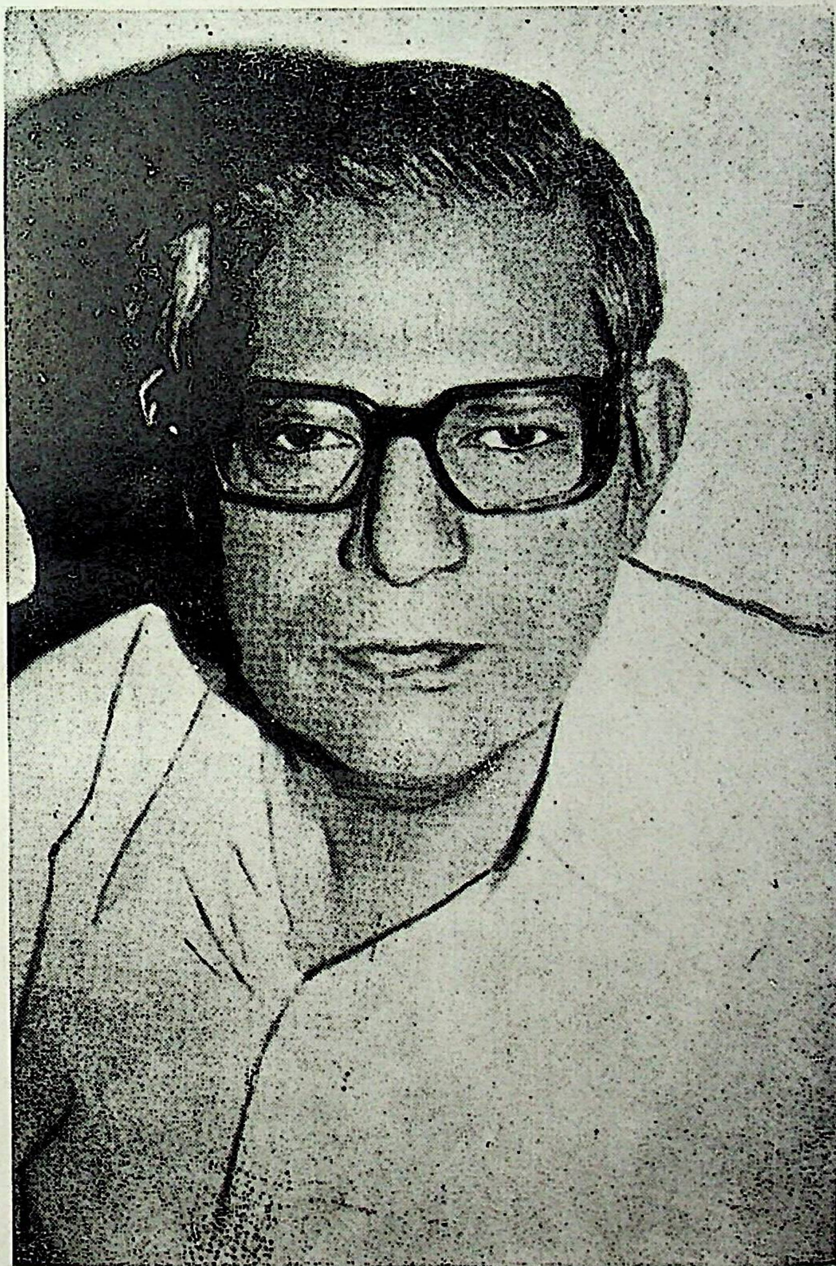
जन्म : वि० सं० १९१८ पौषकृष्ण ८ (२५-१२-१८६१)
मोक्ष : वि० सं० २००३ मार्गशीर्षकृष्ण ४ (१२-११-१९४६)

विषय-सूची

आवरण सज्जा-श्री रामचन्द्र शुक्ल

CONTENTS

हमारे कुलपति



डॉ० हरीनारायण



कुलपति
VICE-CHANCELLOR



काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी-२२१००५
Banaras Hindu University
VARANASI-221005

विश्वविद्यालय की पत्रिका 'प्रज्ञा' के दो विशेषांक 'मानस चतुश्शती' एवं हीरक जयंती को देखने का सुयोग मिला। भारत की दो विशिष्ट विभूतियों - महाकवि तुलसीदास एवं महामना पण्डित मदन मोहन जी मालवीय, जिनकी साधना-भूमि काशी रही है- के कृतित्व की महत्ता को 'प्रज्ञा' के ये विशेषांक विभिन्न दृष्टियों से उद्घाटित करते हैं। इतिहास वर्तमान को सही रूप में देखने-समझने की दृष्टि देता है। 'प्रज्ञा' के ये दोनों विशेषांक भारत के सांस्कृतिक इतिहास के महत्व अध्याय का उद्घाटन करते हैं, यह देखकर मन प्रीत हुआ। मध्यकालीन भारत के अंधकार को तोड़ने और प्रेरणा-रिक्त भारतीय मानस मे सांस्कृतिक चेतना-प्रेरणा जगाने में महात्मा तुलसीदास की वाणी कितनी सहायक सिद्ध हुयी और महामना मालवीय जी की रचना काशी हिन्दू विश्वविद्यालय ने अपने छः दशक के जीवन में कितनी पीढ़ियों का विद्या-संस्कार किया, इसके प्रांगण से विद्या-सम्पन्न होकर कितनी विभूतियां निकलीं और अपने विद्या-वैभव से भारतीय विद्या को विभिन्न दिशाओं से समृद्ध किया, 'प्रज्ञा' के विगत दोनों विशेषांक इस उपलब्धि का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। भविष्य मे भी समय-समय पर विश्वविद्यालयीय गौरव की प्रतीक इस पत्रिका द्वारा ऐसे विशेषांकों का प्रकाशन होता रहेगा, ऐसा विश्वास है।

'प्रज्ञा' विश्वविद्यालय के विद्या-साधकों की मनीषा का आत्मीय प्रकाशन माध्यम है। इसकी बहुविध उन्नति की मैं हार्दिक कामना करता हूं। विश्वविद्यालय के छात्रों, प्राध्यापकों और आचार्यों के लेखन-प्रोत्साहन में 'प्रज्ञा' की भूमिका विधायक सिद्ध हो, इसकी यात्रा उन्नयनशील हो, यही मेरी मनः कामना है।

हरी नारायण
(हरीनारायण)
कुलपति



बीसवीं शताब्दी के कलात्मक परिवर्तनों एवं आवश्यकताओं के परिप्रेक्ष्य में संगीत शिक्षण की स्थिति

डा० लाल मणि मिश्र

प्रोफ़ेसर आफ म्युजिक एवं वाद्य संगीत विभागाध्यक्ष,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,

संसार के प्रत्येक कोने में मानव सभ्यता के प्रारम्भ से ही संगीत आनन्द का श्रोत एवं मनोरंजन का साधन माना जाता रहा है। भारत में संगीत को पूजा का एक सशक्त माध्यम माना गया है। वैदिक काल में यज्ञों में इसका प्रयोग आवश्यक रूप से होता था इसलिए इसका महत्व भी बहुत अधिक था। बाद में साधारण वर्ग के लिए गांधर्व वेद की विधि प्रचार में आई जिसके जानकार बाल्मीकि, तुंबरू याज्ञवल्क्य, नारद, भरत जैसे श्रेष्ठ महात्मा, संत और भर्तृहरि, अर्जुन, विक्रमादित्य, समुद्रगुप्त, नान्य देव, सोमेश्वर, मानसिंह तोमर, महाराणा कुम्भा, मुहम्मद शाह रंगीले आदि जैसे राजा-महाराजा थे। संगीत भारतीय समाज में सदा ऊँचे स्थान पर रहा है। भारत के अतिरिक्त संसार में ऐसा और कोई दूसरा देश नहीं है जहाँ बहुत से देवी-देवता संगीत से किसी न किसी तरह सम्बन्धित हैं। भगवान शंकर डमरू वादन एवं नृत्य कला में प्रवीण और भारतीय संगीत के पाँच प्रमुख रागों के आविष्कारक हैं। छठे राग की निर्मात्री देवी पार्वती हैं, देवी सरस्वती वीणा और भगवान श्रीकृष्ण बाँसुरी वादन के कुशल चितेरे माने जाते हैं। भारतीयों के धार्मिक एवं सामाजिक जीवन का संगीत बहुत पहले से ही एक अंग बन चुका था इसलिए प्राचीन समय में भारतीय संगीत का स्वर सप्तक अधिक वैज्ञानिक, मधुर एवं आकर्षक हो सका। वैदिक काल में 'वाण' नामक शत-तंत्री वाद्य प्रचलित था, बाद में भारत में ही एक ही तार से एक से अधिक स्वरों को उत्पन्न करने की संभावना पर खोज की गई थी। यह संसार के संगीत वाद्यों के इतिहास में बहुत बड़ी क्रान्ति थी। भारत ऐसा प्रथम देश था जब उसने ७वीं शती के लगभग संगीत-वाद्यों में पर्दों का प्रयोग किया। इन वृहद उपलब्धियों का कारण व्यावसायिक संगीतकार ही नहीं अपितु बड़े-बड़े ऋषि-मुनि एवं राजाओं द्वारा संगीत की समुचित शिक्षा प्राप्त करना एवं नियमित अभ्यास था। उस समय भी शिक्षा का प्रबध संस्थागत रूप मे था। सातवीं शती ईशा पूर्व नारदीय शिक्षा के समय सामगान एक हजार विधियों से होता था। भरत के समय बहुत से दूसरे वाद्यों के अतिरिक्त १०० प्रकार के ताल वाद्य थे।

'भर्तृहरि शतक' में लिखा है कि "जो आदमी साहित्य-संगीत-कला से विहीन ह जिसके न तो पूँछ है और न ही सींग। यथा—

"साहित्य-संगीत-कला विहीनः
साक्षात् पशु पुच्छ विषाण हीनः।"

बिना नर्तक हुये या बिना नृत्य शिक्षा प्राप्त किये अर्जुन कैसे एक साल तक राजा विराट की लड़की को नृत्य शिक्षा देते रहे। महाभारत में यह स्पष्ट रूप से द्रष्टव्य है कि धनी परिवार के बालक-बालिकाओं को संगीत शिक्षा के लिये संगीत विद्यालयों में जाना पड़ता था और प्रत्येक वर्ष राज्य एवं अंतर्राज्य संगीत प्रतियोगितायें हुआ करती थीं जिसमें 'कलाकार' रूप में उनकी मान्यता के साथ पुरस्कार वितरित किये जाते थे।

पृथ्वीराज चौहान के राज्यकाल में विदेशियों के आक्रमणों से भारतीय संगीत की गौरवशाली परम्परा धीरे-धीरे समाप्त हो चली थी। भरत के समय वृन्दावान अपने चरमोत्कर्ष पर था किन्तु धीरे-धीरे वह भी समाप्त हो गया। १० वीं शती के बाद पूर्व देश में कुछ राजनीतिक कारणों से संस्कृत शिक्षा को आगे बढ़ने का अवसर न मिल सका इसी समय संगीत के विद्यालय भी बंद कर दिये गये परन्तु संगीत शिक्षा पिता-पुत्र एवं गुरू-शिष्य परम्परा में चलती रही। मानसिंह तोमर के समय शास्त्रीय संगीत विद्यालय पुनः प्रारम्भ हुआ जो किसी न किसी रूप में अकबर के शासन काल तक चलता रहा किन्तु राज्य की कुछ अनिश्चित राजनीतिक गतिविधियों के कारण इसे भी बन्द कर देना पड़ा। पिछले ४०० वर्षों से संगीत व्यक्तिगत शिक्षा पर ही आश्रित रहा है। बहुत से हिन्दू संगीतज्ञों ने इस्लाम धर्म स्वीकार कर 'उस्ताद' की पदवी ग्रहण की। मध्य भारत में ऐसे 'उस्ताद' संगीत की शिक्षा केवल अपने पुत्र को देते थे। पुत्र न रहने पर ही अपने निकट संबंधी को सिखाया जाता था। परिवार के बाहर का कोई व्यक्ति लगन से उस्ताद की नौकर के समान सेवा करके भी संगीत सीख नहीं पाता था। और इसी कारण बहुत से उस्ताद अपना ज्ञान दूसरों को दिये बिना ही संसार छोड़ गये। यह स्थिति १८ वीं शती तक बराबर बनी रही जब तक कि कुछ धनी प्रतिभाशाली व्यक्ति संगीतज्ञ के रूप में उभर कर ऊपर नहीं आ गये। किन्तु, फिर भी कला साधारण वर्ग की पहुंच से बहुत दूर ही रही।

सौभाग्य से कुछ हिन्दू संगीतकारों ने अपने प्रतिभाशाली छात्रों को इस क्षेत्र में उत्साहित किया और उन्हें शिक्षा प्रदान की।

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से संगीत की स्थिति में परिवर्तन आया। सन् १९०१ में स्व० पं० विष्णु दिगम्बर पलुस्कर ने लाहौर में गांधर्व महाविद्यालय प्रारम्भ किया। सन् १९१६ में बड़ौदा में हुये संगीत सम्मेलन में स्व० पं० विष्णु नारायण भातखंडे ने विश्वविद्यालयों में संगीत शिक्षा प्रारम्भ करने के लिये जोर दिया।

भारत के आजाद होने के पहले कुछ विश्वविद्यालयों ने अपनी परीक्षाओं के लिये संगीत को एक विषय के रूप में रखने का प्रयत्न किया था किन्तु उनमें संगीत की उच्च शिक्षा सन् ५० तक उपलब्ध नहीं हो सकी क्योंकि प्रायः सभी विश्वविद्यालयों में संगीत की शिक्षा केवल रूचि उत्पन्न करने के उद्देश्य से ही रखी गयी थी।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, गुरू-शिष्य परम्परा में उस्तादों का रवैया दूसरों के लिये अत्यंत संकुचित रहा है। इस पद्धति का दूसरा दोष यह था कि संगीत के 'शास्त्रपक्ष' (Theory) को कोई महत्ता नहीं दी जाती थी। इसीलिये संगीतकार स्वयं सीखी हुई अपनी कला को समझाने में अक्षम ही रहता था।

बहुत कम ऐसे राज्य थे जहाँ संगीत के प्रसिद्ध उस्ताद आश्रय पाते थे और वे भी सबके लिये उपलब्ध नहीं थे। बींसवीं शती में संगीत दरबारों की चहार दीवारी से निकल कर जनता की वस्तु बन गया है। समाज के प्रत्येक स्तर के प्रतिभाशाली लड़के-लड़कियाँ संगीत सीखना चाहते हैं और इसे अपनी जीविका का महत्वपूर्ण साधन बनाना चाहते हैं। परन्तु, दुर्भाग्य से देश में अब भी बहुत कम अच्छे संगीत शिक्षक होने के कारण ये लोग उचित शिक्षा प्राप्त करने से वंचित रह जाते हैं। यत्र-तत्र जहाँ संगीत के अच्छे केन्द्र हैं और अच्छे शिक्षक उपलब्ध हैं वहाँ संस्थागत संगीत शिक्षा, गुरू-शिष्य परम्परा के अनुसार प्रभावशाली बनाई जा रही है।

संगीत की उच्च शिक्षा संसार के सभी उन्नतिशील देशों में व्यक्तिगत रूप से संस्थाओं के माध्यम से दी जाती है। यदि किसी संस्था में प्रत्येक विद्यार्थी को व्यक्तिगत रूप से एवं उदार विचारों से शिक्षा दी जाये तो मैं निश्चित रूप से कह सकता हूँ कि उसका स्तर गुरू-शिष्य पद्धति से कहीं बेहतर होगा, परन्तु एक अच्छे कलाकार के गुणों एवं उसके स्तर को आत्मसात् करना प्रत्येक विद्यार्थी के लिए तभी संभव होगा जब संगीत संस्थाओं एवं विश्वविद्यालयों में भारतीय संगीत शिक्षण की नई विधि लागू की जाये।

जैसा कि सभी जानते हैं भारतीय संगीत संसार के किसी भी देश के संगीत से भिन्न है —राग और ताल में, स्वर समूहों की रचना म, स्वरों के लगाव में, गमक के प्रयोग में, समय के बन्धन में दूसरे देशों की अपेक्षा भारतीय संगीत में बहुत अंतर है। इस कारण भारत में संगीत शिक्षण की विधि दूसरे देशों की अपेक्षा आवश्यकतानुसार भिन्न होगी।

अनेक संगीतकारों के द्वारा व्यक्तिगत रूप से एवं संगीत संस्थाओं के माध्यम से, संगीत की उन्नति हेतु संगीत शिक्षण की नई विधियों का प्रयोग किया जा रहा है, जिसमें वैज्ञानिक उपकरणों—रेकार्ड्स, टेपरेकार्ड्स, पुस्तकालय, फोटोग्राफ्स, (स्टिल एण्ड मूवी), सेमीनार के आयोजन आदि की सहायता से संगीत शिक्षण विधि अधिक उपयोगी बनाई जा रही है।

इस समय देश के लगभग ४० विश्वविद्यालयों में भारतीय संगीत की शिक्षा दी जा रही है इनमें से लगभग १० विश्वविद्यालयों में स्नातकोत्तर संगीत शिक्षा की भी व्यवस्था है। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, खैरागढ़ संगीत विश्वविद्यालय में संगीत के क्षेत्र में शोध कार्य भी हो रहे हैं। संगीत एवं ललित कला संकाय काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से उच्च स्तर के कलाकार भी निकल रहे हैं।

प्राप्त आँकड़ों से पता चलता है कि पिछले २५ वर्षों में साधारण जनता में संगीत के प्रति आकर्षण में वृद्धि हुई है। हमारे आज के छोटे बच्चों में संगीत के प्रति माता-पिता की अपेक्षा कहीं अधिक लगाव है परन्तु अभी भी इस वृहद् देश में हमें संगीत के लिये बहुत कुछ करना है और वह तब तक संभव नहीं जब तक हमारा समाज, हमारी सरकार, हमें अपना पूर्ण सहयोग प्रदान नहीं करते। पश्चिमी संगीत पूरे पश्चिमी राष्ट्रों का अपना संगीत है परन्तु भारतीय शास्त्रीय संगीत केवल भारतवासियों का ही है। अस्तु हमारा कर्तव्य है, जिम्मेदारी है कि हम अपने संगीत की सुरक्षा, प्रचार एवं प्रसार के लिये हर संभव उपाय करें।



मॉरिशस में विश्व-हिन्दी सम्मेलन

डा० विजयपाल सिंह

वरिष्ठ आचार्य हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

हिन्द महासागर की गोद में अवस्थित मॉरिशस भारत का ही प्रतिरूप प्रतीत होता है। भूसुन्दरी के इस कनक द्वीप को प्रकृति ने भी अपने सुरम्य हाथों से खूब सजाया और संवारा है। यहीं द्वितीय विश्व हिन्दी सम्मेलन विगत दिनों, २८ से ३० अगस्त १९७६ तक सम्पन्न हुआ। मैं भारत सरकार की ओर से इसमें सम्मिलित हुआ था। दिल्ली से बम्बई और बम्बई से मॉरिशस की ओर जब वायुयान उड़ा तो ऐसा लगा कि मैं अपने देश से अपने देश में ही जा रहा हूँ। सम्पूर्ण वातावरण हिन्दीमय था। मॉरिशस के हवाई अड्डे से जाते समय मार्ग में भारतीय मूल के लोगों की कर्मनिष्ठा मूर्त रूप में देखने को मिली। रास्ते में गन्नें, चाय, केले आदि के पौधे, स्कूल से पढ़कर आते लड़के, भारतीय मूल के नर-नारी, बरामदे में चटाई पर बैठकर ताश खेलते हुए लोग, कहीं-कहीं सिर पर घूँघट डाले महिलाएँ तथा साथ ही कोट-पैंट एवं भारतीय वेशभूषा में सजे मॉरिशस भाई अपने ही देश की याद दिला रहे थे। मार्ग की सजावट को देखकर ऐसा लग रहा था मानो हिन्दी को अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर आसीन करने के लिए सजाया-संवारा गया है।

यह सम्मेलन मॉरिशस की जनता के लिए एक महान् पर्व के सदृश था। मॉरिशस में सबसे अधिक बोली और समझी जाने वाली भाषा हिन्दी ही है। लेकिन जैसे फिजी की संसद में हिन्दी में अपने विचार व्यक्त किये जा सकते हैं, उस तरह मॉरिशस की विधानसभा में अभी हिन्दी को वह स्थान सुलभ नही हुआ है। अतः हिन्दी को विश्वभाषा के रूप में प्रस्तुत होते हुए देख कर मॉरिशसवासी फूले न समाए। बीस-बीस हजार लोगों ने इस सम्मेलन में प्रतिनिधियों के भाषण सुने। २८ अगस्त को मॉरिशस के प्रधानमन्त्री सर डॉ० शिवसागर रामगुलाम नें सम्मेलन का उद्घाटन करते हुए हिन्दी को विश्व-भाषा के रूप में सम्बोधित किया। सम्मेलन की अध्यक्षता करते हुए भारत के स्वास्थ्य और परिवार नियोजन मन्त्री माननीय डा० कर्णसिंह, जो भारतीय प्रतिनिधि मण्डल के नेता भी थे, ने अपने उद्गार व्यक्त करते हुए कहा कि मॉरिशस की भूमि हमारे पूर्वजों की तपोभूमि रही है। हमारे कर्मठ पूर्वजों ने अनेक कष्टों को झेल कर अद्भुत धैर्य, सहिष्णुता और गरिमा के साथ मॉरिशस की धरती के भाल पर लगा "दंड भूमि" का कलंक साफ करके इसे विश्व के गण्यमान्य देशों की पंक्ति में लाकर खड़ा कर दिया है। डा० कर्णसिंह ने हिन्दी को विश्व-भाषा के रूप में स्मरण करते हुए कहा कि हिन्दी निश्चित ही अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर आसीन होगी।

भारत के अतिरिक्त इस द्वितीय विश्व हिन्दी सम्मेलन में अमेरिका, फ्रांस, इटली, इंग्लैंड, पूर्व जर्मनी, पश्चिमी जर्मनी, जापान, स्वीडेन, हंगरी, चैकोस्लोवाकिया, केनिया,

जांबिया, मलावी आदि देशों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। इन प्रतिनिधियों का सबसे वड़ा आकर्षण यह था कि ये बिना किसी दुभाषिए के वक्ताओं के भाषण सुन रहे थे।

तीन दिन का यह सम्मेलन चार गोष्ठियों में विभक्त था जिनके विषय थे – (१) हिन्दी का अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप, (२) जन संचार के माध्यम और हिन्दी, (२) स्वैच्छिक संस्थाओं की भूमिका और हिन्दी, (४) विभिन्न देशों में हिन्दी के पठन-पाठन की समस्याएँ। २८ अगस्त कों पहली गोष्ठी का संयोजन डा० धर्मवीर भारती ने किया। डा० भारती ने प्रतिनिधियों का आह्वान करते हुए कहा कि वे हिन्दी के अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप के निर्धारण में दिशा निर्देश करें। कई देशों के प्रतिनिधियों ने अपने-अपने विचार व्यक्त किये। प्रायः सभी वक्ताओं ने स्वीकार किया कि हिन्दी का विकास जनसामान्य की भाषा के रूप में हुआ है। जब उसे किताव अथवा मात्र कार्यालयों तक सीमित नहीं रखा जा सकता। दूसरे दिन श्री चन्दूलाल चन्द्राकर के संयोजकत्व में दूसरी गोष्ठी सम्पन्न हुई जिसमें "जन-संचार के माध्यम और हिन्दी" विषय पर विचार-विमर्श हुए। प्रायः ही वक्ताओं ने अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा कि जनसंचार के माध्यम अर्थात् समाचारपत्र, रेडियो, टेलि-विजन आदि मे यदि हिन्दी को स्थान दिया जाए तो हिन्दी की खूब श्रीवृद्धि होगी। हिन्दी फिल्मों ने तो हिन्दी भाषा को गैर हिन्दी क्षेत्रों में भी स्वीकृति दिलाई है। स्वैच्छिक संस्थाओं की भूमिका और हिन्दी से सम्वन्धित गोष्ठी में उक्त संस्थाओं का उल्लेख किया गया जिनमें भारत, फिजी, मॉरिशस, गुयाना, त्रिनिडाड आदि देशों की स्वैच्छिक संस्थाओं से रचनात्मक कार्य करने की कामना की गयी। चौथी गोष्ठी में हिन्दी के पठन-पाठन की समस्या पर विचार किया गया जिसमें पाया गया कि सही पाठ्य पुस्तकों का अभाव है। वक्ताओं का यह भी विचार था कि हिन्दी पाठन-कार्यक्रम को चलाने के लिए सही और आवश्यक वैज्ञानिक उपकरण उपलब्ध नहीं हैं। यह सुझाव दिया गया कि इसके विशेषज्ञों से विचार-विमर्श करके समस्या का समाधान करना चाहिए।

विश्व हिन्दी सम्मेलन की समाप्ति पर अनेक प्रस्ताव स्वीकार किये गये जिसके अन्तर्गत यह स्वीकार किया गया कि मॉरिशस में एक विश्व हिन्दी केन्द्र की स्थापना की जाए। यह केन्द्र विभिन्न देशों में हो रहे हिन्दी के कार्यों का संगठन करेगा। इस केन्द्र से एक अन्तर्राष्ट्रीय हिन्दी पत्रिका का भी प्रकाशन होगा। यह पत्रिका एक ऐसे वातावरण का निर्माण करेगी जिसमें प्रत्येक मनुष्य एक विश्व नागरिक के रूप मे रह सके। सम्मेलन का यह भी विचार था कि मॉरिशस के प्रधानमन्त्री माननीय डॉ० शिवसागर रामगुलाम, जिन्होंने सम्मेलन का उद्घाटन किया और जो द्वितीय विश्व हिन्दी सम्मेलन की राष्ट्रीय समिति के अध्यक्ष भी हैं, इस सन्दर्भ में मार्ग दर्शन करें। इसके साथ ही सम्मेलन की समाप्ति पर प्रस्तुत किये गये वक्तव्य में नागपुर में हुए प्रथम विश्व हिन्दी सम्मेलन के प्रस्तावों को दुहराया गया। इसकेअनुसार "वसुधैव कुटुम्वकम्" को अपना आदर्श स्वीकार करते हुए हिन्दी को प्रेम, शान्ति और सेवा की भाषा माना गया। यह भी कहा गया कि यह सम्मेलन किसी पर भी हिन्दी को लादना नहीं चाहता है, वह तो कामना करता है कि स्वेच्छा से अंगीकार करने पर ही हिन्दी की श्रीवृद्धि हो सकती है। इस सम्मेलन ने प्रथम विश्व हिन्दी सम्मेलन के

निर्णय, कि हिन्दी को संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्वीकृत भाषाओं में स्थान दिया जाए, का स्वागत किया तथा साथ ही इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए योजनाबद्ध कार्यक्रम बनाने की स्वीकृति भी प्रदान की। इस उद्देश्य की प्राप्ति के निमित्त एक विश्व हिन्दी विद्यापीठ की स्थापना के लिए भी निर्णय किया गया। यथासम्भव मैंने सभी कार्यक्रमों में भाग लिया।

सम्मेलन में भाग लेने के लिए आए प्रतिनिधियों का मॉरिशस वासियों ने भव्य स्वागत किया। उनके सांस्कृतिक कार्यक्रम बहुत ही सुन्दर एवं आकर्षक रहे। 'महात्मा गांधी संस्थान,' 'भारतीय कला केन्द्र,' 'त्रिवेणी,' 'युवा एवं क्रीडा मन्त्रालय' द्वारा प्रस्तुत सांस्कृतिक कार्यक्रम बड़ें ही मनोहारी लगे। ये कार्यक्रम बार-बार भारतभूमि की स्मृति ताजी कर दे रहे थे। ऐसा लग रहा था कि मॉरिशस की इन्द्रधनुषी धरती भारत का ही एक अंग हो। सम्मेलन समाप्त हो जाने के बाद भी मारिशस की विभिन्न संस्थाओं द्वारा स्वागत समारोह होते रहे जिनमें सहभोज एवं सांस्कृतिक कार्यक्रम के आयोजन होते थे। इन सारे आयोजनों को देखकर प्रतीत हो रहा था कि अपने देशवासी ही अपनी भाषा के स्वागत, सम्मान में लगे हुए हैं। यह भव्य सम्मान हिन्दी की गरिमा के अनुकूल ही था।

इस क्रम में मॉरिशस की प्राकृतिक शोभा के भी समुचित दर्शन हुए। प्रकृति ने अपनी गोद में हलरा दुलरा कर इस कनक-द्वीप को अनुपम सौन्दर्यशाली बनाया है। इसके सुरम्य सागर-तट बड़े ही लुभावने हैं। ये तट प्रायः निरापद भी हैं, क्योंकि समुद्र-तट मूंगे की चट्टानों से घिरा हुआ है जिससे प्रबल लहरों का वेग कम हो जाता है। हिन्द महासागर के वक्षस्थल पर अवस्थित यह द्वीप अपनी सुरम्य, सुन्दर प्रकृति के कारण हिन्द महासागर का मोती कहलाता है। कहा जाता है कि इसकी जलवायु भी बड़ी ही सुखद है। यदि द्वीप के एक छोर से दूसरे छोर की ओर जाएँ तो हमें ठंडा-गरम, नम-सूखा. सभी तरह की जलवायु देखने को मिलेगी। यहाँ किसी-न-किसी भाग में नित्य वर्षा होती है और आकाश इन्द्रधनुषी आभा से दीप्त रहता है।

मॉरिशस के दर्शनीय नगर, उद्यान, जलप्रपात भी बड़े ही आकर्षक लगे। उनकी अमिट छाप मेरे दिल और दिमाग में पड़ गयी है। पोर्ट लुई, वो बासें, रोज़ हिल, कात्र वोर्न, वाक्वा, क्यूपिप और माहेबर्ग मॉरिशस के प्रसिद्ध नगर हैं। पोर्ट लुई मॉरिशस की राजधानी है और यहाँ का सबसे बड़ा शहर भी है। यह मॉरिशस का बंदरगाह है। यहाँ म्यूज़ियम, पुस्तकालय, शां-दे-मार्स का मैदान, बौद्ध पेगोडा, गिरिजाघर, मन्दिर, मस्जिद आदि दर्शनीय स्थल हैं। पोर्ट लुई से दक्षिण बो बासें एक महत्वपूर्ण नगर है जहाँ एक टीचर्स ट्रेनिंग कालेज है जिसमें हिन्दी, उर्दू, तमिल, तेलगु और मराठी के प्रशिक्षण की व्यवस्था है। वो बासें से मिला हुआ रोज़ हिल एक सुन्दर शहर है। यहीं पास ही रेजवी नामक सुरम्य स्थान में गवर्नर जनरल का निवास स्थान है। वहीं मॉरिशस का विश्वविद्यालय भी है। यहाँ का महात्मा गांधी संस्थान विशेष रूप से देखने लायक है। रोज़ हिल से कुछ दूर दक्षिण की ओर कात्र बोर्न नामक एक छोटा शहर है जो अपने समशीतोष्ण जलवायु के लिए प्रसिद्ध है। अधिकांशतः भारतीय लोग यहीं रहना चाहते हैं।

वाक्वा नाम का शहर कात्र बोर्न से लगा हुआ है। यहाँ के कबीर मठ, रामकृष्ण मिशन आदि देखने योग्य हैं। यहीं भारतीय उच्चायुक्त का निवासस्थान इंडिया हाउस भी है। इस द्वीप का दूसरा बड़ा शहर क्यूर्पिप है जो वाक्वा से जुड़ा हुआ है। कभी यह गोरों की बस्ती थी। यहाँ फुटबाल का बड़ा स्टेडियम है। क्यूर्पिप मॉरिशस का सबसे ठंडा नगर है। इसके पास ही मृगकुंड नाम का एक ज्वालामुखी गर्त है जहाँ से आसपास का दृश्य बहुत ही सुन्दर दिखाई देता है। माहेबर्ग मॉरिशस का एक ऐतिहासिक नगर है जहां एक म्यूजियम है जिसमें इस द्वीप का इतिहास सुरक्षित है। उसमें प्रथम फ्रांसीसी गवर्नर की शैया है, पाल और विर्जनी की प्रेमगाथा की अलभ्य चित्रावली है, कुलियों द्वारा ढोई जाने वाली पालकी है जिसमें बैठकर सम्भ्रांत गोरे एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाते थे। यहाँ मॉरिशस में चलने वाली रेल का एक माडल है। अंग्रेजी की विजय स्वरूप टूटे फ्रांसीसी जहाजों के टुकड़े हैं।

मॉरिशस के उद्यान और प्रपात मन को लुभा लेते हैं। पोर्ट लुई से उत्तर पाम्प्लेमूस नाम का एक सुन्दर उद्यान है। उद्यान में नहर है जिसमें विचित्र कमल पुष्प खिले हुए थे जिसके पत्तों का आकार एक किनारेदार बड़ी थाली जैसा था। इसमें एक मृगदाव भी है। बीच में सुरम्य झील भी है। इसमें एक ऐसा वृक्ष भी है जो प्रति सौ वर्ष बाद फूलता है। इस वृक्ष का नाम तालीपो है। बो बासें में एक नदी के ऊँचे कगार पर स्थित बालफुर गार्डन्स नाम का एक छोटा-सा उद्यान है। बाग के नीचे बहती हुई नदी और उसमें गिरते हुए प्रपातों के दृश्य बहुत ही लुभावने हैं।

इन सबके अतिरिक्त मॉरिशस के हिन्दी केन्द्र विशेष रूप से आकर्षण के बिन्दु थे। यहाँ के प्रत्येक गाँव का बैठका ही हिन्दी-मन्दिर के रूप में जाना जाता है। हिन्दी भवन, स्वराज्य भवन, त्रिओले हिन्दी के गढ़ माने जाते हैं। हिन्दी भवन लोंग माउंटेन नामक गाँव में स्थित हिन्दी प्रचारिणी सभा का प्रमुख केन्द्र है। यह सभा हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग की परीक्षाओं का भी संचालन करती है। यह गाँव मॉरिशस के हिन्दी जगत में धारा नगरी के नाम से प्रसिद्ध है। लाल माटी में स्थित स्वराज्य भवन हिन्दी एवं हिन्दू संस्कृति तथा मारिशस की स्वतन्त्रता का मुख्य केन्द्र रहा है। त्रिओले नामक गाँव यहाँ का सबसे बड़ा गाँव है।

भारत की तरह मॉरिशस भी धर्म निरपेक्ष राष्ट्र है। यहाँ अधिकांशतः भारतीय मूल के लोग हैं। अतः हिन्दू मन्दिर काफी संख्या में हैं। यहाँ भी चित्रकूट नगरी, विश्वनाथ मन्दिर, महेश्वरनाथ मन्दिर, रामेश्वरनाथ मन्दिर आदि दर्शनीय हैं।

इस प्रकार सम्पूर्ण मॉरिशस ही दर्शनीय स्थल के रूप में है। उसकी प्रत्येक छवि मुझे बार-बार अपने यहाँ आने के लिए आमंत्रित करती है।

———

कालिदास और ईश्वरकृष्ण : भिन्न

प्रो० रेवाप्रसाद द्विवेदी

साहित्य विभागाध्यक्ष, प्राच्यविद्या एवं धर्मविज्ञान संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

'कालिदास : हिज़ आर्ट एण्ड थाट्स'[१]—ग्रन्थ में डॉ० माइनकर ने कालिदास और सांख्यकारिका के रचयिता ईश्वरकृष्ण को अभिन्न माना है और 'सांख्यकारिका' को भी कालिदास की कृति स्वीकार किया है।

(१)

उनकी यह मान्यता निम्नलिखित तथ्यों पर निर्भर है :—

१. परम्परा : (क) ईशा की १८वीं शती में उत्तर रामचरित की टीका में घनश्याम में निम्नलिखित पद्य उद्धृत किये हैं और उन्हें ईश्वरकृष्ण रचित कहा है—

(१) गङ्गाप्रपातान्तविरूढशष्यम्० ।[२]
(२) शैत्यं हि यत् सा प्रकृतिर्जलस्य० ।[३]
(३) तस्मिन् विप्रकृताः काले० ।[४]
(४) न विदीर्ये कठिनाः खलु स्त्रियः ।[५]

वस्तुतः ये सभी पद्य कालिदास के हैं।

(ख) घनश्याम की दो पत्नियों ने विद्धसालभञ्जिका पर टीकाएँ लिखीं और उनमें भी ३० वार कालिदास की रचनाओं को ईश्वरकृष्ण रचित कहा।[६]

(ग) उत्तररामचरित पर वीरराघव की टीका में भी एक जगह कालिदास की रचना को ईश्वरकृष्णकृत कहा गया है।[७]

(घ) स्वप्नेश्वर ने अपने सांख्यसार में सांख्यकारिकाओं के लिए लिखा है—'ईश्वकृष्णनाम्ना कालिदासेन कृताः कारिकाः' अर्थात् 'ये कारिकाएँ कालिदास कृत हैं जिनका वास्तविक नाम ईश्वरकृष्ण है।'[८]

२. उद्भावनाः डॉ० कीथ और भरतसिंह सांख्यकारिका को सांख्यसप्तति कहते हैं और उनका रचयिता किसी विन्ध्यवास या विन्ध्यवासिन् को स्वीकार करते हैं। उक्त विद्वानों के अनुसार विन्ध्यवास ई० स० २८० के बौद्ध दार्शनिक बसुबन्धु के समकालीन थे। तककुसु का कहना है कि विन्ध्यवासिन् ईश्वरकृष्ण का ही दूसरा नाम है। डॉ० माइनकर कालिदास को विन्ध्यवासी से अभिन्न मानते हैं और तर्क देते हैं कि कालिदास भी विन्ध्यगिरि से अत्यन्त परिचित है।[९]

---

१ M/s, V. Bookstall, 543 शनिवार पेठ, पूना-२. १९६२ संस्करण।
२ रघुवंश २।२६, ३ रघुवंश ५।५६, ४ कुमार सं० २।१,
५ कुमार सं० ४।५।
६–७ डॉ० माइनकर द्वारा प्राप्त सूचना के आधार पर
८–९ डॉ० माइनकर का उक्त ग्रन्थ

३. **शब्दसाम्य :** कालिदास की रचनाओं और सांख्यकारिका में भाषा और परिभाषाओं का साम्य है। उदाहरणार्थ कारिका-६० में प्रकृति को गुणवती कहा गया है और कारिका-६१ में सुकुमारतर। मेघदूत में कालिदास ने यक्ष के मुख से उसकी प्रिया को 'गुणवती' कहलाया है (मे० २.४४)। विक्रमोर्वशीय में कालिदास उर्वशी को महेन्द्र का 'सुकुमार प्रहरण=आयुध' कहलाते हैं।[१] सांख्यकारिका-६४ में तत्त्वज्ञान को 'विशुद्ध ज्ञान' कहा है। अभिज्ञानशाकुन्तल के मछुए के पेशे की निन्दा में राजश्यालक या हेडकांस्टविल कहता है 'बड़ा ही विशुद्ध है तेरा पेशा'।[२] सूक्ष्म शरीर के लिए सांख्यकारिका में भाव शब्द का प्रयोग है (का० ५२)। कालिदास भी शाकुन्तल में इस शब्द को इसीं अर्थ में अपनाते दिखाई देते हैं। [शा० ५।२]।

४. **भावसाम्य :** कालिदास और ईश्वरकृष्ण की उक्त रचनाओं में भावसाम्य भी मिलता है। ईश्वरकृष्ण सांख्य कारिका में नाट्य, रङ्ग, प्रेक्षक और नर्तकी की उपमा देते हैं (का० ५९, ६५)। अवश्य ही वे कुशल नाटककार हैं। कालिदास अपनी नाट्यकृतियों के लिए प्रसिद्ध ही हैं।

५. **समकालिकता :** कालिदास समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त के बीच के समय में हुए हैं क्योंकि वे रघु के जिस दिग्विजय का उल्लेख करते हैं वह चन्द्रगुप्त के दिग्विजय से ही सामञ्जस्य रखता है। ईश्वरकृष्ण भी इसी बीच हुए हैं। इस प्रकार

उक्त दोनों रचनाकारों को अभिन्न मानने में कोई कठिनाई नहीं है।

(२)

मेरे विचार से उक्त आधारों पर कालिदास को ईश्वरकृष्ण से अभिन्न मानना कठिन है। कारण कि—

१. कालिदास को ईश्वरकृष्ण से, ईश्वरकृष्ण को विन्ध्यवास से, विन्ध्यवास को विन्ध्यवासी से और इन सबको भर्तृमीढ से अभिन्न मानना क्लिष्ट त्रैराशिक है। स्मरणीय है जिस घनश्याम ने कालिदास की रचनाओं को ईश्वरकृष्ण कृत कहा है। उसी ने कालिदास की ही रचनाओं को भर्तृमीढकृत भी माना है।

२. कालिदास का शब्दसाम्य और भावसाम्य पूर्ववर्त्ती भास की रचनाओं के साथ भी दिखाई देता है और परवर्त्ती आनन्दवर्धन और हम नवीन संस्कृत लेखकों की रचनाओं के साथ भी। इस साम्य से अभिन्नता की कल्पना अमान्य है।

३. **समयसाम्य** के आधार पर कालिदास को ईश्वरकृष्ण से अभिन्न मानना दो कारणों से कठिन है। एक तो इसलिए कि कालिदास का समय अनिश्चित है और यह कहना कठिन है कि वे गुप्तयुग में हुए। दूसरे समकालीनता के आधार पर अभिन्नता तब स्वीकारी जा सकती है जब कोई निश्चित प्रमाण प्राप्त हो। कालिदास और ईश्वरकृष्ण की अभिन्नता में ऐसा कोई प्रमाण तो मिलता ही नहीं, प्रत्युत बाधक प्रमाण प्राप्त होते हैं।

---

[१] हमारी कालिदासग्रन्थावली पृष्ठ ३४१ पं० ११, १५

[२] हमारी कालिदासग्रन्थावली पृ० ५१२ पं० ५

बाधक : (क) कालिदास ईश्वरवादी हैं जबकि सांख्यकारिका में ईश्वर का उल्लेख नहीं है।

(ख) कालिदास सर्वत्र अध्वरमीमांसा में विश्वास रखते और यज्ञ आदि अनुष्ठानों को आवश्यक बतलाते हैं जबकि सांख्यकारिका उन्हें लौकिक उपायों के ही समान दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति का कारण नहीं मानती (कारिका—२)।

(ग) कालिदास प्रकृति और पुरुष दोनों को ब्रह्मदेव के दो स्वरूप मानते[१] और ईश्वरवादी योग दर्शन में दृढ़ आस्था रखते हैं जबकि सांख्यकारिका पुरुषतत्त्व के आगे किसी तत्त्व का उल्लेख नहीं करती।

(घ) कालिदास की भाषा भावाभिव्यक्ति में स्पष्ट है जबकि सांख्यकारिका की भाषा अस्पष्ट। उसकी प्रथम कारिका को ही यदि स्पष्टार्थक बनाना हो तो इस प्रकार बदलना होगा—

'त्रेधा दुःखं, शक्यस्तेषां घातस्ततोऽभिजिज्ञास्यम्।
अपघातकं, न दृष्टं तद् व्यभिचाराच्च नाशाच्च ॥'

इसी प्रकार सांख्यकारिका के 'प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टम्' इस अंश की जैसी व्याख्या वाचस्पति मिश्र ने की है तदनुसार इस कारिका का निर्माण इस प्रकार से किया जाना चाहिए था—'विषयेन्द्रियावसायो दृष्टम्'। ईश्वरकृष्ण 'उपादानग्रहण'—में ग्रहणशब्द का प्रयोग 'सम्बन्ध' के लिए कर रहे हैं जो असंभव है। प्रकृति और पुरुष के लक्षण के लिए जो कारिकाएँ दी गई हैं उनके विशेषण इतने दुरूह है कि बिना व्याख्या देखे उनसे अर्थ नहीं निकाला जा सकता और व्याख्या भी अपने मनसे अनेक प्रकार की की जा सकती है।

डॉ० माइनकर ने इन प्रश्नों में से ईश्वर सम्बन्धी प्रश्न पर समाधान देते हुए लिखा है कि कालिदास का मस्तिष्क पहले अनीश्वरवादी रहा होगा और इसी समय उन्होंने सांख्यकारिका लिखी होगी। हम यह भी सोच सकते हैं कि कालिदास ने ईश्वर वादी होते हुए भी अनीश्वरवादी सांख्यशास्त्र को उसके अपने ही रूप में सफलता पूर्वक प्रस्तुत किया होगा, परन्तु वेदनिष्ठा को लेकर कालिदास को इस प्रकार की विरुद्ध प्रवृत्ति में निष्ठावान् नहीं माना जा सकता। वेद का अभ्यास बाल्यकाल से ही करना संभव होता है, और वेद का मीमांसापक्ष ईश्वरवादी भले ही न हो उपनिषत् पक्ष ईश्वरवादी है तथा कालिदास इस अन्तिम पक्ष को ही महत्त्व देते हैं। वे ईश्वर की सिद्धि में अनुमान को द्वितीय और श्रुतिवचनों को प्रथम स्थान देते हैं—

प्रत्यक्षोऽप्यपरिच्छेद्यो मह्यादिर्महिमा तव।
आप्तवागनुमानाभ्यां साध्यं त्वां प्रति का कथा ॥

(रघुवं० १०।२८)

इस प्रकार कालिदास के विचार और सिद्धान्त ईश्वरकृष्ण से नहीं मिलते। साथ ही कालिदास को विक्रमादित्य के साथ जोड़ा जाता है। ईश्वरकृष्ण मानने पर कालिदास का

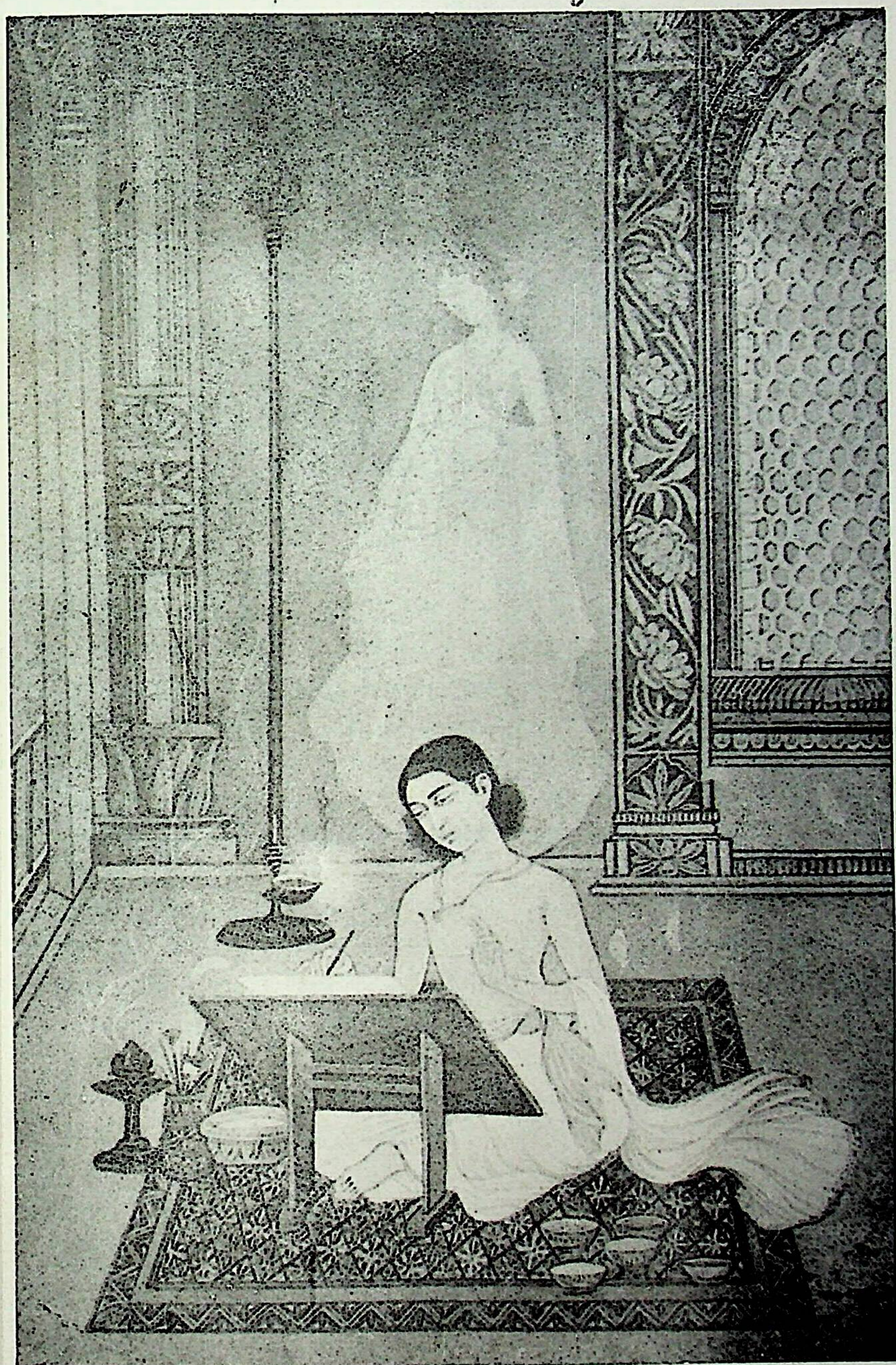
---

[१] कुमार सं० २।१३।

सम्वन्ध चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य से भी कठिनाई से जुड़ता है क्योंकि ई० २८० का कवि ई० की चौथी शती चन्द्रगुप्त के समय तक कठिनाई से लाया जा सकता है। संवत्प्रवर्त्तक शकारि प्रथम विक्रमादित्य के साथ जोड़ने पर कालिदास ईश्वरकृष्ण से ३०० वर्ष पूर्व के सिद्ध होते हैं। सत्य तो यह है कि कालिदास शुंगवंश के अन्तिम चरण में हुए अन्यथा वे 'मालविकाग्निमित्र' कदापि न लिखते। यह नाटक शुंगवंशीय राजा अग्निमित्र पर लिखा गया है जो एक सामान्य राजा था।

३. जहाँ तक घनश्याम के उल्लेखों से प्राप्त परम्परा का संबन्ध है उस पर विश्वास नहीं किया जा सकता। परम्पराएँ गलत भी ठहरती हैं। काव्यप्रकाश में केवल संचारी-भावों की कारिकाएँ नाट्यशास्त्र से ली गई हैं किन्तु परम्परावादी प्राचीन और परम विद्वान् टीकाकार गोकुलनाथ का कहना है कि काव्यप्रकाश की सभी कारिकाएँ भरतमुनि की रचना है। वैसे ही दूसरे समर्थ टीकाकार गोवर्धन ठक्कुर भट्ट मत को गुरुमत और गुरुमत को भाट्ट मत लिखते दिखाई देते हैं। ये ही काव्यप्रकाश के श्लेष प्रकरण में आए उद्भट के पूर्वपक्ष को काव्यप्रकाश को उद्धृत करने वाले और उस पर संकेत नामक टीका के रचयिता अतः निश्चित रूप से परवर्त्ती रुय्यक के अलंकारसर्वस्व से लिया लिखते हैं। इस प्रकार परम्परा तथ्य शून्य और अन्यथा भी मिलती है। १८०० के घनश्याम के पहले ईश्वरकृष्ण और कालिदास के अभेद की परम्परा प्राप्त न होने से भी निष्कर्ष निकलता है कि किसी कल्पना ने परम्परा का रूप ले लिया था। सत्य यह है कि संस्कृत के कालिदासोत्तर साहित्य में जो श्रेष्ठ और उत्तम लिखा मिला उसे यथाशक्ति कालिदास से जोड़ने का प्रयत्न किया जाता रहा। अतएव नलोदय और घटकर्पर काव्य के यमकों को उनकी अद्भुतता के कारण कालिदास की कृति माना गया। श्यामलादण्डक आदि अन्य रचनाओं को भी इसी प्रकार कालिदास की कृति माना जाता है।

फलतः परम्परा, शब्दसाम्य और भावसाम्य होने पर भी कालिदास को ईश्वरकृष्ण से अभिन्न कहना कठिन है। समयसाम्य संदिग्ध है। विचारों और सिद्धान्तों का विरोध प्रत्युत अभिन्नता में बाधक सिद्ध होता है, तत्रापि अभिव्यक्ति की स्पष्टता तथा अस्पष्टता तो कालिदास तथा ईश्वरकृष्ण की अभिन्नता को तनिक भी अवसर नहीं देती।



कल्पना और कृति
कलाकार—सुधीन्द्र नाथ लाहिड़ी



कविता की संरचनावादी समीक्षा : एक मूल्यांकन

डा० भोलाशंकर व्यास
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष हिन्दी विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

इन दिनों हिन्दी साहित्य के समीक्षकों में संरचनावादी या रूपवादी समीक्षा के बारे में काफी गर्मागर्म बहस हो रही है। एक ओर 'नवी समीक्षा' को कुछ लोग पुरानी भारतीय वस्तुपरक समीक्षा से जोड़कर देखना चाहते हैं, दूसरी ओर रसवादी इस पैमाने को ओछा पाकर इसकी प्रामाणिकता को खारिज करते जान पड़ते हैं। कविकर्म या रचना को ही अपने आप में मूल्यवान् मानने वाले नये समीक्षक इस समीक्षा का कविता तथा किसी रचनात्मक साहित्य की परीक्षा का वॉस्तविक मापदण्ड घोषित करते हैं, और ऐसे भी आलोचक सामने आ रहे हैं, जो रूपवादी अवधारणा का द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी नज़रिये के साथ प्रणय-संबंध स्थापित करते देखे जाते हैं। नैतिक मूल्यवादी समीक्षक और समाजशास्त्रीय पद्धति के समीक्षक दोनों ही इस नई रूपवादी समीक्षा को संदेह की निगाह से देखते हैं। भाषाविज्ञान के बढ़ते प्रभाव के कारण संरचनावादी समीक्षा एक और स्वरूप भी लेती जा रही है। शैली-विज्ञान के अध्ययन में अभिरुचि के बढ़ने के साथ-साथ विविध साहित्यिक विधाओं, कवियों और कृतियों की शैली का पद-विज्ञान, वाक्य-विज्ञान और शैली-विज्ञान की कसौटी पर अध्ययन किया जाने लगा है, और कभी-कभी तो इस तरह के अध्ययन को बीजगणितात्मक शैली में भी उपस्थित करने का उपक्रम किया जा रहा है। अमरीकी विद्वान् तो यहाँ तक बढ़ चले हैं कि आज सचेतन समीक्षक के बजाय किसी कृति विशेष की समीक्षा कम्प्यूटर के माध्यम से किये जाने की बात करने लगे हैं। संरचनावादी समीक्षा के अपने गुण अवश्य हैं, किन्तु उसका अतिवादी रूप समीक्षा के क्षेत्र में ही नहीं; साहित्य की रचना प्रक्रिया के लिये भी अराजकतावादी माहौल पैदा कर सकता है और मात्र इसी के आश्रय से जहाँ एक ओर कृति विशेष पर पड़े परिवेशगत प्रभावों को नजरन्दाज़ कर देने का खतरा है, वही कवि या कृति विशेष की निजी मौलिकता की तह में क्रियाशील मनोवैज्ञानिक कारणों के अव्याख्यायित रह जाने की भी कमी बनी रहती है। अतः यह साफ़ है कि संरचनावादी समीक्षा के औजारों का उपयोग साहित्यिक कृति के विश्लेषण परीक्षण के लिये एक सीमा तक ही कारगर हो सकता है। वे समीक्षा से जुड़े सारे मसलों को हल करने में कतई समर्थ नहीं हो सकते। फिर भी कृति के एक पक्ष का उद्घाटन करने में इसके महत्व का अपलाप नहीं किया जा सकता, क्योंकि कृति के वस्तुनिष्ठ विश्लेषण-परीक्षण में समीक्षा का यह प्रस्थान-भेद उपयोगी हो सकता है। पर यही साहित्य समीक्षा का आंखिरी मंजिल नहीं माना जा सकता।

संरचनावादी समीक्षा जिसे 'नयी समीक्षा' के नाम से भी पुकारा जाता है, द्वन्द्व-समीक्षकों का प्रस्थान-भेद है, जो काव्यालोचन या साहित्यालोचन में बढ़ते नैतिक स्वर

या समाजशास्त्रीय स्वर के खिलाफ जिहाद बोलना चाहते हैं। इनके अनुसार कोई भी कलाकृति अपने आप में एक अनुभव है,[1] और इसलिये इसका परीक्षण भी मात्र अनुभव के स्तर पर ही किया जाना चाहिये। यह अवधारणा उन लोगों की है, जो समीक्षा के क्षेत्र में बिलकुल नया समीक्षा-दर्शन लेकर आना चाहते हैं, और मानवतावादी या दूसरी समीक्षाओं से इसे अलगाने के लिए 'नयी समीक्षा' (न्यू क्रिटीसिज्म) नाम देते हैं। 'न्यू क्रिटिसिज्म' इस अभिधान की ईजाद हमें सबसे पहले अमरीकी समीक्षक स्पिजर्न के यहाँ मिलती है, पर इसको स्पष्ट रूप में परिभाषित करने और इस पद्धति को काव्य समीक्षा के औजार के रूप में इस्तेमाल करने का श्रेय पहले पहल जॉन क्राव रेन्सम को दिया जाता है। इस प्रस्थान-भेद के साथ दूसरा नाम रिचर्ड ब्लैकमर का लिया जाता है, और "शिकागो सम्प्रदाय" के रूपवादी समीक्षकों को भी, जिनमें आर० एस० क्रेन प्रमुख हैं इसी परम्परा से जोड़ा जाता है। इस परम्परा से ही जुड़ा अन्य महत्वपूर्ण नाम क्लीनिथ ब्रुक्स है। आज हिन्दी में 'नयी समीक्षा' के नाम पर जो भी दृष्टिभंगिमा चल पड़ी है, वह मूलतः इन्हीं अमरीकी समीक्षकों द्वारा अन्विष्ट सिद्धान्तों का हिन्दी कविता या दूसरी साहित्य-विधाओं के साथ लागू किया जाना है। अतः इस विषय में कतई सन्देह की गुंजायश नही है कि यह समीक्षा-पद्धति पुरानी भारतीय वस्तुनिष्ठ समीक्षा-पद्धति मे पूरी तरह मेल नहीं खाती। कुछ हिन्दी समीक्षक संभवतः इस समीक्षा को प्राचीन भारतीय अलंकारवादी, रीतिवादी या वक्रोक्तिवादी समीक्षा-पद्धति से जोड़कर देखना चाहते हों, पर दोनों के प्रस्थान-बिन्दु भिन्न हैं। इसलिए बेहतर यह है कि दोनों का घापल्य न किया जाय। प्रस्तुत वस्तुवादी 'नयी समीक्षा' मूलतः यांत्रिक विज्ञानवाद की देन है और यह बीसवीं सदी के परिवेश में पैदा हुए साहित्य के अपने तकाजे की पैदाइश है, इसलिये इसे जितना सटीक इस तरह के माहौल में एक खास दृष्टिभंगी के रचनाकारों द्वारा प्रस्तुत रचनाओं के साथ लागू किया जा सकता है, वैसा दूसरे प्रकार की रचनाओं के साथ नहीं। हालांकि शिकागो-स्कूल के समीक्षक अपने आपको 'न्यो-अरिस्टोटीलियन' कहकर अरस्तू के सिद्धान्तों का ही पुनराख्यान 'नयी समीक्षा' में घोषित करते हों,[2] ठीक वैसे ही जैसे हमारे यहाँ भी कुछ लोग नयी समीक्षा को पुरानी अलंकार-रीति-वक्रोक्ति-वादी समीक्षा का नया रूप मानते जान पड़ते हैं और डा० विद्यानिवास मिश्र नयी शैलीवादी समीक्षा को वामन के रीति सम्बन्धी नजरिये से जोड़कर देखते हैं, फिर भी प्राचीन युग के उन समीक्षा-सिद्धान्तों को, जो भिन्न भाषा और भिन्न परिवेश से जुड़े हैं, आज की कृतियों की भाषिक संरचना से जुड़ी और आज के परिवेशगत तकाजे से पैदा हुई रचनाओं के साथ पूरी तरह घटाना कहाँ तक ठीक है, इस बारे में सोचना लाजमी हो जाता है। जाहिर है कि हम इस 'नयी समीक्षा' को हमारे यहां की किसी पुरानी परम्परा से जोड़ना जरूरी नहीं समझते और इसकी पुष्टि के लिए वामन, कुन्तक,

---

[1] The Work of Art is itself an experience. —Literary Criticism in America. Intro. p.. xiv.

[2] Wilbur Scott : Five Approches to Literary Criticism p. 183.

या महिम भट्ट के उद्धरण देना आवश्यक नहीं मानते, क्योंकि दोनों में हमें वादरायण सम्बन्ध तक मानना स्वीकार नहीं। 'नयी समीक्षा' तथा शैलीवैज्ञानिक समीक्षा के क्षेत्र में ऐसी स्थापना हमें निरर्थक जान पड़ती है। जो वस्तु सत्य है, उसे स्वीकार करने में हमें हिचक क्यों है कि यह समीक्षा-पद्धति बाहरी प्रभाव की देन है। मैं ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में किसी भी प्रभाव को ग्रहण करना गुनाह नहीं मानता। सवाल यह नहीं है कि प्रस्तुत समीक्षा-पद्धति परम्परा से जोड़ी जा सकती है या नहीं, सवाल यह है कि क्या यह समीक्षा उन रचनाओं का पूरी तरह, पूरी ईमानदारी के साथ मूल्यांकन करने में सक्षम है, या यह उनका महज वस्तुनिष्ठ विश्लेषण करके ही विरत हो जाती है। क्या यह समीक्षा कृति के समाजनिष्ठ सन्दर्भों को भी उजागर करने की कोई दृष्टि देती है, क्योंकि कृति कोई शून्य में पैदा हुई सृष्टि नहीं मानी जा सकती, वह सामाजिक मानव की अन्य सामाजिक मानवों-श्रोतृवर्ग या पाठकवर्ग को हस्तान्तरित की गई वस्तु है, इसे नहीं भूला जा सकता।

हमारा प्रयोजन यहाँ संरचनावादी दृष्टि का परिचय देना है और इस सम्बन्ध में थोड़ा इसके इतिहास का जिक्र कर दिया जाय। संरचनावादी समीक्षा की मूल मान्यता यह है कि किसी भी साहित्यिक रचना का अपना निजी अस्तित्व होता है, उसकी अपनी विशिष्ट अन्विति होती है और यह अन्विति उसके विभिन्न अंगों की समन्वित परिपूर्णता में है। यही समग्र परिपूर्णता कृति की समन्वित पूर्ण अर्थवत्ता को अभिव्यक्त करती है। कविता के सम्बन्ध में इस मान्यता के बीज हमें कॉलरिज की "बायग्राफिया लिटरारिया" में मिलते हैं, और अमरीकी कथाकार पो तथा उपन्यासकार हेनरी जेम्स ने कृति में इस परिपूर्ण अन्विति की बात कहानी और उपन्यास के बारे में भी कही है। संरचनावादी समीक्षा के विकास में टी० एस० इलियट का भी प्रायः नाम लिया जाता है। एजरा पाउण्ड के प्रभाव में आकर इलियट ने कलाकृति को प्रथमतः कलाकृति के रूप में समीक्षा का विषय बनाने पर जोर दिया था, पर इस समीक्षा को इलियट तबतक पूरा नहीं मानते जबतक कि इसके साथ नैतिक समीक्षा भी न जोड़ दी जाय। संरचनावादी समीक्षा की प्रधान दृष्टि रचना के अपने पाठालोचन पर जोर देना है। फ्रांस के प्रतीकवादी कवियों और अंगरेजी के रहस्यवादी कवियों के प्रभाव के कारण इलियट तथा पाउण्ड की कविता के सूक्ष्म अन्वीक्षण की आवश्यकता उसी तरह महसूस की जाने लगी, जैसे हिन्दी "नयी समीक्षा" अज्ञेय, शमशेर और मुक्तिबोध पर पड़े प्रभावों के सूक्ष्म अन्वीक्षण की आवश्यकता महसूस करती है।

संरचनावादी समीक्षा के विकास का एक और स्रोत है। आई० ए० रिचर्ड्स ने भाषिक प्रक्रिया की अर्थमीमांसा पर जोर देकर समीक्षा के क्षेत्र में एक दूसरे ढंग के दृष्टिकोण को सामने रखा। उसने तात्पर्य (Sense), भाव (feeling), काकु (tone) तथा प्रयोजन (lintention), अर्थ के ये चार प्रकार मानकर काव्य की अर्थमीमांसा की नयी सरणि का उद्घाटन किया।[१] यहाँ भी रिचर्ड्स नें कविता के आभ्यंतर धर्म के

[१] I. A. Richards : Practical Criticism, pp. 181-82.

अन्वेषण की दिशा में बढ़ने पर जोर दिया। अर्थ या भाषिक संहिता (linginstic code) के संकेतों और उनकी व्याख्याओं की यह अर्थमीमांसापरक पद्धति एम्प्सन के प्रसिद्ध ग्रन्थ "सेवन एम्बिग्विटीज इन पोयट्री" में चरम सीमा पर विकसित मिलती है, जहाँ कभी-कभी अर्थमीमांसा व्याख्याता की व्यक्तिगत सनक तक बढ़ती दिखाई पड़ती है। कविता में पाये जाने वाले शब्दच्छल या असंगत प्रयोगों की व्याख्या से एम्प्सन ने जिन विविध अर्थ सन्दर्भों या अर्थच्छायाओं को रेखांकित किया है,[१] वहाँ तक पाठक पहुँच भी पाता है या नहीं, यह सवाल एम्प्सन की समीक्षा-पद्धति के बारे में बार-बार उठाया जाता रहा है।

ये दोनों तरह की संरचनावादी समीक्षा दृष्टि मूलतः विक्टोरियन युग के प्यूरीटन समीक्षकों और इरविंग बेबिट जैसे नव-मानववादी समीक्षकों के विरोध में पनपी थी, जो साहित्य को नैतिक उपयोगितावाद के पैमाने से नापते-जोखते थे। इतना ही नहीं यह दृष्टि उन प्रस्थान-भेदों की प्रतिक्रिया भी जान पड़ती है, जो या तो प्रभाववादी ढंग से साहित्यिक कृति के समीक्षक पर पड़े प्रभावों के प्रस्तुतीकरण को ही समीक्षा मानती हैं, या रचनाकार के असामान्य मानस पर पड़े तनावों को रचना की समीक्षा में मुख्यतः रेखांकित करती हैं, या सामाजिक मूल्यों की मार्क्सवादी मान्यता पर समीक्षा में जोर देती हैं। हिन्दी नयी समीक्षा के संदर्भ में हम यह कह सकते हैं कि यह समीक्षा दृष्टि शुक्ल जी तथा वाजपेयी जी की नैतिक मूल्यवादी समीक्षा, नगेन्द्र जी जैसे लोगों की नव-रसवादी समीक्षा और रामविलास जी की मार्क्सवादी समीक्षा की प्रतिक्रिया के रूप में तात्कालिक प्रयोगशील कविता की व्याख्या के तकाजे से पैदा हुई जान पड़ती है और यह भी स्पष्ट है कि इसका मेल पुरानी टीका-पद्धति और रसालंकारवादी समीक्षा से भी नहीं हो सकता। इस नयी समीक्षा के झंडाबरदारों में भी हर झंडाबरदार के झंडे का निशान दूसरे से अलग किस्म का मिल सकता है। जरूरी नहीं है कि इन सबकी किसी एक कृति के विषय में व्याख्यायें और उसके बारे में पेश किये गये नतीजे एक ही हों, पर एक बात इन सबमें समान है कि ये सभी कविता को ही मुख्यतः काव्यसमीक्षा या काव्यसंबंधी ज्ञानानुभव का प्रामाणिक स्रोत मानते हैं, जिसे काव्य से भिन्न अन्य किसी प्रमाण या कसौटी के द्वारा मूल्यांकित नहीं किया जा सकता।[२] फलतः काव्यसमीक्षा के सम्बन्ध में विद्वान् रचना के व्यक्तिगत या समाजगत सन्दर्भों, नैतिक अभिसंबंधों आदि "वाह्य" कारकों (facters) को नजरंदाज कर केवल कृति विशेष या उस काव्यात्मक परिपूर्ण अनुभव से सम्बद्ध संरचनागत तत्वों पर ही अपना ध्यान केन्द्रित करना जरूरी मानते हैं।

संरचनावादी समीक्षक का प्रधान लक्ष्य कृति विशेष की संरचना को आकार देने में अपनाये गये अलग अलग तत्वों का अध्ययन न होकर उनके परस्पर अन्तरावलंबन की प्रक्रिया को व्याख्यायित करना है, जो समग्र रचना की परिपूर्णता से नीरक्षीर न्याय से जुड़े हैं। फलतः वह भाषा शैली, छन्दोविधान, बिम्ब जैसे शिल्पगत तत्वों और काकु, विषय-वस्तु, कथ्य आदि अभिधेयगत तत्वों को अलग-अलग नहीं लेता, बल्कि उनके परस्पर

---

[१] Empson : Seven Types of Ambiguity (1960 ed).

[२] Wilbur Scott : p. 181.

अन्तःसंबंधों को ही दृष्टि में रखता है, जो अलग अलग नहीं अपितु समन्वित रूप में रचना-प्रक्रिया से जुड़े हैं। इस प्रकार की समीक्षा कथ्य और शिल्प जैसे तत्वों को भी अलग न मानकर कविता की बुनावट या रचाव (texture) और संरचना (structure) में एक-रस हुआ मानकर ही चलती है। संरचनावादी ने इसीलिये समीक्षा के क्षेत्र में नये पारि-भाषिक शब्दों को भी जन्म दिया है। उन्होंने स्थापत्यकला से 'संरचना' (stuctrure) शब्द लिया है, जो ईंट-गारे या पत्थर-चूने की सामग्री को किसी खास तौर पर सजाकर पेश की गई इमारत की कलापूर्ण संरचना से जुड़ा है। दूसरा शब्द 'बनावट' (texture) 'किसी कृति विशेष के तत्वों को परस्पर अनुस्यूत करने की प्रक्रिया से जुड़ा है, जो ताने बाने की खास ढंग की बुनावट का संकेत करता है। इससे ही जुड़ा एक शब्द 'पैटर्न' भी है। नयी समीक्षा में texture शब्द रैन्सम की देन है। उसके अनुसार यह बुनावट ही कविता की मूल कसौटी है। संरचनावादियों में ऐसे भी हैं, जो कविता की मूल कसौटी टैट की तरह संरचना के आन्तरिक 'तनाव' (tension) को या ब्रुक्स की तरह विसंगति या 'अन्तर्विरोध' (paradox) को मानते हैं। एम्पसन के शब्दच्छल या असंगति (ambiguity) संबंधी मत का जिक्र हम पहले कर चुके हैं। ये सारी मान्यतायें मूलतः कृति की भाषिक संरचना से जुड़ी हैं और इसी भाषिक संरचना को व्याख्यायित करने के अलग अलग रास्ते हैं। भाषिक संरचना से जुड़ी यह समीक्षा पद्धति ब्लेकमर के शब्दों में मुख्यतः काव्य की विधायिका तकनीक या भाषा की सामान्य शाब्दिक तकनीकों को ही गवेषणा का आधार बना पाती है, साथ ही यह समीक्षा उसके अनुसार जितनी सटीक येट्स-इलियट स्कूल की नयी कविता के साथ लागू होती है उतनी सटीक दूसरी कविता के साथ नहीं। क्या यही बात 'नयी समीक्षा' के बारे में भी नहीं कही जा सकती कि इसके माध्यम से मध्ययुगीन भक्तिकाव्य, रीतिकाव्य और आधुनिक छायावादी कविता या आज की सपाटबयानी कविता का मूल्यांकन क़हाँ तक ठीक-ठीक हो सकेगा। मेरा नम्र निवेदन है कि हर काव्यान्दोलन के दौर के साथ उससे जुड़ी समीक्षा-पद्धति भी होती है और उस कविता को उसी समीक्षा पद्धति के नज़रिये से कहीं ज्यादा ठीक तौर पर समझा जा सकता है। पर इन सब समीक्षा दृष्टियों में 'अन्धगजन्याय' ही मिलता है और इनके साथ भी समाजशास्त्रीय समीक्षा पद्धति के मूल्यवादी नज़रिये के अपनाये बगैर किसी भी कृति का सही तौर पर पूरा परीक्षण नहीं हो सकता।

तो यह साफ है कि संरचनावादी समीक्षा मूलतः कविता की भाषिक संरचना को आधार बनाकर चलती है। नया प्रयोगशील कवि यह मानता है कि कविकर्म मूलतः सही शब्दों की तलाश है। अज्ञेय ने इसे 'शब्द का सार्थक,सा भिप्राय, रसात्मक प्रयोग' कहा है,[१] और ऑडन ने काव्यरचना को कुछ नहीं शब्दों में छिपे अव्यक्त संगीत सुनने की कोशिश माना है। इस तरह नया कवि कविता को सार्थक शब्द प्रयोग की प्रक्रिया मानता है। सार्थक से उतना मतलब कोशगत या व्युत्पत्तिगत अर्थनिष्ठता से कतई नहीं है, पर अपने द्वारा अनुभूत रागदीप्त सत्य को—यह पदावली अज्ञेय जी की है—संप्रेषित करने में समर्थ

---

[१] अज्ञेय : आत्मनेप, पृ० १९।

शब्द-प्रयोग की अर्थानुरणन प्रक्रिया से जान पड़ता है। अज्ञेय जी कवि का प्रधान उद्देश्य सार्थक शब्दसिद्धि ही मानते हैं और साधारण शब्दप्रयोग से असाधारण अर्थ निकाल लेने को रचना-प्रक्रिया में विशेष महत्व देते हैं। कवि पुराने ही शब्दों को नयी अर्थवत्ता से भरता है। 'दूसरा सप्तक' में अज्ञेय ने इसी पर जोर देते कहा है कि—'जब चमत्कारिक अर्थ मर जाता है, और अभिधेय बन जाता है तब शब्द की रागोत्तेजक शक्ति भी क्षीण हो जाती है। उस अर्थ से रागात्मक संबंध स्थापित नहीं होता। कविकर्म तब उस अर्थ की प्रतिपत्ति करता है जिससे पुनः राग का संचार हो, पुनः रागात्मक संबंध स्थापित हो।[1] अतः प्रयोगवाद और नयी कविता भाषा के अधिक से अधिक सतर्क और सर्जनात्मक प्रयोग का आन्दोलन हैं। जिन शब्दों के पुराने संदर्भ बासी हो गये उन्हें नये संदर्भ देना प्रतिभाशील कवि की पहली पहचान है। डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी ने इसे प्रमाणित किया है कि 'अत्यन्त साधारण और परिचित शब्दों में नयी भंगिमायें और अर्थच्छायायें नयी कविता के कवियों ने विकसित की है।[2] इससे साफ है कि इस दृष्टि से कवि-कर्म का प्रमुख प्रयोजन भाषा की अपूर्णता को पूर्ण बनाना, काव्य-भाषा को प्रतीकात्मक प्रक्रिया बनाना है। ब्लैकमर का एक लेख है—Language as Gesturel। इस लेख को संरचनावादी समीक्षक अपना मूल स्रोत मानते हैं। इस लेख में ब्लैकमर ने यह स्थापना की है कि भाषा हमारी अनुभूतियों को पूरी तरह व्यक्त करने में सदा पंगु रहती है। फलतः जैसे मूक व्यक्ति आंगिक संकेतों द्वारा अनुभूति को संप्रेषित करने की संहिता अपनाता है, वैसे ही कवि भाषा को अनुभूतियों को संप्रेषित करने में पंगु पाकर रचना-प्रक्रिया के दौरान नयी भाषिक-संहिता (Linguistic Code) का निर्माण करता जाता है। जब शाब्दिक भाषा भावाभिव्यंजन में असफल होती है तो हम सांकेतिक प्रक्रिया या सांकेतिक भाषा का सहारा लेते हैं। काव्यभाषा वस्तुतः यही सांकेतिक या प्रतीकात्मक भाषा है।[3] भाषा में यह सांकेतिकता मूलतः आभ्यंतर बिम्ब रूप अर्थ का वाह्य तथा नाटकीय रूपायन है। यह शब्दों की सार्थकता की वह क्रीड़ा है, जिसे शब्दकोश के सूत्रों द्वारा परिभाषित नही किया जा सकता, अपितु जिन्हें एक दूसरे के परस्पर संदृब्ध रूप में ही परिभाषित किया जा सकता है। संकेत मूलतः वह अर्थवत्ता है जो शब्द विशेष के हर अर्थ में प्रवाहित हो रही है और जो शब्दों को आन्दोलित करती है और हमें भी आन्दोलित करती है। ब्लैकमर ने यहाँ तक बताया है कि काव्य की सांकेतिक भाषा स्थापत्य, भास्कर्य चित्र, नृत्य और संगीत सभी कलाओं की सांकेतिक प्रक्रिया का समन्वय करती जान पड़ती है। उन्हीं के शब्दों में[4]—

The words sound with music, make images which are visual, seem solid like sculpture and spacious like architecture, repeat themselves like the movements in a dance, call for a

---

[1] दूसरा सप्तक (भूमिका)

[2] भाषा और संवेदना, पृ० ९।

[3] Literary Criticism in America, p. 312.

[4] Ibid., p. 321

kind of mummery in the voice when read, and turn themselves like nothing but the written word. Yet is the fury in the words which we understand, and not the words themselves,

शाब्दिक भाषा को सांकेतिक भाषा बनाने के लिए कवि जिन प्रक्रियाओं को ईजाद करता है, इनमें विश्लेषण की दृष्टि से कुछ प्रक्रियायें शब्द के श्रुतिगत रूप से और कुछ उसके म.नस-बिम्ब विधायक अर्थगत रूप से जुड़ी हैं। शब्द या शब्द-समूह की यह सांकेतिकता सर्वप्रथम शब्दों के वीप्सागत प्रयोग हैं। एक ही शब्द या शब्द समूह का अनुभूति की सांकेतिक प्रक्रिया का बार बार प्रयोग, एक ओर कवि की रचना प्रक्रियागत मनःस्थिति के आन्दोलन का संकेत करता है, दूसरी ओर श्रोता की कर्णशष्कुली को तदनुरूप प्रभावित कर उसी प्रकार की मनःस्थिति की सांकेतिक भाषिक संहिता का काम करता देखा जाता है। निराला का 'वन वन उपवन उपवन, जागी छवि खुले प्राण' या 'नूपुरों में भी रुनझुन रुनझुन रुनझुन नहीं। सिर्फ एक अव्यक्त शब्द-सा चुप, चुप, चुप है गूंज रहा सब कहीं।" जैसे प्रयोगों में वीप्सान्त प्रयोग प्रभावान्विति में कितना महत्व रखता है, स्पष्ट है। इसी तरह··· 'अरे वर्ष के हर्ष! बरस तू बरस-बरस रसधार।' में बादल के प्रति कवि का आग्रह-मनुहार जितना मुखरित होता है, वैसा बरस के एक बार के प्रयोग से नहीं। अज्ञेय की 'असाध्य वीणा' में 'तू गा, तू गा, तू गा' जैसे पुनरुक्तिमय प्रयोग की व्याख्या डा० विद्यानिवास मिश्र ने यों की है—पुनः गाने की प्रक्रिया के स्मृति रूप में रूपान्तरित होने के अनंतर और श्रुति की पात्रता में 'मैं आ जाने के कारण अनुरोधों की बाढ़-सी आ जाती है। और इन समस्त अनुरोधों के अनन्तर यह अनुरोध तब भी शेष रह जाता है—'तू गा, तू गा, तू गा' क्योंकि इस अनुरोध में कविता का सत्य आता है। विराट् का संगीत व्यक्ति के भीतर बराबर बजता रहे, व्यक्ति बराबर विराट् से बजने और व्यक्ति से बजाने की प्रार्थना करता रहे, इसी में व्यक्ति सार्थकता है और विराट् की भी; यह अनुरोध ही अपने आप में साक्षात्कार का निबिड़तम क्षण है।"

शब्दों और पदसमूहों की आवृत्ति के अतिरिक्त कवि अपनी अनुभूति के लिए दूसरी सांकेतिक संहिता भी अपनाता है, यह एक ओर ध्वनियों की आवृत्ति ओर दूसरी ओर समान तुकान्त पदयोजना है। ये दोनों भी 'नयी कविता' में भाव या अनुभूति के आन्दोलन और प्रगति से जुड़े रहते हैं। श्रोता के समक्ष इनकी श्रावण बिम्बनिष्ठता संप्रेषित अनुभूति को पकड़ने में मदद करती है। निराला इसमें माहिर हैं—

'विकसित असित सुवासित उड़ते उसके
कुंचित कच गोरे कपोल छू-छूकर।'

निराला ने मुक्त छंद में भावानुभूति की गति को संक्रान्त करने के लिए न केवल प्रास-योजना ही की है, बल्कि तुक के अन्त्य और आभ्यन्तर प्रयोगों को भी अपनाया है क्योंकि तुक भाव-लहरी के आवर्तन-प्रत्यावर्तन की गति की सांकेतिक विधि बन जाती है।

उथल-पुथल कर हृदय। मचा हलचल-
चल रे चल—मेरे पागल बादल।

इसके लिये एक और सांकेतिक पद्धति ध्वन्यनुकरणात्मक शब्दावली है—

> धँसता दलदल। हँसाता है नद खल् खल्
> बहता, कहता कुलकुल कलकल कलकल।

वीप्सा, यमक, तुक और ध्वन्यनुकरण पद्धतियों का प्रयोग न केवल अनुभूति के प्रवाह को संप्रेषित करता है, बल्कि नद के वहने और उसके भीषण (खल् खल्) और कोमल (कलकल कलकल) विविध संगीतों का भी शब्दचित्र श्रोता के मानस-पटल पर उकेर देता है। नये कवियों ने इन सांकेतिक विधियों का प्रचुर प्रयोग किया गया है—

(१) जहाँ की बादशाही भी जहाँ पर
सिर झुकाती है
उन्हीं कोमल किशोरी का दुखा कर दिल
कभी रस ले सकोगे क्या अरे बेदिल। उठे बादल, झुके बादल।
(हरिनारायण व्यास)

(२) यह कैसा वातास—
कि मन को नयन-नयन कर दिया,
गीत को चुप्पी से भर दिया,
यह कैसा वातास। (केदारनाथ सिंह)

इतना ही नहीं, सपाटबयानी शैली के कवि भी कथ्य को प्रभाव पूर्ण बनाने के लिय इन संकेत-विधियों को अपनाते देखे जाते हैं। धूमिल की कविता से एक उदाहरण पर्याप्त होगा।

न मैं कमन्द हूं। न कवच हूं। न छन्द हूँ। मैं बीचो बीच से दब गया हूं।
मैं चारो तरफ से बंद हूं।
मैं जानता हूं कि इससे न कुर्सी बन सकती है
और न बैसाखी
मेरा गुस्सा—
जनमत की चढ़ी हुई नदी में
एक सड़ा हुआ काठ है।
लंदन और न्यूयार्क के घुंडीदार तस्मों से
डमरू की तरह बजता हुआ मेरा चरित्र
अंग्रेजी का आठ है। (धूमिल)

यहाँ 'कमंद, वन्द, छन्द' और 'काठ-आठ' की तुक की योजना उसी कवि में मिलती है, जो तुक के दुष्प्रयोग की इन भदेस शब्दों में भर्त्सना भी करता देखा जाता है—

क्या मैं व्याकरण की नाक पर
रूमाल लपेट कर
निष्ठा का तुक
विष्ठा से मिला दूं? (धूमिल)

काव्यभाषा की एक अन्य सांकेतिक पद्धति शाब्दी क्रीड़ा या pun है, जिसमें श्लिष्ट अर्थच्छायाओं वाले पदों का भी प्रयोग शामिल है। अज्ञेय ने इस संबंध में 'मेरी पहिली कविता' शीर्षक लेख में 'नाचत है भूमिरी,' 'नाचत है भूमि री' से संवद्ध घटना का जिक्र किया है। निराला से इस सम्बन्ध में एक अन्य पद्धति का उदाहरण दिया जा सकता है जहाँ जीवन में श्लिष्ट शाब्दी क्रीड़ा है।

जीवन वह गया है।

शाब्दी क्रीड़ा की और भी विधियाँ हो सकती हैं। 'सान्ध्यकाकली' में निराला के यहाँ अन्य विधियाँ मिल जाती हैं, जैसे संगीत की निरर्थक सी लगने वाली शब्दयोजना। रामविलास जी ने 'ताक कमसिनवारि। ताक कमसिन वारि' पंक्ति का अर्थ कर शेष अंश को ध्रुपद जैसी, गायकी का प्रभाव माना है।

श्रावण प्रक्रिया से जुड़ी अन्य सांकेतिक विधियाँ छन्द की गति और पंक्ति विशेष का कविता में बार-बार संगीत के स्थायी या मुखड़े की तरह प्रयोग करना है। छन्द की गति का उतार-चढ़ाव जहाँ एक और भाव के आरोहावरोह का संकेत वन जाता है, वहीं मुखड़े की तरह किसी पंक्ति का बार-बार प्रयोग मूल अनुभूति को वार-बार स्मृति में लाने की प्रक्रिया है। एक ओर स्थायी की तरह पंक्ति का प्रयोग कवि की रचना-प्रक्रिया में आगे बढ़ने और लौटने, फिर आगे-बढ़ने की गतिवत्ता देता है, दूसरी ओर श्रोता को भी वारवार मूल केन्द्रीय अनुभूति से जोड़ने का काम करता है। निराला का 'जागो फिर एक वार' पंक्ति का मुखड़े की तरह प्रयोग इसका प्रसिद्ध उदाहरण है—

जागो फिर एक वार।
शेरों की मांद में
आया है आज स्यार—जागो फिर एक वार।
शोकाहारी पहुंचे थे वहां
जहाँ आसन है सहस्रार—जागो फिर एक वार।
गीता है, गीता है—
स्मरण कर वार बार—जागो फिर एक वार
ब्रह्म हो तुम,
पदरज भर भी है नहीं पूरा यह विश्व-भार
जागो फिर एक वार। (निराला)

मुखड़े की तरह पंक्ति का प्रयोग कथ्य और अनुभूति की तीव्रता के लिये 'नवगीतों' ही नहीं, उन 'नयी कविता' के प्रतिष्ठित कवियों ने भी किया है जो रूप-विधान से अधिक विषय वस्तु पर जोर देते हैं। सर्वेश्वर की एक कविता से उदाहरण देना पर्याप्त होगा।

अहं से मेरे बड़ी हो तुम।

× ×

क्योंकि अन्तर में

अतल गहरे
आस्था के टूटते असहाय रथ के चक्र आगे
नित खड़ी हो तुम ।
अहं से मेरे बड़ी हो तुम ।

× × ×

और मेरे हर विकल विद्रोह के सिर पर
मौन कलगी-सी जड़ी हो तुम ।
अहं से मेरे बड़ी हो तुम । (सर्वेश्वर)

अनुभूति की प्रेषणीयता के लिए 'नयी कविता' की लय जो बँधे-बँधाये छन्दों की लय से भिन्न होती है, प्रमुख काम करती देखी जाती है।[1] लय का प्रयोजन वस्तुतः चिन्तन के क्षण को विस्तारित करना है, उस क्षण को जब रचनाकार सुषुप्त और जाग्रत दोनों रहता है । यह क्षण रचना-प्रक्रिया की समाधि का क्षण है । 'नवगीत' में तरन्नुम प्रधान होता है, पर 'नयी कविता में पढ़ने का लहजा—कवि का स्वयं की अपनी कविता को पढ़ने का लहजा—विशेष महत्व का है, क्योंकि वह मूलतः रचना-प्रक्रिया और अनुभूति की संप्रेषणीयता से जुड़ा रहता है । छंद या लय की विशिष्ट योजना और चयन श्रोता में कुछ अंश में सम्मोहन की स्थिति पैदा करते हैं, इस तथ्य का संकेत न केवल आइ० ए० रिचर्डस ने किया है[2], बल्कि मनोविश्लेषणवादियों ने प्रयोगशाला में किये प्रयोगों से भी सिद्ध कर दिया है । संरचनावादी समीक्षक इसीलिये काव्यपाठ के लहजे, काकु और स्वर के आरोहावरोह को बड़ा महत्व देते हैं और कवि के स्वयं के काव्यपाठ और टेपरेकार्ड को भी काव्य-समीक्षा का सहायक तत्त्व मानते हैं । अमरीकी कवियों के 'लांग प्ले रेकार्ड' उपलब्ध हैं और इधर 'नयी कविता' के बारे में भी यह माँग आने लगी है कि विभिन्न कवियों की कविताओं की अपनी पाठ विधि का भी ध्वन्यांकन उपलब्ध होना चाहिए। 'नयी कविता' के समीक्षकों का मत है कि 'अधिकांश नये कवियों की अपनी-अपनी पाठ विधियां हैं, ठीक उनकी शैलियों की तरह । शायद रचना के आंतरिक संघटन के स्तर पर उनका घनिष्ठ सम्बन्ध है, क्योंकि कवि की निजी पाठ विधि के विश्लेषण से कविता के अपने जीवंत स्पन्दन का पता चलेगा । कविता की यह स्पन्दनशीलता या गतिशीलता समीक्षा में उतना ही महत्व रखती है[3] जितने प्रास, पुनरुक्ति और ध्वन्यानुकरण । पाठविधि का यह भेद सपाटबयानी शैली की अद्यतन कविता में भी मिलता है, यह स्पष्ट सुना जाता है।

[1] George Whally : Poetic Process p. 204.

[2] I. A. Richad : Principles of Literery Criticism p. 143.

[3] Metrical form, therefore, that is to say, the rhythm inherent in the sequence of actual sounds in verse, the rhythm that appears in the records of kymograph, is very important.

—Richards : Practical Criticism, p. 230.

यहाँ तक हमने काव्य-भाषा के श्रव्य रूप की बात की, जिस पर संरचनावादी समीक्षा काफी जोर देती हैं। पर संरचना का दूसरा भी रूप हैं, चाक्षुष। चाक्षुष रूप या चाक्षुप संरचना के भी दो पहलू हैं, एक तो यह कि कविता का छपित रूप हमारे समक्ष कैसा आ रहा है। छायावादी काव्य परम्परा से ही कविता को विशेष ढंग से छापने की परम्परा चल पड़ी थी। मुक्त छंद में वाक्य-खंडों को एक निश्चित पद्धति से छापना केवल कम्पोजिंग की सजावट न होकर कविता की संरचना से जुड़ा माना जाता है, पंक्तियों का छोटा-बड़ा होना, उन्हें कहीं समानान्तर और कहीं असमानान्तर बनाकर छापना मुद्रित कविता के पाठक के समक्ष अनुभूति की गति-प्रगति-प्रतिगति आदि की सांकेतिक विधि माना जाने लगा। पर इस मुद्रण-प्रक्रिया का काव्य की संरचना से साक्षात् सम्वन्ध न होकर गौण सम्वन्ध ही माना जाना चाहिए।

कविता की संरचना के चाक्षुष रूप से हमारा तात्पर्य यहाँ वस्तुतः कविता की भाषिक संरचना से व्यंजित विम्व-विधान है। बिम्व विधान ही कवि की अनुभूति को एक ओर अर्थवत्ता देता है, दूसरी ओर श्रोता या पाठक के लिए निश्चित सांकेतिक संहिता (Communication Code) का भी काम करता है। कुशल कवि जाने-पहचाने शब्दों को जो नयी अर्थवत्ता देते देखे जाते हैं उसमें विम्ब योजना की प्रक्रिया ही मिलती है, क्योंकि वहाँ प्रयुक्त अमुक शब्द, मात्र शब्द न हो कर, किसी वस्तु, भाव या विचार का ही प्रतिरूप बन जाता है और वह उस वस्तु, भाव या विचार के समस्त अनुषंगों को साथ में लिये रहता है। इस तरह कुशल कवि का शब्द-प्रयोग ऐसा शीशा है, जो प्रतिभा की किरण पड़ते ही सतरंगी आभा विखेरने लगता है। शब्द का वाच्यार्थ—भिन्न प्रयोग ही कविता की आत्मा है, इसी को समीक्षा में लाक्षणिकता (Metapher) कहा जाता है। हर कवि अपने तईं कविता में इन्हीं नये लाक्षणिक (Metaphoric) प्रयोगों की खोज में जुटा रहता है और उसकी सफलता-असफलता की पहचान यही लाक्षणिक शब्दसिद्धि है। काव्यान्दोलन आते-जाते और फेन बुदबुद की तरह विलीन होते रहेंगे, पर काव्य-भाषा में लाक्षणिकता का साम्राज्य सदा बना रहेगा।[1] लाक्षणिक प्रयोग शब्द में अनुभूति को संचारित करने की मौलिक और संश्लिष्ट पद्धति है और इसी के द्वारा कविता के आभ्यंतर तत्वों में अन्तः सम्बन्ध स्थापित किया जाता है।[2] लाक्षणिक प्रयोग के ही विविध रूपायन उपमा, रूपक, अतिशयोक्ति, प्रतीक, अन्यापदेशी रूपक और मिश्र हैं। इनके द्वारा कवि अपनी अनुभूति को

---

[1] Trends come and go, diction alters, metrical fashions change, even the elemental subject matter may change almost out of recognition, but metaphor, remains the life principle of poetry; the poets chief test and glory.

—Lewis : Poetic Image,

[2] Metaphor is the synthesis of several units of observation in to one commanding image.

—Empson : Seven Types of Ambiguity, p. 4.

सटीक और संक्षिप्त सांकेतिक विधि द्वारा संप्रेषित करना चाहता है। सटीकता और संक्षिप्तता के साथ यह पद्धति श्रोता के मानस में वैसी ही समुत्तेजना पैदा करती है, जैसी लाक्षणिक प्रयोग द्वारा संकेतित पदार्थ से होती है। यह समुत्तेजना काव्योपात्त लाक्षणिक पद के द्वारा शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध के विविध संवेदनों से जुड़ी होगी। यद्यपि काव्य के विम्ब विधान में श्रावण तथा चाक्षुष बिम्बों की प्रधानता होती है, तथापि कुशल प्रतिभावान कवि के यहाँ रमणीय स्पाशर्न, रसनज और घ्राणज विम्ब योजना से जुड़े लाक्षणिक प्रयोग भी मिलते हैं। कम से कम शब्दावली में समग्र अनुभूति को श्रोता की मानस-कल्पना को समुद्घाटित करने की क्षमता के कारण उपमा, रूपक आदि लाक्षणिक प्रयोग हमें चमत्कृत और उल्लसित करते हैं और कवि द्वारा अनुभूत रागदीप्त सत्य हमारी भी स्वानुभूति का तदनुरूप विषय वन जाता है। अज्ञेय ने बताया है कि 'जो सीधे सीधे अभिधा में नहीं वंधता, उसे आत्मसात करके या प्रेषित करने के लिए प्रतीक काम देते हैं।'[1] नया कवि इसलिए सही प्रतीक के अन्वेषण पर अधिक जोर देता है। मिथक भी एक तरह की विशिष्ट प्रतीक-प्रक्रिया ही है, जहां कवि किन्हीं पौराणिक प्रसंग या आदिम मनोभाव से जुड़े शब्दों को नया संदर्भ, नयी अर्थवत्ता से भर देता है। वस्तुतः इन समस्त विधियों को कवि अनुभूति की सघनता और तीव्रता के लिए अपनाता है और कविता की पूरी तरह पुनर्रचना करने में श्रोता को ये कुंजी का काम देती है। काव्य में प्रतीक योजना पर प्रतीकवादियों और विम्बवादियों ने पर्याप्त जोर दिया है। विम्बवादियों ने एक और सिद्धान्त का प्रचार किया है कि जो कवि अपनी समग्र अनुभूति को कम कम शब्दों में वांध सके, वही कुशल कवि है। इसी से प्रभावित होकर अज्ञेय ने भी कहा है—'मैंने वहुत छोटी छोटी कवितायें लिखी हैं। छोटी कविता को महत्व भी देता हूं।' अज्ञेय के अनुसार छोटी कविता में ही भाव की संहति और तीव्रता हो सकती है। लम्बी कविता में यह सम्भव नहीं और किसी लम्वी कविता को कलात्मक एकता और गठन देने वाली चीज दूसरी हो जाती है। अज्ञेय और मुक्तिबोध का अन्तर यहीं साफ हो जाता है। मुक्तिवोध लम्वी कविताओं के हिमायती हैं। उन्हीं के शब्दों में—"यथार्थ के तत्व परस्पर गुंफित हैं, साथ ही पूरा यथार्थ गतिशील होता है। अभिव्यक्ति का विषय बनकर जो यथार्थ प्रस्तुत होता है वह भी ऐसा ही गतिशील है, और उसके तत्व भी परस्पर गुंफित हैं। यही कारण है कि छोटी कविता मैं लिख नहीं पाता और जो छोटी होती हैं वे वस्तुतः छोटी न होकर अधूरी होती हैं।" आज लम्वी कविताओं का दौर चल रहा है। ये दो भिन्न नजरिये दो भिन्न मनोवृत्तियों वाले कवियों से जुड़े हैं—पहला वर्ग भाववादियों का है, दूसरा यथार्थवादियों का। आज जो कुछ लड़ाई और तू-तू मैं-मैं नये कवियों के गिरोहों और उनके पृष्ठ-पोषकों में दिखाई पड़ती है, वह मूलतः नजरिये के इसी भेद की देन है।

तो, लाक्षणिक भाषा-प्रयोग कविता की आभ्यंतर संरचना की बुनावट का महत्वपूर्ण अंग है। चाहे छोटी कविता हो, चाहे वड़ी, उसका पूरी कविता के संस्थान की

---

[1] आत्मनेपद, पृ० ४५।

अन्विति में महत्वपूर्ण स्थान होता है और संरचनावादी समीक्षा इस तथ्य पर विशेष वल देती है। यहाँ इस प्रयोग के अनेक उदाहरण देना अपर्याप्त होगा। अज्ञेय की एक कविता है—

उड़ गयी चिड़िया

काँपी, फिर

थिर

हो गयी पत्ती।

ज़ेन-साधना पद्धति की 'कोआन' (पहेली) शैली में रची यह कविता लाक्षणिक शैली में संप्रेषित करती है। चिड़िया और पत्ती क्रमशः उनका उड़ना, कांपना और थिर हो जाना प्रतीकात्मक प्रयोग है। एक अन्य उदाहरण अज्ञेय से ही निम्नलिखित है :—

सूप-सूप भर

धूप-कनक

यह सूने नभ में गयी बिखर

चौंधाया

बीन रहा है

उसे अकेला एक कुरर।

ये बिम्व इस कविता की पूरी संरचना में अनुस्यूत हैं।

शमशेर से एक दिन का उदाहरण लें—

कुंडली खोली सिहरती चाँदनी ने। पंचमी की रात।

(शमशेर)

इसमें 'कुंडली' शब्द एक ओर 'सर्पिणी' के बिम्ब को उद्भासित करता है दूसरी ओर सूर की 'नागिन कालीरात' वाले बिम्ब की भी।

बिम्ब योजना के अन्य उदाहरण ये हैं।

'देखा हिमवान् को

— —

शब्दहीन अट्टहास राशीभूत

कानों ने नहीं

मुग्ध आँखों ने सुना' (जगदीश गुप्त)

इस छोटी सी लैंडस्केप-वाली कविता में विरोध (paradox) का चमत्कार तो है ही, 'अट्टहास राशीभूत' अपने साथ 'राशीभूतः प्रतिदिशमिव त्र्यम्बकस्याट्टहासः' इस पूरे संदर्भ की व्यंजना करता जान पड़ता है।

अन्य उदाहरण के लिये इस अंश में अनेक नये प्रतीक हैं, जिनकी अर्थवत्ता अधिक जटिल नहीं है, ये सभी एक साथ मिलकर कवि के युगबोध से जनित संत्रास, किंकर्तव्य-विमूढ़ता और असहाय स्थिति की अनुभूति को वाणी देने में हाथ जुटा रहे हैं।

इसी से पैर तलुओं से
नुकीला एक कीला तेज
गहरा गड़ गया और धंस गया इतना
कि ऊपर प्राण-भीतर घुसा आया
लगी है झनझनाती आग
लाखों बर्र-काटों ने अचानक काट खाया है। (मुक्तिबोध)

अकविता और सपाटबयानी कविता हालाँकि 'नयी कविता' की काव्यबिम्ब वाली अवधारणा से परहेज करती है, पर यहाँ से भी बिम्बयोजना के उदाहरण दिये जा सकते हैं, निम्नलिखित अंश के प्रतीक भी स्पष्ट हैं, जो कवि द्वारा विषम यथार्थ के अनुभव की पीड़ा की मार्मिकता की प्रतिपत्ति कराने में सशक्त हैं।

आंखों में कड़ुआहट
मुठ्ठी में अभाव
तन पर झिल्ली मढ़कर कोई
सर्पों की घाटी में
मुझे ढकेल गया
मैं ग्लोब चूसती हुई
सभ्यता की देशांतर रेखाओं में क़ैद पड़ा हूँ। (कैलाश वाजपेयी)

यहाँ हमारा प्रयोजन संरचनावादी समीक्षा दृष्टि का संकेत भर करना था, किसी समग्र रचना को लेकर संरचनावादी समीक्षा के औजारों से उसकी पूरी जाँच-पड़ताल करना नहीं था। इधर शैली विज्ञान के बढ़ते प्रभाव से काव्य-समीक्षा में अलग ढंग की दृष्टि भी चल पड़ी है। भाषावैज्ञानिकों का ऐसा सम्प्रदाय है जो काव्य-भाषा में प्रयुक्त ध्वनियों का सौन्दर्यबोध में क्या महत्व है, इसका विश्लेषण करते देखे जाते हैं। इसका अध्ययन दूसरी ओर गेस्टाल मनोविज्ञान के अन्तर्गत भी किया जा रहा है और ये दोनों अध्ययन दिशायें भी संरचनावादी समीक्षा को प्रभावित कर रही हैं। प्रसिद्ध भाषा वैज्ञानिक याकोब्सन ने इस दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य किया है।[१] याकोब्सन ने काव्य-भाषा में उपात्त पद, पदांश, पद-गुच्छ और वाक्य तथा वाक्यखंडों की संरचना का भी विश्लेषण किया है। हिन्दी कविता के साथ याकोब्सन की दृष्टि को कैसे लागू किया जा सकता है, इसे डा०

[1] Manual of Phonetics : (A. W. De Groot : Phonetics in its relation Aesthetics), p. 399.

रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव की पुस्तक "शैली विज्ञान और आलोचना की नई भूमिका" म देखा जा सकता है, जहाँ उन्होंने केदारनाथ सिंह की "अनागत" कविता की बिम्बयोजना की वाक्यविश्लेषण के आधार पर व्याख्या की है और इस व्याख्या को बीजगणितात्मक सूत्र शैली में भी पेश किया है। पर सवाल उठ सकता है, भले ही व्याकरणिक या भाषावैज्ञानिक दृष्टि से काव्य-भाषा का यह विश्लेषण कितना ही उपादेय हो, क्या यह काव्य की प्रभा-वान्विति और भावबोध के ग्रहण में कोई योग दे सकता है, और क्या यह व्याख्या और विश्लेषण विवेच्य कविता के सामाजिक संदर्भ को भी व्याख्यायित कर सकते हैं? यदि नहीं, तो ये समीक्षा-सरणियाँ कहाँ तक काव्य समीक्षा में पूरी तरह मान्य हो सकेंगी? ऐसा जान पड़ता है, संरचनावादी और शैलीवैज्ञानिक समीक्षा हमें एक ओर या तो कविता को महज व्यक्तिवादी नजरिये से देखने का चश्मा दे सकती है, या ऐसी खुर्दबीन, कि हम यांत्रिक विधि से काव्य-भाषा का अणुवीक्षण कर सकें। ये पद्धतियाँ काव्य-भाषा के आंशिक महत्व को ही व्यक्त कर सकती हैं, जहाँ काव्य का सामाजिक सन्दर्भ नजरंदाज कर दिया जाता है। और सवाल उठ सकता है कि ऐसी समीक्षा पर अधिक जोर देना रचना के लिए कहाँ तक हितावह होगा?



संवेदनता-विच्छेद : एक पुनरावलोकन*

डा० रामस्वरूप शर्मा

'रीडर' अंग्रेजी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

टी० एस० एलियट पहले आलोचक कवि हैं जिन्होंने संवेदनता-विच्छेद (Dissociation of sensibility) पद का प्रयोग किया तथा उसकी व्याख्या की। उन्होंने संक्षेप में इसका वर्णन करते हुए इसे चिन्तन एवं अनुभूति का पृथक्करण बताया है और कहा है कि यह एक ऐसी दशा है जो कि डन के समय तथा टेनिसन और ब्राउनिंग (मिल्टन व ड्राइडेन सहित) के जीवन काल के बीच समाज में व्यापी तथा अद्यावधि चल रही है। इस लेख का अभिप्राय एलियट के इसी सिद्धान्त का निरूपण है।

इस लेख में संवेदनता-विच्छेद का सम्वन्व मानव, मन की गुह्य क्रिया प्रणाली से स्थापित किया गया है तथा यह सिद्ध किया गया है कि वास्तव में यह दशा ब्रितानिया में डन (Donne) के पहले प्रादुर्भूत हुई तथा इसका सम्बन्ध कवि की निजी क्राइसिस (crisis) से ही नहीं अपितु विशिष्ट काल में मानव मन की क्रिया प्रणाली से है।

लार्ड हर्बर्ट तथा टेनिसन की पंक्तियों की तुलना पर टिप्पणी करते हुए एलियट लिखते हैं :—

"यह अन्तर दो कवियों के बीच मात्रात्मक साधारण अन्तर नहीं है। यह ऐसा कुछ है जो कि डन या लार्ड हर्बर्ट आफ चरबरी के जीवन काल तथा टेनिसन और ब्राउनिंग के समय के बीच ब्रितानिया के मस्तिष्क पर घटित हुआ। यह बौद्धिक कवि एवं भाव ग्राही कवि (reflectine) के बीच का अन्तर है···डन के लिये विचार एक अनुभव था; वह उसकी संवेदनता को रूपान्तरित करता था दूसरा (साधारण मनुष्य) प्रेम में फँसता है अथवा स्पिनोज़ा को पढ़ता है और इन दो अनुभवों का परस्पर या टाइपराइटर की आवाज अथवा पकने भोजन की महक से कोई सरोकार नहीं होता। कवि के मस्तिष्क में ये अनुभव सदैव नयी इकाइयाँ बनाते रहते हैं।

इस अन्तर को हम निम्नलिखित सिद्धान्त द्वारा अभिव्यक्त कर सकते हैं। सत्रहवीं शताब्दी के कवि, जो कि सोलहवीं सदी के नाटककारों के उत्तराधिकारी थे, ऐसी संवेदन रचना के अधिकारी थे जो कि किसी भी प्रकार के अनुभव हजम कर सकती थी।

सतृहवी शताब्दी में संवेदनता-विच्छेद प्रारंभ हुआ जिससे हम कभी भी मुक्त नहीं हो पाये। और यह विच्छेद, जैंसा कि स्वाभाविक है, उस सदी के दो शक्तिशाली कवियों के प्रभाव से बदतर हो गया। ये दो कवि हैं मिल्टन और ड्राइडन। इनमें से प्रत्येक

* लेखक के शोधपत्र, "Dissociation of sensibility : A Reappraisal" पर आधारित।

व्यक्ति ने कुछ एक काव्यीथ प्रक्रियाओं को इतना बखूबी किया कि उनके परिणाम की महत्ता से अन्य काव्यीय प्रक्रियाओं की अविद्यमानता छिप गई।"[१]

यह सिद्धान्त प्रायः मान्य है। यह सच है कि इनके बाद के कवि—महान् कवि भी–अक्सर विचार और अनुभूति को एकरस करने में असफल रहे। वे या तो चिन्तनमय होते या भावनामय. या तो विचारवान या भावुक पर कदाचित् ही वह चिन्तन एवं अनुभव एक साथ करते। परिणामस्वरूप "टामस ग्रे की कविता कन्ट्री चर्चयार्ड में अभिव्यक्त संवेदना (टेनिसन और ब्राउनिंग की बात ही क्या) एन्ड्रयु मारवेल की कविता क्वाय मिस्ट्रेस में निहित संवेदना की अपेक्षा भद्दी है।" मिल्टन का महाकाव्य पैराडाइज् लास्ट विचार और अनुभूति के स्वतन्त्र होने का उदाहरण है। उसके गणतन्त्रात्मक विचार गलत स्थान पर उभर कर सेटन में ऐसी गरिमा भर देते हैं जो कवि की उद्देश्य नहीं थी। उसको तर्क बुद्धि ने उसकी आस्था से अलग हो कर ईश्वर को एक सत्रहवी शताब्दी के प्राध्यापक का रूप दे दिया। जैसे ही हम मिल्टन की कृति में निहित विभिन्न प्रेरणाओं का जिक्र करते हैं वैसे ही संवेदनता-विच्छेद की समस्या और अधिक जटिल मालूम पड़ती है।[२] अस्तु यह अपेक्षित है कि इस विषय का निरीक्षण और गहराई में किया जाय जिसमें न केवल कवि के मस्तिष्क का वरन् मानव मस्तिष्क तथा सामाजिक स्थिति, जिससे ये दोनों उठे हैं, का भी विश्लेषण हो सके। कोई कविता कितनी भी सार्वभौमिक (universal) क्यों न हो, समसामयिक सामाजिक एवं मानसिक दशाओं का ज्ञान उसको पूर्णरूपेण समझने में सहायक ही होता है। जिस प्रकार एक साहित्य रचना सामाजिक स्थिति को उजागर करती है उसी प्रकार पृष्ठभूमि रचना की व्याख्या करती है। सामाजिक रुख और मनुष्य की मनोदशा में जो परिवर्तन होता है वह देर सबेर साहित्य में परिलक्षित हो ही जाता है। अस्तु साहित्यिक प्रवृत्तियों के पीछे सदा ही तदनुकूल (corresponding) सामाजिक परिवर्तन होते हैं। वे वात सूचक की भाँति एक पीढ़ी की दिशा निर्दिष्ट करते हैं।

सत्रहवीं शताब्दी का संवेदनता-विच्छेद रिनैसान्स (Renaissance) काल के मानव के व्यक्तित्व में आये परिवर्तन का सूचक है। किन्तु सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के व्यक्ति का अध्ययन करने के पहले यह कह देना उचित है कि मानव-मस्तिष्क के विकास में कभी भी एकरसता नहीं रही। जब इतिहास में कोई मोड़ आता है तो कई विसंगतियाँ

---

[१] T. S. Eliot : "The Metaphysical poets." Selected Essays (London 1932) p. 288

[२] उदाहरणार्थ मिल्टन के व्यक्तित्व में अत्यधिक जटिल संरचना विद्यमान है प्रवृत्तियों और भावनाओं का एक समूह जो मुख्यतः अप्रिय है सुपर-एगो (super-ego) से तालमेल नहीं खाता। सौरा अपनी पुस्तक मिल्टन : मैन एण्ड थिंकर, लन्दन, १९४६, पृष्ठ १८४) में स्पष्ट करते हैं। मिल्टन के भीतर सैटन था जिसे वह निकाल बाहर करना चाहता था। उन्होंने आवेश अभिमान और विषया शक्ति का अनुभव किया था।"

उभर कर सामने आ जाती हैं—बीते युग के 'भूत' और भविष्य की पूर्वछायायें समाज में एक साथ दिखाई देती हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि सर टामस मोर (SirThomas More) तथा बेकन (Bacon) के जीवन काल के बीच इग्लैंड के मस्तिष्क को कुछ हो गया—एक ऐसा महत्वपूर्ण मानसिक परिवर्तन जिसकी अभिव्यंजना फास्टस, हैमलेट, तथा मैकबेथ के चरित्रो में हुई। मनुष्य का व्यक्तित्व विघटन की प्रक्रिया में था और संवेदनता-विच्छेद उसका एक मात्र पहलू था। व्यक्तित्व का विघटन तीव्र द्वन्द्व से पैदा होता है। यह द्वन्द्व या तो बाह्य होता है या 'मानसिक'। रिफार्मेशन से मिश्रित इंग्लैंड के रिनैसान्स काल दोनों प्रकार का द्वन्द विद्यमान था। नरेश हैनरी अष्टम तथा मैरी के शासनकाल में कैथलिकों तथा प्रोटेस्टैन्टों के बीच का संघर्ष वाह्य द्वन्द्व था। इसके प्रसिद्ध उदाहरण हैं टिन्डल (Tyndol) तथा सर टामस मोर। तथापि इनमें व्यक्तित्व का विघटन नहीं हुआ क्योंकि दोनों को मौत के घाट उतार दिया गया। जोन आंफ आर्क (Joan of Arc) इस प्रकार के व्यक्तित्व का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है जिसने कि अन्तर्द्वन्द्व कभी भी महसूस नहीं किया। पर हेनरी अष्टम तथा खूनी मेरी की उन अनेक प्रजागण का क्या हुआ। जिनका धार्मिक विश्वास टिन्डल तथा मोर का ही था, पर उनमें स्वधर्म के लिये मर मिटनें का साहस नहीं था। वाह्य संघर्ष उनके मानस में उतर गया और उसने बहुतेरे लोगों के व्यक्तित्व में मानसिक प्रक्रियाओं का विच्छेदन कर दिया। इसके अतिरिक्त रिनैसान्स के सौंदर्य पन्थ तथा मध्य युग से आ रहे सदाचार पन्थ के बीच चुनाव की समस्या भी द्वन्द्व का कारण थी। दूसरी ओर प्रोटेस्टैंटिज्म मनुष्य को झकझोर कर पुरानी धर्म परम्परा से जूझने को तत्पर कर रही थी, जिससे कि उसके स्नायुओं पर गंभीर बोझ पड़ रहा था। संघर्ष का एक और रूप इन्लाइटेनमेंट (Enlighenment) तथा स्कोलैस्टिसिज्म (Scholasticism) के बीच सक्रिय था। गैलीलियो (Galileo) के मस्तिष्क के लिये यह बात कितनी ध्वंसक रही होगी कि उसे धर्मन्यायाधिकरण के सामने अपने वैज्ञानिक जाँच परिणामों को मिथ्या घोषित करना पड़ा जब कि अपने तईं उसे पूरा विश्वास था कि पृथ्वी सूर्य के चारों ओर यथार्थ में घूमती है।

इस प्रकार मानव के व्यक्तित्व में एक आमूल परिवर्तन हुआ तथा सोलहवीं सदी के जीवन और साहित्य दोनों में विछिन्न संवेदनताओं का छिड़काव देखने मे आता है जो कि समय बीतने के साथ-साथ बढ़ने लगा। मार्लों (Marlowe) के जीवन और कृतियों में इस महत्वपूर्ण परिवर्तन का सुस्पष्ट उदाहरण मिलता है। तैमूर लंग (Tamburane) से प्रारम्भ करना ठीक होगा। मार्लो का तैमूरलंग एक ऐसा प्राथमिक चरित्र है जिसकी मानसिक शक्तियाँ संयुक्त रूप से एक ही दिशा में प्रवाहित होती हैं चाहे अच्छे के लिये या बुरे के लिये। विकराल नरमेधों में उसको जो आनन्द मिलता है वह विशुद्ध है इस माने में कि उसमें किसी प्रकार का आक्रोश या ग्लानि मिश्रित नहीं है :

(Millions of souls sit on the banks of Styx, Waiting the back return of Charou's boat; Hell and Elsium swam with ghosts of

men,/That I have sent from sundry foughten fields/To spread my fame through hell and up to heaven.[1]

(Tamburlane the Great)

प्रसंगतः यदि इस सिद्धान्त की सम्भावना को स्वीकार कर लिया जाय तो चौदहवीं और पन्द्रहवीं शताब्दियों के साहित्य में चित्रित एकढ़ंगे (type) चरित्रों की सत्यता एवं कल्पना समझ में आ जाती है। यह बात भी प्रत्येय है कि फास्टस (Faustus) तथा तैमूरलंग का चित्रण करने में मार्लो मुख्यतः अपना स्वयं का तथा अपने समसामयिकों का चरित्र चित्रित कर रहा है, न कि ऐतिहासिक व्यक्तियों का। इतना तो सच ही है कि इन ऐतिहासिक पुरुषों की कल्पना लेखक अपने अनुभवों के माध्यम से करता है। मार्लो का नायक वास्तविक डाक्टर फास्टस की अपेक्षा नाटककार तथा सोलहवीं सदी की आत्मा के अधिक समीप है। डाक्टर फास्टस का चरित्र दिलचस्प इसलिये है कि उसमें व्यक्तित्व के विघटन की प्रक्रिया साफ नजर आती है। यहाँ यह कहना आवश्यक है कि विघटन का क्षेत्र संवेदनता-विच्छेद से कहीं अधिक व्यापक है। इसमें चेतन तथा अवचेतन मस्तिष्क, संकल्पशक्ति, अन्तर्ज्ञान, संवेदन विचारण तथा कल्पना शामिल हैं। टी० एस० एलियट ने परिवर्तन को केवल संवेदन तथा मनोभाव तक सीमित रखा है। चूंकि संकल्पन, विचारण, मनोभाव, स्मरणशक्ति तथा तर्कशक्ति सभी काव्यक्रिया से चेतन या अवचेतन स्तर पर सम्बन्धित हैं हम अपने निरूपण में इनको छोड़ नहीं सकते। डाक्टर थास्टस के व्यक्तित्व में तर्क शक्ति, संकल्प शक्ति, तथा आस्था (जो अन्तर्ज्ञान का प्रतिनिधित्व करता है) एक दूसरे से विसंगति में हैं। प्रारम्भ के दृश्यों मे हम देखते हैं कि इस महान् ऐन्द्रजालिक ने मिथ्या तर्क से अपनी मनःशक्ति को काबू में कर रखा है, पर वास्तव में संघर्ष अन्तर्मुखी हो गया है और निरुद्ध अन्तरात्मा अवसर की खोज में रही तथा अन्त में ज्वालामुखी की भाँति उभर पड़ी :—

Stand still, yon ever-moving spheres of heaven,/That time may Cease, and midnight never Come;/Fair Nature's eye, rise rise,rise again, and make/Perpetual day, or let this hour be but/A year, a month, a Weak, a natural day,/That Faustus may repent and saue his sovl ![2]

---

[1] बहुसंख्यक आत्माये स्टाइक्स के किनारे पर बैठी चारन के नाव के लौटने की प्रतीक्षा करती हैं। स्वर्ग और नरक उन मनुष्यों के प्रेतों से खचाखच भरे हैं जिन्हें मैंने विभिन्न युद्ध भूमियों से भेजा है ताकि वे मेरे यश को अधोलोक से लेकर स्वर्ग तक फैला दें।

[2] स्थिर हो जाओ तुम सदागामी आकाश पिण्डों ताकि समय रुक जाये और अर्धरात्रि कभी न आये। सुन्दर प्रकृति के चक्षु, उठो, फिर उठो और निरन्तर दिवस कर दो अथवा इस प्रहर को एक वर्ष, एक मास, एक सप्ताह, एक प्राकृतिक दिन हो जाने दो ताकि फास्टस पश्चाताप कर सके और अपनी आत्मा को नरक से बचा ले।

उत्तर रिनैसान्स के विघटनशील व्यक्तित्व का पूर्ण अध्ययन हमें शेक्सपियर में मिलता है। हैमलेट, ओथेलो, मैक्वेथ, तथा लीयर इस अध्ययन के सर्वोत्कृष्ट नमूने हैं। हैमलेट में केवल तर्क शक्ति और संकल्पशक्ति का ही विरोध नहीं है बल्कि विभिन्न पात्रों के प्रति उसके मनोभाव भी विसंगत हैं। ओथेलो के मन में यागो ने जो जहर भर दिया उसके फलस्वरूप उसका मानसिक सन्तुलन बिगड़ गया और ईर्ष्या की भावना ने उसके आधे व्यक्तित्व को अन्धा कर दिया और तर्कशक्ति का ह्रास हो गया। मैक्वेथ और लियर के मन में भी द्वन्द्व निश्चित रूप से विद्यमान है। लेडी मैक्वेथ की तुलना ईस्किलस की क्लाइटेम्नेस्ट्रा (Clytemnestra) से की गई है। किन्तु उन दोनों के व्यक्तित्व-परिस्थितियों के बीच जिस प्रकार गुजरते हैं वह सर्वथा भिन्न है। क्लाइटेनेस्ट्रा एक सम्पूर्ण व्यक्तित्व है जो कि पाषाण की भाँति ठोस है। उसकी तर्क शक्ति, उसके मनोभाव तथा उसकी कल्पना सभी पूर्ण सन्तुलन में हैं। उसमें द्वन्द्व का लेशमात्र नहीं। वह सावधानी से अपने पति की हत्या की योजना बनाती है तथा न तो हत्या के पहले और न ही हत्या के बाद उसकी अन्तरात्मा और कल्पना खेद एवं ग्लानि से पीड़ित होती हैं। दूसरी ओर लेडी मैक्वेथ को प्रारम्भ से ही अपने साहस पर भरोसा नहीं है। वह दानवी शक्तियों से प्राथना करती है कि वे उसे स्त्री प्रकृति से मुक्तकर दें ताकि वह हत्यारिणी का काम कर सके। फिर भी वह ऐन मौके पर पीछे हट जाती है क्योंकि डन्कन में उसे अपने पिता की सूरत नजर आती है। हत्या के बाद उसका मस्तिष्क विक्षिप्त हो जाता है।[५] इन दो पात्रों के बीच का अन्तर दो तथ्यों के बीच का अन्तर है यह तथ्य है चौथी शताब्दी ईसापूर्व के यूनानी तथा सोलहवीं शताब्दी के अंग्रेज।[६]

इस प्रकार मेरे विचार से संवेदनता-विच्छेद व्यक्तित्व के उस सामान्य विघटन का भाग है जो इंगलैंड में रिनैसान्स काल के आसपास प्रारम्भ हुआ। इसका कारण था मानसिक द्वन्द्व जिसको पैदा करने वाली परिस्थितियों का हमने यहाँ अध्ययन किया। टी० एस० एलियट का यह कहना कि हम अभी भी इस विच्छेद से मुक्त नहीं हुए ठीक ही जान पड़ता है। यह विघटन बढ़ता ही गया तथा इसके परिणामस्वरूप दोहरे तथा बहुखण्डी व्यक्तियों का उदय हुआ। अतएव सेक्सपियर हमें प्रधानतया इस बात से आकर्षित करता

[५] ए० निकल अपनी पुस्तक स्टडीज़ इन शेक्सपियर Studies in Shakespeare) (लन्दन, १९३१) पृष्ठ संख्या १२८ में लिखते हैं: "वह (लेडी मैक्वेथ) ऐसी स्त्री है जिसने महज संकल्प शक्ति से अपने अस्तित्व के उस अंश को अपने अन्दर ही कुचल रखा है जो सौंन्दर्य बोधी तथा सदाचारी हैं।" परन्तु उसका संकल्प दृढ़ न रह सका और उसके व्यक्तित्व का विच्छिन्न अंश एक अनोखे रूप में पुनः प्रकट हुआ।

[६] ई० हैमिल्टन ने अपनी पुस्तक ग्रीक वे (Greek Way) (न्यूयार्क, १९४८ पृष्ठ सं० २२३—३१ में लेडी मैक्वेथ तथा ईस्किलस की क्लाइटेम्नेस्ट्रा की बड़ी उपयोगी तुलना की है। उन्होंने यूरिपिडीज़ के नाटक ट्राजन वीमेन (Trojan Women) की पात्र हेक्यूबा (Hecuba) की तुलना शेक्सपियर के लियर (Lear) से की है।

है कि वह पहला आधुनिक मानव मन का प्रस्तुतकर्ता है। उसने मनुष्य के व्यक्तित्व में आये एक ऐसे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन का सजीव चित्रण अपने नाटकों में किया है जिसका सिलसिला अभी समाप्त नहीं हुआ। जैकोबियन (Jacobean) लेखक, जहाँ तक वे वस्तुस्थिति को दर्शाते हैं, तथा डन मस्तिष्क विघटन के दूसरे चरण में आते हैं। डन का विशेष महत्व है क्योंकि वह प्रगीतात्मक कवि तथा अपनी कविताओं का नायक स्वयं है। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि संवेदनता-विच्छेद का उतना सुस्पस्ट रूप अन्यत्र नहीं मिलता जितना कि डन की कविताओं में है। डन में पर्याप्त कल्पना और सनकीपने की कल्पना है जो काव्य-भावना के विकास में बाधक हैं।[७] डन में विचार एवं मनोभाव दोनों विद्यमान हैं पर कई स्थलों पर दोनों विद्यमान हैं पर कई स्थलों पर दोनों के स्वतन्त्र अस्तित्व का आभास होता है और विच्छिन्न संवेदनता का यही लक्षण है।[८]

Let me powre forth
My tears before thy face, whilst I stay here,
For thy face coins them, and thy stampe they beare
And by this Mintage they are something worth,
For thus they bee
Pregnant of thee ;
Fruits of much grief they are, emblems of more,
When a tear falls, that thou falst which it bore
So thou and I are nothing then, when on a divers shore
On a round ball
A workman that has copies by, can lay
An Europe, Afrique, and Asia,
And quickly make that, which was nothig, All
So doth each tear,
Which thee doth wear
A globe, yea world by that impression grow
Till thy tears mixt with mine doe overflow

---

[७] "वह (डन) अंग्रेजी कविता में जो भी चिढ़ पैदा करने वाला, स्वांगयुक्त तथा 'मेटाफिज़िकल' (metaphosical) है उसका जन्मदाता है।" हालांकि एक समालोचक के उक्त कथन से सहमति नहीं प्रगट की जा सकती फिर भी इस कथन में मनोवैज्ञानिक सत्य का लेश है।

[८] इन्द्रिय ग्राह्य सामग्री का बारीक विश्लेषण 'विच्छेद' का दूसरा लक्षण मालूम पड़ता है। संभवतः एलियट सर्वप्रथम डन के विश्लेषणशील मस्तिष्क से ही प्रभावित हुआ। (कृपया देखिये Matthiesen, The Achivement of T. S. Eliot, P. 10)

This world, by waters sent from thee, my hearen
dissolved so[९].
A Valediction of weeping.

चूंकि इस सम्वन्ध में कोई तटस्थ मापदण्ड नहीं प्रयुक्त किया जा सकता मैं अपनी व्यक्तिगत प्रतिक्रिया ही दे रहा हूँ। वह यह है कि प्रारम्भ की पंक्तियों में काव्य-भावना वड़े ही उपयुक्त ढंग से व्यक्त हुई है। किन्तु when a tear falls, तथा उसके वाद की पंक्तियों में यह भावना वचकाने या वकीलाने तर्क में गिर जाती है तथा रसास्वाद को फीका कर देती है। विचार और भावना घुल मिलकर एक नहीं हो पाते।

तथापि कई कवियों ने, जिनमें डन व एलियट दोनों सम्मिलित हैं, ऐसी कविताओं की रचना की है जिनमें विचार तथा भावना की तद्रूपता से एकीकृत संवेदनता की सृष्टि हुई है। ऐसा तव होता है जब कवि अपनी वैयक्तिक त्रुटियों से ऊपर उठ जाता है जो कि उसके मस्तिष्क में न केवल संवेदनता-विच्छेद वरन् मनोग्रन्थि, चिन्ता, प्रियता, अप्रियता इत्यादि के रूप में विद्यमान रहते हैं। मिल्टन, ड्राइडन, वर्ड्सवर्थ, शेली, कीट्स सभी ने उत्प्रेरणा (inspiration)[१०] के क्षणों में अपने मस्तिष्क की सीमितता पर विजय प्राप्त करके ऐसी कविता को जन्म दिया है जो न तो भावना है न विचार पर केवल काव्य।[११]

---

[९] मैं जव तक यहाँ हूँ मुझे अपने (तुम) सम्मुख अपने आंसुओं को उड़ेलने दो क्योंकि तुम्हारा मुखड़ा इन्हें गढ़ता है और तुम्हारी छाप (प्रतिबिम्ब) इन (बूंदों) पर है और इस टकसाली के कारण उनका कुछ मूल्य है क्योंकि इस प्रकार वे तुमसे गर्भित हैं।

वे विपुल व्यथा के फल हैं तथा और व्यथा के प्रतीक। जब एक आँसू गिरता है तब वह तुम, जिसे वह वहन कर रहा है, गिरती हो। इस प्रकार तव तुम और मैं विलग होकर कुछ भी नहीं जबकि किसी सुदूर तट पर वैठा एक कारीगर, जिसके पास नक्शे हैं, एक गोल पिण्ड पर एक योरप, अफ्रीका और एक एशिया वना सकता है और जो चीज कुछ भी नहीं है उसे क्षणों में सव कुछ वना देता है। इसी प्रकार प्रत्येक आँसू, जिस पर तुम विचित्र हो, उसी छाप के कारण एक ग्लोब, हाँ, एक दुनियाँ वन जाती है जब तक कि तुम्हारे आँसू मेरे आँसुओं से मिलकर इस दुनियाँ को प्लावित कर देते हैं। तुमसे प्रवाहित जलसमूहों से इस प्रकार मेरा स्वर्ग बह जाता है।

[१०] मैंने उत्प्रेरण (inspiration) शब्द का प्रयोग उस अर्थ में नहीं किया जिसमें रोमानी (Romantic) लेखक करते हैं। मेरा मतलब सर्जनात्मक विचारण की चार दशाओं में से एक से है जिनका वर्णन मनोवैज्ञानिक ग्राहम वालस Graham Wallas) ने किया है। वह इसे illumination की संज्ञा देता है।

[११] इनसे कम प्रसिद्ध कवियों के भी नाम लिए जा सकते हैं जिन्होंने संवेदनता-विच्छेद पर यदा-कदा विजय प्राप्त किया। हार्डी (Hordy) की कविता "Nature's Questionings" की पंक्तियाँ उद्धृत करने के पश्चात् वी० डी० सोला

शेक्सपियर ने यह अक्सर किया—जैसे अपने नाटक ट्रायलस एण्ड क्रेसिडा (Troilus and Cressida) की निम्नलिखित पंक्तियों में जिनमें नायक क्रेसिडा द्वारा व्यवत होने पर अपनी अन्तर्व्यथा को उद्घोषित करता है :

If beauty have a soul this is not she ;
If souls guide vows. if vows be sanctimonies,
If sanctimony be the gods' delight,
If there be rule in unity itself,
This is not she, O madness of discourse,
That cause sets up with and against itself !
Bi-fold authority ! where reason can revolt
Without perdition, and loss assume all reason
Without revolt : this is, and is not, Cressid !
With in my soul there doth conduce a fight
Of this strange nature, that a thing inseparate
Divides more wider than the sky and earth;
And yet the specious breadth of this division
Admits no orifex for a point, as subtle
As Ariachne's broken woof to enter.[१२]

(Act. V, Se. II)

पिन्टो (V. de Sola Pinto) अपनी पुस्तक Grisis in English Poetry पृ० ४२–४३ में लिखते हैं : "इस तरह की रचनाओं में हार्डी ने मेघा तथा कल्पना के विक्छेद की प्रक्रिया को, जिसका प्रारम्भ समालोचक सत्रहवीं सदी के मध्य में पाते हैं, परिवर्तित किया है तथा संवेदनता का नया एकीकरण किया है।"

[१२] यदि सौंदर्य को आत्मा होती है तो यह वह (क्रेसिडा) नहीं है। यदि आत्मा वायदों को निर्दिष्ट करती है, यदि वायदे पावन कर्म हैं, यदि पावनकर्म देवताओं का आह्लादक हैं, यदि स्वयं एकत्व में व्यवस्था है तो यह वह नहीं है। ओह तर्कणा का पागलपन, जो मुकदमा अपने पक्ष और विपक्ष दोनों में स्थापित करती है। दोहरी सत्ता ! जहाँ तर्क बिना नारकीय दण्ड पाये विद्रोह कर सके तथा हानि बिना विद्रोह किये पूर्ण तर्कसंगत हो : यह क्रेसिडा है भी, और नहीं भी ! मेरे हृदय में इस विचित्र प्रकार का अन्तर्युद्ध उभड़ रहा है कि एक ही अविच्छिन्न वस्तु (व्यक्ति) आकाश और पृथ्वी से अधिक दो-फाँक है। और फिर भी इस विभाजन की चौड़ाई में एक भी ऐसा छिद्र नहीं है जो इतना भी सूक्ष्म हो कि अरियांवनी (Ariachne) का टूटा बाना उसमें प्रवेश पा सके।

संरचनात्मक समीक्षा (कहानी) : संदर्भ 'भेड़िए'*

डॉ० शुकदेव सिंह

और अन्य समीक्षा पद्धतियों की तरह संरचनात्मक समीक्षा की भी यही नियति है कि वह ज्यादा से ज्यादा कविता पर लागू हो। भरत के 'नाट्यशास्त्र' में निरूपित रस सिद्धान्त का क्या हश्र हुआ? नाटक के लिए बना सिद्धान्त कविता पर लागू होकर रह गया। ध्वनिसिद्धान्त, औचित्य, वक्रोक्ति, रीतिसिद्धान्त जैसे सभी सिद्धान्त कविता के संदर्भ में ही इस्तेमाल होते रहे हैं। कभी भी किसी ने न तो काव्येतर समीक्षासिद्धान्त गढ़ने की आवश्यकता समझी और न इस संदर्भ में गंभीर समीक्षाएं ही हो पायीं। शायद यह इसलिए होता है कि कविता की समीक्षा करना ज्यादा सुविधाजनक है। नया से नया समीक्षक कविता पर लिखते समय बनी बनायी पद्धतियों का उपयोग कर लेता है। टीका अनुवाद, भाष्य और भूमिका के बल पर समीक्षक का गौरव प्राप्त करने वाले पंडितों के लिए कविता से ज्यादा और कविता के अलावा साहित्य होता ही नहीं। ऐतिहासिक समझदारी से कटे हुए और तमाम तरह की गद्यविधाओं के विशाल भाण्डार से अपरिचित कुछ पंडित ऐसे भी हैं जो खुलेआम यह कह देते हैं कि कहानी पंडितों का विषय नहीं है। गद्य की ओर अपनी पूरी वाक्यात्मकता में विकसित होने वाली आधुनिक कविता भी उनके लिए शायद कविता नहीं है। क्योंकि, आधुनिक कविता साहित्यिकता की सारी शक्तियों को आत्मसात करते हुए अब बहुत दूर तक गद्य के पास चली आयी है। पुरानी समझदारी के पंडितों के लिए कहानी ही नहीं; आधुनिक कविता भी गंभीर विषय नहीं है।

कहानी अपेक्षाकृत जटिल साहित्यविधा है। इसलिए कि कविता की तरह तुक, लय और कई तरह की भाषाविरोधी परम्पराओं का कहानी में कम इस्तेमाल होता है। कहानी, प्रजातीयमिथकों, प्रतीकों, कविसमयों और बिम्बो जैसी संकेतग्रह से जुड़ी हुई ईकाइयों का भी इस्तेमाल नहीं करती। वह जीवन की भाषा में जीवन की गति के साथ बहुत घनिष्ठ भाव से जुड़ी रहती है। इतना तो जाहिर है कि कहानी की भाषा-संरचना अपने सरफेस स्ट्रेक्चर (बाह्य तंत्र) में कविता की तरह कृत्रिम, विस्यमकारक, गढ़ी हुई और भाषा की सामान्य प्रक्रिया और उसके क्रम-विधान से एलहदा नहीं होती। लेकिन कहानी का अदना से अदना पाठक यह जानता है कि कोई भी अच्छी कहानी उपन्यास, नाटक और कविता की ही तरह लेखक का वक्तव्य या भाषण नहीं होती, रचना होती है। जो लोग कहानी को भाषण, वक्तव्य या किस्सा समझते हैं, उनके लिए स्पष्ट ही कहानी, न रचना है, न विधा है, न साहित्य है।

कहानी की रचनात्मकता को समझने के लिए कहानी के भाषातंत्र के दोनों स्तरों के अनेक उपस्तरों की जानकारी जरूरी है। कहानी क्यों वक्तव्य या किस्सा नहीं है, इसे समझने के लिए, कहानी के भाषातंत्र के बाह्यस्तर में संज्ञाओं का चयन, स्थितियों का चयन, किस्से के कालक्रम में निर्धारित घटनाओं का चयन जैसे तीन तरह के चयन बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। क्यों कोई लेखक इश्तहार की जगह खाद को चुनता है? क्यों एक निर्मम

* 'भेड़िए' भुवनेश्वर की प्रसिद्ध कहानी है। कहानी के लिए देखिये लेखक की पुस्तक 'भुवनेश्वर की रचनाएँ'।

और अमानवीय वक्तव्य को प्रस्तुत करने के लिए वीरान, रेगिस्तान, उसमें मीलों दूरी से दौड़ते हुए भेड़िए के झुण्ड को और उनसे लड़ते हुए नटों की एक ऐसी टोली का चयन करता है जो जीवन और मरण का प्रश्न उपस्थित होने पर सामानों, बैलों, जूतों की तरह तीन खूबसूरत औरतों को भेड़िओं को चट कर जाने के लिए छोड़ देता है। इफ्तख.र के खारु में वदल जाने की नियति के बीच एक लम्बा रेगिस्तान, दौड़ते हुए भेड़िए, भागता हुआ गड्डा और भावना विहीन ढंग से फेंके जाते हुए सामान और औरतें और बूढ़ा आदमी ऐसी स्थितियाँ हैं जो किसी भी इफ्तखार को खारु बना सकती हैं। इन स्थितियों को रूपान्तरित करने के लिए लेखक तीन घटनाओं का चयन करता है। इन घटनाओं का भाषान्तरण और अन्य संभावित घटनाओं को छोड़ना रचना की मांग के कारण है।

पहली घटना है—भेड़िए की बढ़ती हुई भीड़ से बचने के लिए वाप के संकेत पर खारु, तीन वैलों में से एक वैल को खोल लेता है और फिर तीन में से सबसे मोटी नटिनी को उठाकर झुलाकर भेंड़ियों के लिए फेक देता है जैसे वह औरत न हो, सामान हो। नटिनी भागती है, फिर घूमकर खड़ी हो जाती है—यह जानकर कि भागना बेकार है और फिर भेड़िओं के बीच ऐसी खो जाती है जैसे कुएं में गिर पड़ी हो।

दूसरी घटना है · खारू अपने वाप या बड़े मियां के संकेत पर एक वैल को और खोल लेता है। वैल के खुलने पर वड़े मियां की आंखों में आंसू आ जाते हैं लेकिन, भेड़िए पानी की तरह वढ़ते आते हैं। इसलिए बड़े मियां हुक्म देते हैं कि दूसरी लड़की भी फेंको और दूसरी लड़की भी सामांन की तरह गिरा दी जाती है। वह जैसे गिरती है वैसे ही पड़ी रहती है। तीसरी लड़की, जिससे इफ्तखार का वास्ता है, जव फेंके जाने की हालत में होती है तो इफ्तखार कहता है कि तुम खुद कूद पड़ोगी या मैं तुम्हें ढकेल दूं। लड़की चाँदी का नथ उतारकर देती हुई बाहों से आंखें बन्द किए भेड़िओं के बीच कूद पड़ती है।

तीसरी घटना और दहशत से भरी हुई है। जब खारू का बाप कहता है कि मैं बूढ़ा आदमी हूँ। मेरी जिन्दगी खत्म हो गई है, मैं कूद पड़ूंगा। बूढ़ा बाप मरने के पहले अपने नये जूते बेटे के लिए छोड़ता है और कहता है कि मरे हुए आदमी के जूते नहीं पहने जाते। तुम इन्हें वेच देना।

ये तीन घटनाएँ इतनी सावधानी से चुनी गई हैं कि इनके घटते-घटते बाकी जिन्दगी के लिए इफ्तखार, खारू बन जाता है और उसकी आँखों में एक अनहोनी कठिनता आ जाती है।

घटनाओं और स्थितियों की कहानीकार ने इतनी बारीकी से चुना है कि इसे एक संज्ञा से विकसित दो संज्ञा स्तरों के कारण के रूप में बिठा दिया है। किसी भी कहानी या इस कहानी में संज्ञा चयन की इस बारीकी को और घटनाओं और स्थितियों के अन्त संवन्ध को कोई टीका पंडित कतई नहीं समझ सकता।

कहानी के रचनातंत्र को समझने के लिए यह जानना जरूरी है कि नाम, स्थितियों और घटनाओं के चयन को रचनात्मक क्रिया में बदलने के लिए लेखक किस तरह के शब्दों का चयन करता है। प्राय: ही कहानीकार वाक्य नियामक शब्दों की विभिन्न कोटियों की सहायता से नाम को रूप अर्थात् व्यक्ति अर्थात् जीवन में रूपान्तरित करना चाहता है।

यह रूपान्तरण सृष्टि के समानान्तर पुनर्सृष्टि जैसा होता है। आयु, रंग, बोल-चाल जैसी अनेकमुखी व्यक्तिता को लेखक भाषा के द्वारा ही स्थिर करता है। 'भेड़िए' कहानी में इस तरह की व्यक्तित्वनियामक तीन ईकाइयों चुनी जा रही हैं। ये तीनों ईकाइयाँ लेखकीय हैं। नाटक में रंगनिर्देश की तरह ये सूचनात्मक हैं। लेकिन इन ईकाइयों में दी गई सूचनाएँ व्यक्तित्वरचना का अर्थ ग्रहण कर रचनात्मक हो जाती हैं।

(१) उसका असली नाम शायद इफ़्तखार या ऐसा ही कुछ था पर उसका लघुकरण खारू बिलकुल चस्पा होता था। उसके चारो ओर ऐसी ही दुरूह, दुर्भेद्य कठिनता थी। उसकी आँखें ठंढी और जमी हुई थी और घनी सफेद मूँछों के नीचे उसका मुख इतना ही अमानुषी और निर्दय था जितना एक चूहेदान।

पांच क्रियाओं से बंधे विशेषणों के द्वारा इस व्यक्तिनियामक अंश की रचना की गई है। व्यक्ति की रचना के लिए विशेषणों का पैटर्न चार बार दुहरा कर इस्तेमाल किया गया हैं। दुरूह, दुर्भेद्य, ठंढी, जमी, घनी, सफेद, अमानुषी, निर्दय जैसी विशेषण इकाईयां कई भाव वाचकों और सादृश्य सूचक वाचकों से होती हुई एक व्यक्तिवाचक में अतिक्रमित होती हैं।

(२) जीवन से वह निपटारा कर चुका था। मौत उसे नहीं चाहती थी पर तब भी वह समय के मुँह पर थूककर जीवित था। तुम्हारी भली या बुरी राय की परवाह किए बिना भी वह कभी झूठ नहीं बोलता था और अपने निर्दय कटु सत्य से मानो वह दिखला देता था कि सत्य भी कितना ऊसर और भयानक होता है।

यह भाषिक ईकाई भी व्यक्ति नियामक है। पहली इकाई में विशेषणों की आवृतियाँ हैं जो दूसरी ईकाई में केवल सूचनाएं एक दूसरे से जुड़ती हुई अन्ततः व्यक्तित्व सूचक अर्थात् व्यक्तित्व नियामक बन जाती हैं। स्पष्ट ही पहली ईकाई और दूसरी ईकाई के रचना पैटर्न में अन्तर है और यह अन्तर रचनात्मकता की माँग के कारण है। इस ईकाई में सात वाक्य घटक इस्तेमाल किए गए हैं। पहले दूसरे वाक्य घटक स्वतंत्र हैं तीसरा दूसरे से जुड़ा हुआ है। चौथा वाक्य घटक पाँचवें, छठवें, सातवें को मिश्रित करता हुआ सूचना को एक ऐसा रचनात्मक पैटर्न देता है जिसे हम 'परसनालिटी शेपिंग' कह सकते हैं। इस ईकाई में ६ क्रियाएं व्यवहृत हैं लेकिन इन छः क्रियाओं की क्रियात्मकता से अर्थ-क्रियात्मक घनत्व, नामिक ईकाइयों अर्थात् उद्देश्यस्तरीय वाक्य खण्डों में है।

(३) उसकी आंखों में एक अनहोनी कठिनता आ गई और वह भूखा, नंगा उठकर सीधा खड़ा हो गया।

यह ईकाई कहानी का अंतिम अंश है और आरंभिक दो ईकाईयाँ कहानी के शुरू में आई हैं। इस तरह लेखक ने व्यक्तित्व नियामक आरंभिक सूचनाओं को व्यक्तित्व निर्णायक सूचना तक बदला है। इस ईकाई में केवल दो क्रियाएँ हैं। लेकिन विशेषणों का दुहरापन यहाँ भी अनहोनी कठिनता, भूखा नंगा जैसे घटकों में साथ दिखाई पड़ता है। अर्थात् कहानी की सृजन प्रक्रिया और सृजन क्रिया में सीधा साक्षात्कार है।

व्यक्ति सूचन और व्यक्तित्व निर्णय के बीच लेखक ने १४७ पंक्तियों का उपयोग किया है। ये पंक्तियां स्थिति सूचन और घटना-वर्णन के रूप में प्रयुक्त हुई हैं। स्थूल

रूप में भाषिक क्रिया को इन्हीं दो हिस्सों में बाँटा गया है लेकिन इन दो हिस्सों के बीच जीवन से संग्राम करते हुए एक आदमी के आस-पास ऐसी विरोधी जटिलताओं को उपस्थित किया गया है जिसके भीतर सारी मानवीय संभावनाएँ निरस्त हो जाती हैं। वह मृत्यु को इस सीमा तक झेल चुका है कि मृत्यु के मुँह पर थूककर वह जीवित है। मानवीय संभावनाओं के निरस्त होने की प्रक्रिया को 'टेरर' की कई इकाइयों में भाषान्तरित किया गया है। कहानी के भीतर आदमी की शख्सीयत को मार देने वाला जो खौफ है वह इतना तेज है, जितना रेगिस्तान में दौड़ता हुआ एक गड्डा। उतना तेज है, जितना जिन्दा आदमी का पीछा करता हुआ भेड़ियों का एक समूह। उतना तेज है, जितना आदमी के भीतर जिन्दगी की खत्म होती हुई दिलचस्पियों की रफ्तार। इस तिहरी तेजी को कहानीकार ने वर्णनात्मक आधिसूचन, संवाद और क्रियार्थसूचन जैसी तीन भाषा ईकाइयों की सहायता से रूपान्तरित किया है। इन तीनों ईकाइयों के बीच एक गहरा सम्बन्ध है। सारी चीजें जितनी तेज रफ्तार में होती हैं उसे उतने ही तेज भाषण अर्थात् गतिपूर्ण भाषा से उपस्थित किया गया है। भाषा की तल्खी के लिए लेखक ने वाक्यों को चुना है। वाक्यों के भीतर बड़ी सावधानी से ऐसी नामिक और आख्यात ईकाइयाँ इस्तेमाल की गई हैं कि वाक्य, वस्तु की गति के साथ चल सकें। भाषा विषयक हर संभव सज्जा को अर्थात अर्थबोध की लक्षणिकता को, १४७ पंक्तियों में पूरी तरह हर जगह अस्वीकार किया गया है। इस तरह इन १४७ पंक्तियों का एक गत्वर, कंपनशील, वाक्यीय आरेख बनता है। यह वाक्यआरेख, वस्तु की शक्ति का सीधा सपाट रूपान्तरण है। कमजोर बयानबाजों की तरह अनूदन नहीं है। कहानीकार की वाक्यचयन—क्षमता को समझने के लिए 'आर्टिकूलेट इनर्जी' में डोनाल डैवी के वक्तव्य का स्मरण किया जा सकता है। उसने कहा है "वाक्य-विन्यास का परित्याग, स्नायुदौर्बल्य का सूचक है।" अर्थात् रचनाकार में यदि जीवन को जीवन की तरह, सत्य को सत्य की तरह, गहरी बेसरोकारी के साथ रच लेने की क्षमता है तो तय है कि उसका सृजन, जीवन का पुनसृर्जन होगा। उसमें अलंकार, बिम्ब, रूपक, मिथक, प्रतीक या ऐसी भाषा के वाक्-विरोधी लटके आएंगे ही नहीं।

कथा-वस्तु का १४७ पक्तियों में जो वाक्य आरेख बनता है वह एक लम्बा संवाद है। इस संवाद को आप मोनोलाग भी कह सकते हैं। इस मोनोलाग के भीतर सूचनात्मक और संवादपरक दो स्तर एक निर्धारित पैटर्न में बदलते रहते हैं। सूचनातमक ईकाइयाँ २५ हैं जिन्हें मोनोलाग के भीतर खारू, सूचना और संवाद में तोड़-तोड़ कर इस्तेमाल करता है। संवादपरक ईकाइयों में १६ संवाद खारू के बाप के हैं। ये सूचनातमक ईकाइयों से अलग हैं। इस प्रकार इकतालिस भाषा ईकाइयों की सहायता से एक मोनोलाग बनता है। ये सारी की सारी ४१ ईकाइयाँ, क्षिप्र अतीतदृक संवादों में चलती हैं। इनकी व्यवस्था कथा-वस्तु, अर्थात् लेखकीय वक्तव्य से पात्र वक्तव्य में इफ्तखार के खारू बनने के क्रम में हुई है। इस दृष्टि से 'भेड़िए' कहानी के, किस्से और रचना का अन्तर समझा जा सकता है। यह समझदारी भाषा संरचना की सहायता से बनायी जा सकती है। क्योंकि किसी भी रचना का कौशल मूलतः और अन्ततः भाषा में ही बनता है।

—————

कबीर काव्य पर औपनिषद प्रभाव

डॉ० राधेश्याम दूबे
सान्ध्य महाविद्यालय, का० हि० वि वि०

हिन्दी के भक्तिकालीन साहित्य के अन्तर्गत कबीरदास का व्यक्तित्व सर्वाधिक विवाद का विषय रहा है। प्रायः उनके ऊपर नाना प्रकार के मतों का मिश्रण करने का आरोप किया जाता रहा है। इससे एक कदम और आगे बढ़कर उन्हें सारग्राही, सामंजस्यवादी आदि कहा गया है। इतना ही नहीं, कबीर को नाथों, बौद्धों, सूफियों अथवा इस्लाम मत के प्रभावान्तर्गत स्वीकार किया गया है। इस प्रकार इन विविध मत-मतान्तरों के सन्दर्भ में कबीर पर विचार किया जाए तो वे एक 'खिचड़ी-मत' के प्रतिष्ठापक प्रतीत होते हैं, अथवा उनकी कोई परम्परा निर्दिष्ट नहीं हो पाती है। प्रस्तुत लेख में इसी समस्या पर विचार-विमर्श किया गया है।

विचारों का कालक्रमितप्रवाह ही विचारधारा है जिसके अन्तर्गत कालक्रमानुसार परिवर्तन सम्भाव्य होता है। फिर भी मूल विचारों की धारा सतत प्रवाहशील रहती है, भले ही उसमें विभिन्न तत्त्व मिलकर योग देते रहें। वेदों में निहित विचारों का विकास आगे चलकर उपनिषदों में हुआ है क्योंकि उपनिषदें बार-बार अपने विचारों के प्रमाण के लिए वेदों को उद्धृत करती चलती हैं।[1] इस प्रकार विभिन्न औपनिषद ऋषियों के द्वारा कालक्रम के विकासानुसार विभिन्न विषयों जैसे ब्रह्म, परब्रह्म, आत्मा, परमात्मा, जीव, जगत्, सृष्टि, ज्ञान आदि पर व्यक्त किये गये विचारों के प्रवाह ही औपनिषद विचारधाराएँ हैं। प्राचीन उपनिषदों में कुछ विषय जैसे योग, प्राणायाम, योगसाधना के विभिन्न रूपों और अंगों का सांगोपांग विवेचन नहीं है। केवल सूत्र रूप में इनका निर्देश कर दिया गया है। इनके केवल प्रासंगिक उल्लेख हैं अथवा संकेत मात्र मिलते हैं जिनका विकास एवं व्याख्यान, आगे चलकर परवर्ती उपनिषदों में हुआ है। ये प्रासंगिक उल्लेख भी औपनिषद विचारधारा के अन्तर्गत आ जाते हैं। इस प्रकार औपनिषद विचारधारा के अन्तर्गत दार्शनिक एवं साधनात्मक दोनों प्रकार की विचारधाराओं का समावेश हो जाता है।

औपनिषद द्रष्टाओं के सम्पूर्ण विचार ब्रह्म और आत्मा की दो अवधारणाओं के चारों ओर चक्कर काटते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण उपनिषद् साहित्य इन्हीं के अन्वेषण में संलग्न है। यदि उपनिषदों के मूल सिद्धान्त को एक वाक्य में सारभूत करके कहना चाहें तो कह सकते हैं कि विश्व ही ब्रह्म है, लेकिन ब्रह्म आत्मा है। दार्शनिक स्पष्टीकरण में इसे इस प्रकार कहा जा सकता है कि विश्व ईश्वर है और ईश्वर मेरी आत्मा है।[2] अतः उपनिषदों के शब्दों में 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'[3] और 'अयमात्मा ब्रह्म'[4] अर्थात् यह सारा जगत् निश्चय ही ब्रह्म है तथा यह आत्मा ब्रह्म है। औपनिषद दार्शनिकों ने तो आत्मा को चरमसत्ता के रूप में स्वीकार किया है तथा जगत् एवं

ईश्वर को आत्मा के अधीन समझा है। उनके लिए आत्मा, जगत् या ईश्वर, किसी की अपेक्षा अधिक सत्य है। तात्पर्य यह है कि अन्ततः वे ईश्वर के साथ आत्मा का साक्षात्कार कर लेते हैं। इस प्रकार औपनिषद ऋषियों ने आत्मा को चरम सत्य के रूप में स्वीकार कर लिया। यह आत्मा ही सब कुछ है।[५]

कबीर साहित्य में यह तथ्य उद्‌घाटित हुआ है। कबीर ने ब्रह्म की अभिव्यक्ति के लिए परम्परा से प्राप्त नामों को ही ग्रहण किया है। जैसे राम, कृष्ण, गोपाल, गोविन्द, नारायण, हरि आदि नाम ब्रह्म के वाचक बन कर आये हैं। लेकिन ये नाम अवतार लेने वाले राम और कृष्ण के द्योतक नहीं हैं, अपितु इनके द्वारा आत्मरूप ब्रह्म की अभिव्यक्ति हुई है। इसे कबीर के शब्दों में 'आत्मराम' कह सकते हैं। वे स्पष्ट रूप से कहते हैं कि आत्मरूप राम के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। मन्दिर आदि में जाने से इस "आत्मराम" की उपलब्धि सम्भव नहीं है। यह तो अपने अन्दर ही स्थित है। इसके लिए अन्यत्र जाने की आवश्यकता नहीं है—

कौन विचारि करत हौ पूजा,
आतम राम अवर नहिं दूजा।।
बिन प्रतीतैं पाती तोड़ै,
ज्ञान बिन देवलि सिर फोड़ै।[६]

संत कबीर यहाँ तक कहते हैं कि वह हरि हमारे काम तभी आ सकता है जब हम उसे अपनी आत्मा के साथ साक्षीकृत कर लें—

ते हरि आवेहि किहि कामा,
जे नहीं चीन्हैं आतम रामा।।[७]

ऊपर यह बताया गया है कि सारा संसार ब्रह्ममय है, वह तृण-तृण में परिव्याप्त है। उससे कोई वस्तु रहित नहीं है। उस सर्वव्यापी ब्रह्म को आत्मा के रूप में देखा गया है। तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण सृष्टि को अपनी आत्मा के रूप में देखना चाहिए। कबीर की पंक्तियाँ बार-बार इस तथ्य का उद्‌घाटन करती हैं—

लोका जानि न भूलो भाई।
खालिक खलक खलक मैं खालिक, सब घट रह्यो समाई।।
... ...
मुलां कहां पुकारै दूरि,
राम रहीम रह्या भरपूरि।।[८]

उपनिषदें कहती हैं कि आत्मा बुद्धि, ज्ञान और अविश्वास का विषय नहीं है, प्रत्युत वह तो आत्मदर्शन का विषय है। वस्तुतः आत्मा अपरिहार्यतः अज्ञेय है। तैत्तिरीयोपनिषद् के अनुसार आत्मा अवाङ्मनसगोचर है (यतो वाचो निवर्तन्ते, अप्राप्य मनसा सह)। कठोपनिषद् की दृष्टि में भी "श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः" अर्थात् यह आत्मा अनेक व्यक्तियों को मात्र श्रवण के लिए भी प्राप्य नहीं है तथा जिसे बहुत से लोग सुन कर भी समझ नहीं पाते।[९] तात्पर्य यह है कि आत्मा इन्द्रियों

के ज्ञान द्वारा सुलभ नहीं है। यह अनुभव का विषय है। इसकी उपलब्धि हो जाने पर इन्द्रियों के व्यापार वन्द हो जाते हैं। संत कबीर ने तो स्पष्ट रूप से कहा है कि आत्मतत्त्व का अनुभव कर मैं निर्वैर, अकाम, अक्रोध आदि हो गया तथा सभी में इस आत्मरूप ब्रह्म की स्थिति द्योतित होने लगी। इतना हीं नहीं, इसका अनुभव तो गूँगे के मीठे के सदृश है जो अकथनीय है।[10]

उपनिषदों के "अयमात्मा ब्रह्म" का वड़ा ही सुन्दर निर्वचन कबीर ने किया है। उपासक जव इस स्थिति में पहुँच जाता है तो उसे सर्वत्र ब्रह्म की स्थिति की अनुभूति होती है। उसे ऐसा लगता है कि सारा संसार ही मुझमें समाहित है तथा मैं संसार के कण-कण में व्याप्त हो गया हूँ। त्रिलोक में मेरा प्रसार है तथा उसमें होने वाला आवागमन सब मेरी क्रीड़ा है। इतना ही नहीं, मैं स्वयं ही कबीर कहा जाता हूँ तथा स्वयं ही अपने को प्रदर्शित करता हूँ[11]। यहाँ "मैं" से तात्पर्य आत्मतत्त्व से है जिस की उपलब्धि हो जाने पर सर्वमयत्व की अनुभूति होने लगती है। और आगे बढ़ कर संत कबीर इस आत्म रूप ब्रह्म को गुरु-शिष्य, पूज्य-पूजक, गायक-वादक, धूप-दीप-आरती तथा आरतीकर्ता आदि सब कुछ मान लेते हैं[12]। इसी ब्रह्म का निर्वचन करते हुए उन्होंने कहा है कि वह हाथ, पैर, कान, नेत्र आदि रहित हो कर भी इनकी क्रियाओं का संपादन करता है :—

> बिन हाथनि पाइन बिन काननि, बिन लोचन जग सूझै ॥
> बिन मुख खाइ चरन बिन चालै, बिन जिभ्या गुण गावै।
> आछै रहै ठौर नहीं छाडैं, दह दिसिहीं फिरि आवै[13] ॥

श्वेताश्वतरोपनिषद् में भी इसी प्रकार उस ब्रह्म का स्वरूप प्रस्तुत किया गया है--

> अपाणिपादो जवनो ग्रहीता।
> पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः[14] ॥

अर्थात् वह हाथ-पाँव से रहित होकर भी वेगवान और ग्रहण करने वाला है, नेत्रहीन होकर भी देखता है और कर्णरहित होकर भी सुनता है।

उपनिषदों में इस ब्रह्म के द्विविध पक्षों का पर्याप्त विस्तार है जिसमें एक है सविशेष अथवा सगुण पक्ष और दूसरा है निर्विशेष अथवा निर्गुण पक्ष। किसी विशेषण अथवा लक्षण से निर्विशेष ब्रह्म को लक्षित नहीं कर सकते, किसी चिह्न से वह चिह्नित नहीं हो सकता जिससे हम उस निर्विशेष ब्रह्म को पहचान सकें। साथ ही उसे धारण करने वाले किसी गुण का उल्लेख नहीं किया जा सकता। सविशेष ब्रह्म को हम गुण, चिह्न, लक्षण तथा विशेषणों से विभूषित कर सकते हैं अथवा वह इनसे संयुक्त रहता है जिससे हम उक्त स्वरूप को हृदयंगम कर सकें। इन दोनों स्वरूपों का सम्बन्ध भाव से है। इसीलिए उपनिषदों में इन दोनों भावों को स्पष्ट करने के लिए विशेष नाम दिए गए हैं। इस प्रकार निर्विशेष भाव को कहीं 'परब्रह्म' कहा गया है और सविशेष भाव को कहीं 'अपरब्रह्म' तथा कहीं 'शब्द ब्रह्म' कहा गया है। इस प्रकार ब्रह्म के सम्बन्ध में दो प्रकार की, निर्विशेष लिंग एवं सविशेष लिंग श्रुतियाँ हैं। सर्वकर्मा, सर्वकामः, सर्वगंधः, सर्वरसः

इत्यादि श्रुतियाँ सविशेष लिंग का द्योतन करती हैं तथा अस्थूलम्, अनणु, अह्रस्वम्, अदीर्घम् आदि श्रुतियाँ निर्विशेष लिंग का[१५]। यहाँ यह द्रष्टव्य है कि सविशेष ब्रह्म को स्पष्ट करने के लिए पुलिंग शब्दों का प्रयोग किया गया है जब कि निर्विशेष ब्रह्म के लिए नपुंसक शब्द ही प्रयुक्त हैं। परब्रह्म के लिए अस्थूलम् आदि नपुंसक शब्द आए हैं। इसीलिए परब्रह्म को निर्दिष्ट करने के लिए 'तत्' पद का प्रयोग किया गया है, 'सः' पद का नहीं। इस प्रकार का पार्थक्य दिखाने का तात्पर्य यह कथमपि नहीं है कि 'तत्' पद द्वारा निर्दिष्ट वस्तु में वैषम्य है। ब्रह्म के इन दोनों पक्षों—सविशेष तथा निर्विशेष में केवल भावगत अन्तर ही देखा जा सकता है। इनमें वस्तुगत पृथकता सम्भव नहीं है। ये दोनों पक्ष एक ही वस्तु के द्योतक हैं। निर्गुण, निरुपाधि तथा सगुण सोपाधि एक ही ब्रह्मतत्त्व के प्रतिपादक पक्ष हैं, तभी तो उपनिषदों में एक साथ दोनों स्वरूपों का चित्रण किया गया है। मुंडकोपनिषद् के एक मन्त्र में ब्रह्मतत्त्व के प्रतिपादक उभयलिंग शब्दों का प्रयोग किया गया है—"यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादम्"—यहाँ निर्विशेष ब्रह्म की सूचना है। "नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययंयद्भूतयोनिं परिश्यन्ति धीराः"—इन पुलिंग पदों में सविशेष ब्रह्म का संकेत किया गया है। अतः परमतत्त्व का रूप एक है, भले ही उसे हम निर्गुण कहें या सगुण। आचार्य रामानुज उपनिषदों में सगुण ब्रह्म का प्रतिपादन स्वीकार करते हैं। शंकराचार्य उन्हें निर्गुण ब्रह्म का प्रतिपादक मानते हैं[१६]। परब्रह्म की व्याख्या करते समय बृहदारण्यकोपनिषद् उसे निषेध द्वारा ही अभिव्यक्ति प्रदान करती है ('स एष नेति नेत्यात्मा)। इसीलिए इस आत्मा रूप ब्रह्म को अग्राह्य, अशीर्य, असंग आदि से व्याख्यायित किया गया है[१७]। ऊपर के इन विवेचनों से इतना स्पष्ट हो जाता है कि उपनिषदों में ब्रह्म के निर्गुण रूप का विवेचन किया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि ब्रह्म निर्गुण निराकार होते हुए विभिन्न गुणों एवं विशेषणों को धारण करता है तथा उनसे परे भी है। इस प्रकार वह सगुण (गुण या विशेषणयुक्त) भी है एवं निर्गुण (गुणरहित अथवा गुणों की सीमा से परे) भी है। वह दोनों भावों को साथ-साथ धारण करता है जिनमें भेद का कोई प्रश्न नहीं उठता, अर्थात् उसे सभी प्रकार के भावाभाव का द्योतक कह सकते हैं।

संत कबीर द्वारा निर्वचित विचारों का पूर्ण साम्य उपनिषदों की उपर्युक्त प्रवृत्ति से हो जाता है। कबीर ने ब्रह्म का विवेचन निर्गुण निरुपाधि रूप में किया है। उनका ब्रह्म निराकार होते हुए सभी गुणों को धारण करने वाला है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि कबीर द्वारा प्रयुक्त राम, कृष्ण, हरि, गोपाल, गोविन्द, नारायण आदि नाम ब्रह्म के ही द्योतक हैं, किसी अवतारधारी ब्रह्म के नहीं। वे कहते हैं···

रसनां रांम गुन रमि रस पीजै,
गुन अतीत निरमोलिक लीजै ।।
निरगुन ब्रह्म कथौ रे भाई, जा सुमिरत सुधि बुधि मति पाई ।।[१८]

इन पंक्तियों से कई बातें स्पष्ट होती हैं। एक तो इनमें निर्गुणब्रह्म का उपदेश किया गया है, दूसरे राम-गुण के रस का पान करने के लिए कहा गया है तथा तीसरे राम-गुण-रस को गुणों से अतीत भी बताया गया है। यहाँ 'गुन अतीत' से तात्पर्य गुणों की सीमा से

अतीत ही प्रतीत होता है। स्पष्ट है कि कबीर राम को गुणयुक्त मानते हुए भी उन्हें गुणों से परे भी मानते हैं। ऐसा लगता है कि कबीर का निर्गुण ब्रह्म निराकार है, गुणों अथवा विशेषज्ञों को धारण करने वाला है तथा उन विशेषणों की सीमा से परे भी है। उन्हीं के शब्दों में…

> गुंण मैं निरगुंण निरगुंण में गुंण है,
> बाट छांड़ि क्यूं बहिए ।।[19]

ऐसी उक्तियों का स्पष्ट तात्पर्य यह है कि ब्रह्म सगुण होते हुए गुणातीत है और गुणातीत होकर स+गुण (गुणों के साथ) है। वह गुणों से लिप्त नहीं है। इस प्रकार कबीर ने निर्गुण सगुण का युगपत् निर्वचन किया है। ये सारी प्रवृत्तियाँ उपनिषदों की विचारधारा के मेल में हैं। ऊपर के विवेचन को ध्यान में रखने से ये सभी बातें स्पष्ट हो जाती हैं। कबीर के राम निर्गुण हैं, अविगत, अगोचर एवं अगम्य हैं। उनके गोविन्द गाय चराने वाले श्रीकृष्ण नहीं हैं, प्रत्युत रूपरेखाहीन निरंजन श्रीकृष्ण हैं।[20] वे सर्वगत हैं अर्थात् घट-घट-व्यापी हैं। रूप, वर्ण से रहित होकर भी वे सबमें समाहित हैं तथा सबको आवृत किए हुए हैं। वह ब्रह्म नेत्ररहित होकर भी सब कुछ देखता हैं तथा चक्षु के रहते हुए भी अन्धा है अर्थात् चक्षु की सीमा में आने वाला नहीं है।[21] कबीर के प्रभु दया करने वाले हैं, दीनबन्धु हैं। सामर्थ्यवान हैं, अतः शरणागत-वत्सल हैं। उनके आदि, मध्य, अन्त के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा जा सकता। उनकी गति सर्वत्र है। वे सर्वान्तर्यामी होकर जल-थल सबको परिपूरित किए हुए हैं। संत कबीर कहते हैं कि परमात्मा कर्ता-धर्ता है, जीव से कुछ नहीं होता। वह राई को पर्वत बनाने में समर्थ है। अतः वह सर्वकर्तृत्वशक्तिसम्पन्न है।[22] इस प्रकार यह स्पष्टतः कहा जा सकता है कि कबीर ने ब्रह्म का निर्वचन जिस प्रकार किया है वह सब उपनिषदों की पद्धति के अनुसार तत्त्वतः एवं प्रकृतितः एक है।

संत कबीर ने साकार भाव में भी निर्गुण, निराकार, अव्यक्त ब्रह्म का स्मरण करके उसकी उपासना की है। उन्होंने अपने अन्तर्हृदय में उस परब्रह्म की साकार भावना का बार-बार स्मरण करके उसकी आराधना की है। लेकिन साकार भाव की कल्पना करके भी वे उसे साकार, अवतारी ब्रह्म आदि नहीं बना देते, प्रत्युत उसका स्वरूप निर्गुण, निराकार ही बना रहता है, जैसे ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है। कबीर की इस प्रकार की उपासना बड़ी ही मनोरम बन पड़ी है जो सहृदय पाठक को रससिक्त कर देती है। वे स्वयं अपने को यौवन में माती युवती मान कर राम को पति समझ लेते हैं और इस प्रकार कहते हैं…

> दुलहनीं गावहु मंगलचार,
> हम घरि आए हो राजा रांम भरतार।
> घन रति करि मैं मन रत करिहूँ, पंचतत बराती।
> रांमदेव मोरै पांहुनैं आये, मैं जोबन मैं माती ।।[23]

इस प्रकार की उपासना का मूल उहनिषदों में उपलब्ध हो जाता है। इस सन्दर्भ में डॉ० बडथ्वाल का कहना है कि प्रेमभावना से उपनिषदें सर्वथा अछूती नहीं हैं। उनमें

भी एकाध स्थलों पर आत्मा-परमात्मा के सम्बन्ध को पति के रूप में दिखाया गया है। लेकिन यह स्पष्ट रहना चाहिए कि उपनिषदों में आनन्दानुभूति पर विशेष बल दिया गया है न कि उक्त सम्बन्ध पर।[२४] संत कबीर ने भी पत्नी के सम्बन्ध द्वारा आनन्दानुभूति की जो अभिव्यक्ति की है वह उपनिषदों की पद्धति के सदृश है।

उपनिषदों में जिस प्रकार निर्गुण ब्रह्म के लिए 'तत्' जैसे नपुंसक पद का प्रयोग किया गया है, उसी प्रकार कबीर ने भी 'तत्' पद द्वारा परब्रह्म की अभिव्यक्ति की है—

हरि को नाउं तत त्रिलोक सार,
ले लीन भये जे उतरे पार ॥[२५]

कबीरदास ने तो स्पष्ट रूप से उपनिषदों और औपनिषद ऋषियों का उल्लेख करते हुए उक्त विचार को स्पष्ट किया है :—

तत्वमसी इन्ह के उपदेशा। ई उपनिषद् कहहीं संदेसा ॥
ये निस्चय इनको बड़भारी। वाही को बरने अधिकारी ॥
परम तत्व का निज परवाना। सनकादिक, नारद सुख माना ॥
याज्ञवलक औ जनक संवादा। दत्तात्रेय वहै रस स्वादा ॥
वहै वसिष्ठ राम मिल गाई। वहै कृष्ण ऊधव समझाई ॥
उहै बात जे जनक दृढ़ाई। देह धरे विदेह कहाई ॥[२६]

कबीर की दृष्टि में ब्रह्म अवर्ण, अकल, न भारी, न हल्का, अलख, अभेद, अरचित, निराधार, अपरम्पार, न दूर और न निकट आदि है। वह वर्ण रहित है, इसलिए वर्णनातीत एवं अलख है। वर्णरहित होने के कारण ब्रह्म अग्राह्य है, अनिर्देश्य है।[२७] बृहदारण्यकोपनिषद् में विवेचित "स एष नेति नेत्यात्मा" को संत कबीर ने अपने ढंग से सुन्दर अभिव्यक्ति प्रदान की है। लोग जहाँ बताते हैं कि यहाँ ब्रह्म नहीं है, कबीर की दृष्टि में वहीं ब्रह्म की उपलब्धि की जा सकती है। उस नहीं में ही वह प्राप्य है। ब्रह्म को न देख कर विचलित नहीं होना चाहिए, क्योंकि वह अगोचर है, तथाकथित उस "नहीं" में ही उसके दर्शन हो सकते हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि "नहीं" के माध्यम से उस परब्रह्म को पहचाना जा सकता है।[२८]

सगुण-निर्गुण-विवेचन के सन्दर्भ में यहाँ यह द्रष्टव्य है कि कबीर ने अपने ब्रह्म को मध्यकाल में प्रचलित सगुण-निर्गुण की धारणाओं से परे माना है। ऐसा प्रतीत होता है कि वे ब्रह्म को किसी प्रकार की सीमा में बाँधना उचित नहीं समझते। उपनिषदों की वस्तुतः यही प्रवृत्ति है, तभी वहाँ नेति-नेति का सहारा लिया गया है। सन्त कबीर ने ब्रह्म को साकार-निराकार तथा सगुण-निर्गुण से परे बताते हुए कहा है—

कोई ध्यावै निराकार को, कोई ध्यावै साकारा।
वह तो इन दोऊ ते न्यारा, जानै जाननहारा ॥
सगुण की सेवा करौ, निर्गुण का करु ज्ञान।
निर्गुण सगुण के परे तहैं हमारा ध्यान[२९] ॥

ऊपर के विवेचन के आधार पर यह स्पष्ट है कि उपनिषद् एक ब्रह्म अथवा आत्मा की स्थिति स्वीकार करती है। उनके अनुसार एक एवं अद्वितीय आत्मा ही सर्वत्र विद्यमान है—"एकाद्वितीयम्"। कबीर काव्य पर विचार करने से उपर्युक्त विचार की ही पुष्टि सर्वत्र होती है।

उपनिषदों में सृष्टि के सम्बन्ध में अनेक प्रकार से विचार किया गया है। उन सभी पर विचार करने का यहाँ अवकाश नहीं है। अतः निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि उपनिषदें इस सिद्धान्त को मानती हैं कि ब्रह्म ही सभी जीवित पदार्थों के जीवन का मूलाधार है। वे विश्व के एकत्व एवं अनेकत्व के व्याख्यान में प्रतीकात्मक भाषा का प्रयोग करती हैं। निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि विश्व ब्रह्म का प्रकाशन है अथवा विश्व निरपेक्ष आत्मा का केवल एक विकास है[30]। कबीर ने अपने बीजक में विश्वोत्पत्ति के सम्बन्ध में एक विवरण दिया है जिसमें सर्वप्रथम आदि में केवल एक सत्य पुरुष 'समरथ' का अस्तित्व स्वीकार किया गया है। इस सत्य पुरुष समरथ से ही सृष्टि के होने का उपक्रम प्रस्तुत किया गया है। लेकिन कबीर की सम्पूर्ण रचनाओं को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि वस्तुतः वे एक और अद्वितीय ब्रह्म से संसार की सृष्टि का होना मानते हैं। सत्य पुरुष समरथ से छः पुत्रों की उत्पत्ति तथा सातवीं सन्तान के रूप में एक अण्डा होना और उक्त अण्डे से कालपुरुष रूप निरंजन का प्रकट होना आदि बातें कबीर के मूल विचारों को प्रस्तुत नही करती हैं। नीचे की पंक्तियों से सृष्टि सम्बन्धी कबीर का विचार स्पष्ट हो जाता है जो औपनिषद विचारधारा के सदृश ही है—

एकै पवन एक ही पानी, एक जोति संसारा।
एक ही खाक घड़े सब भांड़े, एक ही सरजनहारा[31] ॥

उपनिषदें ज्ञानकाण्ड कही जाती हैं। उनमें वेदों के सारभूत तत्त्व का विवेचन किया गया हैं। इसका तात्पर्य यह है कि वे स्थूल कर्मकाण्ड को स्वीकार नहीं करतीं। वे सम्पूर्ण जीवन को ही एक यज्ञ मानती हैं। इस यज्ञ में तप, दान, आर्जव, अहिंसा, सत्यवचन का अनुष्ठान होना चाहिए। मुण्डकोपनिषद् के अनुसार तप चिंतन अर्थात् ज्ञान से निर्मित है—'ज्ञानमयं तपः'। छान्दोग्योपनिषद् कहती है कि श्रद्धा ही तप है, श्रद्धा ही त्याग है[32]। अपने इतिहास में कबीर पर विचार करते समय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने उन्हें ज्ञानाश्रयी शाखा में प्रधान स्थान दिया है। कबीर ज्ञान के द्वारा कर्मकाण्डीय बाह्याचार प्रधान पूजापद्धतियों को त्याग देने की बात करते हैं। ज्ञानाभाव में व्यक्ति मन्दिर, मस्जिद, देवस्थानों आदि में ईश्वर को ढूँढ़ता रहता है। इस ज्ञान द्वारा ही ईश्वर के स्वरूप को समझा जा सकता है। तात्पर्य यह है कि ज्ञान के द्वारा सत्य का पता चल सकता है, अन्यथा प्रकाश के अभाव में जैसे अन्धेरी रात में सर्प डंस लेता है, उसी प्रकार की स्थिति ज्ञानाभाव में व्यक्ति की होती है[33]। कबीर काव्य पर समग्र रूप से दृष्टि डालने पर यह स्पष्ट रूप से पता चल जाता है कि दान, दया, तप, अहिंसा, सत्यवचन आदि की सर्वत्र शिक्षा दी गयी है। इतना ही नहीं, कबीर का जीवन ही स्वयं इन आचारों के रूप में ढला हुआ था। "जीवन मृतक कौ अंग", "सांच कौ अंग" (कबीर ग्रन्थावली) आदि अंगों से इस तथ्य की पुष्टि हो जाती है।

उपनिषदों में ज्ञान की दो कोटियाँ बताई गई हैं। मुण्डकोपनिषद् कहती है कि दो प्रकार के ज्ञान अथवा विद्यायें जानने योग्य हैं—एक उच्चतर ज्ञान अर्थात् परा विद्या तथा दूसरा निम्नतर ज्ञान अर्थात् अपरा विद्या। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, निरुक्त, व्याकरण, छन्द और ज्योतिष का ज्ञान निम्नतर ज्ञान के अन्तर्गत है अर्थात् ये अपरा विद्यायें हैं। अक्षर परमात्मा का ज्ञान उच्चतर ज्ञान है अर्थात् परा विद्या से मात्र अक्षर परमात्मा ही ज्ञेय है। छान्दोग्योपनिषद् में आए नारद एवं सनत्कुमार के वार्तालाप में इसी प्रकार का पार्थक्य देखने को मिलता है। नारद की दृष्टि में अपरा विद्या का सम्पूर्ण ज्ञान भी शोक समुद्र को पार उतारने वाला नहीं है। नारद कहते हैं कि मैंने विभिन्न मन्त्रों का अध्ययन किया है परन्तु आत्मा को नहीं जान सका हूँ, मैंने आप जैसों से सुना है कि आत्मवेत्ता शोक सागर को पार कर लेता है। इस वार्तालाप से निम्नतर एवं उच्चतर ज्ञान का अन्तर स्पष्ट है।[३४] अतः स्पष्ट है कि उपनिषदें आत्मज्ञान की उच्चता का प्रतिपादन करती हैं जिसके समक्ष सभी बौद्धिक ज्ञान मात्र मौखिक शब्दजाल प्रतीत होते हैं। कबीर ने उपनिषदों के समान ज्ञान की दो कोटियाँ निर्धारित नहीं की हैं, फिर भी उनकी रचनाओं से स्पष्ट है कि वे दो तरह के ज्ञान को स्वीकार करते हैं। ज्ञान के एक प्रकार के अन्तर्गत वेद, शास्त्र अर्थात् पुस्तकीय ज्ञान को गणना की जा सकती है तो तत्त्वज्ञान, ज्ञान अर्थात् ब्रह्म ज्ञान या आत्म ज्ञान को दूसरे के अन्तर्गत रखा जा सकता है। कबीर ने पहले प्रकार के ज्ञान की निन्दा की है तथा दूसरे प्रकार के ज्ञान को सब प्रकार से स्वीकार किया है। यह भी ध्यातव्य है कि वे ज्ञान का अर्थ आत्मज्ञान या ब्रह्मज्ञान ही लेते हैं। उनकी रचनाओं के सूक्ष्म निरीक्षण से इस तथ्य की पुष्टि हो जाती है। कबीर की दृष्टि में वस्तुतः वही ज्ञान है जिससे भवकष्ट नष्ट करने वाला हरिभजन सम्भव हो। इससे इतर ज्ञान को इनकी रचनाओं में महत्व नही दिया गया है :—

ऐसा ज्ञान विचारि रे मना, हरि किन सुमिरै दुख भंजना ॥

... ...

अवधू ऐसा ज्ञान विचारी, ज्यूँ बहुरि न ह्वै संसारी।[३५]

इस प्रकार कबीर की दृष्टि में आत्मज्ञान श्रेष्ठ ह। इसके अभाव में पूजा-अर्चना करना, मन्दिर आदि का सेवन करना निरर्थक है। सार्थकता मात्र आत्मतत्त्व के विचारने की है, अन्य चीजें विचार्य नहीं हैं। उनके अनुसार राम ही यह आत्मतत्त्व है जिसके ज्ञानाभाव में व्यक्ति विविध प्रकार के क्रिया-विधानों में तल्लीन रहता है।[३६] कबीर पुस्तकीय ज्ञान की गर्हणा करते हुए कहते हैं कि उससे तो अन्तर्ज्ञान की उपलब्धि नहीं होने वाली है। भले ही जीवन की समाप्ति हो जाए, परन्तु ऐसा ज्ञान संशयशूल को दूर करने वाला नहीं है। कबीर यहाँ तक कहते हैं कि इस प्रकार का पढ़ना-गुनना ही दुःख का मूल है, क्योंकि इसी से हम सांसारिक बने रहते हैं। उनके अनुसार पोथी आदि के पठन-पाठन से अंतस् में प्रेम के छींटे नहीं पड़ने वाले हैं। वस्तुतः प्रेमोपलब्धि ही मूल है। उसका ज्ञाता ही वास्तविक रूप में पण्डित है।[३७] छान्दोग्यो-

पनिषद् में आये नारद-सनत्कुमार के वार्तालाप से यह विदित है कि आत्मज्ञान ही शोक सागर के पार उतारता है। कबीर इसी प्रकार की बात करते हैं :—

> आतम ज्ञान बिना सब सूना, क्या मथुरा क्या कासी।
> घर में बस्तु धरी नहिं सूझै, बाहर खोजत जासी।।[३८]

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि संत कबीर आत्मज्ञान को श्रेष्ठ मानते हैं। वही ब्रह्मज्ञान है। उपनिषदों के विचार यहाँ स्पष्ट रूप में उजागर हुए हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि उपनिषदों और कबीर के विचारों की एक रूपता असंदिग्ध है।

उपनिषदों में आचार के नियमों की व्यापक व्यवस्था उपलब्ध होती है। ये नियम साधक के वैयक्तिक जीवन से एकमेक हो कर निःसृत हुए हैं। इस प्रकार एक अर्थ में तो औपनिषद नैतिकता वैयक्तिक है, क्योंकि इसका लक्ष्य आत्मोपासना है। नैतिक जीवन वह केन्द्रित जीवन है, मानवता के लिए एक ऐसा संवेगशील प्रेम और उत्साह का जीवन है जो परिमित के द्वारा अपरिमित के अन्वेषण में सन्नद्ध रहता है। अतः नैतिकता परिमित सन्तोष में सुलभ नहीं है। इसीलिए तो छांदोग्योपनिषद् कहती है कि परमानन्द अपरिमित है तथा परिमित वस्तुओं में यह परमानन्द अप्राप्य है। उपनिषदें नैतिकता की आन्तरिकता पर बल देती हैं तथा आचार में प्रेरक शक्ति को महत्व प्रदान करती हैं। आन्तरिक पवित्रता बाह्य भौतिक अनुकूलता से अधिक महत्वपूर्ण है। उपनिषदें मात्र यही नहीं कहतीं कि चोरी मत करो, हिंसा मत करो, प्रत्युत वे यह भी घोषणा करती हैं कि लोभ मत करो या घृणा मत करो या क्रोध, ईर्ष्या एवं लालच उत्पन्न मत करो। उपनिषदें ऐसी भावना रखने के लिए उत्प्रेरित करती हैं कि मनुष्य की आत्मा की तरह सम्पूर्ण विश्व ब्रह्म से उत्पन्न हुआ है। उपनिषदें यह भी स्वीकार करती हैं कि प्रेम एवं नैतिकता सर्वोच्च आत्मोपासना के रूप हैं। इसीलिए बृहदारण्यक उपनिषद् कहती है कि परिमित वस्तुयें आत्मा का अनुभव करने में सहायता करती हैं। शाश्वत का प्रेम ही परम प्रेम है क्योंकि ब्रह्म ही प्रेम है।[३९] नैतिक जीवन मात्र सामान्य मनोभाव एवं नैसर्गिक प्रवृत्ति का ही जीवन नहीं है बल्कि सहज बुद्धि और तर्क का भी एक जीवन है। कठोपनिषद् कहती है कि आत्मा को रथी समझो, शरीर को रथ, बुद्धि को सारथि जानो तथा मन को लगाम समझो। इन्द्रियाँ घोड़े हैं एवं विषय उनके मार्ग हैं। मन से युक्त आत्मा एवं इन्द्रियों को मनीषी लोग भोक्ता मानते हैं, पर जिसके पास सहज बुद्धि नहीं है और मन असंयत है, उसके अधीन इन्द्रियाँ उसी प्रकार नहीं रहतीं जैसे सारथि के अधीन दुष्ट घोड़े। जिसके पास सहज बुद्धि है और जो चित्त से सबल अर्थात् संयत मन वाला है उसके अधीन इन्द्रियाँ उसी प्रकार रहती हैं जैसे सारथि के अधीन अच्छे घोड़े। जो सहज बुद्धिवाला अर्थात् विज्ञानवान्, संयतचित और सदा पवित्र रहने वाला होता है वह उस पद को उपलब्ध कर लेता है जहाँ से वह फिर उत्पन्न नहीं होता।[४०]

उपनिषदें स्वार्थी उद्यमों का परित्याग करने के लिए कहती हैं लेकिन सभी का नहीं। स्व का परित्याग करना एवं ब्रह्म के साथ एकात्म सम्बन्ध स्थापित करना ही तो उपनिषदों की माँग है। आदर्श ऋषि स्वार्थपूर्ण कामनाओं से मुक्त थे। बृहदारण्यकोपनिषद् कहती है कि जो अकाम, निष्काम, आप्तकाम, आत्मकाम है, वह ब्रह्म ही रहकर ब्रह्म को प्राप्त करता है। छान्दोग्य उपनिषद् सत्य एवं असत्य कामनाओं के मध्य रेखा खींचती हुई सत्य का वरण करने को कहती है। उपनिषदों में हम अनुरागों की कोई व्यापक निन्दा नहीं पाते हैं। ये अहंकार, क्रोध, वासना आदि का उन्मूलन करने के लिए कहती हैं, पर प्रेम, दया, सहानुभूति जैसी कोमल भावनाओं का त्याग करने के लिए नहीं कहतीं। यह सत्य है कि उपनिषदों में यत्र-तत्र आध्यात्मिक उपासना के साधन के रूप में तप का प्रयोग हुआ है। लेकिन तप का मात्र अर्थ है आत्मशक्ति का विकास, शारीरिक दासता से आत्मा की मुक्ति, गम्भीर चिन्तन। इसी को मुण्डकोपनिषद् के शब्दों में कह सकते हैं कि तप चिन्तन अर्थात् ज्ञान से निर्मित है—"ज्ञानमयं तपः"। जीवन एक यज्ञ है जिसमें तप, दान, आर्जव, अहिंसा, सत्यवचन का अनुष्ठान होना चाहिए। छान्दोग्योपनिषद् कहती है कि श्रद्धा ही तप है, श्रद्धा ही त्याग है। बाह्य वस्तुओं से मुक्ति के लिए जंगल के एकान्त में जाने की आवश्यकता नहीं है। ईशोपनिषद् का कहना है कि हम विराग द्वारा संसार का उपभोग कर सकते हैं।[४१]

उपनिषदों की दृष्टि में प्रेम और नैतिकता सर्वोच्च आत्मोपासना के रूप में हैं। कबीर के अनुसार सबसे प्रेम से मिलना चाहिए। यदि मन नहीं मिला तो स्थूल शरीर से मिलना निरर्थक है। परिमित से प्रेम करना भी अपरिमित से ही प्रेम करना है। यही प्रेम ऊर्ध्वमुख होकर परमात्मा से एकाकार हो जाता है। नैतिक जीवन से ही इस प्रेम की उत्पत्ति होती है :

> जोई मिलै सो प्रीति में और मिलै सब कोय।
> मन सो मनसा न मिलै देह मिलै का होय ।।
> उठा बगूला प्रेम का तिनका उड़ा अकास।
> तिनका तिनका से मिला तिनका तिनके पास ।।[४२]

कठोपनिषद् कहती है कि संयत चित्तवाला इन्द्रियों को वश में करके परमतत्त्व की उपलब्धि करता है। यही प्रक्रिया दमन अर्थात् आत्मसंयम कहलाती है जिसके अन्तर्गत इन्द्रियों को उनके तत्तत् विषयों की ओर से अवरुद्ध करना स्वीकृत है। संत कबीर की दृष्टि में जब तक इन्द्रियों के प्रसार को कम नहीं किया जायेगा तब तक परमतत्त्व की उपलब्धि नहीं हो सकती। मन अथवा चित्त अत्यन्त चंचल होता है। उनके निवारण से सत्पथ की ओर उन्मुख हुआ जा सकता है :

> चिंता चिति निवारिये, फिर बूझिए न कोई।
> इंदी पसर मिटाइये, सहजि मिलैगा सोइ ।।
>
> — — —
>
> मै मंता मन मारि रे, घटहीं माहें घेरि।
> जबहीं चालै पीटि दे, अंकुस दे दे फेरि ।।[४३]

स्वार्थी उद्यमों को त्याग देने की बात उपनिषदें करती हैं। उपनिषदों के ये विचार कवीर काव्य में अधिक स्पष्ट रूप में व्यक्त हुए हैं। कबीर की निम्नांकित पंक्तियाँ वृहदारण्यकोपनिषद् के इस तथ्य को, कि जो अकाम, निष्काम, आप्तकाम, आत्मकाम है वही ब्रह्म की प्राप्ति करता है, सुन्दर अभिव्यक्ति प्रदान करती हैं—

चाह गई चिंता मिटी मनुवाँ बे-परवाह।
जिनको कछू न चाहिए सोई साहंसाह[४४] ॥

तप का जो अर्थ उपनिषदें प्रस्तुत करती हैं, कबीर काव्य में भी वही अर्थ ग्राह्य हुआ है। कबीर आत्मज्ञान या ब्रह्मज्ञान को वस्तुतः ज्ञान मानते हैं। इस ज्ञानाभाव में ही व्यक्ति भ्रम में पड़ा रहता है, उसे वस्तुस्थिति का ज्ञान नहीं होता। कबीर की यह ज्ञानोपासना है, यही उनका तप है। इस ज्ञान द्वारा वे बाह्याचार, विषयवासना आदि का त्याग करते हैं। उपनिषदें भी तो यही बताती हैं कि शारीरिक दासता से मुक्ति पा लेना ही तप है। कबीर शारीरिक दासता से मुक्त होकर आत्मोपासना करते हैं। इसीलिए वे कहते हैं कि जव से मैंने आत्मतत्त्व का विचार किया है तभी से विषयवासनाओं को त्याग दिया है। स्थूल शरीर के विकारों, वासनाओं से मुक्ति का इसी प्रकार का विवेचन यथास्थान उनकी रचनाओं में उपलब्ध हो जाता है[४५]। उपनिषदों में तप, दान, आर्जव, अहिंसा एवं सत्यवचन को आत्मयज्ञोपासना की दक्षिणाएँ कहा गया है। कबीर की पंक्तियाँ इस तथ्य का प्रमाण हैं कि उनका सम्पूर्ण जीवन ही सत्य अहिंसा, आर्जव, तप आदि से निर्मित है। पाखंडादि के खंडन से यह नहीं समझना चाहिए कि कबीर का जीवन सरल नहीं है। वे सत्य एवं सरलता का निर्वचन करते हुए कहते हैं—

सांई सेंती सांच चलि, औरां सूँ सुध भाइ।
भावै लंवे केस करि, भावै घुरणि मुड़ाइ ॥ [४६]

कबीर की दृष्टि में सत्य के वरावर कोई तप नहीं है। उपनिषदें कहती हैं कि सत्य का ज्ञाता सत्य का कथन करता है, इस सारभूत तत्त्व का स्पष्ट निरूपण कबीर की कृतियों में किया गया ह। उनकी दृष्टि में सत्य के सदृश कोई तप नहीं तथा असत्य के समान कोई पाप नहीं है। जिसका हृदय सच्चा है उसके मानस में ईश्वर का निवास होता है। इतना ही नहीं, सत्य व्यक्ति को काल प्रभावित नहीं करता और उसे ही सत्तत्त्व की उपलब्धि भी होती है तथा वह सत्य में समाहित हो जाता है।[४७] कबीर की रचनाओं को देखने से ऐसा लगता है कि वे जंगल में जाकर तप करने का कथन नहीं करते। उनके आचार, विचार, क्रियाएँ आदि तप का द्योतन करती हैं। नित्य के जीवन से ही उनका तप झलकता है जिसमें वे राम के लिए विरह संतप्त रहते हैं। उनका रोम-रोम राम के लिए उत्कंठित रहता है। यही उनकी तपस्या है :—

नैंना नीझर लाइया, रहट वहे निस जाम।
पपीहा ज्यूं पिव पिव करौं, कवरु मिलहुगे राम[४८] ॥

ऊपर के विवेचन से प्रकट है कि उपनिषदों की विचारसरणि का स्पष्ट और सटीक प्रकाशन कबीर की रचनाओं में हुआ है। यह भी ध्यान देने की बात है कि औपनिषद आचार और कबीर काव्य में अभिव्यक्त आचार मूलतः एक ही हैं। आचार से सम्बद्ध

कबीर की अभिव्यक्तियाँ जिनका संक्षेप में विवेचन ऊपर किया गया है, औपनिषद विचारधारा के विकास में एक कड़ी प्रतीत होती हैं।

भारतीय अध्यात्म विद्या को साधन कहा गया है जिसके अन्तर्गत कर्म, ज्ञान, भक्ति और योग की गणना की गयी है। उपनिषदों में जिस कर्मसाधन का निर्वचन है वह निष्काम कर्मसाधना है। आत्मज्ञान के अभाव में की गयी कर्मसाधना उपनिषदों के अनुसार ग्राह्य नहीं है। इसका तात्पर्य यह है कि कर्मफल से रहित कर्मसाधन का प्रतिपादन उपनिषदों में किया गया है। जहाँ तक ज्ञानसाधन का सम्बन्ध है, उपनिषदें ज्ञानकाण्ड कही जाती हैं। वस्तुतः आत्मानुभव को उनमें ज्ञान माना गया है। वे परमगति के साधन के रूप में ज्ञान पर बल देती हैं। उनमें कहा गया है कि "तरति शोकम् आत्मवित्" अर्थात् आत्मा का ज्ञाता शोकसागर को पार कर जाता है। उपनिषदों में ज्ञान की प्रधानता है, किन्तु वह आत्मज्ञान है जिसके विवेचन-विश्लेषण में उपनिषदें सदा तत्पर रहती हैं। जहाँ तक उपनिषदों में विवेचित भक्ति और योगसाधन का प्रश्न है, वहाँ यह स्पष्ट रहना चाहिए कि परवर्ती काल में इन दोनों साधनों का जो पुष्कल विवेचन उपलब्ध होता है वह उपनिषदों में प्राप्त नहीं है। यों भक्ति और योग साधन के मूल उपनिषदों में अवश्य मिल जाते हैं। उनकी परिभाषाएँ अथवा उनसे सम्बद्ध विविध प्रकार की सूचनाएँ उपनिषदों में स्पष्ट रूप से मिल जाती हैं। श्वेताश्वतरोपनिषद् इसके लिए विशेष रूप से महत्वपूर्ण है।[४९] कबीर काव्य में जिस साधन विशेष की अभिव्यक्ति हुई है वह मूलतः आध्यात्मिक है अथवा आत्मिक है। इस क्रम में उनकी सम्पूर्ण जीवनचर्या समाविष्ट दिखाई देती है। हमने ऊपर देखा है कि उपनिषदों में फलरहित कर्मसाधन का प्रतिपादन है। कबीर की भी यही स्थिति है। इसीलिए वे निर्जन स्थान में जाकर निवास करने को नहीं कहते हैं। इसे 'जीवित मृतक' के व्याख्यान द्वारा और अधिक स्पष्टता मिली है। उपनिषदों के सदृश कबीर को 'ज्ञानमार्गी' कहा गया है। हिन्दी के आलोचकों ने जिस भी उद्देश्य से कबीर को ऐसा कहा है, लेकिन एक बात साफ है कि कबीर ज्ञानमार्ग का अवलम्बन करने के लिए कहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि आत्मज्ञान के द्वारा वे भव-तम का विनाश करने को कहते हैं। कबीर काव्य में ज्ञान का अर्थ आत्मज्ञान या ब्रह्मज्ञान है जो औपनिषद विचारधारा के अनुकूल है। वहाँ आत्मज्ञाता को शोकसागर से पार उतरने वाला कहा गया है। जैसे उपनिषदों में शास्त्रीय ज्ञान, वेदादि के ज्ञान को हेय समझा गया है उसी प्रकार कबीर ने भी पुस्तकीय ज्ञान-वेद, कुरान को निरर्थक बतलाया है। वस्तुतः आत्मज्ञान या आत्मानुभव ही कबीर और उपनिषदों, दोनों की दृष्टि में ग्रहणीय हैं। इस प्रकार ज्ञानसाधना की दृष्टि से तो दोनों की स्पष्ट समता स्थापित हो जाती है। भक्ति-साधन और योगसाधन की दृष्टि से कबीर काव्य एवं उपनिषदों का ठीक-ठीक मेल नहीं बैठ पाता। भक्ति और योग-साधन का निर्वचन जिस रूप में कबीर की रचनाओं में मिलता है, उस रूप में उपनिषदों में सुलभ नहीं है। लेकिन भक्ति और योग का उत्स निश्चय ही उपनिषदों में मिल जाता है। कबीर की भक्ति और योग साधना का जो मूल रूप है वह उपनिषदों के विरोध में नहीं है। इसको कबीर के ऊपर पड़ा हुआ सामयिक बाह्य प्रभाव कहा जा सकता है।[५०]

ऊपर पूर्ववर्ती एवं प्राचीन मूल उपनिषदों की विचारधारा की दृष्टि से कबीर काव्य पर विचार किया गया है। प्रायः संक्षेप में ही उपनिषदों एवं कबीर के विचारों को सामने रखते हुए विवेचन प्रस्तुत किया गया है। कबीर को विभिन्न मतवादों के झमेले में रखकर ही प्रायः विद्वानों ने उनपर विचार किया है। कुछ विद्वानों ने कबीर को इस्लाम से या नाथों से जोड़ा है तो कुछ ने बौद्ध सिद्धों या जैनों से। कुछ इतर हिन्दी के आचार्यों ने उन्हें सारग्राही कह करके सन्तोष कर लिया है। लेकिन इतना निश्चित है कि कबीर ने किसी मतवाद या सम्प्रदाय के घेरे में अपने को नहीं रखा है। इस सम्बन्ध में दो मत नहीं हो सकते। उनके विचार किसी सांप्रदायिक मतवाद आदि की दृष्टि से मुक्त हैं। आत्मानुभव द्वारा निःसृत विचार ही उनकी रचनाओं में स्थान पा सके हैं। यह बात दूसरी है कि कबीर पढ़े लिखे नहीं थे, फिर भी वे बहुश्रुत थे। रामानन्द उनके गुरु थे। साथ ही उपनिषदों के विचार भी सम्प्रदायिक नहीं हैं। वे सर्वदा सबके लिए समान भाव से सुलभ रहे हैं। कबीर के समय में उपनिषदों के विचार सर्वत्र वातावरण में व्याप्त थे जो उन्हें गुरु परम्परा तथा सत्संग से प्राप्त हो रहे थे। यह भी ध्यातव्य है कि कबीर साधनानुभूति के जिस स्तर पर पहुँचे थे वह औपनिषद विचार के लिये पर्याप्त उर्वर और उपयुक्त था। इसलिए उपनिषदों के विचार कबीर के जीवन तथा उनके काव्य में स्वतः उद्घाटित होते गये। दूसरी ओर नाथों, बौद्ध सिद्धों, जैनों आदि के विचार मूलतः कबीर से मेल नहीं खाते। कबीर काव्य में उनके शब्दों के प्रयोग मात्र से कबीर को, नाथ, बौद्ध सिद्ध, जैन अथवा उनकी सम्मिलित परम्परा में स्वीकार करना संगत नहीं प्रतीत होता। इस प्रकार कबीर पर औपनिषद प्रभाव को स्वीकार करना उचित और न्यायसंगत लगता है।[५१]

अन्त में यह कहा जा सकता है कि कबीर के मूल स्रोत येन-केन प्रकारेण उपनिषदें रही हैं। वे उनके मूल प्रभावक हैं। अन्य प्रकार के प्रभाव समय विशेष के कारण बाह्य रूप से आ गये हैं, वे भी तात्विक रूप में नहीं। कबीर ने उनकी मूल भावना को सुरक्षित रखा है। अतः औपनिषद परम्परा ही कबीर की परम्परा है, अर्थात् वे भारतीय परम्परा के अन्तर्गत हैं, किसी विदेशी परम्परा के नहीं।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

[१] मिस्टिक एप्रोच टू द वेद एण्ड द उपनिषद्स—एम० पी० पंडित, श्री अरविन्द लायब्रेरी, मद्रास, सन् १९५२ ई०, पृ० १२२-२३।

[२] ए हिस्ट्री ऑफ इंडियन लिट्रेचर—खण्ड १, भाग १, एम० विंटरनित्ज (जर्मन भाषा से अनूदित—श्रीमती एस० केतकर), कलकत्ता यूनिवर्सिटी प्रेस, कलकत्ता, १९५९, पृ० २१५।

[३] छान्दोग्योपनिषद्—गीता प्रेस, गोरखपुर, सं० २०२३, ३।१४।१।

[४] बृहदारण्यकोपनिषद्— गीता प्रेस, गोरखपुर, सं० २०२५, २।५।१९।

5 ए कन्स्ट्रक्टिव सर्वे ऑफ उपनिषदिक फिलासॉफी—आर० डी० रानडे, भारतीय विद्या भवन, बम्बई–७, १९६८ ई०, पृ० १८१-८३ ।

6 कबीर ग्रन्थावली : संपादक डॉ० श्यामसुन्दर दास, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, सं० २०२७ वि०, १००।३५ ।

7 वही, १००।३७ ।

8 वही, ८१।५१, ८३।६० ।

9 तैत्तिरीयोपनिषद्—गीता प्रेस, गोरखपुर, सं० २०२६ वि०, २।४, केनोपनिषद्—गीता प्रेस, गोरखपुर, सं० २०२६ वि०, १।३, २।३, कठोपनिषद्—गीता प्रेस गोरखपुर, सं० २०२४ वि, १।२।७ ।

10 कबीर ग्रन्थावली—११३।१८६, संत काव्य—संपा० परशुराम चतुर्वेदी, किताब महल, इलाहाबाद, १९५२ ई०, १८०।३३ ।

11 कबीर ग्रन्थावली—१५०।३३२ ।

12 वही, पृ० १८५ (रमैणी) ।

13 वही, १०५।१५९ ।

14 श्वेताश्वतरोपनिषद—गीता प्रेस, गोरखपुर, सं० २०२३ वि०, ३।१९ ।

15 भारतीय दर्शन : पं० बलदेव उपाध्याय, शारदा मन्दिर, वाराणसी, १९६६ ई०, पृ० ४१ ।

16 भारतीय दर्शन : बलदेव उपाध्याय, पृ० ४२, मुण्डकोपनिषद्—गीता प्रेस, गोरखपुर, सं० २०२६, १।१।६ ।

17 बृहदारण्यकोपनिषद् : गीता प्रेस, गोरखपुर, सं० २०२५, ४।४.२२ ।

18 कबीर ग्रन्थावली—१६०।३७५ ।

19 वही, १११।१८० ।

20 वही, ८१।४९, १२१।२१९ ।

21 वही, १११।१८०, ११०।१७५ ।

22 वही, १२८।२४८, ११६।१९९, २०२।६, ४९।१२ ।

23 वही, ६९।१ ।

24 हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय : डॉ० बड़थ्वाल, अनु० परशुराम चतुर्वेदी, प्रकाशक अवध पब्लिशिंग हाउस, पानदरीबा, लखनऊ, सं० २००७, पृ० १५६-१६० ।

25 कबीर ग्रन्थावली : १६१।३८० ।

26 कबीर बीजक : संपादक डॉ० शुकदेव सिंह, नीलाभ प्रकाशन ५, खुसरो बाग रोड, इलाहाबाद, पृ० ८२ ।

27 कबीर ग्रन्थावली, ४८।३८।६, १०८।१६९, १४१।२९७, पृ० १८४ ।

28 वही, १४८।३२६ ।

29 कबीर वचनावली : संकलनकर्ता—अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, सं० २०२१ वि०, १६६।१२, ९५।१० ।

[३०] इंडियन फिलॉसफी, खण्ड १, सन् १९६२ ई०, डॉ० एस० राधाकृष्णन्, पृ० १८३–८५।

[३१] शिवनारायणी सम्प्रदाय और उसका साहित्य : डॉ० रामचन्द्र तिवारी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, १९७२ ई०, पृ० २०१। कबीर ग्रन्थावली ८२।५५।

[३२] इंडियन फिलासफी, खण्ड १ : राधाकृष्णन्, पृ० २१५-१६। मुण्डकोपनिषद्, १।१।९। तैत्तिरीयोपनिषद्, १।९। छान्दोग्योपनिषद्, ५।१०।१-२।

[३३] कबीर ग्रन्थावली, १००।१३५। पृ० १७९, रमैणी।

[३४] ए कन्स्ट्रक्टिव सर्वे ऑव उपनिषदिक फिलासफी, पृ० २३९-२४०। मुण्डकोपनिषद्, १।१।४-५। छान्दोग्योपनिषद्, ७।१।१-३।

[३५] कबीर ग्रन्थावली, १५४।३४९, ११८।२०९।

[३६] वही, १००।१३५।

[३७] कबीर वचनावली, १३३।४६६, १३४।४७४-४७५।

[३८] वही, २०३।७५।

[३९] इंडियन फिलॉसफी, खण्ड १ : डॉ० राधाकृष्णन्, पृ० २१२-२१४, छान्दोग्योपनिषद्, ७।२३।

[४०] इंडियन फिलासफी, खण्ड १ : डॉ० राधाकृष्णन्, पृ० २१०-११। कठोपनिषद्, १।३।३-८।

[४१] इंडियन फिलॉसफी, खण्ड १ : डॉ० राधाकृष्णन्, पृ० २१५-२१६। वृहदारण्यकोपनिषद्, ४।४।६। मुण्डकोपनिषद्, १।१।९, तैत्तिरीयोपनिषद्, १।९, छान्दोग्योपनिषद्, ५।१०।१-२।

[४२] कबीर वचनावली, १०४।१२०, १०३।१०८।

[४३] कबीर ग्रन्थावली, २२।२, २३।१९।

[४४] कबीर वचनावली, १४३।५७९।

[४५] संत साहित्य : डॉ० राधेश्याम दूबे, प्रकाशक : श्रीमती बृन्दा दूबे, बी-३७।४१-ई, बैजनत्था, वाराणसी, १९७४ ई०, पृ० १५३-१५४, १७७।

[४६] कबीर ग्रन्थावली, ३६।११।

[४७] कबीर वचनावली, १४५।५९९, ६०१।

[४८] कबीर ग्रन्थावली, ७।२४।

[४९] संत साहित्य : डॉ० राधेश्याम दूबे, पृ० ९०-१००।

[५०] वही, पृ० १८८।२००।

[५१] वही, पृ० २०८-२२१।

सन्त मत में गुरुतत्त्व

डॉ० शिवकरण सिंह

आज अध्यात्म के प्रति लोगों में अविश्वास ही नहीं पैदा हुआ है, अपितु जीवन से उसकी सत्ता समाप्त होती दृष्टिगोचर हो रही है। इसके कारण को समझने के लिए दूर जाने की आवश्यकता नहीं। यह सत्य है कि कुछ अवांछित और अनपेक्षित प्रभावों के वशीभूत होकर हमने अपने घर में ही अपने लिए बेगानी स्थिति पैदा कर ली है। हम अपनी मूलभूत सांस्कृतिक परम्परा अथवा साधनात्मक वसीयत से या तो बुरी तरह कट गए हैं या उसके प्रति केवल बौद्धिक जिज्ञासा के कारण उसे अनर्गल प्रलाप मानकर उस पर अविश्वास करने लगे हैं। अध्यात्म यथार्थ में जीवन के बौद्धिक, भावात्मक और क्रियात्मक प्रयास का प्रतिफलन है जिसे समान अनुशासन के द्वारा अपने में उतारने के बाद ही समझा, परखा और मूल्यांकित किया जा सकता है। लेकिन आज के जटिल जीवन में इसके लिए अवकाश कहाँ! इसीलिए आज के लोगों ने या तो बाबा वाक्यं प्रमाणं और यथास्थितिवाद को स्वीकार किया है या फिर उसे सीधे-सीधें इन्कार कर दिया है। इस अन्धश्रद्धा और अविवेकपूर्ण अस्वीकृति से तत्त्व तो आँखों से ओझल हो गया है, और उसके नाम पर चलने वाला विवाद सुरसा का मुंह बन गया है। प्रायः लोग कहते हैं कि विज्ञान की प्रगति ने अध्यात्म पर प्रश्न चिह्न लगा दिया है और वह अब बीते दिन का राग बन गया है। यह धारणा अनर्गल और आरोपित है। अध्यात्म किसी भी विज्ञान से अधिक वैज्ञानिक और तत्त्व से अधिक तात्त्विक है। विज्ञान अध्यात्म के लिए चुनौती नहीं अपितु उसकी मान्यताओं को पुनर्प्रतिष्ठित करने के लिए एक अस्त्र है। वह अध्यात्म का विरोधी नहीं पूरक है। इस तथ्य को सही ढंग से न समझने के कारण आज अध्यात्म के भी सरलीकरण की जरूरत महसूस की जाने लगी है। बड़े-बड़े योग-केन्द्र स्थापित हुए हैं, पर वहाँ पर शिक्षा केवल आसन की दी जाती है। अगर थोड़ा अधिक प्रगतिशील केन्द्र हुआ तो उसमें हठयोग के षट्कर्म को अपना लिया गया। यह योग का उपहास नहीं तो और क्या है? लोग कहते हैं कि इस देश में योगियों की कमी नहीं, आध्यात्मिकों की कमी नहीं। भाई जर्रे-जर्रे में खुदा के दीदार वाले लोगों से मुझे कोई गिला नहीं। लेकिन सच यह है कि उस विद्या के जानकार लोगों की बड़ी कमी हो गई है। जो हैं भी वे या तो पकड़ में नहीं आते या पकड़ में आना नहीं चाहते। इस प्रवृत्ति के कारण अनेक महत्त्वपूर्ण विधायें अदृश्य हो गई हैं। बड़े सन्तों ने उनके उद्धार का प्रयत्न अवश्य किया था, लेकिन संप्रदायबाजी और बेसिर पैर की टीकाबाजी ने उस प्रयत्न पर भी प्रायः पानी फेर दिया। संप्रदायबाजी असहिष्णुता और शब्द ज्ञान की द्रविड़प्राणायामी लालबुझक्कड़ी से उनकी दुर्गति हो गई। विडंबना है कि भारत के तथाकथित आध्यात्मिकों को आज भी इस तथ्य की स्मृति दिलानी पड़ती है कि पूर्णसत्ता एक है। वही विविध आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए निश्चित शक्तियों से संपन्न होकर अवतरित होती है। पूर्ण सन्त इसी अवतरण विधान के प्रमुख अंग हैं। जो अनाम और अरुप है, वही निश्चित, उद्देश्य की

सिद्धि के लिए सनाम और सरूप बना है। फलासक्ति में उलझे लोग इन सन्तों के नाम पर भी बवालबाजी से बाज नहीं आते। वे तो उनके उद्देश्य को समझने के बजाय उनको घण्टा और घड़ियाल की ध्वनि से डुबा देने का प्रयत्न करते हैं। फिर सन्त की भी वही नियति हो जाती है जो मन्दिर में बैठे पत्थर के भगवान की होती है। उसके नाम पर कुछ कर्मकाण्डों को पूरा करके जैसे हम दुनियाँ में मनमानी करने का परवाना पा लेते हैं। एक व्याधि-बस नर मरहिं, ये असाधि बहु व्याधि। तो फिर आपही बताइए इस वस्तु-स्थिति में गुरुतत्त्व के विवेचन की क्या सार्थकता और वैज्ञानिक शब्दावली का प्रयोग करें तो क्या प्रामाणिकता है ?

हम आज सन्तमत को समझने का चाहें जो नजरिया स्वीकारें, इतना तो बेहिचक कहा ही जा सकता है कि वह अपने युग के सांस्कृतिक-आध्यात्मिक-अन्तमर्थन से उपलब्ध अनुपम तत्त्वज्ञान था। सभी सन्त मूलतः साधक थे और उन्हें आत्म-साक्षात्कार के धरातल पर परमतत्त्व का अनुभव प्राप्त था। यह अनुभव 'आँखिन देखा' अनुभव था। उन्होंने साधन की पूर्ववर्ती परम्परा को यथावत् रूप में स्वीकार नहीं किया था। वे तो उसी को स्वीकार करने के लिए तैयार थे जो उनके प्रयोग की दृष्टि से खरा सिद्ध हुआ था। इस दृष्टि से सन्तमत पूर्ववर्ती परम्परा का अन्धानुकरण नहीं अपितु उसके पुनरुन्नयन का एक सफल प्रयास था। इस उन्नयन के मूल में सन्तों के गुरु-तत्त्व की मान्यता क्रियाशील थी। भारतीय साधना के लिए यह तत्त्व नया न था। योग-संप्रदाय में इसका महत्त्व स्वीकृत था। नाथ और सूफी साधक इसे सर्वतोभावेन स्वीकार करते थे। केवल भक्ति साहित्य की सगुण भक्ति धारा में इसे यत्किंचित साकार-विग्रह के समक्ष थोड़ा दबना अवश्य पड़ा था। भारतीय सगुण भक्ति का प्रयास स्वतः में महती उपलब्धि का द्योतक था। इसके माध्यम से बदलती परिस्थिति के अनुकूल भारतीय चिन्तन को ऐसा अभिनव मोड़ प्रदान किया गया था जो सर्व-जन सुलभ हो सके। न तो योगमार्गी जटिलता जन-मानस का रंजन कर सकती थी और न निर्गुण-निराकार की उपासना सर्व-सामान्य के हृदय को रसमय बना सकती थी। सगुणभक्ति से सामान्य रुचि के लोगों को एक ऐसे लीलामय भगवान के रूप का दर्शन हुआ जो उनके लिए अबूझ पहेली न था। फिर भी इसके चतुर्दिक कुछ लोकाचारों और कर्मकाण्डों का ऐसा जाल फैल गया जिसके दबाव में उसकी मूलभूत चेतना तक पहुँच पाना कठिन हो गया। मध्यकालीन सन्तों ने लोक-जीवन को इससे मुक्त करने का प्रयत्न किया। उन्होंने साधना के क्षेत्र में अवतार के स्थान पर ऐसे पूर्ण पुरुष को प्रतिष्ठित किया जिसने परमतत्त्व को अधिगत किया था। इसी पूर्ण पुरुष को गुरु की संज्ञा दी गई। यथार्थ में सन्तमत तत्त्वज्ञान का मत था। इसमें ज्ञान, योग और भक्ति की मिलौनी के द्वारा ऐसा रसायन तैयार किया गया था जो आत्म-साक्षात्कार में सहायक हो। साधना का मार्ग जटिल होता है, फिसलन और उलझन से भरा हुआ होता है। आप लोगों में जिनको इसका कुछ भी अनुभव होगा वे इसे अस्वीकार नहीं कर सकते हैं। सन्तों को आत्मा के अस्तित्व पर कोई शंका न थी, लेकिन उन्हें यह भी भली प्रकार ज्ञात हो गया था, कि वहाँ तक पहुँचाने या उसका साक्षात्कार कराने के लिए पूर्ण अनुभव संपन्न पथ-प्रदर्शक की अपेक्षा थी। यही पथ-प्रदर्शक तो गुरु था।

'गुरु' के विषय में स्पष्टीकरण की दृष्टि से कुछ संप्रदायों की गुरु सम्बन्धी मान्यता पर दृष्टिपात कर लेना अपेक्षित है। सूफियों की मान्यता सन्तों की मान्यता के अधिक निकट है, वे तालिब को निष्ठापूर्वक, अपने हृदय को अन्य सांसारिक प्रपंचों से मुक्त करके, गुरु की रुहानियत की ओर सूरत लगाने और उसकी फैज का अनुभव करने का निर्देश देते हैं। उनकी दृष्टि में गुरु तीन प्रकार के होते हैं, (१) पीर इरादी (२) पीर तालीमी और (३) पीर सुहबती। पीर इरादी के उपदेश से मन परमार्थ प्रसंगों की ओर उन्मुख होता है। पीर तालीमी शिष्य को साधन की क्रियाओं से दीक्षित करता है। पीर सुहबती के सान्निध्य से मनुष्य के संस्कार सुधरते हैं और उसका साधन विकसित होता है। सन्तों में चार प्रकार के गुरुओं का उल्लेख मिलता है (१) पारस गुरु (२) दीपक गुरु (३) मलयागिरि गुरु और (४) भृंगी गुरु। पारस लोहे को तो सोने में बदल देता है, लेकिन अन्य धातुयें उससे अप्रभावित रहती हैं। पारस गुरु का प्रभाव केवल निश्चित रुझान के व्यक्ति पर पड़ता ह। वह शिष्य को आध्यात्मिक शिक्षा दे सकता है, लेकिन अपनी तरह नहीं बना सकता है। मलयागिरि गुरु स्वभाव से कल्याण-भावना से प्रेरित रहते हैं। उनके शरीर से ज्ञानमय प्रकाश की धार लगातार प्रवाहित होती रहती है। जो उस को ग्रहण करके अपने में उतार सकते हैं, वे उस से लाभ उठाते हैं। जिनमें यह क्षमता नहीं होती वे कोरे रह जाते हैं। भृंगी गुरु ध्यान का साधन बताते हैं। अगर वे पूर्ण हैं तो उन का निरन्तर चिन्तन करने वाला शिष्य भी पूर्ण हो जाता है। दीपक गुरु ज्ञान स्वरूप होते हैं। जिस व्यक्ति के हृदय में ज्ञान का प्रकाश नहीं हुआ है वह उनके संपर्क से लाभ उठा सकता है। लेकिन उनसे ज्ञान प्राप्त करने की एक आवश्यक शर्त है। शिष्य को दीक्षा के पूर्व अपने अन्दर एक निश्चित् क्षमता पैदा करनी पड़ती है। कबीर साहब में इन चारों प्रकार के गुरुओं का यथास्थान उल्लेख मिलता है, कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं;

(१) हमारे गुरु बड़े भृंगी, हमारे गुरु बड़े भृंगी।
(२) पीछे लागा जाइथा, लोकवेद के साथि
आगे थैं सतगुरु मिल्या, दीपक दीया हाथि।
दीपक दीया तेलभरि बाती दई अघट्ट
पूरा किया बिसाहुणा, बहुरि न आवै हट्ट।
(३) कबीर संगत साध की कदे न निरफल होइ
चन्दन होसी बावना, नीवन कहसी सोइ।

लेकिन कबीर साहब यहीं तक सीमित नहीं रह जाते। वे गुरु की बात नहीं करते, वे तो सदगुरु का गुणगान करते हैं जो इन ऊपर के गुरुओं से भिन्न है। उसके विषय में वे लिखते हैं;

गुरु मिल्या तब जानिए, मिटै मोह सन्ताप
हर्ष शोक व्यापे नहीं तब गुरु आपहिं आप।

\+ + + + +

कनफूका गुरु हद्द का, बेहद का गुरु और
बेहद का गुरु जब मिलै, तब लगै ठिकाने ठौर।

यही बेहद का गुरु कबीर का गुरु है और वही उन्हें काम्य भी है। उसी के ज्ञान के प्रकाश में उन्होंने सबकुछ देखा और परखा है। उसी ने अपने ज्ञानांजन से उनके अज्ञान का नाश किया है। उसी की कृपा से उनके दिव्यनेत्र खुले हैं और आत्म प्रकाश प्राप्त हुआ है। अतएव वे उस परम चैतन्य, ज्ञानप्रकाशक, चिन्मय गुरुतत्व के सम्मुख प्रणत हैं जिसकी कृपा से वे भवनिधि पार हुए हैं। वे उस का गुणगान करते हुए कहते हैं ;—

सतगुरु की महिमा अनत, अनत किया उपकार
लोचन अनत उघारिया, अनन दिखावन हार।

\+ \+ \+ \+ \+

सतगुरु सवान को सगा, सोधी सईं न दाति
हरि जू सवान को हितू हरिजन सईं न जाति

\+ \+ \+ \+ \+

कबीर के सतगुरु के समान उपकार करने वाला कोई नहीं है। उसी की कृपा से कबीर कबीर बन सके हैं। इस दृष्टि से गुरु ही अपना सगा है और सब बेगाने हैं। उस पर जो विश्वास करता है, अपने साथ रखता है, उसका चित्त करोड़ों कालों के द्वारा झकझोरे जाने पर भी विचलित नहीं होता। इस सन्दर्भ में, गुरु के विवेचन के क्रम में गुरु तत्त्व को समझा जा सकता है। यथार्थ में गुरुतत्त्व "नाद-बिन्दु कलातीत विशुद्ध आत्मा है। वह शरीर नहीं है। वह तो यथार्थ में इस दृश्य घटक में निहित सिद्धदेह ;—और दिव्य देह में चिन्मय आत्मतत्त्व है जिसे 'अखण्ड मण्डलाकार' ब्रह्म तत्त्व का पर्याय माना जाता है। इस तत्त्व का साक्षात्कार चिदाकाश में ज्ञान-चक्षु के उन्मीलित होने पर संभव होता है। इसी लिए सन्तों में गुरु आत्मसाक्षात्कार का पर्याय होता है। (इस का विशेष निरूपण गुरु साधना के सन्दर्भ में किया जायगा)।

हमें अब देखना है कि कबीर साहब इसके विषय में क्या कहते हैं। वे तो अति स्पष्ट शब्दों में सद्गुरु के महत्त्व का प्रतिपादन करते हैं और गुरुतत्त्व का साक्षात्कार करने का परामर्श देते हैं। वे स्पष्ट शब्दों में स्वीकार करते हैं कि गुरुतत्त्व ही गोविन्द तत्त्व है। कुछ अर्थों में गुरु तत्त्व गोविन्द तत्त्व से भी महत्त्वपूर्ण है, क्यों कि 'हरि सिरजे ते वार है, गुरु सिरजे ते पार।' यही नहीं भगवान के रूठने पर गुरु शिष्य का उद्धार कर सकते हैं, पर गुरु के रूठने पर भगवान भी उसे नहीं बचा सकते। इसीलिए वे संसार के लोगों को चेतावनी देते हुए कहते हैं कि भाई वस्तु कहीं और है और उसे खोज कहीं और रहे हो। भेदी को तो साथ लिया नहीं, जो उस वस्तु के भेद से परिचित हैं। उसे साथ ले कर तो देखो, वह करोड़ों जन्म के मार्ग को तुम्हें पल भर में पार करा देगा। जरा देखो तो सही, उसने तुम्हें ज्ञान का जो दीपक दिया है, वह स्नेह रूपी तेल से लबालब भरा हुआ है और उसमें ज्ञान की मोटी बत्ती भी लगी हुई है। उसे जला कर प्रकाश में अपना कार्य कर लो। तुम आवागमन से मुक्त हो जाओगे। याद रखो, यह शरीर विष-बेलि है, और गुरु अमृत की खान है। अपना सर्वस्व न्योछावर करके भी अगर ऐसे गुरु की कृपा पा सको, तो उसे सस्ता ही समझो। कबीर साहब ने लिखा है;

नादी बन्दी बहु मिले करत कलेजे छेद।
कोई तख्त तले का ना मिला जासों पूछूँ भेद ॥
तख्त तले की सो कहै जो तख्त तले का होय
मंझ महल की गम नहीं, परदा गाढ़ा सोय ॥
मंझ महल की गुरु कहै, देखा जिन घरबार।
कुंजी दीन्हीं हाथ कर परदा दिया उघार ॥

कबीर साहब तख्त तले के गुरु को महत्त्व देते हैं। वह बिरला होता है। उसे जीवन रहस्य का ज्ञान होता है, शरीर रूपी महल की जानकारी होती है। इसीलिए वह शिष्य का परदा उठा कर परम तत्त्व का साक्षात्कार करा देता है। वह शिष्य को ऐसी अजरअमर घुट्टी पिलाता है कि वह अपनी दुश्चिन्ता को खोकर सुचित हो जाता है। उसी की कृपा से शिष्य साधना के रहस्य से अवगत हो सकता है। यथा;—

सतगुरु सोइ दया करि दीन्हा।
ताते अनचिन्हार मैं चीन्हा।
बिन पग चलना, बिन पर उड़ना, बिना चूँच का चुगना
बिना नैन का देखन पेखन, बिन सरवन का सुनना।
चन्द न सूर, दिवस नहीं रजनी, तहाँ सुरति लौ लाई।
बिना अन्न अमृत रस भोजन, बिन जल तृषा बुझाई।
जहाँ हरस तहँ पूरन सुख है, यह सुख कासौं कहना।
कहैं कबीर बल बल सतगुरु की, धन्य सिष्य का लहना ॥

धन्य हैं कबीर के सद्गुरु और धन्य है उनसे शिक्षा प्राप्त करने वाला शिष्य। सत्गुरु के मिलते ही शिष्य अनचिन्हार को चीन्ह जाता है। लौकिक कार्य तो बाह्य इन्द्रियों से संपादित होते हैं, पर उस सद्गुरु की कृपा से अलौकिक कार्य ऐसे अतीन्द्रिय लोक में संपादित होने लगता है जहाँ केवल उसके कृपा पात्रों की गम होती है। सद्गुरु शिष्य को प्रेम का प्याला पिला देता है। उस की आँखों से परदा हटा देता है और ब्रह्म-सत्ता उसके समक्ष बिलसने लगती है। इस साक्षात्कार से उसके विवेकनेत्र खुल जाते हैं और उसे लोक के कार्य-व्यापार में अन्तर्दृष्टि मिल जाती है। वह मंत्रमुग्ध हो कर अनाहत नाद सुनने लगता है और बीतराग होकर परमपद को पा लेता है। कबीर साहब तो स्पष्ट कहते हैं—

भाई कोइ सत्गुरु सन्त कहावै।
नैनन अलख लखावै।

प्राण पूज्य किरिया ते न्यारा सहज समाधि सिखावै।
द्वार न रूधै, स्रवन न रोकै, नहीं भवखण्ड तजावै।
यह मन जाय जहाँ लग जबहीं परमातम दरसावै।
काम करै, निःकरम रहै जो ऐसी जुगत लखावै।
सदा बिलास, त्रास नहि तन में, भोग में जोग जगावै।
धरती, पानी, अकास पवन में, अधर मड़ैया छवावै।

सुन्न सिखर सार शिला पर, आसन अचल जमावै।
भीतर रहा सो बाहर देखे, दूजा दृष्टि न आवै।

सतगुरु अलख को लखाता है और सहज समाधि की ओर उन्मुख करता है। इसके लिए न तो वह षट्करम करता है और न हठयोग की शिक्षा देता है। वह तो केवल मन की गति को बदल देता है। साधक का मन उन्मनी दशा को प्राप्त हो जाता है। अब उसका शिष्य साधक जहाँ-जहाँ जाता है, वहाँ-वहाँ केवल परमात्म तत्त्व को ही देखता है। सद्गुरु शिष्य में निष्काम कर्म करने की प्रेरणा पैदा करता है। वह उसे परमात्मा के आनन्द में लीन रखता है और भोग में योग के रहस्य का ज्ञान करा देता है। अब शिष्य की बैठक शून्य शिखर पर होने लगती है और वह समदर्शी बन जाता है। वैसे योग में 'मीनमार्ग' और 'पिपीलिका मार्ग' का उल्लेख मिलता है, पर सद्गुरु अपने शिष्य को विहंगमार्ग से आगे बढ़ाता हैं। वह अपने शिष्य की सुरति को पक्षी की तरह उड़ाते हुए उस मूल उद्गम तक पहुँचा देता है, जहाँ से शब्द की उत्पत्ति हुई थी। शब्द की उत्पत्ति का स्थान ही साधक का असली घर है। इसी घर में वह अपने शिष्य को परम पुरुष का दर्शन कराता है जो अगम और अगोचर है। सद्गुरु जोई पिण्डे सोई ब्रह्माण्डे की यथार्थता से अवगत होता है। अतएव वह शिष्य के पिण्ड में ही ब्रह्माण्ड के रहस्य का उद्घाटन करता रहता है। वह कबीर का सद्गुरु चतुर और सुजान है और "घर में घर" दिखला सकता है।

सन्तों की साधना गुरु-आश्रित शब्द-सुरतियोग की साधना है। कबीर साहब कहते भी हैं;

"साधो शब्द साधना कीजै।
जेहि सबद ते प्रगट भए सब, सोइ सबद गहि लीजै।"

शब्द-सुरति-योग की यह साधना पहले से प्रचलित रही है। उपनिषद में इसे ब्रह्म के चार पाद के माध्यम से स्पष्ट किया गया है और पंचम पद को आत्मतत्त्व की संज्ञा दी गई है। कबीर साहब भी कहते हैं :—

"गगन की ओर नीसाना है।
दहिने सूर चन्द्रमा बाएँ, तिन के बीच छिपाना है।
तन की कमान, सुरत का रोदा, सबद बान ले ताना है।
मारत बान बेधा तन ही तन, सतगुरु का परवाना है।
मार्‍यो बान, घाव नहिं तन में जिन लागा तिन जाना है।

सन्तों की साधना में 'सुरति' और 'निरति' का बार-बार प्रयोग मिलता है। सुरति का अर्थ है 'दर्शन की तीव्र ललक' और निरति का अर्थ है 'निर्विकल्प ध्यान'। 'सुरति' ही 'निरति' की जनक होती है। इन दोनों के एकमेक होने से साधक की गति कारण शरीर तक हो जाती है। उपर्युक्त पद में मंत्र साधना के रहस्यमय स्वरूप का निर्देश हैं। शरीर धनुष है, सुरत उसकी डोरी है और उस पर शब्द रूपी बाण का संधान किया जारहा है। निशाना 'गगन की ओट' में छिपे साधना के महत्त्वपूर्ण केन्द्र-बिन्दु पर साधा जा रहा है।

सुरति साधना का क्रम निरन्तर चल रहा है—वाण चल रहे हैं। लेकिन ये यथार्थ में वाण नहीं हैं। ये तो सतगुरु के परवाने हैं। इससे तन, मन, स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर निरन्तर विंध रहा है, साधना भीतर ही भीतर उन्मनी दशा की ओर उन्मुख हो रही है, लेकिन वाहर उसका निशान नहीं दिखाई दे रहा है। कवीर साहब ने 'सतगुरु' के परवाना द्वारा' सद्गुरु द्वारा शिष्य में मंत्र विशेष के माध्यम से किए गए शक्ति संचार का उल्लेख किया है। साधक मंत्र को शब्द स्वरूप ही नहीं, अपितु गुरु स्वरूप मानकर उसकी साधना करते हैं। अनाहत चक्र से लेकर सहस्रदल कमल तक वाणी का विस्तार अनेक स्थूल-सूक्ष्म स्वरूपों में प्रसरित रहता है। साधक वैखरी से आरंभ करके मध्यमा, पश्यन्ती के स्वरूपों को अधिगत करता हुआ परा के क्षेत्र मे पहुँचता है। गुरु कृपा से उसकी वृत्तियाँ अन्तर्मुखी हो चुकी हैं, कुन्डलिनी जागृतहो चुकी ह, ग्रथियों का भेदन करके वह उर्ध्वमुखी और उन्मनी स्थिति को प्राप्त हो रहा है। सद्गुरु का हथियार साधक की साधना के माध्यम से अन्दर ही अन्दर भिद कर उसे वांछित मोड़ प्रदान कर रहा है। कवीर साहव तो वार-वार कहते हैं :—

"सतगुरु सांचा सूरिमा, सवद जु वाह्या एक
लागत ही भय मिलिगया, पड़्या कलेजै छेंक ॥
ज्यों ज्यों हरिगुण साँभलूँ, त्यों त्यों लागै तीर
साठी साठी झड़ि पड़ी, झलका रह्या सरीर ॥
कवीर मन मिर्तक भया दुर्वल भया सरीर।
पाछे पाछे हरि फिरैं कहत कबीर कबीर ॥

प्राय: सभी सन्तों ने साधना को वीरता की संज्ञा दी है, सभी ने 'सूरातन को अंग' के माध्यम से इस विशेषता को उद्घाटित किया है। उनकी उक्तियों के मर्म तक तो वे ही पहुंच सकते हैं जिन्हें कम से कम उस मार्ग का थोड़ा बहुत अनुभव है। कोरे शब्द ज्ञानी या शास्त्र-ज्ञानी कभी-कभी अर्थ का अनर्थ कर देते हैं। वे अपने दुराग्रह से तीतर को बटेर और बटेर को तीतर बताते रहते हैं। इसीलिए सन्त उनको चुनौती देते हैं और उनका विरोध करते हैं। सन्तों का गुरु या यों कहें कि सद्गुरु सच्चा शूर है, वह तो शब्द के तीर चलाता है। यह तीर जब शिष्य को लगता हैं तो सबसे पहले उसका अहं चकनाचूर होता है। उसके हृदय की चित्तवृत्तियाँ शमित होती हैं, मन अपनी चंचल अधोमुखी क्रिया को त्याग कर उर्ध्वमुखी बनने लगता है। साधक अपनी शब्द-साधना में ज्यों-ज्यों अग्रसर होता है, गुरु के द्वारा चलाए गए शब्द-बाणों की वर्षा और घनी होती जाती है। इतनी घनी कि एक दिन उसके हृदय पर उसका एकाधिकार हो जाता हैं। हर साधक आरंभ में तीन अवस्थाओं, तीन सत्ताओं या तीन गुणों वाला होता है। गुरु के द्वारा चलाए गए तीर के वार को झेलकर वह इन्हें अतिक्रमित करने में समर्थ होता है। इनके समरसीभूत होने के बाद साधक में साम्यावस्था का अवतरण होता है जो सहज समाधि की जनक बनती है। इस पूरी साधना पद्धति का कवीर साहव के साहित्य में पूरा उल्लेख मिलता है। वे स्पष्ट रूप से इस तथ्य का निर्देश करते हैं कि गुरु के शब्दों को ग्रहण करने वाला साधक अपनी स्थूल सत्ता का लय सूक्ष्म सत्ता में और सूक्ष्म सत्ता का लय कारण सत्ता में करता जाता है और अन्त में कारणातीत वनकर शून्य और महाशून्य की उपासना को पूर्ण करता हुआ ब्रह्म

स्वरूप हो जाता है। कबीर की शब्दावली में इस स्थिति को 'मरजीवा' की संज्ञा दी गई है। वे तो इसका स्पष्ट उल्लेख करते हैं :—

अनहद बाजै, नीझर झरै उपजै ब्रह्म गियान।
आब गति अन्तर प्रगटै, लागै प्रेम धियान।।
गगन गरजि अमृत चवै, कदली कवल प्रकास।
तहाँ कबीरा बन्दगी, कै कोई निजदास :।

यह तो हुई गुरु प्रदत्त मंत्र साधना और उसके साथ साधक के समर सी भूत अथवा तदाकार परिणति की बात। गुरु ने अपना धर्म शिष्य के साथ निवाह कर इसे पूर्णता की ओर उन्मुख किया। लेकिन साधना का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष और भी है। इस पूरी क्रिया में साधक को गुरुमुख रहना पड़ता है, मनमुख नहीं। गुरु मुख रह कर ही वह गुरु-साक्षात्कार प्राप्त कर सकता है। इसका स्पष्ट उल्लेख करते हुए महामहिम गोपीनाथ जी कविराज ने लिखा है, "गुरु स्वरूपतः निराकार चैतन्य हैं। साधक आकृति-संपन्न तथा प्राकृत अथवा अप्राकृत देह विशिष्ट है, किन्तु इष्ट आनन्दमय, अजर-अमर देह विशिष्ट है। इसलिए दोनों ही साकार हैं, इसमें सन्देह नहीं। निराकार चैतन्य साकार साधक के प्रति अगोचर है, एवं साकार इष्ट साधक के लिए अप्राप्त है। किन्तु इष्ट के साथ साधक का योग होने पर निराकार चैतन्य स्वरूप की ओर अग्रसर होना संभव है। यह गति साधक और इष्ट की सम्मिलित गति है। इस गति के अन्त में साधक और इष्ट एक होकर निराकार चैतन्य स्वरूप से मानो एक हो जाते हैं। तब अहं नहीं रहता, इसीलिए साधक नहीं रहता और साध्य भी नहीं रहता। दोनों एक होकर निराकारता संपादन द्वारा निराकार चैतन्य के साथ अभेद प्राप्त करते हैं। इसी का नाम गुरु-साक्षात्कार है। गुरु का साक्षात्कार संपन्न होने पर गुरु अपना स्वरूप दिखा देते हैं। साधक कां जो आत्मा है, उससे गुरु का आत्मा भिन्न नहीं है। इस अवस्था में जिस स्थिति का उदय होता है, वह नाद और ज्योति से परे हैं। यह साकार नहीं है, इसलिए यह प्रकृति के अतीत है। यह साकार और निराकार रूप द्वन्द्व के अतीत विशुद्ध आत्म रूप है। इस आत्म दर्शन के संपन्न हो जाने पर गुरु, इष्ट और साधक का आत्मा अभिन्न, अद्वय, अखण्ड स्वरूप से स्वयं प्रकाश रूप में अपने को प्रकट करता है। उस समय सब कुछ रहता है और कुछ भी नहीं रहता। अखण्ड महा प्रकाश में अपने को पुनः पाया जाता है, एवं गुरु को पुनः पाया जाता है और उस अवस्था में एक में ही नानात्व का प्रतिभास निखर कर एक रूप हो उठता है।" साधक कां गुरु के मानव देह, सिद्ध देह, या दिव्य देह का अवलम्बन ग्रहण करके साधना में प्रवृत्त होना पड़ता है। कबीर साहब ने इसका स्पष्ट उल्लेख किया है :—

"अब गुरु दिल में देखिया, गावन को कछु नाहिं।
कबिरा जब हम गावते, तब जाना गुरु नाहिं।।

× × ×

बिनु सतगुरु इतना दुख पाया बैद मिला नहिं इस तन कारे।

× × ×

कबीर हम गुरु रस पिया, बाकी रही न छाक।

× × ×

मोरे लगि गए बान सुरंगी हो।

घन सतगुरु, उपदेश दियो है, होइ गयौ चित्त भिरंगी हो।
ध्यान पुरुष की बनी है तिरिया, घायल पाँचो संगी हो॥
घायल की गति घायल जाने, की जाने जात पतंगी हो।
कहैं कबीर सुनो भाई साधो, निसि दिन प्रेम उमंगी हो॥

× × ×

सतगुरु धारा निर्मल बाहे, वामें काया धोई रे।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, तब ही वैसा होई रे॥

× × ×

सतगुरु दरस होय जब भाई।
वह दें तुमको प्रेम चिताई॥
सुरति-निरति के भेद बताई।
तब देखे अण्ड के पारा हो॥

महामहोपाध्याय कविराज जी द्वारा निरूपित गुरु साक्षात्कार के सभी स्वरूपों का उपर्युक्त अंश में समावेश है। आवश्यकता इस बात की है कि केवल शब्द तक सीमित रह कर कबीर को समझने की धृष्टता न की जाय। उनके वचनों के तह तक जाने का प्रयत्न किया जाय। कबीर साहब तो स्पष्ट स्वीकार करते हैं कि गुरु के बिना बड़ा कष्ट मिला। उसका हृदय में दर्शन हो जाने के बाद शिष्य सफल-मनोरथ हो गया। गुरु रस पीने के बाद और सभी रसों की प्यास अनायास ही मिट गई। उससे प्रवाहित होने वाली निर्मल धारा में साधक ने गोता लगाकर अपने को गुरु के सदृश बना लिया। वह गुरु के साथ तदाकार हो गया। यही तदाकार परिणति तो शिष्य की साधना का प्रमुख उद्देश्य थी। इसके माध्यम से शिष्य गुरु की समूची आध्यात्मिक उपलब्धि को अनायास ही उपलब्ध कर लेता है। इस साधना के कई सोपान हैं जो शब्द-सुरति-साधना के साथ गुरु का ध्यान करने से अनायास ही उपलब्ध हो जाते हैं। अन्ततोगत्वाशिष्य को यह ज्ञान हो जाता है कि उसकी आत्मा ही गुरु है, गुरु ही उसकी आत्मा है, वे अभेद और अद्वय स्थिति में हैं। आइए हम भी सन्त कबीर के साथ एक बार कम से कम उस स्थिति का अनुभव करके उन्हीं के साथ मुखर होकर गा पड़ें :—

"चुअत अमी रस भरत ताल जहँ सबद उठै असमानी हो।
सरिता उमड़ि सिन्धु को सोखै, नहिं वहाँ रैन बिहानी हो।
चाँद सुरुज तारागन नहिं वहँ, नहिं वहाँ रैन बिहानी हो।
बाजे बजे सितार बाँसुरी, ररंकार मृदु बानी हो।
कोटि झिलमिली जहँ वहँ झलकैं, बिनुजल बरसत पानी हो।
शिव, अज, विष्णु, सुरेश, सारद निज-निज मति अनुमानी हो।
दस अवतार एक तत राँचे, अस्तुति सहज सुहानी हो।
कहैं कबीर भेद की बातें, बिरला कोइ पहिचानी हो।
कर पहिचान फेरि नहिं आवे, जम जुल्मी की रवानी हो।

चमत्कृति सिद्धान्त

डॉ० सूर्यनारायण द्विवेदी
साहित्याचार्य एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्०

काव्य संरचना के विश्लेषक की दृष्टि जहाँ काव्य सिद्धान्तों और मतवादों की परिचर्चा की ओर जाती है, वहीं वह जाने अनजाने मौलिक काव्यसत्य का भी संस्पर्श करती ही है। यह दूसरी बात है कि कहीं वह अस्फुट अर्द्धस्फुट एवं कहीं अत्यन्त स्फुट आकार ले पाता है। भारतीय काव्यसिद्धान्त की विश्वतोमुखी विश्लेषण परम्परा में भी मूलकाव्य-सत्य की स्थिति ऐसी ही रही है। विभिन्न सिद्धान्तों और काव्यावयवों को प्रतिपादित करते समय समीक्षकों ने उसे सौन्दर्य, चारुत्व, रमणीयता, लोकातिक्रान्तगोचरता, विच्छित्ति, वैचित्र्य, मनोहारीत्व और चमत्कृति आदि विविध नामों से अभिहित किया है। चाहे अलंकृति, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति, औचित्य और रस जैसे सिद्धान्तों की चर्चा हो अथवा काव्य, शब्द-शक्ति, ध्वनि, गुणीभूतव्यंग्य, अलंकार, रस, गुण, रीति और वृत्ति आदि काव्य के आकार निर्वर्तक का प्रसंग हो उपर्युक्त नामों से चलने वाले काव्यसत्य की सत्ता प्रत्येक स्थलों पर देखी गई। इसीलिए सबसे अधिक आश्चर्य का विषय तो यह है कि मूलकाव्यसत्य से युक्त अंग रूप तत्वों को तो काव्यसत्य की स्थिति मिल गई जबकि मूलकाव्यसत्य स्वयं उपेक्षित एवं अविश्लेषित ही रह गया और प्रयास हुए भी तो काव्यशास्त्र की भारतीय पर-म्परा में वह अरेखांकित ही छूट गया।

मूलकाव्यसत्य के उपपादक जिन नामों की ऊपर चर्चा की गई है परस्पर एक दूसरे से कुछ-कुछ भिन्न अर्थ रखते हुए भी वे एक दूसरे के पर्याय भी हैं। इसका मूलकारण उनकी भावस्थिति ही है। अतएव विभिन्न नाम उस मूलसत्य के प्रतीक अभिधेय ही है, जो उसकी विभिन्न विशेषताओं के उद्घाटन का कार्य करते हैं और इस प्रकार अनैकान्तिक इस मूलसत्य को परिसीमित न करते हुए उसके स्वरूपनिर्वर्तन में सहायक होते अथवा अपने अस्तित्व की सार्थकता सिद्ध करते हैं। "चमत्कृति" इनमें एक ऐसा नाम है, जिसे काव्य-शास्त्र का प्रारम्भिक प्रस्थान-विन्दु माना जा सकता है किन्तु उत्तरोत्तर इसमें स्पष्टता आती गई है और संस्कृत साहित्यशास्त्र की आचार्यप्रज्ञा ने तो इसे प्रकारान्तर से काव्य-स्वरूप का निर्वर्तक मूलसत्य भी उद्घोषित कर दिया। इस प्रकार "चमत्कृति" मूलकाव्यसत्य का उपपादक शब्द, अशेष काव्य सिद्धान्तों और काव्यांगों का भी जीवातुभूत तत्त्व है।

भारत की काव्यशास्त्रीय परम्परा और चमत्कृति

भारत के काव्य शास्त्र के प्रारम्भिक काल के विषय में पर्याप्त विवाद है। भामह से पूर्ववर्ती किसी आचार्य की प्रामाणिक कृति उपलब्ध न होते से, भामह से लेकर अट्ठारहवीं शती तक के १२०० वर्षों की काव्यशास्त्रीय इतिहास परम्परा

में ही अन्य काव्यसिद्धान्त तत्वों की भाँति चमत्कृति का भी अन्वेषण संभव है। विकास के विभिन्न सोपानों से उपर्युक्त समस्त आयाम को, विश्लेषण की सुविधा के लिए तीन कालों विभाजित किया जा सकता है।

१. अनुभूतिमूलक काल—भामह से रुद्रट तक
२. अभिव्यक्तिमूलक काल—आनन्द से मम्मट तक
३. प्रतिष्ठा काल—विश्वेश्वर से हरिप्रसाद तक

यह काल-विभाजन वास्तविक न होकर विकास की दृष्टि से सुविधामूलक है, जहाँ काव्य के मूल सत्य की केवल पर्यायान्तरों से स्वीकृति मिलती गई थी। उसे यहाँ अनुभूति-मूलक काल कहा गया है। इस अवधि विशेष में चमत्कृति के अन्य पर्याय ही मिलते हैं, जिन्हें उपर्युक्त विभिन्न नामों से अभिहित किया गया। द्वितीय कालावधि में चमत्कृति का आचार्य प्रज्ञाओं की कृतियों में स्पष्ट निर्देश मिलता है किन्तु अपेक्षित एवं मनीषित सिद्धान्तों की स्थापना के आवेश में इसकाल विशेष की प्रज्ञाओं ने केवल इंगित भर किया है। अपने द्वारा प्रतिपादित काव्यसिद्धान्त का प्राणभूत तत्व कहते हुए भी वे उसकी स्पष्ट महत्ता को प्रतिपादित नहीं करते। इस अवधि विशेष के अन्त तक पहुँचते-पहुँचते यह आग्रह शिथिल पड़ने लगता है अर्थात् सिद्धान्त का अस्तित्व चमत्कृति के साथ उन्हें अन्वय व्यतिरेक भाव से बँधा स्पष्ट दीखता है। अतएव इस कालावधि की अन्तिम आचार्य प्रज्ञा "चमत्कृति" का संक्षिप्त ही सही प्रतिपादन करना नहीं भूलती। तृतीय कालावधि में "चमत्कृति" का व्याख्यात्मक एवं स्पष्टीकरण परक पक्ष अस्तित्व में आता है। यहाँ उसे रस का प्राणभूत तत्त्व, काव्यांगों का जीवातुभूत तत्त्व एवं काव्य स्वरूपनिर्वर्तक तत्व के साथ ही काव्य का प्राणभूततत्त्व भी मान लिया गया है। यहाँ चमत्कृति से सम्बद्ध तीनो कालवधि में उपलब्ध स्थलों का दिङ्निर्देश किया जाता है—

चमत्कृति एवं अनुभूतिमूलक काल

भामह उपलब्ध भारतीय काव्यशास्त्रीय परम्परा के प्रथम आचार्य हैं जिनकी कृति "काव्यालंकार" में चमत्कृति का नाम तो नहीं लिया गया है पर काव्य के बीच चमत्कृति का आधान करने वाले तत्त्व को कहीं संज्ञा एवं कहीं विशेषण पद से कहा गया[१] है—चारुता, सौन्दर्य, शोभा आदि शब्द संज्ञाओं के रूप में और कान्त, चारु तथा मनोहर शब्द विशेषण के रुप में विभिन्न प्रसंगों में प्रयुक्त हुए हैं। चमत्कृति से सीधे सम्बद्ध "वक्रोक्ति" को काव्य का अलंकार मानने वाले भामह ने वक्रोक्ति को लोकानिक्रान्तगोचर कहा[२] है और स्वयं लोकातिक्रान्तिगोचरता[३] उक्ति का आतिशय्य होने के कारण चमत्कृति का ही अपर नाम है। अतएव शब्दतः नाम न कहते हुए भी भामह ने चमत्कृति को पर्यान्तरों से स्वीकृत दे दी।

---

[१] चारुता—काव्यालंकार १।३६, ६।२८, ६४२,। सौन्दर्य-वही १।५५। शोभा-वही १।५५, १।५९ कान्त—वही १।६। मनोहर—वही ६।३०। रमणीय—वही २।१३।

[२] काव्यालंकार; भामह २।८५

[३] वही २८१

दण्डी के काव्यादर्श में भी चमत्कृति का स्पष्ट संकेत नहीं मिलता। किन्तु विशेषण के रूप में "सुन्दर"[१] कान्त और चारु शब्द का प्रयोग और वक्रोक्ति के बदले सीधे अतिशयोक्ति[२] को समस्त अलंकारों का आधारभूत तत्त्व स्वीकारना उक्ति के आतिशय्य अर्थात् वाणीगत चमत्कृति की प्रकारान्तर से अवगति मानी जायगी। वैसे काव्यलक्षण में इष्टर्थव्यवच्छेकता प्रकारान्तर से चमत्कृति की ही अवगति है।[३] उद्भट वक्रोक्ति एवं अतिशयोक्ति का पल्ला छोड़कर समस्त अलंकारों के मूल में वाणी की लोकातिक्रान्तगोचरता[४] को स्पष्टतया स्वीकारते हैं और इस प्रकार वक्रोक्ति एवं अतिशय्य से आगे बढ़कर लोकातिक्रान्तगोचरता या अलौकिकता या फिर अद्भुत वाणी प्रयोग को स्वीकृति देकर चमत्कृति की ही काव्य सत्य के रूप में पुष्टि करते हैं।

वामन के "काव्यालंकार सूत्रवृत्ति" में यद्यपि रीति गुण एवं अलंकार का ही विस्तार है अतएव उनका ध्यान मूलतः इन्ही पर केन्द्रित रहा है फिर भी वे अलंकारों के कारण काव्य को ग्राह्य मानते हैं[५] और अलंकार को साक्षात् सौन्दर्य।[६] निश्चित ही यहाँ वामन सौन्दर्य को शोभाधायकतत्त्व के रूप में स्वीकारते हैं। उनका ध्यान सौन्दर्य के मूल रूप स्वरूपाधायकता पर नहीं पहुँचता। इस प्रकार वामन चमत्कृति के अपर पर्याय सौन्दर्य की केवल-शोभाधायकता को ही अपना पाते हैं।

रूद्रट ने अपने काव्यालंकार में चमत्कृति के अर्थ में "वैचित्र्य"[७] और चारुत्व[८] को लिया है। वैचित्र्य, अतिशयता, अलौकिकता आदि प्रायः चमत्कृति के पर्याय रूप में ही काव्यसत्य के संकेतक शब्द हैं। रुद्रट ने वैचित्र्य का प्रयोग कर उसी स्थिति को काव्यालंकार प्राणतत्त्व माना है। इस प्रकार विभिन्न पर्यायों से अभिहित काव्यसत्य के उद्घाटन का प्रयास तो इन कृतियों में दीखता है जिससे चमत्कृति रूप काव्यसत्य उनके अनुभूति पथ पर अवतरित था, इसका पता चलता ही है। वैसे रुद्रट काव्य की रचना चारु हो, इसे स्पष्ट शब्दों में भी स्वीकारते हैं।[९]

चमत्कृति और अभिव्यक्तिकाल

अभिव्यक्ति काल "चमत्कृति" का काव्यसत्य के रूप में स्फुटनिर्देश का काल है। आनन्द के "ध्वन्यालोक"[१०] का चतुर्थ उद्योत पहला स्थल है, जहाँ "चमत्कृति" शब्द आया है।

---

[१] वामन—काव्यालंकारसूत्रवृत्ति १।१।१

[२] वही १।१।२

[३] रुद्रट; काव्यालंकार ४।३१-९ चारुत्व २।९, २।१०

[४] काव्यादर्श—१।७, १।२१, १।९५ कान्त वही १।८५, १।८८, कान्ति ५४। चारु

[५] वही १।५७

[६] वही २।२२०

[७] वही १।१०

[८] काव्यालंकारसारसंग्रह २।११

[९] वही १।१३, १।१४

[१०] ध्वन्यालोक : ४।१६।

यद्यपि ध्वनि प्रतिपादन के विभिन्न प्रसंगों में वे विच्छित्ति, चारुत्व, शोभा, लावण्य एवं सौन्दर्य आदि शब्दों का भी प्रयोग करते हैं फिर सहृदयों के हृदय में नूतन और रम्य अर्थों की अनुभूति से चमत्कृति का सम्बन्ध जोड़कर उन्होंने उसे चारुत्वनिवन्धि काव्यसत्य से ही सम्बद्ध भी कर दिया है।[१] क्योंकि उनके ध्वनि की वाच्य एवं व्यंग्य रूप अशेष व्यवस्था चारुत्वापेक्षी ही है। अभिनवगुप्त[२] ऐसे सभी स्थलों पर आनन्द का ही अनुगमन करते पाए जाते हैं।

कुन्तकने वक्रोक्ति की स्थापना को यद्यपि महत्त्व दिया किन्तु वक्रोक्ति की प्रतिष्ठा के मूलतत्त्व के रूप में उन्होंने अनेक बार चमत्कृति[३] का नाम लिया है। हाँ! वे ऐसे सभी अवसरों पर चमत्कार के साथ लोकातिक्रान्तगोचरता को विशेषण के रूप में अवश्य देते ह। कुन्तक सतर्क प्रज्ञा के धनी आचार्य रहे हैं। इसीलिए उन्होंने सामान्य चमत्कार को काव्यसत्य न कह कर अलौकिक चमत्कार को कहा है। चमत्कृति के स्पष्ट काव्यसत्य के रूप में निर्देश का यह द्वितीय स्थल है। महाराज भोज ने महाकाव्य एवं खण्डकाव्य के स्वरूपनिर्वर्तन के प्रसंग में चमत्कृति को काव्य का मौलिक सत्य स्वीकारा है।

क्षेमेन्द्र ने यद्यपि औचित्य की स्थापना पर बल दिया किन्तु औचित्य के जीवातुभूत तत्त्व के रूप में चमत्कृति[३] का स्फुट उल्लेख कर उन्होंने उसे ही काव्यसत्य की मौलिक महत्ता दे डाली। यही क्यों कविकुल[५]कण्ठमरण के तृतीय परिच्छेद में उन्होंने चमत्कृति की महत्ता के साथ ही उसके १० प्रकारों की भी चर्चा की। इस प्रकार चमत्कृति अभिव्यक्ति की पुष्ट भूमिका पा सकी।

चमत्कृति एवं प्रतिष्ठामूलक काल

चमत्कृति के इस व्याख्यामूलक या प्रतिष्ठा काल में अभिव्यक्ति काल की स्थापना को मानकर ही प्रायः आगे चला गया। फिर नूतन स्थितियों की स्वीकृति का परिवेश भी पल्लवित हुआ ही। अर्थात् काव्यस्वरूप, काव्य प्रकार काव्यात्मत्व के क्षेत्र में चमत्कृति का दाय अपेक्षित व्याख्याओं के साथ स्वीकारा गया। व्याख्या एवं व्यवस्था का कार्य यद्यपि क्षेमेन्द्र से ही प्रारम्भ हो गया फिर भी वास्तविक विस्तार का सूत्रपात मम्मट से होता है। जहाँ वे काव्य प्रकारों की व्यवस्था के प्रसंग में चमत्कृति की चर्चा करते हैं एवं चमत्कृति रहित काव्य को उत्तम काव्य मानना नहीं चाहते। मम्मट के काव्य प्रकाश[६] में चमत्कृति से सम्बद्ध चर्चा केवल इतनी ही है पर काव्यांगों के प्रसंग में होने से चमत्कार के न केवल काव्य सिद्धान्तों अपितु काव्यवयवों से भी सम्बद्ध होने की बात प्रमाणित करती है और यहीं इसका वैशिष्टय है।

---

[१] ध्वन्यालोक ४।१६

[२] आनन्दोहि निर्वृत्यात्मा चमत्कारत्वापर पर्यायः लोचन पृ० ३७—चमत्कृतिरिति आस्वाद प्रधानाबुद्धिरिव्यर्थः लोचन ५९८

[३] वक्रोक्ति जीवितम् १।२; १।५; १।५६

[४] औचित्य विचार चर्चा; १।३; ८, १०, १६

[५] कविकुलकंठाभरण तृतीय सन्धि

[६] काव्यप्रकाश; प्रथम उल्लास सूत्र संख्या ३

मम्मट के वाद सदियों मौन रहने के वाद चमत्कृति की प्रत्यभिज्ञा का दूसरा स्थल विश्वेश्वर की "चमत्कार[१]चन्द्रिका" है, जहाँ प्रतिपाद्य काव्य तत्त्व ही चमत्कृति है। विश्वेश्वर का प्रयास कदाचित् चमत्कार को अन्य काव्यसिद्धान्तों की भाँति एक सुविचारित रमणीय रूप देने के साथ-साथ एक नूतन सिद्धान्त की महत्ता देने का भी था। इसीलिए इस कृति में अन्य वात के साथ-साथ प्रकार व्यवस्था भी मिलती है जो ७ भेदों में पल्लवित होकर रस, रीति, गुण अलंकार, ध्वनि आदि को अपने बीच समेटती है।

विश्वनाथ का साहित्यदर्पण रसात्मक वाक्य को काव्य कहता है किन्तु रस के स्वरूप निवर्तन के समय वहाँ भी रस की अन्यतम, विशेषताओं में उसे चमत्कार[२]प्राण कहा गया है। इस प्रकार विश्वनाथ के मत में भी चमत्कार कम महत्त्वशील नहीं। पंडितराज जगन्नाथ ने तो चमत्कार[३]त्वमेव काव्यत्व कहकर चमत्कार की काव्य में अनिवार्य सत्ता मान ही ली है।

पंडितराज जगन्नाथ तक पहुँचते पहुँचते भारतीय काव्यसिद्धान्त ने चरम स्थिति पाली थी। काव्य के सत्य के साथ विभिन्न काव्यावयवों का सम्बन्ध प्रायः निश्चित हो गया था। पंडितराज की दृष्टि काव्य के सूक्ष्य सत्य तक भी पहुँची। वे काव्यात्मा के विवाद में पड़ना आवश्यक न समझते थे। अतएव उन्होंने काव्य लक्षण निर्वचन के अवसर पर ही काव्यसत्य का भी आभास दिया और काव्य लक्षण में चमत्कारवत्व को भी निर्विष्ट कर लिया[४]। यही नहीं काव्य प्रकारों को विभाजित करते समय भी उन्होंने चमत्कारत्व का बरावर ध्यान रक्खा और उत्तमोत्तम उत्तम एवं मध्यम काव्य प्रकारों के प्रतिमान के रूप में उन्होंने काव्य सत्य का साग्रह उल्लेख कर डाला[५]। रसगंगाधर के बीच विभिन्न काव्यावयवों की चर्चा भी उन्होंने की, किन्तु काव्यत्व का अधिवास रमणीयता में ही रहता है इसका प्रतिपक्ष उन्होंने कहीं नहीं लिया। रस, ध्वनि, शब्दशक्ति एवं अलंकार तथा गुणों पर उनकी चर्चा मिलती है पर "चमत्कारवत्वम्" का अपलाप कहीं भी नहीं।

भारतीय काव्यशास्त्र की सायंतन वेला में संस्कृत के एक और आचार्य हरिप्रसाद ने अपने "काव्यालोक" में चमत्कार की एकबार फिर पर्याप्त साहस के साथ चर्चा की एवं उसे काव्यात्मा कह डाला[६]। इस प्रकार चमत्कृति किसी न किसी रूप में भारतीय काव्यशास्त्र में लगातार शास्त्रकारों का ध्यान आकृष्ट करती रही और अन्ततक उसके प्रति विभिन्न शास्त्रीय कृतियों में मोह देखा गया। आज जब पश्चिम के सम्पर्क में आकर कलाशास्त्र

---

१ समकन्सेप्टस् आनअलंकार शास्त्र-राघवन् पृ०२७०

२ साहित्य दर्पणः ३।३

३ काव्य जीवितं चमत्कारित्व चाविशिष्टमेव। रसगंगाधर पृ० ७ स्वविशिष्ट जनकतावच्छेदकार्थ प्रतिपादकता संसर्गेण चकत्कार वत्वमेव वा काव्यत्वमिति-फलितम्। रसगंगाधर पृ० ६.

४ रसगंगाधर ५.५; १२; १३, २०, २२, २३,२४,

६ विशिष्ट शब्द रूपस्य काव्यस्यात्मा चमत्कृतिः समकान्सेप्तस् आन अलंकार-शास्त्र पृ० २७०.

से प्रत्यक्षतः सम्बद्ध सौन्दर्य की जोरों पर चर्चा चल रही है उसी के अपर पर्याय चमत्कार को एक सक्षम सिद्धान्त के रूप मे प्रतिस्थापित होने से कौन रोक सकता है ?

भारतीय अन्य शास्त्रीय वाङ्मय और चमत्कृति

साहित्यशास्त्र के अतिरिक्त अन्य शास्त्रीय वाङ्मय में भी चमत्कृति की चर्चा मिलती है। यह दूसरी बात है कि उसका अन्यत्र स्थलों में अर्थ भी विभिन्न सीमाओं का है। "चमत्कार" की सबसे पुरानी चर्चा "योगवासिष्ठ" में उपलब्ध होती है, जिसे वहाँ चित्त चमत्कार कहा गया है, जो प्रो० दास गुप्त के कथनानुसार सेल्फफ्लेशिंग आफ थॉट[1] है। कश्मीर शैवदर्शन में चमत्कार को आनन्द का पर्याय कहते हुए उसे अन्य किसी की अपेक्षा किए बिना अपने में विश्रान्त होने वाली वृत्ति बताया गया है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अनुसार परमेश्वर[2] अपनी पाँच शक्तियों पर निर्भर है :—आनन्दशक्ति, इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति और चित्-शक्ति। स्वातंत्र्य उसकी आनन्दशक्ति है। उसका चमत्कार ही इच्छाशक्ति है। विमर्शात्मकता ही ज्ञानशक्ति है। सभी आकारों से योग स्थापित कर लेना क्रियाशक्ति है और प्रकाशरूपता चित्शक्ति है। इन मुख्यशक्तियों से युक्त शिव (इच्छा ज्ञान और क्रिया से युक्त, शास्वत् प्रकाशशाली और निजानन्द में विश्रान्त) तत्त्व है। यहाँ उसके चमत्कार को इच्छा शक्ति कहा गया है। किन्तु कहीं कहीं चमत्कार को आनन्द का पर्याय कहने के साथ उसके अभाव में सृष्टि जड़ हो रह जायगी, ऐसी बात भी सामने लाई गई है। इस प्रकार आनन्द एवं इच्छा शक्तियों में समान रूप से सम्बद्ध चमत्कार शाहित्यशास्त्र के रस सिद्धान्त का भी प्राण बना।

डॉ० वी० राघवन ने "चमत्कार" शब्द का अलंकारशास्त्र में आगमन पाकशास्त्र से मानने की बात कही[3] है। उन्होंने चमत्कार को एक अन्य स्रोत से भी आने का अनुमान लगाया है। वे कहते हैं—मुझे लगता है कि मूलतः यह "चमत्कार" शब्द एक अनुकरण परक शब्द है, जो किसी वस्तु का आस्वाद लेते समय जिह्वा से निकलता है।" या फिर एक अचानक आने वाले आनन्ददायक विचार की अभिव्यक्ति के लिए किया जाने वाला अनुकरण परक शब्द। वी० राघवन् की इस दोनों अर्थ प्रक्रिया में मलतः आस्वाद या या आनन्द परक अर्थ आता है।

मेरा विचार है कि चमत्कार का जो योगवासिष्ठ से चला चित्तचमत्कार का चित्त-विस्तार रूप अर्थ है जिसे आनन्दात्मक स्थिति से सीधा सम्बद्ध भी किया जाता है, ही चमत्कार का अर्थ है। शैव दर्शन में भी वह अपने उसी अर्थ में चलता है तथा अलौकिक अर्थों या स्थितियों के प्रत्यक्ष के अवसर पर सहृदयों के चित्त को सामान्य लोकभावभूमि पर लाने का कार्य करता है। जहाँ भी दृष्ट हेतुओं की स्थिति असंभावित लगने लगती है और चित्त उसके उचित हेतु के अनुसंधान में लीन हो जाता है वहीं चमत्कार की अवस्था

---

१ रससिद्धान्त और सौन्दर्य शास्त्र पृ० ६९

२ तंत्रसार पृ० ६.

३ समकान्सेप्टस् आन अलंकारशास्त्र पृ० २६९.

आती है ।[1] इस प्रकार चमत्कार का आस्वाद एवं आनन्दरूप अर्थ अन्यत्र से न आकर लोकानुभूत स्थितियों के ऐसे असामान्य अवसरों से सीधा आया है। शास्त्रों का परस्पर आलम्बनत्व तो प्रसिद्ध ही है। कौन पहले था, यह भी तो ज्ञात नहीं। अतएव लोक प्रवाह में प्रचलित अवस्था से लिया जाना कोई अयुक्त बात नही और इसके लिए—द्राविड़ प्राणायाम भी नहीं करना पड़ता। डॉ० राघवन् के द्वारा प्रस्तुत की गई उपपत्तियों से हम केवल यह निष्कर्ष निकाल संकते हैं कि चमत्कार शब्द पाकशास्त्र में एवं अनुकरण-परक अर्थ के रूप में भी स्वीकृत रहा है। अधिक संभावना अलंकारशास्त्र में दार्शनिक प्रवाह से आने की लगती है। क्योंकि हमारे देश का अलंकारशास्त्र प्रायः ऐसे ही वाता-वरण में पल्लवित हुआ भी है।

चमत्कृति : व्युत्पत्ति अर्थ एवं परिभाषा

चमत्कृति एक यौगिक शब्द है। चमत्कार और चमत्कृति दोनों एक दूसरे से अभिन्नार्थक भी हैं, किन्तु चमत्कार की व्याकरणगत स्थिति चमत्[2]+कृ+घञ् है और चमत्कृति की चमत्+कृ+क्तिन्। चमत् का अर्थ कान्ति, दीप्ति एवं झलक आदि है और कार या कृति का करने वाला। इस प्रकार उपर्युक्त शब्द युग्म का समूहालम्बनात्मक अर्थचित्त विस्तारक एवं विस्मापक तत्त्व होता है। चित्तविस्तार की व्याख्या के सम्बन्ध में विद्वानों का मत विभिन्न रूपों में सामने आया है। १—लोकातीत या लोक सामान्य भावभूमि, जहाँ स्वार्थ की संकुचित सीमा मनुष्य को नहीं बाँधती और जहाँ यह स्वसत्ता को विस्मृत कर लोक की सामान्य भावधारा का अनुभूति-प्रत्यक्ष करता है। २—क्या विचित्र अर्थ आया, इस प्रकार अपनी ज्ञानधारा में आई बात से चित्त की प्रसन्नता और फिर विस्तार। ३—दृष्ट हेतुओं द्वारा उत्पन्न ज्ञान से अदृष्ट हेतुओं का अनुसंधान करने वाला मन का व्यापार। ४—या फिर चित्त विस्तार का अर्थ मन की सुखात्मक स्थिति है। इन चारों एवं ऐसे अन्य अर्थ में चित्त का स्वार्थ के संकुचित दायरे से ऊपर उठकर लोकसामान्य भाव या विचार भूमि पर आना ही अभिप्रेत है। उधर विस्मापक तत्त्व का अर्थ विस्मय में डालने वाला और विस्मय का आश्चर्य एवं गर्वहीनता है। इन दोनों अर्थों—चित्तविस्तार एवं विस्मय के समन्वित अर्थ से चमत्कृति का मूल अर्थ स्फुट होता है। अर्थात् चित्तविस्तार से हृदय की आह्लादकता एवं विस्मय से अहंताशून्य आश्चर्य मिश्रितता का भाव लेकर चमत्कृति--अहंताशून्य एवं विस्मापक चित्तविस्तृति की जनक कहलाती है।

चमत्कृति की व्युत्पत्तियाँ भी सामने आई हैं—१. चमत्करोतीति—अर्थात् चमकाता है या हृदय के बीच कौंध की स्थिति उत्पन्न करता है इस व्युत्पत्ति के द्वारा शब्द, अर्थ और अशेष काव्यांगों का आयाम घिर आएगा। क्योंकि शब्द एवं अर्थ आदि की लोकोत्तर संरचना काव्य का अपना पथ है जिससे कवि जगत् को सम्मोहित करता है। चमत्कृति ऐसे शब्द और अर्थ आदि काव्योपकरणों का भी प्राणतत्त्व है।

---

[1] साहित्यदर्पण की टीका—दृष्टहेतुभ्योऽसंभावितत्वज्ञानेन हेत्वन्तरानुसंधाने मनो व्यापार एव चित्तविस्तारः। चमत्कार-श्चित्तविस्ताररूपश्च.।

[2] चमत् + कृ + (भावे घञ्)। चित्तविस्ताररूपः। तत्पर्यायः विस्मयः। साहित्यदर्पणम्।

२. चमत्क्रियतेऽनया—इति जिसके द्वारा चित्त चमक उठता है अर्थात् जिसके प्रकाश में—जिसके द्वारा चित्त चमत्कृत किया जाता है। यहाँ भी काव्यांगों के सूक्ष्म से लेकर स्थूल (बाह्य) भेदों को समेटा जा सकता है। अर्थात् रस, गुण, रीति, अलंकृति, शब्द एवं अर्थ सभी अवश्य ही चमत्कृति के संस्पर्श से हृदय की आवर्जकता की शक्ति पाते हैं अतएव चमत्कृति इनका भी प्राण है—यह अर्थ निकलता है।

३. चमत्क्रियते यत्—इस व्युत्पत्ति से कवि प्रतिभा से ही अस्तित्व में आनेवाली चित्तविस्तार समर्थ एवं विस्मापक शक्ति जैसा अर्थ भी लिया जा सकता है। इस प्रकार सहृदय के अन्तःकरण को विस्तार देने वाली वस्तु चमत्कृति है, काव्यांगों को अपने संस्पर्श से लोकोत्तरत्व प्रदान करने वाली शक्ति चमत्कृति है एवं कवि प्रतिभाजन्य शक्ति (काव्य-व्यापारसत्त्वसमर्थ) है, यह निष्कर्ष निकलता है।

विभिन्न व्युत्पत्तियों से जो बातें आई हैं, उनसे चमत्कृति के स्वरूप का निर्वचन कठिन नहीं है। व्युत्पत्तियों से चमत्कृति की ये विशेषताएं सामने आती हैं—(१) चित्त विस्तार हेतुता, (२) विस्मापकता, (३) कवि प्रतिभाजन्यता, (४) काव्यांगजीवातुभूतत्व। तो चमत्कृति की परिभाषा करते समय इन चारों विशेषताओं का आना आवश्यक होगा। यहीं क्यों इसका सम्बन्ध तीन परस्पर कार्य कारण से सम्बद्ध किन्तु स्वतंत्र रूप से भी निर्वतित तत्त्वों से होगा। (१) चित्त विस्तार हेतुता को लेकर सहृदय से, क्योंकि सहृदय-हृदयह्लादकत्व ही काव्यत्व है। (२) कविप्रतिभाजन्य चमत्कृति है अतएव कवि से—"नहि चमत्कार विरहितस्य कवेः कवित्वम्" (क्षेमेन्द्र) (३) काव्यांगों से क्योंकि "नहि चमत्कारविरहितस्य काव्यस्य वा काव्यत्वम् (क्षेमेन्द्र)। इस प्रकार कवि प्रतिभा संस्पर्श से यक्त अतएव काव्यांगों का जीवातुभूत सहृदयहृदयाह्लादक तत्त्व ही चमत्कृति है।

चमत्कृति : काव्यात्मा

भारत में काव्य के मूलसत्य की अनुसंधित्सा का इतिहास पर्याप्त पुराना है। नाट्यशास्त्र से पृथक् अपनी सत्ता को स्थापित करते ही काव्यशास्त्र ने यह अभियान प्रारम्भ कर दिया था। इसीलिए चमत्कृति के स्वरूप की स्थापना से सम्बद्ध सूचनाएँ शुरू से ही मिलने लगती हैं। जैसा कि प्रारम्भ में ही बताया गया है कि यह तत्व पहले अस्फुट फिर अर्द्धस्फुट और फिर स्फुट रूप में काव्यशास्त्र में स्वीकृति पा सका। वही स्थिति मूल काव्यसत्य के रूप में भी इसकी स्वीकृति के विषय में मिलती है। "अलंकृतिः काव्यजीवितम्" का अभिनिवेश भामह एवं दण्डी से शुरू होता है जहाँ अलंकार को काव्यप्राण कहकर इस खेवे का आचार्य संतुष्टि का अनुभव करता है, किन्तु अनजाने ही वह सौन्दर्य या चमत्कृति के पर्यायों का ऐसे स्थलों पर प्रयोग कर जाता है[1] जो उसके द्वारा स्थापित मान्यता के बीच अपनी अनिवार्य महत्ता अंकित कर देते हैं। ऐसे शब्द चारु, मनोहर, रमणीय जैसे हैं, जिनका निःसन्देह मूलकाव्यसत्य से सीधा सम्बन्ध है। वे अलंकार में भी आकर्षण पैदा करने के लिए उनके

---

[1] भामह—काव्यलंकार—कान्त १।६; चारुता १।३६, ६।२८, ६।४३ सौन्दर्य १।५५; शोभा; १।५५, १।५९, मनोहर ६।३० दण्डी काव्यादर्श—सुन्दर १।७; १।२१।

ही आवश्यक है जैसे अन्य काव्योपकरणे में। इसीलिए रीति को काव्य का आत्मा और गुण को काव्य का आत्मा कहने वाले वामन अलंकार के स्वरूप का निर्वचन करते समय "सौन्दर्यं मलंकारः" की घोषणा कर जाते हैं। फलतः प्रकारान्तर से रीति, गुण और अलंकार तीनों ही जब सौन्दर्य नामक तत्व से ही चमत्कृत होते हैं[१] तो इनसे अधिक महत्वशील तत्व चमत्कृति या सौन्दर्य है इसमें संदेह नहीं रह जाता।

ध्वनिप्रस्थापक भारतीय आचार्यों का आग्रह-व्यंग्यार्थ प्रधानता को काव्यात्मा कहने का है। जिसे प्रकारान्तर से वे लावण्य भी कहते हैं। निःसन्देह व्यग्यार्थ या ध्वनि काव्य-प्रक्रिया का एक महत्त्वपूर्ण अंग है किन्तु काव्यात्मा वह है या नहीं? इस प्रकार का प्रश्न तब खड़ा होता है, जब वे उसकी भी मूल उपनिषद रसध्वनि को कहते हैं और विश्वनाथ ने रस को चमत्कारप्राण कहा है तथा उसके समर्थन में अपने प्रपितामह के मत का उल्लेख भी किया है। तब बात और भी भिन्न रूप लेती है। इस प्रकार काव्य का आत्मा व्यंग्यार्थ या ध्वनि, ध्वनि का आत्मा रसध्वनि और रसध्वनि का आत्मा चमत्कृति इस विमर्श परम्परा से काव्यात्मात्व चमत्कार के ही हाथ लगता है[२] और वही काव्य का मूलसत्य भी सिद्ध होता है। वक्रोक्तिकार जब वक्रोक्ति को काव्य का आत्मा कहते हैं तो साथ ही उसे अलौकिक आह्लादकारी ओर लोकोत्तर चमत्कारकारी कहते हैं। फलतः लोकोत्तर चमत्कृति या अलौकिक आह्लाद जो किसी अंश में एक दूसरे की अपेक्षा रखते हैं, वक्रोक्ति के लिए भी महत्त्वपूर्ण हैं। केवल वक्रोक्तिप्राण काव्य के लिए ही नहीं। अतएव यहाँ भी चमत्कृति की ही काव्यप्राणता सिद्ध है[३]।

औचित्य-सिद्धान्त के प्रवर्तक ने तो औचित्य को काव्यजीवित कहने के साथ ही चमत्कार को औचित्य का प्राण स्वीकार ही किया है।[४] अपनी कविशिक्षा वाली पुस्तक में उसका इस प्रकार प्रतिपादन भी किया है। इस प्रकार चमत्कृति के काव्यात्व का मार्ग यहां भी अनाविल है। चौदहवीं शती के आचार्य विश्वेश्वर की "चमत्कारचन्द्रिका" में चमत्कार को काव्यप्राण मानकर इसके सात प्रकारों का उल्लेख मिलता है।[५] रस को काव्या का आत्मा मानने वाले विश्वनाथ स्वयं रसस्वरूप उसके चमत्कारप्राण होने की बात कहते हैं।[६] फलतः काव्य की परमोपनिषद् चमत्कृति या सौन्दर्य ही है इस बारे में लम्बे विवाद का कोई कारण नहीं दिखलाई देता। हरिप्रसाद (१८वीं शती) ने इसीलिए निर्भ्रान्त रूप से अपने काव्यालोक में विशिष्ट शब्द रूप काव्य का आत्मा चमत्कृति को ही उद्घोषित किया[७] है।

---

१ वामन—सौन्दर्यमलंकारः १।१।२ काव्यालंकार सूत्रवृत्ति।

२ स्फुरणेयं काचिदिति सहृदयानां चमत्कृति रुत्पद्यते। ध्वन्यालोक ४।१२

३ वक्रोक्तिजीवितम्—१।२, १।५, १।५६ आदि।

४ औचित्यस्य चमत्कार कारिणश्चारुचर्वणे। औचित्याविचारचर्चा ३।

५ यथा गुणं रीति रसं वृत्ति पाकं शय्यामूलंकृतिम्—सप्तैतानि चमत्कार कारणं ब्रुवते बुधाः।। (स्टडीज आन समकान्सेप्ट आफ अलंकार शास्त्र पृ० २७०)

६ लोकोत्तर चमत्कार प्राणः······साहित्यदर्पणः ३।२

७ विशिष्ट शब्द रूपस्य काव्यास्यात्मा चमत्कृतिः उत्पत्ति भूमिः प्रतिभा मनागयोपपादितम्। समकान्सेप्ट आद अलंकार शास्त्र पृ० २७०।

स्थापना—

आत्मा के विना किसी सत्व का अस्तित्व संभव नहीं। फिर भी किसी की ओर इंगित करते समय उसके वाह्य आकार की ओर फिर उसके आन्तर गुणों की ओर हमारा ध्यान ले जाया जाता है। इस प्रकार स्पष्ट ही आकृति और गुण किसी सत्य के संकेतक आन्तर और वाह्य तत्व हैं, जो आत्मा के प्रत्यभिज्ञान में सहायक होते हैं। किन्तु इससे यह समझ लेना भूल होगी कि वे तत्व आत्मा का भी स्थान ले सकते हैं। इतना भी सत्य है कि वे सभी आत्मा के आन्तर संस्पर्श से ही प्रकाशित होते हैं एवं क्रिया संचलन की विभिन्न प्रक्रियाओं के द्वारा आत्मा के सबल अस्तित्व को अनुभूतिगम्य बनाते हैं। फिर भी आत्मा आत्मा है और अभिव्यक्ति के माध्यम परमार्थतः माध्यम हैं। काव्य के भी यद्यपि आकार निवर्तक तत्व शब्द अर्थ, उनकी विभिन्न शक्तियाँ, भाव, ध्वनि, गुण, रीति, वृत्ति एवं अलंकार आदि मूलतः उसकी अभिव्यक्ति के माध्यम ही हैं। कोई उसका वाह्य एवं कोई आभ्यन्तर आकार निर्वतित करता है फिर भी स्वयं काव्य का मूलसत्य इन सबके वीच होता हुआ भी इनसे सर्वथा व्यतिरिक्त तत्व भी है। विद्वानों ने समय समय पर इस काव्यसत्य को सौन्दर्य, चमत्कृति, चारुत्व आदि विभिन्न नाम भी दिए हैं।

काव्य के स्वरूप निर्वतक तत्व की शब्द एवं कभी कभी शब्दार्थ के रूप में चर्चा होती आई है, किन्तु चमत्कृति विहीन शब्द या अर्थ काव्य का माध्यम नहीं हो सकता है, इसे प्रायः सब जगह स्वीकार किया गया है, चाहे वह किसी भी रूप में। यही स्थिति शब्दशक्ति एवं अर्थ शक्ति की भी है। चमत्कृति का उनमें अभाव उन्हें काव्यत्व की ओर नहीं ले जा सकता। अतएव शब्द तथा अर्थ की (उनकी शक्तियों के साथ) सत्ता काव्य में चमत्कृतिसापेक्ष है। शब्द एवं अर्थ से सम्वद्ध अलंकारों रीतियों, गुणों की भी तब सत्ता निश्चित ही चमत्कृति या चारुत्व सापेक्ष है। इसमें संदेह नहीं कि इनका अलग अलग सौन्दर्य एक समन्वित रूप लेकर ही काव्य में सहृदय हृदयाह्लादक चमत्कृति की सृष्टि कर पाता है। अतएव इन तत्वों का भी अपना महत्व है किन्तु यह नहीं भूलना है कि इनकी पृथक् पृथक् चमत्कृति एक अपेक्षित आनन्दात्मा चमत्कृति की उपलब्धि के लिए ही अपने को सर्मपित करती हैं। अतएव वे मूलतः अंग चमत्कार ही हैं, अंगी या प्रधान नहीं। जब मैं अंगभूत चमत्कृति एवं अंगी चमत्कृति की बात करता हूँ, तो मेरा यह तात्पर्य कदापि नहीं कि चमत्कृति या चारुत्व के अंगांगी स्तर माने जांय। निश्चित ही सौन्दर्य, चमत्कृति या इस तरह के किसी भी व्यापक सत्य में खण्ड की कल्पना अवास्तविक हैं एवं फिर भी माध्यमों को दृष्टि में रखकर विश्लेषण के लिए इस तरह के स्तरों की काम चलाऊ कल्पना करनी ही पड़ती है ताकि (असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते) असत् या काल्पनिक उपकरणों का प्रारम्भमें आधार लेकर फिर सत्य की उपलब्धि की ओर जाया जाता है। शब्द अर्थ, तद्गत अलंकार, रीति, वृत्ति, गुण आदि के बीच जो कुछ आकर्षक एवं हृदयावर्जक लगता है वह चमत्कृति का ही संस्पर्श है। इसीलिए जब इनका समन्वित रूप वनता है, तो काव्य लोकोत्तरचमत्कृति को अनायास अभिव्यक्ति दे पाता है।

आए दिन भारतीय काव्यशास्त्र पर इस प्रकार भी छींटाकसी होती है कि वह केवल हृदय का पक्ष लेता रहा है। रस भाव का विशेष महत्व स्वीकार कर भावना को ही प्रश्रय

देता है और बौद्धिकता से कतराता है। इसीलिए जब हृदय एवं बुद्धि या फिर परिस्थितियों के आग्रह पर बौद्धिकता से समर्थित साहित्य सामने आने लगा, भारतीय साहित्यशास्त्र के कई सिद्धान्त पुराने पड़ते दिखे। किन्तु ऐसा करते समय लोगों ने यह बात नजरअन्दाज कर दी कि सौन्दर्य का अपर पर्याय चमत्कृति एक ऐसा तत्त्व है जो एक साथ बौद्धिकता एवं भावुकता के संस्पर्श को धारण करता है। शब्द, अर्थ, युगगत स्थिति और अपेक्षा को ध्यान में रखकर आत्म पर्यवेक्षण एवं जगत्पर्यवेक्षण की जो अवस्थाएँ अस्तित्व लेती हैं, उनके पीछे चमत्कृति रहती ही है। हां यह चमत्कृति तर्क कर्कश न होकर भारतीय शास्त्रकारों के अनुसार आस्वादप्रधानबुद्धि वाली होती है। कश्मीर शैवदर्शन चमत्कृति का सम्बन्ध परमात्मा की पाँच शक्तियों में से इच्छाशक्ति से मानता है और इच्छा में कल्पनात्मक तथा बौद्धिक आस्वाद का अंश भी। अतएव चमत्कृति में बौद्धिकता का संस्पर्श उसे वर्तमान विचारकों के साहित्य में अपेक्षित बौद्धिकता के सिद्धान्त को भी समर्थन देता ही है।

बौद्धिकता का आग्रह मानवीय अन्तःकरण को यदि चित्तविक्षेप और चित्तविस्तार की ओर ले जाने के लिए आवश्यक है तो भावुकता उसे सरसता देने का मूल माध्यम। चमत्कृति-बौद्धिक आग्रह के आधार पर जहाँ मानवीय बुद्धि को चमत्कृत करती, उसके हृदय में अलौकिकता की ओर झुकाव लाती तथा उसे विस्तार देती है, वैसे मानवीय हृदय को रमाने का भी कार्य करती है। चमत्कृत हृदय का लौकिक आवरण भंग (साधारणीकरण) होते ही उसे लोकोत्तर एवं लोक सामान्य भावभूमि पर जाने से कौन रोक सकता है और तब वह वहाँ परिशुद्ध आनन्द का आस्वाद लेने में समर्थ हो पाता है। पंडितराज जगन्नाथ ने "चमत्कारवत्त्वमेव वा काव्यत्वम्" कहते समय लोकोत्तरता और आह्लादजनकता की ओर विशेष रूप से ध्यान दिया। इसमें लोकोत्तरत्व का भान यदि बौद्धिक संस्पर्श से साध्य है तो आह्लादकता का हृदयावर्जकता से। ये दोनों क्रमशः बुद्धि एवं हृदय से सम्बद्ध हैं। लोक में घटने वाली घटनाओं और स्थितियों से जब मानवीय बुद्धि सूक्ष्मेक्षिका के आधार पर कुछ अभीप्सित पूर्व तथ्य सामने लाती है, सहृदय की बुद्धि भी सामान्य बौद्धिक धरातल छोड़कर उससे सम्बन्ध जोड़ती है। फलतः वह स्थिति लोकोत्तरता की ही होती है। और आह्लादकता तो हृदय का आनन्द धर्म है। इस प्रकार चमत्कृति-काव्य के बौद्धिक एवं हार्दिक दोनों ही आन्तर पक्षों का प्रेरक तंत्र है।

काव्य की बात आते ही सामान्यतः तीन पक्ष उभरते हैं। १. कवि २. सहृदय और ३. साहित्य या काव्यवस्तु। कवि की सृष्टि का मूल पक्ष उसका आनन्द है (इसके अतिरिक्त भी यश धन आदि की उपलब्धि भी हो सकता है। वह आनन्द स्वान्तः सुखाय एवं परहिताय दोनों ही दृष्टियों से साध्य हो सकता है। काव्य सम्पदा तभी कार्य के आनन्द को ठीक ढंग से निर्वर्तित कर सकती है, जब उसमें सहृदयों के हृदय को आवर्जित करने के लिए पर्याप्त आकर्षण शक्ति हो। चमत्कृति आकर्षण का ही दूसरा नाम है। इस प्रकार कवि की प्रतिभा से उत्पन्न चमत्कृति ही कवि की सृष्टि का और उससे प्राप्त होने वाले आनन्द का मूल प्रेरणा स्रोत है। कवि की प्रतिभा ही चमत्कृति की मूलभूमि एवं कविसृष्टि उसकी अभिव्यक्ति का माध्यम है। फलतः चमत्कृति रहित प्रतिभा एवं काव्यसृष्टि दोनों ही अपने में सार्थक नहीं हो सकती। सहृदय तो आह्लाद की प्राप्ति के

लिए ही काव्य पढ़ता ही है। यदि उसमें हृदय को खींचने की शक्ति नहीं, सहृदय उसमें रुचि ही नहीं ले सकता। इस तरह चमत्कृति कवि, काव्य और सहृदय का भी मूल केन्द्र है।

प्रकार निर्वचन एवं चमत्कृति

चमत्कृति के प्रकारों की चर्चा भी भारतीय काव्यशास्त्र में कई स्थलों पर आई है किन्तु विशिष्ट प्रयास के लिए केवल दो के नाम लिए जाने चाहिए। (१) क्षेमेन्द्र और (२) पं० विश्वेश्वर (१४वीं शती) क्षेमेन्द्र ने यद्यपि औचित्य को "औचित्य विचार चर्चा" में सिद्धान्त का रूप देना चाहा, फिर भी चमत्कृति को उसका प्राण घोषित करते हुए उन्होंने इसे एक महत्वशील स्थिति दे दी थी। उसे कादाचित्क न समझा जाय, इसलिए उन्होंने अपने "कविकुलकण्ठाभरण" में तृतीय सन्धि के स्थल पर सप्रकार प्रस्तार देना उचित समझा। यहाँ उन्होंने चमत्कृति की चर्चा उसके महत्व के सवाल को लेकर उठाते हुए कहा—काव्य में सौन्दर्य के आतिशय्य का निर्माण करने की इच्छा रखने वाला कवि वाणी की चमत्कृति (सुन्दरता-हृद्यता) के लोभ से आकर्षक वस्तु, मनोहर शब्द और रमणीय अर्थ का अनुसरण करता है।[1] × × × "सुन्दर वर्णों से निबद्ध तथा पूर्णतया] निर्दोष काव्य यदि चमत्कृति उत्पादक शब्दों से रहित हो, तो किसका मन आकृष्ट करेगा? जैसे युवती का तारुण्य यदि सौन्दर्य-हीन हो तो किसी के चित्त को आकृष्ट नहीं कर सकता"।[2] इन दोनों वाक्यों में चमत्कृति को "काव्य सौन्दर्य" की आस्था के साथ स्मरण करने वाले क्षेमेन्द्र की इस सम्बन्ध में वहीं स्पष्ट घोषणा मिलती है—चमत्कार निर्माण में अक्षम कवि में कवित्व नहीं होता अथवा चमत्कार से रहित काव्य को काव्य ही नहीं कह सकते।[3] इस प्रकार उनका मत है कि सौन्दर्य योजना ही काव्य का मूल और कवि का उपपाद्य सत्य है, जिसके बिना कविता केवल शब्दार्थ क्रीड़ा मात्र होगी। सुगुम्फित शब्दार्थ योजना भी काव्यत्व की स्थापना नहीं दे सकती, जबकि सामान्य किन्तु चमत्कृति विशिष्ट शब्दार्थ योजना से भी अनायास काव्यत्व सर्वथा संभव है। क्षेमेन्द्र ने काव्य में चमत्कृति की अनिवार्यता की बात के साथ ही उसके प्रकारों को विस्तार दिया। उन्होंने उसके १० प्रकार बताए[4]—१—अविचारित रमणीय, २—विचार्यमाणा रमणीय, ३—समस्तसूक्तव्यापी, ४—सूक्तैकदेशदृश्य, ५—शब्दगत, ६—अर्थगत, ७—शब्दार्थगत, ८—अलंकारगत, ९—रसगत और १०—प्रख्यातवृत्तगत! क्षेमेन्द्र के इस प्रकार प्रतिपादन में (हृदय, बुद्धि, काव्य, काव्यगतशब्द, काव्यगत अर्थ, काव्यभूषण, काव्य का साररूपरस और काव्यवस्तु) इन सब पर दृष्टि गई है। काव्य पढ़ते ही बिना किसी विशेष कठिनाई या विचार के हृदय को

---

[1] कविकुणकंठाभरण ३।२।

[2] नहि चमत्कार विरहितस्य कवेः कवित्वं, काव्यस्य वा काव्यत्वम्।—वही

[3] तत्र दशविधश्चमत्कारः, अविचारितरमणीयः, विचार्यमाम्, रमणीयः, समस्तसूक्तव्यापी, सूक्तैकदेशदृश्यः, शब्दगतः, अर्थगतः, शब्दार्थगतः, अलंकारगतः, रसगतः, प्रख्यातवृत्तिगतश्च।—वही

विस्तार देने वाली चमत्कृति काव्य का हृदय-पथ सूचित करती है। थोड़ा विचार करने पर प्रतीत होने वाली चमत्कृति प्रज्ञा का समर्थन चाहने वाली है। इस प्रकार हृदय और बुद्धि का चमत्कृति के अस्तित्व में प्रभूत हाथ रहता है। दूसरी ओर काव्य के समस्त सूक्त या सूक्तैकदेश में रहकर चमत्कृति काव्य के प्रस्तार के बीच रमणीयता लाती है। शब्द, अर्थ और शब्दार्थ में आनेबाली चमत्कृति काव्य के स्वरूप का निर्वर्तन करती है। अलंकृति, रस आदि का प्राण बनकर वह काव्य को हृद्यता देती है और प्रख्यात वृत्तों में नूतनता लाती है। इस प्रकार क्षेमेन्द्र का यह प्रकार निर्देश काव्य की आवश्यक सभीं सीमाओं का स्पर्श करने वाला है। साथही सहृदय और कवि की प्रतिमा से भी उसका सीधा सम्पर्क है।

प्रकार निर्वचन का द्वितीय प्रयास आद्योपकरणों में चमत्कृति की अनिवार्यता पर बल देने बाला है। पं० विश्वेश्वर ने इसके सात प्रकार वताए[१] हैं १ गुणगत, २ रीतिगत, ३ रसगत, ४ वृत्तिगत, ५ पाकगत, ६ शय्यागत और ७ अलङ्कृति गत। स्पष्ट है कि विश्वेश्वर चमत्कार को इन समस्त उपकरणों का प्राण मानते थे, जिसके बिना इन सबमें स्वाभाविक आकर्षण शेष नहीं रहता। पं० विश्वेश्वर से पूर्व मम्मट के काव्य प्रकार निर्देश के स्थल पर चमत्कार के नाम निर्देश के साथ यह कहा गया था (गुणीभूतव्यंग्य या मध्यम काव्य में) व्यंग्य की अपेक्षा वाच्य में ही अधिक चमत्कार[२] है। किन्तु चमत्कृति की दृष्टि से काव्य प्रकारों की व्यवस्था नहीं हो पायी थी। विश्वेश्वर ने चमत्कारि (शब्दचित्र) चमत्कारितर (अर्थचित्र और गुणीभूतव्यंग्य) तथा चमत्कारितम (व्यंग्य प्रधान) काव्य के इस रूप में विभाग किए। ध्यान देने की बात यह है कि मम्मट ने शब्दचित्र और अर्थचित्र को एक साथ रखकर उसे अधमकाव्य कहा था किन्तु विश्वेश्वर यह नहीं सह पाते।

विविध काव्य सिद्धान्त और चमत्कृति

चमत्कृति न केवल भारतीय काव्य-शास्त्रीय और दर्शन का अत्यन्त परिचित सत्य रहा है अपितु विभिन्न काव्य सिद्धान्तों और काव्यावयवों के अस्तित्व के लिए भी वह एक आवश्यक उपकरण रहा है। भारतीय काव्य सिद्धान्त की पृथक्-पृथक् प्रतिपादित कृतियों में यह असकृत् प्रयुक्त होकर उन सिद्धान्तों के अनिवार्य अंग के रूप में स्वीकृत भी रहा है। हाँ! दो एक प्रयासों के अतिरिक्त इसे सबल शब्दों में स्थापित करने की प्रवृत्ति न देखी गई। फिर भी सत्य स्वयं-प्रकाश होता है। चमत्कृति की भी स्थिति इसका अपवाद नहीं। यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि चमत्कृति के प्रति उसके अशेष पक्षों से अपरिचित कुछ कृतियों में बड़े ही सामान्य एवं कुतुहलकारी मात्र अर्थ लेकर उसे अत्यन्त हल्काफुल्का तत्त्व कह दिया गया है किंतु पीछे दी गई भारतीय काव्यशास्त्रीय एवं दार्शनिक परम्परा इस धारणा पर अपनी सही नहीं करती। बल्कि आधुनिक काव्यशास्त्रीय-निष्कर्षों ने तो

---

१ गुणं रीतिं रसं वृत्तिं पाकं शय्यामलंकृतिम्
सप्तैतानि चमत्कार कारणं ब्रुवते बुधाः—कवि कु० कण्ठाभरण पृ० ७९।

२ इति व्यंग्यं गुणीभूतं तदपेक्षया वाच्यस्यैव चमत्कारित्वात्—काव्यप्रकाश पृ० १।३ का वृत्तिभाग।

हृदय एवं बुद्धि के समन्वय-स्थल पर खड़े इस तत्त्व को समर्थन भी दिया है। इसमें सन्देह नहीं कि भारतीय काव्यशास्त्र के आचार्यों का विभिन्न काव्य तत्त्वों में से किसी एक को काव्य का जीवातुभूत और अन्य को उसका अंग कहकर व्यवस्थापित करने की प्रवृत्ति भी देखने को मिली है। फलतः चमत्कृति की उन सिद्धान्त के समानान्तर क्या स्थिति है इसका अविसंवादी स्वरूप स्पष्ट किए बिना काम नहीं चल सकता। अतएव प्रसंगवश यहाँ यही प्रयास किया जा रहा है—

चमत्कृति एवं अलंकृति सिद्धान्त

काव्य सिद्धान्त के प्रतिपादन का भारतीय प्रयास काव्यालंकार से प्रारम्भ होता है। भामह का अलंकृति-प्रसार काव्य के मुख्य एवं अनिवार्य अंग के रूप में अलंकार को रेखांकित करता है। तथा वक्रोक्ति को अलंकारों का मूलबीज भी मानता है।[१] दण्डी अलंकार को शोभाकर धर्म मानकर यद्यपि उसे वक्रोक्ति मूल न कहकर अतिशयोक्तिमूलक[२] कहते हैं पर उनका प्रतिपादन अलंकार का काव्य के स्वरूपाधायकत्व से शोभाधायकत्व की स्थिति को अलग नहीं कर पाता। यही क्यों, भामह की वक्रोक्ति उस अवधि तक अलंकार नहीं किन्तु दण्डी की अतिशयोक्ति तो भामह के समय से ही एक अलंकार भी है अतएव काव्य शोभाकर—अलंकार-प्रस्तार का मूलबीज भी एवं अलंकार भी कैसे? यह विचिकित्सा बनी रहती है। फिर भी इन दोनों के द्वारा गृहीत वक्रोक्ति एवं अतिशयोक्ति काव्य शोभाकर तत्त्व अलंकार के मूलबीज अर्थात् शोभा या सौन्दर्य या फिर चमत्कृति का ही पर्याय रहा है इसकी पुष्टि उसी अर्थ में इन दोनों शब्दों को न लेकर सीधे सौन्दर्य को ही अलंकार का स्वरूपाधायक तत्त्व स्वीकार करने से हो जाती है।[३] रुद्रट ने वैचित्र्य को अलंकारो का बीज मानकर सौन्दर्य को केवल भावगम्य न होकर आस्वाद प्रधान बुद्धि से समर्पित होने का भी निर्देश किया[४] जो एक साथ अलौकिकता, भावप्रवणता, आनन्ददायकता और सुविचारित रमणीयता का द्योतक शब्द है। कुतक ने अलंकार को काव्य कहा किन्तु वे उसका मूलबीज चमत्कृति को मान बैठे। और महिमभट्ट ने तो शब्द और अर्थ को विच्छित्ति (शोभा) एवं चरुत्व दोनों को ही अलंकार की संज्ञा दी! इस प्रकार भारतीय काव्यशास्त्र के अलंकृति सिद्धान्त की अशेष स्थापना यद्यपि अलंकार को काव्य के मूल सिद्धान्त के रूप में स्वीकारती है, फिर भी उसका चमत्कृति या उसके अपर पर्यायों (—सौन्दर्य, शोभा, आतिशय्य, विच्छित्ति, वैचित्र आदि) से कहीं किसी प्रकार विरोध या टकराव लक्षित नहीं होता। बल्कि भामह से लेकर महिमभट्ट तक की सारी परम्परा किसी न किसी रूप में उसका काव्य के महत्त्वपूर्ण सत्य के क्या जीवातुभूत तत्त्व के रूप में भी उल्लेख कर जाती है।

---

[१] काव्यालंकार—भामह १।३६

[२] काव्यादर्श—दण्डी २।२२०

[३] काव्यालंकार सूत्रवृत्ति—वामन १।१।२

[४] काव्यालंकार—रुद्रट्

उद्भावक आचार्यों के बाद भी व्यवस्थापक आचार्य मम्मट और व्याख्याता आचार्य जयदेव अप्पय्य आदि ने भी यद्यपि अलंकृति प्रतिपादन के प्रति आग्रह दिखलाया है और इनमें से कुछ ने तो अलंकारों की अत्यन्त सुविचारित रमणीय एवं तर्कानुमोदित स्थापना भी की है पर सर्वत्र अलंकार एवं अलंकार्य का रूप स्पष्ट हो आया। सचतो यह है कि १० वीं शती तक आते ही आते अलंकार्य एवं अलंकार का भेद स्पष्ट हो चला था। अतएव अलंकृति को काव्यांगों के रूप में तो स्वीकृति मिली किन्तु काव्यांग अशेष काव्यतत्व का स्वरूपाधायकत्व कैसे सम्हालता ? फलतः अलंकार शोभाधायक तो रहा, जैसा दण्डी ने कहा था पर काव्य का एक मात्र सत्य नहीं रह सका। फिर भी काव्य में वाणी के अलौकिक प्रयोग के लिए अलंकारों की आवश्यकता और अलंकारों के मूल बीज के रूप में सौन्दर्य, वैचित्र्य, आतिशय्य एवं चमत्कृति का स्थान अक्षुण्ण रहा।

रीति सिद्धान्त और चमत्कृति

पदों की विशिष्ट संघटना ही रीति है। वैसे वामन से पूर्व एवं पश्चात् इसके और कई नाम सामने आए—प्रणाली, पद्धति, पथ, और शैली आदि। पदसंघटना के मूल आधार वामन के अनुसार गुण हैं और गुणों को ध्वनि एवं रस सिद्धान्त में काव्य का आन्तर धर्म माना गया है। इस प्रकार रीति को काव्य का आत्मा और गुण को रीति का आत्मा मानने वाले रीति सिद्धान्त के उद्भावक आचार्य वामन ने मूलतः अगली परम्परा का ही मार्ग प्रशस्त बनाया। किन्तु संदेह की स्थिति वे वहाँ खड़ी कर देते हैं, जहाँ वे अलंकार के कारण काव्य को ग्राह्य मानकर अलंकार को सौन्दर्य का ही अपर पर्याय कहते हैं। निश्चित ही रीति गुण और अलंकार काव्य के आवश्यक अवयव हैं, जिनके बिना उसकी रेखाएँ स्पष्ट नहीं होंगी और वास्तविक स्वरुप धूमिल रहेगा, किन्तु जैसे रीति गुणात्मा एवं गुण रस का आन्तर धर्म है वैसे अलंकार काव्य का बाह्य शोभाकर धर्म है। ऐसी स्थिति में सौन्दर्य जैसे व्यापक और शाश्वत सत्य के साथ यदि वे गुण या फिर परम्परा से रीति को जोड़ते, जो आन्तर अतएव स्थिर काव्यधर्म है, तो बात बैठती। बाह्य अथवा अस्थिर धर्म-अलंकार को सौन्दर्य का अपर पर्याय कहकर उन्होंने सौन्दर्य की भी अस्थिरता का जो बिम्ब सामने रक्खा है, वह कथमपि ग्राह्य नहीं लगता। इसमें सन्देह नहीं कि काव्य में भी सौन्दर्य एवं चमत्कृति जसे काव्यसत्य का संस्पर्श होता ही है। बिना उसके उन स्थलों पर अलंकार में अलंकारता ही नहीं रहेगी—नहि चमत्कारविरहितस्य काव्यस्य वा काव्यत्वम्। किन्तु सौन्दर्य ही अलंकार है न कहकर अलंकार भी सौन्दर्य है यह कहना ठीक होगा। सौन्दर्य व्यापकतत्व एवं अलंकारता उसका एक अंश है। रही रीति की बात तो जैसे अलंकार भी अलंकार, जिसे वामन ने सौन्दर्य कहा है सौन्दर्य या चमत्कृति का एक अंश है, वैसे ही रीति एवं गुण की रीतिता और गुणवत्ता भी सौन्दर्य का एक अंश है। एक देश अशेष की सम्पूर्ण सीमा नहीं घेरता, किन्तु वह भी अशेष की भाँति ही हृदयावर्जक अतएव प्रतिष्ठा का अधिकारी होता है। रीति, गुण और अलंकार में से प्रत्येक और सभी चमत्कृति के संस्पर्श से दमकते हैं। इससे पृथक् उन में न रीतित्व न गुणवत्ता और न अलंकारता ही रहती है। वामन की रीतिसिद्धान्त सम्बन्धी धारणा का वैसे असंगतियों के होते हुए भी काव्यसत्य के मूल रूप सौन्दर्य या चमत्कृति से सर्वत्र अविरोध है और वे असंगतियाँ भी परवर्ती आचार्य प्रज्ञाओं द्वारा रीति, गुण और

अलंकार सम्बन्धी धारणाओं के पर्याप्त स्फुटीकरण के बाद ही सामने आई है। वामन के प्रतिपादन विकास क्रम की स्थिति में थे अतएव असंगतियों भी अस्पष्ट ही थी।

ध्वनि सिद्धान्त और चमत्कृति

"ध्वनि" शब्द व्याकरणशास्त्र में श्रूयमाण वर्णों के लिए प्रयुक्त हुआ है। साहित्य शास्त्र में उसकी उपस्थिति व्याकरणशास्त्र के ध्वनि की शब्दतः और "स्फोट" की भावतः और अर्थतः आकलित है। यहाँ वह व्यंग्यव्यंजनक्षम शब्द और अर्थ के लिए लाया गया है। ध्वनिसिद्धान्त के प्रवर्तक आचार्य आनन्द के अनुसार वाच्यार्थ में सहृदय के हृदय को आह्लाद प्रदान करने की क्षमता कम होती है। फलतः सहृदय के लिए आस्वाद्य अर्थ लाने के लिए अर्थान्तर की कल्पना करनी पड़ती है। सीमित दायरे में यह कार्य तो लक्षणा भी करती ही है और नियत सम्बद्ध तथा सम्बन्ध सम्बद्ध अर्थ दे भी पाती है किन्तु अनियत सम्बद्ध और प्रसंगादि सापेक्ष अर्थान्तर के लिए शब्द की व्यञ्जनाशक्ति से काम लेना होगा। जहाँ शब्द और अर्थ अपने को गौण बनाकर अतिविशेषभूत अर्थान्तरों को अभिव्यक्ति दे पाएं। आनन्द ऐसे शब्द को व्यंजक, अर्थ को व्यंग्यार्थ और काव्यार्थ को काव्यात्मा ध्वनि कहते हैं। ऐसे अर्थ से सहृदय हृदय आह्लाद पाता है, जिसका दूसरा नाम "चमत्कार" है। अभिनव ने सहृदयों की ऐसी आस्वादक बुद्धि को चमत्कृति कहा है। आनन्द का ध्वनि सिद्धान्त जिस काव्य तत्व की अभिव्यक्ति के लिए ध्वनि की प्रधानता स्वीकारता है, उस ध्वनि को वे सहृदय संवेद्य तो कहते ही हैं साथ ही चमत्कार प्राण भी कहते[1] हैं। कहीं-कहीं वाच्य एवं व्यंग्य की प्रधानता का प्रश्न उठने पर चारुत्व या चमत्कृति को ही काव्यतत्त्वार्थ के निर्णय का वे प्रतिमान भी मानते हैं। आनन्द ने काव्य सत्य को पहचाना था एवं उसे लावण्य, चारुत्व, सौन्दर्य और चमत्कृति जैसे शब्दों से व्यक्त भी किया। ऐसे सारे स्थलों में कहीं वे इसे आह्लाद का पर्याय एवं कहीं कवि प्रतिभाजन्य चमत्कृति का पर्याय मानते रहे हैं।

सच तो यह है कि आनन्द ने ध्वनि शब्द का व्यापक अर्थों में प्रयोग कर व्यंजक शब्द, व्यंजक अर्थ, व्यंग्यार्थ, व्यंजनाव्यापार और व्यंग्यप्रधानकाव्य इन सबके लिए एक सामान्य शब्दता दे दी थी। फलतः उसकी लक्षणामूला एवं अभिधामूला ध्वनि में काव्य का अशेष प्रपंच किसी न किसी रूप में आ गया। किन्तु काव्य का मूलसत्य शब्द एवं अर्थ से व्यंजित होने पर भी जैसे अतिविशेषभूत होता है। अतएव उसकी यह अभिव्यंजकता ललनाओं के आंगिक सौन्दर्य से सर्वथा परे उनके दीप्त सौन्दर्य या चारुत्व की भाँति कुछ और ही होती है। आनन्द इसीलिए ऐसे तत्त्व की अनिर्वचनीयता का खण्डन करते हुए इसका एक मात्र प्रमाण दे जाते हैं—"सहृदय हृदय की अनुभूति ही इस अतिशायी अर्थान्तर से व्यक्त तत्त्व का प्रमापक है। निश्चित ही यही उत्तर प्रत्येक अनुभूतिगम्य सत्य के लिए उतना ही सही है, जितना आनन्द द्वारा प्रतिपादित काव्यतत्त्व की पुष्टि के लिए।

सहृदय के हृदय की आह्लादकता ही तब काव्य का कार्य है जिसके लिए काव्य के समस्त उपकरण कार्य करते हैं। आह्लादकता प्रदान करने वाला काव्य या काव्योपकरण

---

[1] आनंदोहि निर्वृतात्मा चमत्कारत्वापरपर्यायः। ध्वन्यालोकलोचनम् ॥५-३७॥

ही काव्य या काव्योपकरण हैं। इसके अभाव में काव्य या काव्योपकरणों की अर्थवत्ता कुछ नहीं। इस निष्कर्ष में भी कोई कठिनाई नहीं हो सकती कि सौन्दर्य, चारुत्व चमत्कृति एवं विच्छित्ति ही सहृदयों के हृदय का आह्लादक तत्त्व है, जिसके विना सहृदय सहृदय ही नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार ध्वनि एवं ध्वनि का अशेष प्रपंच सौन्दर्य या चमत्कृति की ही उपपत्ति का प्रयास है, जिसका सम्बन्ध एक ओर सहृदयहृदय से आह्लादकत्व को लेकर, दूसरी ओर प्रतिभाजन्यता को लेकर कवि से, और अलौकिकता को लेकर सीधे काव्य के समस्त उपकरणों से है। जिसके विना न कवि और न काव्य हो सकता है। ध्वनि, रस, गुणीभूतव्यंग, गुण, रीति, वृत्ति, पाक, शय्या और अलंकृति सबसे इस काव्य सत्य का अविनाभाव और अविरोध है।

वक्रोक्ति सिद्धान्त और चमत्कृति

वक्रोक्ति को भारतीय काव्यशास्त्र में एक सिद्धान्त के रूप में प्रवर्तित करने का श्रेय यद्यपि कुन्तक को है, फिर भी इससे पहले का शास्त्र इस तत्त्व से अपरिचित नहीं है। भामह ने वक्रोक्ति को काव्य सौन्दर्य का पर्याय ही स्वीकारते हुए काव्य का सबसे महत्त्वपूर्ण तत्व बतलाया। इसलिए कि भामह की दृष्टि मूलतः अलंकृति की ओर थी। अतएव उसका प्राणतत्त्व वक्रोक्ति को कहकर उन्होंने उसे प्रभूत सम्मान दिया। साथ ही स्वभावोक्ति एवं वक्रोक्ति को अलग न कर उसे एक दूसरे की क्षेत्रीय स्थितियों की समगामिनी बनाया। दण्डी वक्रोक्ति के इस सीमाविस्तार से सशंकित दीखते हैं। अतएव उसे स्वाभावोक्ति से भिन्न बताया, किन्तु वक्रोक्ति की काव्य शौन्दर्य के रूप में अस्वीकृति उनमें भी नहीं। हाँ वे इस प्रसंग में समस्त वाणी विस्तार के पीछे काम करने वाले तत्त्व को अतिशयोक्ति का नाम अवश्य देते हैं, जो एक अलंकार के रूप में भी प्रख्यात है। फलतः बात बहुत साफ नहीं है। वामन वक्रोक्ति को सादृश्यगर्भा लक्षणा पर आधारित एक अलंकार कहते हैं। वे उसे काव्य सौन्दर्य से युक्त कहते हुए भी समस्त अलंकारों का मूल बीज सौन्दर्य को कहकर भिन्नता की सूचना भी देते हैं और रुद्रट तक आकर वक्रोक्ति वाक्छल रूप शब्दालंकार बन कर रह जाता है। इस प्रकार काव्य सौन्दर्य की महत्ता से लेकर वाक्छलता तक की वक्रोक्ति यात्रा कम मनोरंजक नहीं। कुन्तक ने वक्रोक्ति का जो रूप उठाया वह बहुत कुछ ध्वनि के अनुकरण पर एवं इससे उन्होंने ध्वनि से अधिकृत सारे क्षेत्र की अधिगत कर लेने के लिए अपनी विशिष्ट प्रतिभा का उपयोग किया। यह दूसरी बात है कि उनका यह आग्रह आगे मान्य नहीं हो सका। किन्तु इससे कुन्तक का प्रयास-वैशिष्ट्य कम महत्व का सिद्ध नहीं होता। आनन्द की भाँति कुन्तक ने भी चारुत्व और चमत्कृति को ही वक्रोक्ति का भी प्राण माना[1] इस प्रकार चाहे ध्वनि सिद्धान्त हो या वक्रोक्ति दोनों के द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों का मूल बीज[2] चमत्कृति या चारुता ही सिद्ध होती[3] है।

---

[1] लोकोत्तरचमत्कारकारि वैचित्र्य सिद्धये।
काव्यस्यायमलंकारः कोप्यपूर्वो विधीयते॥ वक्रोक्तिजीवितम् १।२

[2] काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्वते॥ १।५ वही

[3] सर्वसम्पत्परिस्पन्दसम्पाद्यः सरसात्मनाम्।
अलौकिक चमत्कारकारि काव्यैकजीवितम्॥ वही १।५६

इतना तो सर्वविदित है कि आनन्द की ध्वनि का आग्रह व्यंजना की ओर था जबकि कुन्तक वक्रोक्ति को "विचित्रैव अभिधा" का पर्याय मानते हैं। यही नहीं, वक्रोक्ति का चमत्कार को प्राण कहते समय भी वे 'लोकोत्तर" विशिष्टता उसके साथ अवश्य जोड़ देते हैं। अभिधा के साथ विचित्रता का विशेषण जैसे उसे सामान्य अभिधा से अलग करता है और लोकोत्तर अभिधेयार्थ से जोड़ता है, वैसे ही लोकोत्तर चमत्कार भी लौकिक कुतूहल-मात्र जनक चमत्कार से सर्वथा भिन्न होने की सूचना देता है। इस प्रकार कुन्तक की अभिधा आनन्द की व्यंजना से दूर नहीं। दोनों को चमत्कृति या चारुत्व को काव्य का प्राणतत्व मान लेने पर अध्येता को इनकी भिन्नता से संबद्ध बातों का स्वयं निर्णय लेना आवश्यक हो जाता है कि क्या दोनों के द्वारा निर्दिष्ट काव्यप्राण चमत्कृति में कोई अन्तर है या नहीं? वास्तव में बुद्धि व्यापार से ही अनुभूति के स्तरों का स्वरूप स्पष्ट होता है। ध्वनि या वक्रोक्ति दोनों का मूलतः उसी बौद्धिक व्यापार के कल्पित अनुभूति स्तरों से सम्बन्ध है। वैसे भी वैचारिक सरणि दोनों की इसीलिए भिन्न है। एक को हम आत्मपक्षीय संवेदना को ग्रहण करता पाते हैं तो दूसरे को वस्तुपक्षीय। चमत्कृति दोनों में है। आत्मा से देह तक एवं देह से आत्मा तक की अनुभूति की इन दो भिन्न प्रक्रियाओं से विशिष्ट ये दोनों मत मूलतः भिन्न नहीं एक तत्व की ही दो दृष्टि से प्रवर्तित व्याख्याएं हैं। सच तो यह है कि चमत्कृति कवि प्रतिभा पर आश्रित है। कवि प्रतिभा पर वस्तु एवं भाव दोनों की प्रेषणीयता का प्रतिफलन होता है फलतः भाव एंवं वस्तु दोनों ही सहृदय की आह्लादकता के जनक होते हैं कवि प्रतिभा से उत्पन्न काव्य समापत्ति का आधार लेकर। आनन्द एवं कुन्तक दोनों उसी चमत्कृति को काव्य का प्राण मानते हैं एक ने यह बात भाव से एवं दूसरे ने वस्तु पक्ष से शुरू की है। बस। अन्तर यही है।

कुन्तक न वक्रोक्ति को "वैदग्ध्यभंगीभणिति" कहा है और इससे उनका तात्पर्य चमत्कृति पूर्ण कथन से है, जो कविकौशल का परिणाम होता है। जैसे चमत्कृति एवं ध्वनि में अविनाभाव सम्वन्ध आनन्द को इष्ट है, वैसे ही कुन्तक भी वक्रोक्ति का स्वरूप बतलाते हुए लोकोत्तर चमत्कार की सिद्धि और सहृदयों का हृदय आह्लादित करना ही उसका लक्ष्य मानते हैं। यही नहीं, कहीं कहीं तो कुन्तक ने अलौकिक चमत्कार करने वाले और सब प्रकार की सम्पत्तियों (सौन्दर्य) को अभिव्यक्त करने वाले तत्व को काव्य का प्राण कहा है। ऐसे स्थलों पर उनका तात्पर्य मुख्यतः चमत्कृति और सौन्दर्य की ओर रहता है जो प्रकारान्त से एक दूसरे के पर्याय हैं। कुन्तक ने काव्यामृत को अन्तश्चमत्कार—अर्थात् जिसके वीच चमत्कृति का अलौकिक संभार छिपा रहता है—कहा है और उसे चतुर्वर्ग पुरुषार्थ को भी अतिक्रान्त करने वाला तत्व बतलाया है।

वक्रोक्ति को "अन्तश्चमत्कार" कहने वाले कुन्तक के सामने एक ओर तो वक्रोक्ति के निरन्तर संकीर्णता की ओर जाने वाले पक्ष थे और दूसरी ओर समस्त काव्य सामग्री को अपने वीच समेटने की शक्ति रखने वाली उसकी सम्भावनाएँ। कुन्तक ने दूसरा पक्ष ही लिया। वक्रोक्ति को एक शब्दालंकार न मानकर उसे काव्य जीवित और उस काव्य जीवित वक्रोक्ति को लोकोत्तर आह्लाद जनक और चमत्कार प्राण कहकर उन्होंने प्रतिरोधियों

की उक्तियों पर अंकुश का काम किया। यह दूसरी वात है कि यह कुन्तक की वौद्धिक विरासत का प्रभाव माना जाता है फिर भी कुन्तक की काव्य सौन्दर्य विषयक धारणा—उसकी चमत्कार प्राणता का समर्थन संस्कृत काव्यशास्त्र के अन्तिम प्रौढ़ आचार्य पंडितराज ने—"चमत्कारवत्वमेववा काव्यत्वम्" कहकर किया ही।

रस सिद्धान्त और चमत्कृति

रसिकों के हृदय को आह्लादित करना ही काव्य का लक्ष्य है और ऐसी आह्लादकता का मूल आकर्षण चमत्कृति। अतएव काव्य का सौन्दर्य मूलतः चमत्कृति में है। भारतीय परिवेश में पल्लवित वाङमय में प्रारम्भ से "रस" के सम्वन्ध में भी महत्वपूर्ण कथन उपलव्ध होने लगते हैं। "रस एवायं लब्ध्वा आनन्दी भवति" से चलकर "रसात्मकं काव्यम्" तक की लम्वी परम्परा में वह दो रूपों में सामने आया। (१) आस्वाद ही रस है और (२) रस आस्वाद्य है। दोनों ही स्थितियों में उसका सम्बन्ध सहृदय की भावना से रहा है। नाट्य एवं काव्यशास्त्र का अशेष आयाम रस की इन्हीं दो स्थितियों के परिसंवाद से भरा है। भरत, दण्डी, रुद्रट, भट्टलोल्लट, शंकुक, भट्टनायक, आनन्द, अभिनव क्षेमेन्द्र, मम्मट, विश्वनाथ एवं पंडितराज जैसी प्रज्ञाओं से विवेचित यह तत्व कहीं भी एवं कभी भी सहृदयों से उपेक्षित नहीं हुआ। चाहे किसी भी सिद्धान्त की शास्त्रकारों द्वारा प्रतिष्ठा हुई, पर रस ने साहित्य विवेचन की केन्द्रीय भावना का स्थान न छोड़ा। ऐसा इसके प्रकृतिगत वैशिष्टय के कारण ही सम्भव हुआ।

जहाँ तक चमत्कृति का सम्बन्ध है यह पहले ही बताया गया है कि रस यदि काव्य का जीवानुभूत तत्व है तो उसे उसकी वस्तुगत स्थितियों में आकर्षकता प्रदान करने का कार्य चमत्कृति के द्वारा ही सम्पादित होता है। इसकी सूचना जैसे अन्य भारतीय काव्य सिद्धान्तों में मिलती है वैसे ही रस सिद्धान्त के काव्यात्म प्रतिपादक ग्रन्थों में भी सुलभ है। आचार्य आनन्द का ध्वन्यालोक इसका पहला स्थल है जहाँ चारुत्व को काव्योपकरणों का मूल केन्द्र माना गया है। ध्वनि को काव्य का आत्मा कहने के बाद उन्होंने रस ध्वनि को उसका भी मूल बीज माना है तथा रस ध्वनि के द्वारा सहृदय हृदयाह्लादकता का भी समर्थन किया है। अभिनव ऐसे सारे प्रसंगों में चमत्कृति का स्पष्ट रूप से निर्देश करते हैं। क्षेमेन्द्र ने रसिक के हृदय में आह्लाद उत्पन्न करने वाले तत्व को रस कहा है तथा "कविकुल कंठाभरण" में चमत्कृति को रस का भी जीवानुभूत तत्व माना है।

नाटयदर्पण ने संभोग और विप्रलंभ श्रृंगार रस में अतिशय चमत्कृति को ही प्राधान्य दिया है। नारायण महापात्र (साहित्य दर्पणकार के प्रपितामह) ने तो चमत्कृति को रस का सार ही कहा है। स्वयं विश्वनाथ रस को काव्य का प्राण तो कहते हैं किन्तु रस के स्वरूप का निर्वचन करते समय वे उसे चमत्कारप्राण विशेषण देना नहीं भूलते। इस प्रकार रसको काव्य की आत्मा कहते हुए भी काव्योपनिषद रूप रस को चमत्कृति से अनुप्राणित कहने के बाद इस सिद्धान्त में चमत्कृति की महत्ता की उद्घोषणा में अन्य प्रमाणों का प्रश्न ही नहीं उठता।

चमत्कृति के रस सिद्धान्त के समीप होने का एक और प्रबल कारण यह है कि रस और चमत्कृति दोनों का मानवीय हृदय के आनन्द और उसकी बौद्धिक प्रभाव प्रक्रिया से सीधा सम्बन्ध है। कवि प्रतिभा चमत्कृति की लालसा से ही सरस साहित्य को अभिव्यक्ति देती है। चमत्कृति के कारण ही सहृदय अन्य काव्योपकरणों में से रस ध्वनि को अधिक महत्व देता है और इस प्रकार बुद्धि और हृदय का प्राधान्य तो समाहित होता ही है। साथ ही काव्य रचना में मिलने वाला एवं सरस काव्य पठन में प्राप्त होने वाला आह्लाद भी चमत्कृतिजन्य ही होता है। अतएव चमत्कृति का रस सिद्धान्त से कोई विरोध नहीं। यही क्यों, यह स्थिति काव्य की श्रव्य स्थिति तक ही सीमित न होकर दृश्य में भी उतनी ही लागू होती है। वैसे नारायण महापात्र के अनुसार इसका अत्युत्कर्ष अद्भुत रस में मिलता है किन्तु सच तो यह है कि सभी रस मात्र में चमत्कृति का अविनाभूत सम्बन्ध है। चमत्कृति रहित होकर रस आह्लाद की सृष्टि में ही समर्थ नहीं हो सकता। विश्वनाथ का इसीलिए रस को चमत्कृति प्राण कहना सर्वथा सार्थक है।

औचित्य सिद्धान्त और चमत्कृति

औचित्य सिद्धान्त का भी अस्तित्व समान रूप से नाट्य और काव्य के शास्त्रीय विवेचनों में प्रारम्भ से ही मिलने लगता है भरत के नाट्यशास्त्र में वह अनुरूप शब्द का आश्रय लेकर सामने आता है जहाँ उसकी अनुरूपता का मानदण्ड लोकव्यवहार है। दण्डी ने औचित्य को दोषों का विनिगमकतत्व माना है और अनौचित्य को सहृदयों के लिए उद्वेगकर होने की बात उठाई है। किन्तु औचित्य की अधिक उन्नत स्थिति ध्वन्यालोक में पाई गई, जहाँ उसे गुण और दोष विनिगमक के रूप में रखते हुए रसभंग दोष से रहित होने में प्रधान हेतु कहा है। आनन्द ने उसके रसौचित्य, अलंकारौचित्य, गुणौचित्य, संघटनौचित्य, प्रबन्धौचित्य और रीत्यौचित्य जैसे प्रकारों का सविस्तर परिचय देकर इसको अधिक स्पष्टता दी है। कुन्तक औचित्य के सम्बन्ध में अपनी बात सामने रखने वाले अग्रिम आचार्य हैं, जिन्होंने उसे आख्यानों का प्राण कहा है। साथ ही उसे वक्ता और प्रमाता के वाक्य को शोभातिशायी स्वभाव से आच्छादित होने वाला स्थल कहा है। इस प्रकार कुन्तक की दृष्टि वर्णयिता, श्रोता और वर्ण्य को ध्यान में रखकर औचित्य का विचार भर करती है। औचित्य के प्रति आचार्यों की दृष्टि कुन्तक तक चाहे कितनी भी सजग रही हो किन्तु उसे काव्य जीवातुभूततत्व होने की प्रतिष्ठा क्षेमेन्द्र से ही मिली। क्षेमेन्द्र की "औचित्य विचार चर्चा" ने औचित्य की सांग महत्ता स्थापित की और वह एक प्रतिष्ठित सिद्धान्त का रूप ले सका जो अन्य सभी सिद्धान्तों में चर्चा का विषय था।

जहाँ तक औचित्य से चमत्कृति के सम्बन्ध की बात है इसका उत्तर औचित्य सिद्धान्त प्रतिष्ठापक के शब्दों में ही अधिक अच्छा होगा। क्षेमेन्द्र ने "औचित्य विचार चर्चा" में ही चमत्कार को औचित्य का प्राण कहा है। यही क्यों अपने कविकुल कण्ठाभरण की तृतीय सन्धि में उसके १० प्रभेदों को भी निःसंकोच विस्तार दिया है। इसलिए औचित्य के लिए भी चमत्कृति वैसे ही प्राण स्थानीय है जैसे रस के लिए फिर भी दोनों का अन्तर उनकी तरप् तमप् स्थितियों का आख्यायक है।

काव्यसत्य के रूप में यद्यपि सौन्दर्य, चारुत्व, विच्छित्ति, रमणीयता आदि कई पर्यायों का उल्लेख संभव है फिर भी चमत्कृति को ही काव्य के सत्य के रूप में स्वीकृति देने का मूल कारण उसमें निहित तत्व सम्पदा ही है। सौन्दर्य एवं चारुत्व आदि शब्द व्यापक किन्तु कलासामान्य के लिए भी प्रयुक्त शब्द हैं, जिन्हें केवल काव्य कला के लिए नियमित कर लेना थोड़ा कठिन है इसीलिए भारतीय साहित्यशास्त्र के आचार्य सौन्दर्य एवं चारुत्व आदि का काव्यसत्य के रूप में उल्लेख करते रहे हैं किन्तु काव्य लक्षण में उसे अनिवार्य निर्वर्तक तत्व के रूप में लेने से कतराते भी रहे हैं। कदाचित् इसका कारण इनका अति-व्याप्त होना ही रहा है इसीलिए पंडितराज ने इनमें से एक अपेक्षाकृत निश्चित संकेतक शब्द चमत्कार को ही काव्यस्वरूप निर्वचन में स्थान दिया और काव्य प्रकारों के निर्वर्तन का प्रतिमान भी बनाया। चमत्कृति में जैसा कि पिछली स्थापना से स्पष्ट है एक साथ हृदय एवं बुद्धि; कवि, सहृदय एवं काव्यवस्तु इन सबके लिए उचित सामंजस्य से काव्यतत्व को अपेक्षित आकार एवं मान देने की क्षमता है। अतएव चमत्कृति अन्य भारतीय सिद्धान्तों से अधिक सक्षम सिद्धान्त का रूप लेकर भारतीय एवं पाश्चात्य साहित्यशास्त्र के लिए समर्थ प्रतिमान का कार्य कर सकता है।

प्रवक्ता—हिन्दी विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी—५

कालिदास और शेक्सपीयर

डॉ० जनार्दन उपाध्याय

कालिदास और शेक्सपीयर दो विभिन्न भाषाओं एवं संस्कृतियों के विशिष्ट कवि नाटककार हैं। कालिदास की नाटकीय संरचना में प्राच्य जीवन दृष्टि एवं काव्य नाट्य परम्परा के प्रतिमानों का स्वच्छन्दतावादी पद्धति [रोमान्टिक पैटर्न] पर प्रयोग है, जबकि शेक्सपीयर में पाश्चात्य काव्य नाट्य परम्परा और जीवन मूल्यों का लोक तात्त्विक तत्त्वों से संयुक्त कर स्वच्छन्द पद्धति पर मौलिक प्रयोग है। दोनों कवि नाटककार काव्य-नाट्य प्रतिभा सम्पन्न कलाकार हैं, क्योंकि इनके नाटकों में गद्यात्मक-नाट्य-तत्त्वों एवं संगीत प्रधान भावात्मक काव्य तत्त्व की पूर्ण संगति दृश्य है। इनके नाटकों में इसी संगीतात्मक सामंजस्य के कारण एक शान्त, सुव्यवस्थित व्यवस्था (Equilibrium) की शोध प्रक्रिया लक्षित होती है। शान्तिपूर्ण संतुलन का सन्धान मानव जीवन का लक्ष्य है। सामंजस्य, शान्त तत्त्व, ही उद्वेलन में मनः शान्ति, विरोध में समन्वय एवं समझौता ला सकता है। शेक्सपीयर के अन्तिम सुखान्त नाटक [लास्ट कामेडीज] तथा कालिदास के 'अभिज्ञान-शाकुन्तलम्' का कथानक विच्छेद और पुनर्मिलन की धूरी पर घूमता हुआ संतुलन पूर्ण शान्ति की उपलब्धि को ही संकेतित करता है। वस्तुतः दोनों नाटककारों ने विश्व में व्याप्त अव्यवस्था [क्यास] में संगति [हारमनी Hormoney] को ढूँढ़ा है। यह एक प्रकार से विश्वव्यापी संगीत के साथ एकमेक होने का सचेतन प्रयास है।

कालिदास और शेक्सपीयर की सर्जनात्मक प्रतिभा एवं रचनात्मक प्रक्रिया की तुलनात्मक अन्वीक्षा में उनकी रचनाओं के मूलभाव विन्दु एवं जीवन दृष्टि को ध्यान में रखकर संरचनात्मक अन्विति की विकास रेखा को निर्धारित करना आवश्यक है। सामान्यतया कालिदास और शेक्सपीयर को एक अंश तक सीधी रेखा में विचार करने का जो हेतु है, उसका मूल रहस्य 'टेम्पेस्ट' और "अभिज्ञान—शाकुंतलम्" है। शेक्सपीयर के 'लास्ट कामेडीज' में जिस सामंजस्य [Reconciliation] की बात की जाती है, वह कालिदास के 'अभिज्ञान-शाकुंतलम्' में भी है। दोनों की रचनाओं में, वे कौन से तत्त्व हैं जो एक समान दृष्टि को व्यक्त करते हैं। मूलतः इन तत्त्वों को तीन श्रेणियों में विभाजित कर विचार किया जा सकता है :—

(क) अभिज्ञान एवं सामंजस्य की संगति की प्रतीति (Theory of Raconciliation & Recognition)

(ख) भाव वैषम्य-सिद्धान्त (Principle of contrast)

(ग) उद्धारक का प्रतीक : नारी (Symble of Rademption woman)

परम्परा और नवनवोन्मेष प्रज्ञा :

कालिदास की भाव सम्पदा एवं विचारों का उत्स भारतीय संस्कृति का जो भी उदात्त, महनीय एवं सुन्दर है, में ही है। उन्होंने कुछ भी अमूल और अनपेक्षित नहीं लिखा,

अपितु जो भी पुराना था उसके जीवन्त तत्त्वों को पकड़ कर युग की नयी विचार धारा के अनुरूप नयी अर्थ भंगिमा दी है। उनका स्पष्ट उद्घोष है :

पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम् ।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद भजन्ते मूढ़ः परप्रत्ययनेयबुद्धिः ।।

[मालविकाग्नि मित्र१।२]

भारतीय संस्कृति के उदात्त, सुन्दर एवं महान् की काव्यमयी व्यंजना कालिदास को काम्य है। उनकी दृष्टि में इस संसार में सुन्दर तत्त्व नारी है और जीवनधारा में सुन्दर भाव केवल प्रणय है। इसी से इनके काव्यों, नाटकों में सौन्दर्य एवं प्रेम की रसमयी व्यंजना मौलिकता की मधुमती भूमिका में. हुई है। हाँ, इतना अवश्य है कि इससे कालिदास की कल्पना की परिधि शेक्सपीयर की तुलना में कुछ संकुचित हो जाती है, क्योंकि इनका काव्य-फलक कुछ विशिष्ट भाव एवं रूप को ही उकेरता है। कालिदास सौन्दर्य एवं प्रेम के एकनिष्ठ सौन्दर्य दिदृक्षा सम्पन्न मर्मी कवि हैं। शेक्सपीयर की कल्पना में जीवन की गहनतम अनुभूतियों का यथा तथ्य विशाल अंकन है। उसकी कल्पना समुद्र की तरह विशाल और गंभीर है। परिणामतः उसने पुष्प जैसी पवित्र कोमल ओफेलिया, तूफान की तरह कैथरिना, सर्वस्व त्यागी टाईमन एवं सर्वस्व ग्राही रिर्चड्स से लेकर विलास प्रिय क्लिओपाट्रा, सती साध्वी डेस्डिमोना, पिशाचिनी लेडी मेकवेथ' पुष्प विहारिणी पोर्सिया तक की संरचना की है। इतने प्रकार का भाव-वैविध्य शेक्सपीयर में है। कालिदास में अन्तर और वाह्य जगत में जो भी सुन्दर तत्त्व है, वही व्यक्त है। निर्सग कन्या शकुंतला, अप्सरा उर्वशी, वन्य सुषमा मंडित कुसुम सुकुमार दक्षपुत्री पार्वती ऐसी ही सौन्र्दय सृष्टि है। कहने का आशय यह नहीं है कि शेक्सपीयर में सौन्दर्य और प्रेम का अंकन नहीं है या कालिदास में अन्य भावों की अन्विति है ही नहीं। वस्तुतः गुणात्मक वैशिष्टय की दृष्टि से गहराई का केन्द्र बिन्दु बिलग-बिलग है। सौन्दर्य और प्रेम दोनों में है, पर उनके रसास्वाद के आयाम अलग-अलग हैं। इन सबके होंते हुए भी दोनों की रचनाओं में कथावस्तु की नाटकीय संरचना, भारतीय संस्कृति के अनुरूप अति अलौकिक तत्त्वों का प्रयोग, काव्यात्मक संगीत, सामंजस्य एवं समरसता की साम्यता है फिर भी एक पाश्चात्य जीवन दर्शन का मर्मी कवि है, तो दूसरा भारतीय जीवन मूल्यों का सौन्दर्य-द्रष्टा कलाकार।

शेक्सपीयर की रचनाओं की भाव सम्पदा का उत्स उसकी जातीय सांस्कृतिक परम्परा में है। वे ही विचार, वे ही भाव हैं, पर उसने अपनी सर्जनात्मक प्रतिभा द्वारा उन्हें ऐसे अलौकिक तत्त्वों से संयुक्त कर दिया है, जिससे वे नित्य नये लगते हैं। नये पुराने के समन्वय से मौलिक रचना प्रस्तुत करने में कालिदास और शेक्सपीयर की प्रतिभा समान ही है, क्योंकि दोनों ने पुरानी भाव सम्पत्ति को नयी अर्थवत्ता दी है। हैमलेट, मैकवेथ, किंगलियर, रिचर्ड्स, शकुंतला, विक्रमोर्वशी, अज, इन्दुमती, अपनी-अपनी जातीय संस्कृति की ही उपज है। पर शेक्सपीयर कालिदास के हाथों में आकर मानव जीवन की जिन गहनतम अनुभूतियों के अनेकानेक स्तरों को उद्घाटित करते हैं, वे नित्य नवीन हैं। इनकी रचनाओं में क्षण काल एवं अनन्त, मर्त्य-अमर्त्य, पृथ्वी स्वर्ग, मानवदेव में परिवर्तित हो गया है। अतीत की समूची भाव सम्पंदा इनके यहाँ गतिशील यान द्वारा दृश्य एक परिदृश्य न रहकर

वर्तुलाकार गुम्वद का रूप धारण कर ले रही है जहाँ जीवन का समग्रबोध सतत दृश्यमान है, यही उनकी भाव सम्पदा को अनन्तता भी देता है ।

द्वन्द्व का द्वन्द्व : एक समाहारक दृष्टि :

कालिदास का द्वन्द्व है : क्या था और क्या हो गया ? शेक्सपीयर का द्वन्द्व है : मनुष्य क्या है और क्या होना चाहिए ? कालिदास की अधिकांश कवितायें उक्त द्वन्द्व को व्यक्त करती हैं । ऐश्वर्य, भोग और त्याग तपस्या और प्रेम के सामंजस्य में ही पूर्ण जीवनी शक्ति है । इसलिये त्याग और भोग का समन्वय आवश्यक है । कुमार संभव के विरागी शिव जब एकान्त भाव से समाधि में लीन थे, तब सभी देवता असहाय हो गये । इसी प्रकार सतीं जब पितृगृह में ऐश्वर्य भोग में अनुरक्त रही तो दैत्यों का उपद्रव वढ़ा । अतः एकाकी समाधि मग्नता और ऐकान्तिक ऐश्वर्य भोग की संगति आवश्यक है । इसके लिये त्याग और भोग की समरसता चाहिए ।

रघुवंश का प्रारम्भ तपस्या से ही होता है । तपोवन की समूची पवित्रता लिये दिये रघुवंश का वृक्ष वढ़ता है । पर अन्त में भोग का अतिचार सवको नष्ट करता है । जब "अभ्युदय का युग आने वाला था उससमय हम तपस्या को ही प्रधान ऐश्वर्य समझते थे और आज जवकि हमारा विनाश समीप है, भोगलिप्शा के उपकरणों का अन्त नहीं, भोग की अंतृप्त अग्नि सहत्रशिखाओं में भड़क रहीं है और आँखों को चकाचौंध कर रही है ।" इसलिये त्याग आवश्यक है । यह त्याग अपने को रिक्त करने के लिये नहीं, अपने को पूर्ण करने के लिये होता है । इसमें सयग्र के लिये अंश का त्याग करना है. नित्य के लिये क्षणिक, प्रेम के लिये अहंकार, आनन्द के लिये सुख का त्याग करना है" ;[१] दिलीप क्या थे, अग्नि वर्ण आत्म विनाश में प्रवृत्त होकर क्या हो गया । दुष्यन्त क्या था, नाटक के पाँचवें अंक. जो दण्डभूमि है. में क्या हो गया ? पुनश्च वह आगे क्या होता है? ऐसा द्वन्द्व कालिदास की रचनाओं में स्पष्ट है । पर इन सभी द्वन्द्वों का समाहार नियताप्ति में होता है । मनुष्य को प्यार करना है तो उसे तपस्या की आँच में रूप की मादकता को भस्म करना होगा । अगर भोग करना है तो उसे त्याग की लपट में अपने को सेंकना होगा । अभिज्ञान-शाकुन्तलम् एवं कुमार संभव दोनों ही में अनाहूत रूपासक्ति को भस्म कराकर तपस्या ज्योति से दीपित विशुद्ध प्रेम की व्याख्या है ।

शेक्सपीयर की रचनाओं: 'ट्रेजडीज' से लेकर 'लास्ट कायेडीज' तक मनुष्य क्या है की प्रतीति है । लास्ट कामेडीज में उसे क्या होना चाहिए की कल्पना भी जुड़ गयी है । पर समग्रतः उसका केन्द्रीय भाव बोध मानव नियति एवं तत्कालिक स्थिति में उसके आध्यात्मिक भाव सामंजस्य [spiritual Reconcilliation] है । 'ट्रेजडीज' में मानवीय सद्यः अनुभूतिजन्य भावों के अन्तर्वैयत्त्यिक संघर्षों की यथा तथ्य [Realistic] अभिव्यक्ति [Expression] है । इसमें व्यक्ति जैसा जीवन जी रहा है, वही है । घृणा, पाप,

---

१. रवीन्द्रनाथ ठाकुरः तपोवन नामक निबन्ध; कालिदास की लालित्य योजना; डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० २२-२३ से उद्धत

मोह, मत्सर, ईर्ष्या, द्वेष, हत्या, प्रेम का पापमय स्वरूप, इसका वासनामय अंश, स्वार्थपरतावश पारिवारिक विखण्डन, राज्य लोलुपता के कारण आत्मीय जनों की हत्या आदि भाव ट्रेजडीज में नानाविध अभिव्यक्ति पाते हैं। इसमें व्यक्ति सत्य के क्षण [moment] की सद्यः तीव्रानुभूति व्यंजित है। ये व्यक्ति विशेष की अनुभूतियाँ हैं। वे प्रतीकात्मक रूप नहीं लेपाती। वाद की रचनाओं में शेक्सपीयर ने द्वन्द्वात्मक भावों को व्यक्ति स्तर पर अनुभव कर उनके समन्वय द्वारा उन्हें समूह स्तर पर व्यक्त करना चाहा है। परिणामतः अयं इदम्, तत्त्वमसि की उदात्त अनुभूति होती है। मनुष्य द्वेष, घृणा, विद्रोह, पार्थिव आनंद की विश्व जनीन प्रेम, क्षमा, दया, दान एवं अपार्थिव आनन्द के रूप में अनुभूति करता है। शेक्सपीयर के 'लास्ट कामेडीज' में एक सामंजस्य और आध्यत्मिक नियताप्ति या संकल्प समाधान की अनुगूंज सुनायी देती है, जिसकी क्षीण ध्वनि हेमलेट और उससे स्पष्टतया 'किंगलियर' में मिलती है। जो भी हो, इनके 'लास्ट कामेडीज' में आकाश-पृथ्वी, देव-मानव, अतिप्राकृति-प्राकृतिकशक्तियों से ग्रंथि बंधन है। साथ ही विधाता अमंगल से मांगल्य प्रस्तुत करने के लिये कृत संकल्प एवं सक्रिय है:—

like benediction, the gods are nearer to man, where the heavens bend over the earth, the supernatural is ready to redeem the natural and providence is alert to foil the machinations of the wicked and bring good out of evil ?[1]

मनुष्य क्या है—what a picce of work is man, उसे क्या होना चाहिए, की एकान्विति शेक्सपीयर को काम्य है। मैकवेथ समस्त पैशाचिक कृत्यों के करने के वाद जीवन की व्यर्थता का वोध करता है:

Life's but a walking shadow, apoor Player,
That struts and frets his hour upon the stage,
And then is heard no more; it is a tale,
Told by an idiot, full of sound and fury signifying nothing."[2]

वस्तुत यह जीवन की व्यर्थता (Futility) का ही वोध है। रिचर्डस् द्वितीय चतुर्थ अंक में ह्रासोन्मुख वैभव एवं क्षीण शारीरिक सौन्दर्य के वाद दर्पण में देखते हुए कहता है:

was this the face
That every day under his household roof
Did keep thousand men ? was this the face
that like the sun did make beholders wink ?

---

1 William shakespeare : Dr. V. Rai, P. 215.
2 Macbeth : Act 5; Scene 5.

Is 'this the Face which faced so many follies
That was at last out-faced by Baling broke ?
A brittle glory shineth in this face;
A brittle as the glory is the face.[1]

निश्चय ही यह जीवन, जगत की सत्ता के प्रति एक सन्देह को_व्यक्त करता है । क्या जीवन परिकल्पना सत्य है या स्वप्न; Is it a dreem or reality, Do I wake or sleep.[2] हेम्पेस्ट के प्रास्पेरो की उक्ति है :

We are such stuff
As dreams are made on
And little life is
Round with a sleep.[3]

जीवन सत्य है या स्वप्न, प्रतिविम्ब है या मूल रूप, यह वचन और स्पष्टीकरण चाहता है । इसके लिए दर्पग का ही रूपक लें । एक दर्पण में दर्पण लिए हुए व्यवित अपना प्रतिविम्ब देखता है । यहाँ समस्या दर्पण में पड़े अपने प्रतिबिम्ब के वास्तविक अस्तित्व की है । क्या दर्पण का प्रतिविंव वैसा ही है जैसा व्यक्ति है, अगर है तो क्या उसकी जीवन्त सत्ता है ? वस्तु स्थिति ऐसी नहीं है । दर्पण का प्रतिबिंब तो भूल की छाया है । वह सत्य नहीं है, मूल सत्ता का प्रतिभासित रूप है । जैसे प्रतिबिम्ब सत्य नहीं है । वैसे ही जीवन परम सत्ता का प्रतिविम्बात्मक रूपायन है । अतः यह भी सत्य से दूर हुआ । इस प्रकार व्यक्ति जिस जीवन को जी रहा है और जिस जीवन को जीने की कल्पना में अपने 'स्व' की प्रतीति की संभावनाओं को, सोचता है, ये दोनों असत्य की भूमिका है । जो कुछ भी है, वह मात्र रंगमंच पर किये गये हैमलेट, किंगलियर, प्रास्पेरो, मीराण्डा, ओफेलिया, डेस्डिमोना का अनुकरणात्मक प्रस्तुतीकरण । इस प्रकार जीवन भी अनुकरणात्मक कृत्यों का प्रस्तुतीकरण है ।

All the world's a stage
And all the men and women merely players.
They have their exists and their entrances
And one man in his time plays many parts.[4]

क्या जीवन सत्य है या स्वप्न, लगता है ऐसा सन्देह शेक्सपीयर के मन में था जो उसकी ट्रेजडीज से लेकर लास्ट कामेडीज तक घूमता हुआ अन्ततोगत्वा एक संगीतमय सामंजस्य (Musical Raconcilition) में परिणति पाता है ।

---

[1] Richard Second, Act 5; Scene 1
[2] Keats :
[3] Tempest; Act IV, Scene 1
[4] As you like it act : 3, Scene 1.

सांमञ्जस्य एवं अभिज्ञान की संगति की प्रतीति [Harmory of Reconcilition and rccognition]

कालिदास और शेक्सपयिर में सामंजस्य (Reconcilition) और अभिज्ञान की प्रतीति है। सामंजस्य दो विरोधी तत्त्वों के समन्वय से सम्भूत संगति (Harmony) है, जिससे समूची सृष्टि में एक व्यवस्था (order) संगीत, लय, की प्रतीति होती है। समूची सृष्टि में द्वन्द्वों के समाहार से ही एक विश्वव्यापी छन्दधारा प्रवाहित होती है। सब जगह यही छन्द धारा एक संगीत लाती है। जहाँ भी संगीत टूटता है, छन्द बाधित होता है, जीवन में विद्रूप फैलता है। अन्तर्जगत और बाह्य जगत में एक समन्वय है। जीवन का सामरस्य बाह्य और अन्तर्जगत की छन्दधारा के समन्वय में ही है। व्यक्ति और समूह की इच्छा का आनुकूल्य ही मंगल विधायक है। कालिदास की जीवन दृष्टि इसी के अनुरूप हैं शेक्सपीयर ने भी इसी को व्यक्त करना चाहा है।

द्वन्द्वों का समाहार है : गति-अगति, स्थिति-प्रवाह, जड़-चेतन, अयं-इदं, घृणा, प्रेम, स्वर्ग-मर्त्य, देव-मानव आकाश-पृथ्वी का सम्मिलन और उससे उत्पन्न जीवन की समरसता की अनुभूति, क्योंकि समस्त रूप का आधार ही गति-अगति के द्वन्द्व का मिलन है। जो भी अरूप है, चाहे वह विचार हो या भाव, उसकी मनोज्ञ आकृतिमूलक व्यंजना का हेतु है, चिद् तत्त्व, अचिद्तत्त्व का द्वन्द, क्योंकि पहले मानस कल्प होता है, तब सृष्टि रूप सामने आता है; "चित्ते निवेश्य परिकल्पित सत्व योगाद् रूपोच्चयेन मनसा विधिना कृतानु।" चिद् अचिद् तत्त्व के द्वन्द्व का आशय है—अचिद् तत्त्व जड़ता की ओर आकृष्ट करता है। परिणामतः चिद तत्त्व का गत्यात्मक रूप बाधित होता है जिससे चैतन्य धारा नीचे की ओर मुड़ती है। इससे एक वृत्त बनता है। यही रूप तत्त्व है।[१] सृष्टि में रूप और सौन्दर्य का हेतु उक्त साभंजस्य ही है।

कालिदास और शेक्सपीयर में यह सामंजस्य अनेक रूपों में व्यंजित है। कभी तो इसका प्रतिपालन विचारों की समरसता में होता है, तो कभी द्वन्द्वात्मक भावों के सामंजस्य मे यह प्रतिफलित होता है। अभिज्ञानशाकुन्तलम् पारिवारिक विलगाव की दारुण कथा चित्रित करता है। इसका हेतु दुष्यन्त का शकुन्तला को गलत समझना है। पर जिस प्रकार शेक्सपीयर के नाटकों में चमत्कारिक मिलन से (Miraculous Reunion) एक अभिज्ञान, सामंजस्य एवं क्षमा की प्रतीति होती है, वैसे ही शकुंतला का अभिज्ञान दुष्यन्त को होता है वह परित्यक्त प्रिया-पत्नी के वास्तविक स्वरूप के ज्ञान पर पाश्चाताप करता है। शकुंतला का क्षमादान, दुष्यन्त का अपने स्वरूप का बोध और जीवन की समतल भूमि में अवतरण ये सभी समंजस-सान्तत्व की ओर ही संकेतित करते हैं। प्रास्पेरों का क्षमादान, पास्थ्यूमस का आइमोजन से पुर्नमिलन, पेरीक्लीज द्वारा मेरीना की पहचान ये सब सामंजस्य की ही व्यंजना करते हैं। इसी से प्रोफेसर डाउडन ने कहा है।

"There is a resolution of dissonance, a reconciliation, 'reconciliation word over all, beautiful as the sky......not a

---

१ कालिदास की लालित्य योजना; पृ० ५७ डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी

mere stage necessity or a necessity of composition Resorted to by the dramatist to effect an ending of his play and a little interesting his imagination and his heart. It's significeance here is ethical and spiritual; it is moral necessity."[1]

शेक्सपीयर के अन्तिम चारों नाटकों : पेरीक्लीज, सिम्बेलीन, विन्टर्सटेल, टेम्पेस्ट का मूल विषय (Theme) आकस्मिक दुर्भाग्य, गलत समझ (Misunderstanding) ईर्ष्या, धोखाबाजी और तूफान ग्रस्त नौका डूबने से पारिवारिक विलगाव है जिसका अन्ततोगत्वा एक चमत्कारिक मिलन द्वारा सामंजस्य एवं अभिज्ञान होता है :—

The main theme, it has rightly been pointed out, in all the four plays, is family separation through sudden misfortune, misunder standing, jealousy and fraud or even shipwreek. But this is followed by miraculous reunions so that the crucial scenes here are those of recognition, reconciliction and forgiveness.[2]

अभिज्ञान स्वभाव के साथ ही सत्य की पहचान है। कालिदास शेंक्सपीयर ने इसको नाटकों के माध्यम से व्यक्त करना चाहा है। स्वभाव की पहिचान से अभावों का परिज्ञान होता है। अभाव से सामंजस्य बिगड़ता हैं, छन्द टूटता है। यही सत्य है कि प्रणय का औदात्य रूप के आकर्षण में नहीं अपितु उससे ऊपर उठने में है। रूप पापवृत्ति - को नहीं उभारता, वह तो वृत्तिशोधन कर उन्हें उदात्त करता है ! यदुच्यते पार्वति पापवृत्तये न रूपमित्य व्यभिचारितद्वच : दुष्यन्त शकुंतला का प्रणय अनाहूत रूपाशक्ति से प्रारम्भ होता है। उसका प्रतिफल दोनों भोगते हैं। शकुंतला परित्यक्त होकर दारुण पीड़ा सहती है, पर क्या गलती शकुंतला की हैं। यह ठीक हैं कि उसने आश्रम की नीति का उलंघन किया है, पर प्रणय भी तो मानवीय सहजात वृत्ति है जिसका समुचित प्रकाशन होना चाहिए। शकुंतला ने तो सहजभाव से सम्पर्ण किया। दुष्यन्त उसे भले भूल जाय। सत्य की प्रतीति है—जीवन के स्वस्थ्य मूल्यों की पहिचाना, काम की जगह प्रेम, ईर्ष्या, घृणा के स्थान पर सार्वभौम प्रणय, द्वेष के लिये क्षमादान, इन सबकी अनुभूति जीवन के स्वस्थ मूल्यों का ज्ञान है। आत्मा के आवरण भंग पर व्यक्ति सात्विक हो जाता है। वह समर्थ होकर भी कुछ नहीं करता। प्रास्पेरो अपने प्रतिद्वन्दियों का सब कुछ अनर्थ कर सकता है वह समर्थवान है। पर सत्वस्थ होने के कारण क्षमा करता है जो उसे 'प्रोविडेन्स की जगह पर बैठाना है। शंकुतला दुष्यन्त द्वारा परित्यक्त होकर दारुण पीड़ा सहती है, फिर भी पुनर्मिलन पर वह दुष्यन्त को क्षमा करती है। पास्थ्यूमस अन्ततः अपनी प्रिया-पत्नी आइमोजन की सात्विकता, (सीनसीयारटी, निश्छलता) का अभिज्ञान करता है। पर्डिटा

---

[1] Shakespeare : his mind and Art, P. 406-407, prof Dowden.

[2] William shakespeare, Page. 218, .Dr. V. Rai,

क्रिस्चियन औदात्य को प्राप्त करती है। इस प्रकार की अनेक भाव सत्तायें हैं जिससे व्यक्ति के स्वभाव का अभिज्ञान होता है।

समग्रतः कालिदास और शेक्सपीयर में समञ्जस-शान्तत्व है। उसके द्वारा ही इन दोनों नाटककारों ने समस्त विश्व की अव्यवस्था में संगति, समरसता लानें का प्रयास किया है। दोनों की रचना में पूर्णतः संगीत की लयात्मकता है। पूरा का पूरा नाटक अपनी आन्तरिक लयमयता से विश्व संगीत की उस नादमयता की ओर ईशारा करता है जो ब्रह्म का ही स्वरूप है और जहाँ कोई अव्यवस्था नहीं है—एक ही तत्व की स्थिर भाव सत्ता है और वह तत्व है समंजस शान्तत्व। संसार संगीत है, मैं भी संगीत हूँ, यही उसका व्रत है : "हरन्ति सर्वमस्मीत्युपासीत तदव्रतम् तद्व्रतम्" ।[१]

विरोध—वैषम्य : स्वभाव का दर्पण :

विरोध—वैषम्य के द्वारा दो विपरीत गुण—धर्म वाले तत्वों को एक साथ रखकर अच्छी गुण—र्धामिता की विजय-श्री दिखायी जाती है। इससे जगत में व्याप्त अव्यवस्था-वैषम्य में संगति और सामंजस्य के लिए मार्ग प्रशस्त होता है। कालिदास और शेक्सपीयर ने इसका अनुगमन किया है। अभिज्ञान शाकुन्तलम् का प्रथम अंक आश्रम की पवित्रता, विश्वास परायणता एवं प्राकृतिक सुषमा को लिए दिये चित्रित है। ऐसे ही वातावरण में शकुतला का पल्लवन होता है। यह आश्रम ऐसा है जहाँ मृगी कृष्णसार मृग की एक नुकीली सींग पर बिना भय अपनी बाँयी आँख को खुजलाये जा रही है – यह विश्वास परा-यणता की चरम भूमि है। तनिक भी कृष्ण मृग हिला नही कि मृगी के नेंत्र फूट जायेंगे। पर विश्वास परायण प्रेम-क्रीड़ा में छल, प्रपंच, प्रवंचना, अविश्वास कहाँ है :

> कार्यासैकतलीन हंस मिथुना स्रोतो वहा मालिनी
> पादास्तामभितो निष्णहरिणा गौरी गुरोः पावना :
> शाखालंबितवल्कलस्य च तरोनिर्मातुमिच्छाम्यधः
> शृंगे कृष्ण मृगस्य वामनयनं कण्डूयमानां मृगीम्[२]

ऐसे वातावरण में पलित शकुन्तला का दुष्यन्त परित्याग करता है। शकुन्तला ने तो पूर्ण विश्वास के साथ समर्पण किया था—क्या पता कि उसकी आँख ही फूट जायेगी। दुष्यन्त ने उसकी आँख असावधानी से नहीं धर्म भीरुता के कारण फोड़ी हैं। कहाँ विश्वास का वातावरण और कहाँ अविश्वास का परिवेश। प्रकृति का आभरण धारण करने वाली शकुन्तला को पहली बार नागरक संस्कृति का प्रतीक अँगूठी मिलती है—जहाँ केवल प्रवंचना है, छल है, धोखा है। यह ठीक है कि अंगूठी अभिज्ञान का काम करती है, पर साथ ही प्रत्याख्यान का भी हेतु बनती है। दुष्यन्त के लिए पाश्चाताप का कारण भी वही है, पर विश्वास में अविश्वास का कारण अंगूठी शकुन्तला को प्रिय नहीं—इसी से वह पुनर्मिलन के

---

१. छान्दोग्योपनिषद – २।२१।४।
२. अभिज्ञान शाकुन्तलम्, षष्ठ अंकः, श्लोक १७।

के समय दुष्यन्त द्वारा पुनः पहनाने पर यही कहती है इसका विश्वास नहीं है, आप ही पहने यहां तपोवन और दरबार का वैषम्य स्पष्टतया दृश्य है।

टेम्पेस्ट का द्वीप राजकीय कौटिल्य से दूर है। कैलिबन, एरियल, मीरान्डा इसके वासी हैं। यहाँ एक प्राकृतिक संगीत है। इसी में फरडिनान्ड—मीराण्डा का प्रथम साक्षात्कार होता है—फरडिनान्ड राजपुरुष है, चालाक है, बहुनारी ज्ञाता है, ठीक वैसे ही है जैसे दुष्यन्त बहुपत्नी भोगी हैं पर प्रेमी पति शकुन्तला का है। फरडिनान्ड की उक्ति है :

Amired Miranda
Indeed the top of admiration, warth
What's dearest to the world! Full many a lady
I have ey'd with best regard, and many a time
Th'harmony of their tongues hath into bondage
Brought my too diligent ear; for several virtues
Have I like several women, never any
With so full soul, but some object in her
Did quarrel with the noblest grace she ow'd
And put it to the soil, but you, O you
So perfect and so pearless are created of every creature's
best.[1]

पर मीरान्डा एक दम भोली है :

I did not know one of my sex, no woman's face remember
Save from my glass, mine own, nor have I seen
More that I may call men than your good friend
And my dear father.[2]

ऐसी मीराण्डा बहुनारी ज्ञानी फरडिनान्ड को समर्पित है :

I am your wife, If you will marry me
If not, I'll die your maid. To be your fellow
You may deny me; but I shalll be your servant
Whether you will or no.[3]

दुष्यन्त का कथन : "वयं तत्वान्वेषान्मधुकर हतास्त्वं खलुकृती"[4] ह पर शकुंतला तो अनाघ्रात पुष्प ह :—

---

[1] Tempest. Act. 3. Scene 1.
[2] Tempest. Act. 3. Scene 1.
[3] Tempest. Act. 3. Scene 1.
[4] अभिज्ञानशाकुन्तलम्, प्रथमअंक, श्लोक २२,

"अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनंकररूहै
रनाविद्धं रत्नं मधुनवमनास्वादितरसम् ।
अखण्डं पुण्यानां फलमिवच तद्रूपमनधं ।
न जाने भोक्तारं कमिहसमुपस्थास्यति विधिः[१] ।।

विरोध है दुष्यन्त शकुंतला की प्रवृति, फरडिनान्ड मीरान्डा के स्वभाव में, पर प्रणय की भूमि पर समूची असमानता समाप्त हो जाती है। सारा गौरव, कौटिल्य 'सरसिजमनु विद्ध शव ले नापिरम्यं मलिनमपि हिमाशोर्लक्ष्म लक्ष्मी तनोति, इयमधिकमनोज्ञावल्कले नापितन्वी'[२] । शंकुतला के दर्शन पर समाप्त हो जाता है। शेक्सपीयर की पवित्रात्मा मेरीना चकला (वेश्यालय) में रहती है। यह वस्तुतः शुद्धात्मा का नरक में अवतरण है, जिससे वह अपनी पवित्रता की परीक्षा देकर खरी उत्तर सके। चरित्रों की अवधारणा में भी वैष्म्य है। इसी नाटक में दुष्ट पिता के अपनी लड़की से अनैतिक संबंधो के विपरीत ऐसे पिता का चरित्र आया है, जो अपनी लड़की को एकस्वर्गीय वरदान, ज्योति एवं जीवन-प्रकाश के रूप में देखता है। यहाँ दुष्टरानी के विपरीत अच्छी महारानी, अंधकार की अपेक्षा प्रकाश, मृत्यु के विपरीत पुनर्जन्म, उद्वेलन की अपेक्षा शान्त संगीत का अंकन महत्त्वपूर्ण है।

उद्धारक का प्रतीकः नारी

कालिदास और शेक्सपीयर को मनुष्य को उदात्त बनाना लक्ष्य है। इसलिये उनकी रचना में परिवर्तन की दृष्टि से मनुष्य प्रमुख है। उनकी वृत्ति शोधन के लिए नारी प्रस्तुत है। समूची रचना में परिवर्तन मानवीय वृत्ति का होता है। नारी अपने त्याग, तपस्या, शील से प्रभावित कर मनुष्य को उदात्त बनाती है। ऐसे इनके नाटकों में नारी के दोनों रूपों : प्रमदा या छलना (Temprcss) और ज्योति स्वरूपा का चित्र उभारा गया है। मदविह्वला प्रमदाये भोग द्वारा विनाश का हेतु बनती ह। रघुवंश का अग्निवर्ण मद-विह्वला घूर्णित नेत्रों वाली प्रमदाओं के पाश में बँधकर बिना प्रजा [सन्तान] जो प्रणय का शिव तत्व है, का मुख देखे ही मर जाता है। एनटानी क्लिओपाट्रा की रूप मादकता में अपना जीवन नष्ट करता है। कामद दृष्टि से मुक्त शुद्ध प्रणय की चेतना से दृश्य नारी, उसका रूप, व्यक्ति की वृत्तियों का शोधन करता है। पार्वती, शकुंतला ऐसी ही हैं जो प्रणय के शिवत्व को साक्षात् करते हुए मानवीय चेतना का ऊर्ध्वीकरण करती हैं। आइमोजन, पर्डिटा ऐसी ही नारियाँ हैं, जिनके दर्शन से वृत्तियाँ परिशोधित होती हैं।

गेटे ने 'शकुन्तला' में एक विकास का इतिहास देखा है। यह विकास फूल का फल में परिणत हो जाना, पृथ्वी का स्वर्ग में पर्यावसित हो जाना है। जड़ द्रव्य का चेतनात्मा में विलीन हो जाना है। 'यदि तुम वसन्त के फूल तथा शीत ऋतु के फल चाहते हो और

---

१. अभिज्ञान शाकुंतल, द्वितीय अंक, श्लोक १०
२. वही ,, प्रथम अंक, श्लोक १९

आत्मा को मोहित करने वाला, प्रसन्न करने वाला एवं उसी तरह से पुष्ट करने करने वाला रसायन तथा पृथ्वी' एवं स्वर्ग का सम्मिलन, ये सभी बातें एक जगह देखना देखना चाहते हो तो शकुन्तला का अध्ययन करो और वहाँ ये सब तत्व तुम्हें मिल जायेगें।"[१] स्पष्ट है इसमें एक आरोहण है। यह आरोहण भोग से ऊपर त्याग, काम से ऊपर प्रेम, जडता से ऊपर चैतन्य की ओर है। इससे कालिदास में सहजात मानस विकारों का उदात्तीकरण मिलता है, जिससे रूप के सम्मोहन की अपेक्षा आत्मा के उल्लास एवं आह्लाद का आनन्द व्यंजित है। सुख की अनुभूति इन्द्रियानुभवगम्य ह। आनन्द आत्मा के आह्लाद का स्फुरण है। कालिदास की रूप चिन्ता में वैष्णवी-उल्लास-आनन्द की व्यंजना है, जिससे पाप की भावना से मुक्त जीवन की कल्पना साकार हो उठती है। इसी दृष्टि को पाकर गेटे का सम्पूर्ण व्यक्तित्व शकुंतला के दर्शन पर झंकृत हो उठा था। शेक्सपीयर की रूप चिन्ता भी वृत्तियों का उदात्तीकरण करती है, पर उसका आयाम भिन्न है। वह आंगिक स्तर पर देहज सौन्दर्य का रूपायन है, पर उसे ही विवेचन द्वारा शोधित कर मनोज्ञ एवं उदात्त बना दिया गया है। मीराण्डा; ओफेलिया, डेस्डिमोना, कार्डेलिया का रूप सौन्दर्य दैहिक संवेदन के आधार पर ग्रहीत आंगिक उल्लास का प्रतिफलन है। फिर भी ईसाई धर्म-दृष्टि का प्रतिमान : सौन्दर्य पाप है, जीवन की पाप मुक्त कल्पना प्रस्तुत नहीं करने देता, क्योंकि किसी न किसी प्रकार पापमयता की प्रतीति से व्याकुल नायिकाओं में सम्पूर्ण व्यक्तित्व के विकास की अपेक्षा विभाजित व्यक्तित्व ही उभरता है। शकुंतला और मीराण्डा म सहज सौन्दर्य है, पर शकुंतला जिस अनुपम नैसर्गिक लोक का संस्पर्श कराती है, वह मीराण्डा नहीं करा पाती। शकुंतला का सौन्दर्य 'अनाघ्रात पुष्पं, किसलयमलूनं कररूहै-रनाविद्धं रत्नंमधुनवमना स्वादितरसम् अखण्डं पुण्यानां फलमिव च तद्रूपमनर्घं" है, पर आइमोजन का रूप सौन्दर्य उक्त नैसर्गिक पवित्रता को नहीं उभार पाता :

It is her breathing that
Perfumes the chamber thus the flame 'O' the tap'r
Bows towards her and would underpeep her lids
To see the enclosed lights, now canapied
Under these windows while and azure, lac'd
With blue of heaven's own trict"[२]....

पर इसका आशय यह नहीं कि शेक्सपीयर का रूप जड़ता का प्रतीक है। क्योंकि पर्डिटा के रूप श्री (grace) में जिस क्रिश्चियन औदात्य का दर्शन होता है वह जड़ता नहीं, आत्मा

---

[१] "वासन्तं कुसुमं फलं च युगपद् ग्रीष्मस्य सर्वं च यद्
याच्चान्यन्मनसो रसायनमतः सन्तर्पणं मोहनम्
एकीभूतमभूतपूर्वमथवा स्वर्लेकि भलोकयो-
रैश्वर्यं यदि वाच्छसि प्रिय सखे शाकुन्तलं सेव्यताम्।"
महाकवि कालिदास : डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी, पृ० १९० से उद्धृत।।

[२] Cymbeline, Shekespeare.

की मुक्ति की ओर इशारा करता है। वस्तुतः रूप श्री (grace) पडिटा में प्रतीकित है। इसी आधार पर मिस माहूड़ की उक्ति है :

> The presiding diety of the play may be Apollo, but the Christian scheme of redemption is a leading element, though not by any means the only element, in its pattern of ideas. Grace with gracious, a Key word in the play, is frequently used in the theological sense of 'the divine influence which operates in men to regenerate and sanctify[1].''

इस प्रकार स्पष्ट है कि 'ग्रेस' का प्रतीक नारी है, जो मुक्ति दीला सकती है, पापमयता से आक्रान्त जीवन, मुक्ति के लिये छटपटाता प्राण, इसी नारीत्व से मुक्ति पा सकता है।

शकुंतला का त्याग, शील और कष्ट दुष्यन्त के हृदय को निर्मल बनाता है। उसके पाश्चाताप और व्याकुलता का तूफान पुरानी प्रणय स्मृति में शान्त हो जाता है। पुर्नमिलनोपरान्त वह एक उदात्त नायक हो गया है। इस समय वह केवल प्रेमी ही नहीं, राजा ही नहीं है, अपितु उसके प्रेमी हृदय का सम्मिलन उसके अन्तर के पितृ हृदय से हो गया है। उसकी वृतियाँ इतनी कोमल हो गयी ह कि अन्तःकरण की प्रवृत्तियों को 'प्रमाण मानने वाले दुष्यन्त के अन्तःकरण में ही वह अभिनव ज्ञान जाग्रत हुआ कि वह केवल किसी कामिनी का काम्य कान्त ही नहीं है, अपितु पृथ्वी पति तथा पितरों के निरन्तर तर्पण का उत्तरदायी भी है।''[2] अन्तःकरण में अभिज्ञान जागरण का हेतु शकुंतला है। इसी अभिज्ञान ने दुष्यन्त को अपराध-स्वीकृति और परिमार्जन की प्रेरणा दिया है। एक दुष्यन्त वह था जिसने अपनी ही प्रिया-पत्नी को कहा था शान्तं पापम् —

> व्यपदेशमाविलपुटं किमीहसे जनमिमं च पातयितुम्।
> कूलंकषेव सिन्धुः प्रसन्नमम्भस्तटतरुं च ।।[3]

आज वही चिदावरण भंग पर शकुंतला का आँसू पोछने की कामना करता है :

> मोहान्मया सुतनु पूर्वमुपेक्षितस्ते यो वाष्पविन्दुरधरं परिवाधमानः।
> तं तावदाकुटिलपक्ष्म विलग्नमद्य वाष्पम् प्रमृज्य विगतानुशयो भवेयम् ।।[4]

'सिम्बेलीन' का 'पास्थ्यूमस' 'आइमोजन' की एकनिष्ठ तपस्या से परिशोधित होकर पाश्चाताप करता है। उसकी प्रिया-पत्नी आइयोजन मरणोन्मुखता से अपनी एक निष्ठता को प्रकट करती है। आइमोजन का अपर्थाथ अपवादों से भरा परित्यक्त जीवन, उसकी पति के प्रति सच्चाई, विप्रलंभ की अन्तर्वेदना एव अन्ततोगत्वा एकनिष्ठ प्रेम में प्राणोत्सर्ग

---

[1] Shakespeare's word play P. 150-51.

[2] महाकवि कालिदास; डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी; पृ० १८८।

[3] अभिज्ञान शाकुंनलम् अंक ५।२१।

[4] अभिज्ञान शाकुन्तलम् अंक ७।२५।

की प्रवृत्ति, उसकी तपस्या की उत्कृष्टता का व्यंजक है जो अन्त में एक सामंजस्य एवं आध्यात्मिक पुनर्जन्म की गति की दिशा का निर्देश कर रहा है। आइमोजन के शील, कष्ट, पवित्रता से पास्थ्यूमस का चिदाभरण भंग होता है। वह पाश्चाताप की ज्वाला में चीख उठता हैं :

'O give me cord or knife or poison
Some up right justice, thou king send out
Far Tartures in jenious'[1]
E.T.c.

अन्त मे अभिज्ञान एवं पुर्नमिलन का दृश्य पास्थ्यूमस के अपरिमित आनन्दउल्लास को व्यक्त करता है। यह आनन्द उसके सत्वस्थ चित्त का स्फुरण है :

See
Posthumus anchois up on Imagen
And she like harmless lighting throws her eye
On him, her brothers, me, her master, hitting
Each object with a joy.[2]

कहने का आशय है जैसे गेटे का 'फाउस्ट' और दान्ते की 'डिवाइनाकामेडीया' में नारी उद्धारक बनती है, वैसे ही शेक्सपीयर के अन्तिम सुखान्त नाटकों में नारी उद्धारक का काम करती है।

नाटकीय मानदण्डों की आधार भूमि :—

कालिदास–शेक्सपीयर ने अपनी जातीय परम्परा के अनुरूप नाट्य प्रतिमानों के आधार पर नाटक की रचना की हैं। स्पष्ट है संस्कृत एवं एलिज़ावेथन नाटक का पूरा पैटर्न रोमांटिक रहा है। इसीसे संस्कृत नाटकों का साम्य यूनानी नाटकों की अपेक्षा एलिजा-वेथन नाटकों से अधिक है। समय, स्थान की अन्विति, विभिन्न अंकों एवं वस्तु विन्यास की रचना में क्लासिकी अनुबन्धों की अवहेलना शेक्शपीयर-कालिदास में है। फिर भी दोनों की नाट्य रचनाओं में एक आन्तरिक संगीत, सामंजस्य है, वह कथावस्तु, कथानक, काल, स्थान के अतार्किक (Illogical) और उखड़खावड़ होने पर भी विश्वव्यापी संगीतात्मक अन्विति को प्रस्तुत करता है। शैक्सपीयर के लास्ट कामेडीज के संबंध में मोल्टन की स्पष्ट उक्ति है कि ये अन्तिम सुखान्त नाटक समज्जस-शान्तत्व (Comedy of Equilibrium) के नाटक हैं। इलियट ने एलिजाबेथन ड्रामा पर चिन्तन करते हुए कहा है कि समस्त कथावस्तु विन्यासगत विश्रृंखलता के होते हुए भी उनकी एक आन्तरिक लय है जो समस्त विश्वव्यापी अव्यवस्था में व्यवस्था, तूफान में संगीत, उद्वेलन में शान्तत्व और विरोधों में सामंजस्य की प्रतीति कराता है। जिस समज्जस (Equilibrium)

---

[1] Cymbcline. Shakespeare.
[2] Cymbeline. Shakespeare.

को भारतीय चिन्ताधारा और नाट्चरस परम्परा विशेष महत्त्व देती है, वह शान्तत्व, सामंजस्य, समरमता शेक्सपीयर-कालिदास की रचनाओं में है। अभिज्ञान शाकुंतलम् पेरीक्लीज, सिम्बेलीन, टेम्पेस्ट उक्त तथ्य को सम्यक् रूप से व्यक्त करते हैं। टेम्पेस्ट की कथावस्तु तो अतार्किक हैं, उसमें नाटकीय संघर्ष द्वन्द्व, जटिल कथावस्तु विन्यास का अभाव है फिर भी उसकी जो अपनी आन्तरिक लयमयता है, वह व्याप्त अव्यवस्था (chaos) में व्यवस्था की संगति को प्रतीकित करने में पूर्ण समर्थ है। शेक्सपीयर के अन्तिम सुखान्त नाटकों में सर्वत्र एक संगीत है।[१] संगीत दुःख पर विजय पाता है,

(Hormony) उद्वेलित चित्त को शान्त करता है :

"Mark How one string, sweet husband to another
Strikes each in each by mutual ordering
Resembling sire and child and happy mother
Who all in one, one pleasing note do sing.

कालिदास के अभिज्ञान शाकुंतलम् और शेक्सपीयर के नाटकों में अल्पवयस्क बालकों का प्रयोग है। इसी प्रकार मसखरे [fools] और विदुषकों का प्रयोग भी दोनों के नाटकों में है। नाटकों में पात्रों की संख्या के लिये कोई नियम नहीं है। वे मानवीय, दैवी, अर्वदैवी सब हो सकते हैं। शाकुंतलम् , विक्रमोर्वशी में इसकी नियोजना है। इस संदर्भ में शेक्सपीयर के टेम्पेस्ट के कैलविन, ऐरीयल विशेष उल्लेखनीय है। कालिदास-शेक्सपीयर के नाटकों में प्रयुक्त स्मृति चिह्न, अलौकिक कृत्यों एवं घटनाओं द्वारा अभिज्ञान का संकेत भी साम्य रखता है।

पाश्चात्य नाट्च प्रतिमान में चरित्र, कार्य एवं घटना के प्रत्यक्ष यथातथ्य चित्रण द्वारा मानवीय जीवन का प्रतिबिम्ब प्रस्तुत किया जाता है : इसी से शेक्सपियर के नाटकों में मनुष्य जैसा जीवन जी रहा है, वही है। उसमें परलोक तत्त्व का चिन्तन नहीं है। इसी मानववादी दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर ब्रेडले ने इसके नाटकों को परलोक चिन्तन से भिन्न मानवजीवन को केन्द्रबिन्दु मानकर संरचित नाटक कहा है। इस दृष्टि से शेक्सपीयर इस लोकवादी दृष्टिकोण का मर्मी कवि है, नाटककार है। शेक्सपीयर जहाँ यथार्थवादी कलाकार हैं, वहीं दूसरी तरफ कालिदास आदर्श सौन्दर्य दिहृक्षा से उत्प्रेरित

[१] Music sounds everywhere in the last plays : as song, as instrument, as metaphor, as idea......... It is the salver of mysteries, the smoother of waves. And it is the maker of Shakespeare's last great poetry. For his final writing, congested as it sometimes is, gleams with lines whose effortlessness is not in consistent with the richest and the mellowest of ambiguities. There meaning is like music's meaning clear yet full fathoms deep. Mark Van Daren : Shakespeare, P. 295-90.

कवि नाटककार हैं। नतिक मूल्यों की समस्या दोनों के सामने है—काव्य का स्थायी मूल्य क्या हो, जीवन क्या है, उसे क्या होना चाहिए ? इन सभी मूल्यों को प्रतिबिम्बित करने के लिये दोनों ने सचेतन प्रयास किया है। आश्रम की मर्यादा का उलंघन, रूप के उद्दाम वेग का प्रतिफल, ऐश्वर्य भोगलिप्सा के अतिचार का फल, ये सब नैतिक मूल्यों की ओर संकेत करते हैं। शेक्सपीयर में मानवीय संबंधों में कटुता लाने के दो ही हेतु हैं : प्रथमत: प्रणय की अपेक्षा अनियंत्रित उद्दाम भोगलिप्सा, दूसरा है मनुष्यता के बदले अनियंत्रित धनलिप्सा और प्रतिष्ठा। एन्टानी क्लिओपाट्रा का नायक दुश्चरित्र नारी के चक्कर में पड़कर अपना जीवन नष्ट करता है। रिचर्डस की सर्वस्व ग्राही प्रवृत्ति, किंग-तियर में अर्थलिप्सा और क्रूरता, टेम्पेस्ट में ऐश्वर्य की प्रतिष्ठा के लिए अपने ही रक्त को दूसरे से मिलकर राज्य बहिष्कृत करता है। ये सभी मानव के नैतिक मूल्यों के प्रति सचेत करते हैं।

कालिदास–शेक्सपीयर की रचनायें चरमसत्ता के उच्चतम अभिज्ञान के प्रतिफल हैं। दोनों नाटकारों ने अपनी उच्च अनुभूतियों को ऐंसी अभिव्यक्ति दी है जिससे उनकी संस्कृति एवं जातीय जीवन की सम्यक् व्यंजना होती है। इसके काव्य में मानवीय भावनायें, जीवन की गहनतम अनुभूतियों, उदात्त विचार, आदर्श जीवन मूल्यों को स्थायी अभिव्यक्ति दीं गयी है। लक्ष्य की प्राप्ति के आयाम भिन्न होते हुए भी काम्य वस्तु शिवत्व और जीवन सौन्दर्य ही हैं। समष्टिगत मांगल्य की योजना ही उनके काव्य को सार्वभौम एवं शाश्वत बनाती हैं। राजशेखर की उक्ति है :

एकस्य तिष्ठति कवेर्गृह एव काव्य–
मन्यस्य गच्छति सुहृद्भवनानि यावत्।
न्यस्याविदग्धवदनेषु पदानि शाश्वंत
कस्यापि संचरित विश्वकुतूहलीव ॥

कालिदास–शेक्सपीयर के नाटक, उनका काव्य विश्वकुतूहलीव ही है।

—०—

डॉ० जनार्दन उपाध्याय
प्राच्य विद्या एवं धर्म विज्ञान संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

काशी के घाट—एक वैज्ञानिक विश्लेषण

डा० धनवन्त किशोर गुप्त

काशी हिन्दुओं का सबसे पवित्र तीर्थ है। यह भगवान शिव की नगरी है। यह नगरी परम पावनी मोक्ष दायिनी गंगा नदी के किनारे बसी हुई है। हिन्दुओं के लिये इस स्थान पर गंगा में एक बार स्नान करना ही सब पापों से छुटकारा दिलाने वाला है। इसके घाटों की शोभा संसार में अद्वितीय है। अत्यन्त प्राचीन काल से केवल भारत वर्ष ही नहीं, समस्त संसार के यात्री काशी आकर इसके घाटों का सौंदर्य पान करते रहे हैं। पिछली शताब्दियों में अनेक यूरोपियन चित्रकारों ने भी यहाँ के घाटों का अत्यन्त मनोहारी चित्रांकन किया है।

काशी नगरी के महत्व का मुख्य कारण गंगा नदी है जिसके किनारे पर यह बसी है। इस नगरी को भारतीय विद्या, संस्कृति तथा धर्म का केन्द्र बनाने में इस परम पावनी गंगा नदी का विशेष योगदान है। अब प्रश्न यह है कि यद्यपि गंगा नदी अनेक नगरों तथा तीर्थों से होकर गुजरती है, फिर काशी नगरी को ही यह विशेष महिमा क्यों प्राप्त हुई है। निश्चय ही इस प्रश्न का उत्तर अनेक प्रकार से दिया जा सकता है। धार्मिक दृष्टि-कोण से इसका महत्व पुराणों में दिया गया है। जरी, बनारसी साड़ी आदि के उद्योगों के दृष्टिकोण से यह एक महत्वपूर्ण व्यापारिक केन्द्र भी है। परन्तु इन सबका मूल कारण कदाचित् काशी नगरी के पास गंगा नदी की विशेष भौगोलिक स्थिति है। यदि इस नगरी की स्थिति तथा यहाँ पर गंगा नदी की धारा आदि का वैज्ञानिक विश्लेषण किया जाये तब यह बात समझ में आ सकती है कि समस्त भारतवर्ष में काशी नगरी को ही यह विशिष्ट गौरव किस लिये प्राप्त हुआ है।

गंगा का किनारा

अत्यन्त प्राचीन काल से मनुष्य नदी के किनारे बसता आया है क्योंकि नदी से पीने का जल प्राप्त होता था तथा इसके आसपास हरियाली होने से भोजन प्रचुर मात्रा में मिलता था। सभी प्रकार के जानवर नदी में पानी पीने आते थे तथा नदी में मछलियाँ होती थी। अतः शिकार की भी सुविधा होती थी। धीरे-धीरे मनुष्य ने खेती करना सीखा। इससे अब सिंचाई के लिये और अधिक पानी की आवश्यकता पड़ने लगी। फिर मनुष्य अनेक प्रकार के माल लेकर यात्रा करने लगा। अब नदियाँ आवागमन का भी एक सुलभ साधन होने लगीं। फलस्वरूप मनुष्य की नदियों पर निर्भरता बढ़ने लगी। इसलिये सभी प्राचीन नगर नदियों के किनारे ही बसने लगे।

उत्तर वाहिनी गंगा

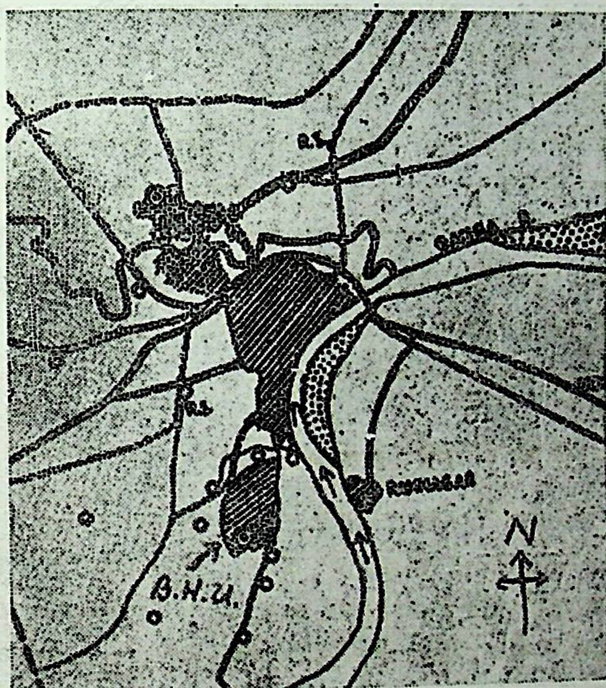
काशी की भौगोलिक स्थिति की कुछ ऐसी विशिष्टताएँ हैं जो उसे प्राचीन काल से एक महत्वपूर्ण नगर बनाने में सहायक हुई हैं। काशी एवं इसके आसपास के मानचित्र से जो बात हम स्पष्ट देखते हैं वह यह है कि काशी के निकट गंगा का बहाव दक्षिण से उत्तर की ओर है इसलिये काशी में गंगा जी को उत्तर वाहिनी कहा जाता है। सामान्यतः गंगा नदी में जल का प्रवाह उत्तर पश्चिम (हिमालय) से दक्षिण-पूर्व (बंगाल की खाड़ी) की ओर होता है। परन्तु यहाँ गंगा का प्रवाह विपरीत दिशा में होने से नदी में धारा बहुत कम हो जाती है। कम धारा होने के कारण मनुष्यों को दैनिक आवश्यकता के लिये पानी प्राप्त करने अथवा नहाने में बहुत सुविधा होती है। इसके अतिरिक्त नावें बाँधने तथा माल चढ़ाने उतारने में भी बहुत अधिक सुविधा होती है। इस प्रकार उत्तर वाहिनी गंगा जी ने काशी को एक अत्यन्त सुविधा जनक बन्दरगाह बना दिया है।

इस प्राकृतिक बन्दरगाह के कारण यह नगर प्राचीन काल से एक बड़ा व्यापारिक केन्द्र रहा है। आसपास के स्थानों से माल यहाँ आता रहा है और नावों द्वारा यह माल अन्य स्थानों पर भेजा जाता रहा है। इसके लिये अनेक व्यापारी यहाँ पर आकर बसने लगे होंगे। व्यापारिक केन्द्र बनने के कारण यहाँ धनी व्यापारियों की संख्या बढ़ने लगी। लोगों को अधिकाधिक रोजगार मिलने लगा अतः यहाँ की जनसंख्या तीव्रता से बढ़ने लगी। फिर कारीगर दूर-दूर से हस्तकला का माल लाकर यहाँ बेंचने के बदले यहीं रहकर माल तैयार करने लगे। धनी व्यापारियों की सुख-सुविधा के लिये अधिक मूल्यवान, अच्छे प्रकार के वस्त्रों एवं अन्य सामानों की माँग बढ़ने लगी। इसलिये यह नगर सभी प्रकार की हस्तकला जैसे, वर्तन, वस्त्र आदि के निर्माण के लिये प्रसिद्ध हो गया।

काशी का धार्मिक तथा सांस्कृतिक महत्व भी बहुत कुछ इसी व्यापारिक उन्नति के कारण हुआ होगा। प्राचीन काल में नावों द्वारा दूर-दूर की यात्रा करने में प्रायः नौकाओं के डूब जाने अथवा लूटे जाने का भय रहता था। जान-माल की रक्षा के लिये व्यापारी ज्योतिषियों से मुहूर्त पूछ कर तथा भगवान की विधिवत् पूजा करके उनका आशीर्वाद प्राप्त करने के पश्चात ही यात्रा प्रारम्भ करते थे। इसके लिये काशी में योग्य ज्योतिषियों एवं ब्राह्मणों का जमघट होने लगा। व्यापारियों ने ईश्वर की कृपा प्राप्त करने के लिये भव्य मन्दिर बनवाने प्रारम्भ किये तथा उनमें दैनिक पूजा आदि के निमित्त अत्यन्त विद्वान ब्राह्मणों को यहाँ आमंत्रित किया। इन ब्राह्मणों ने अपने गुरुकुल चलाये जिसका व्यय यहाँ का व्यापारी वर्ग उठाता था। इसलिये दूर-दूर से विद्वान आकर यहाँ काशी में बसने लगे। समृद्ध वर्ग के लोगों के मनोरंजन एवं उनके बालकों की शिक्षा आदि के लिये अनेक कलाओं में पारंगत गुणी लोग काशी में आश्रय पाने लगे। इस प्रकार काशी धर्म, ज्ञान, तथा कला का भी केन्द्र बन गया। यहाँ के धनी व्यापारी गुणी लोगों का खर्च उठाने की स्थिति में थे इसलिये यह नगर विद्वानों एवं कलाकारों के लिये आश्रय स्थल बन गया।

काशी गंगा के पश्चिमी तट पर बसी है

यह नगर गंगा के पश्चिमी तट पर बसा हुआ है। अतः काशी नगरी के निवासियों को गंगा उस पार पूर्व दिशा में प्रातः उगते हुए सूर्य भगवान के दर्शन होते हैं। अत्यन्त प्राचीन काल से मनुष्य सूर्य का उपासक रहा है। सूर्योदय के साथ ही उसकी दिनचर्या प्रारम्भ होती थी तथा सूर्यास्त होते ही यह समाप्त होती थी। अतः सोये हुए समस्त संसार को जगाने वाला प्रातः उगता हुआ सूर्य उसके लिये सार्व भौम महत्व का था तथा वह उसकी पूजा करता था। आजकल भी लोग प्रातः उगते हुए सूर्य की आराधना करते है। यदि यह नगरी पूर्वी किनारे पर बसी होती तो नदी तट पर से सूर्य के दर्शन आकाश में बहुत ऊँचे चढ़ने पर ही होते। तब प्रातः उगते हुए सूर्य को स्नानार्थी जल न चढ़ा पाते। इस प्रकार पश्चिमी पट पर बसी यह नगरी प्राकृतिक रूप से सूर्य की उपासना के लिये एक आदर्श स्थान है।



इस नगर का मान चित्र देखने से प्रतीत होता है कि यह नगर एक कटाव के किनारे स्थित है। ऐसा प्रतीत होता है कि काशी के घाट एक गोलाकार दर्शकदीर्घा हैं जिसके सामने का रेतीला तट एक प्रकार से नाटक का रंगमंच है। इस रंग मंच पर जब बाल रवि का आगमन होता है तो उसके दर्शनों के लिये इस नगरी के निवासी नदी तट पर एकत्र हो जाते हैं। यह स्थिति प्राचीन काल से काशी नगरी का महत्व बढ़ाने में प्रमुख भूमिका अदा करती रही है।

काशी नगरी नदी के सामान्य जल स्तर से १५ मीटर ऊँचे टीले पर स्थित है

काशी नगरी के निकट भू-संरचना इस प्रकार है कि नदी का पश्चिमी (बायाँ) किनारा लगभग १५ मीटर ऊँचा है। इस ऊँचाई पर बसा हुआ नगर नदी में आने वाली

बाढ़ की प्रलय लीलाओं से बचा रहता है। सामने का समतल मैदान (गंगा पार की रेती) भी काशी नगरी को बाढ़ से बचाने में सहायक होता है। बाढ़ का पानी सामने की ओर फैलने लगता है। इस फैलाव के फलस्वरूप जलस्तर बहुत अधिक ऊँचा नहीं उठ पाता है। इसके कारण काशी नगरी में बाढ़ का प्रकोप बहुत भयंकर नहीं होता। इसलिये यहां के निवासी तथा उनकी संपत्ति आदि बाढ़ के प्रकोप से एक सीमा तक बचे रहते हैं।

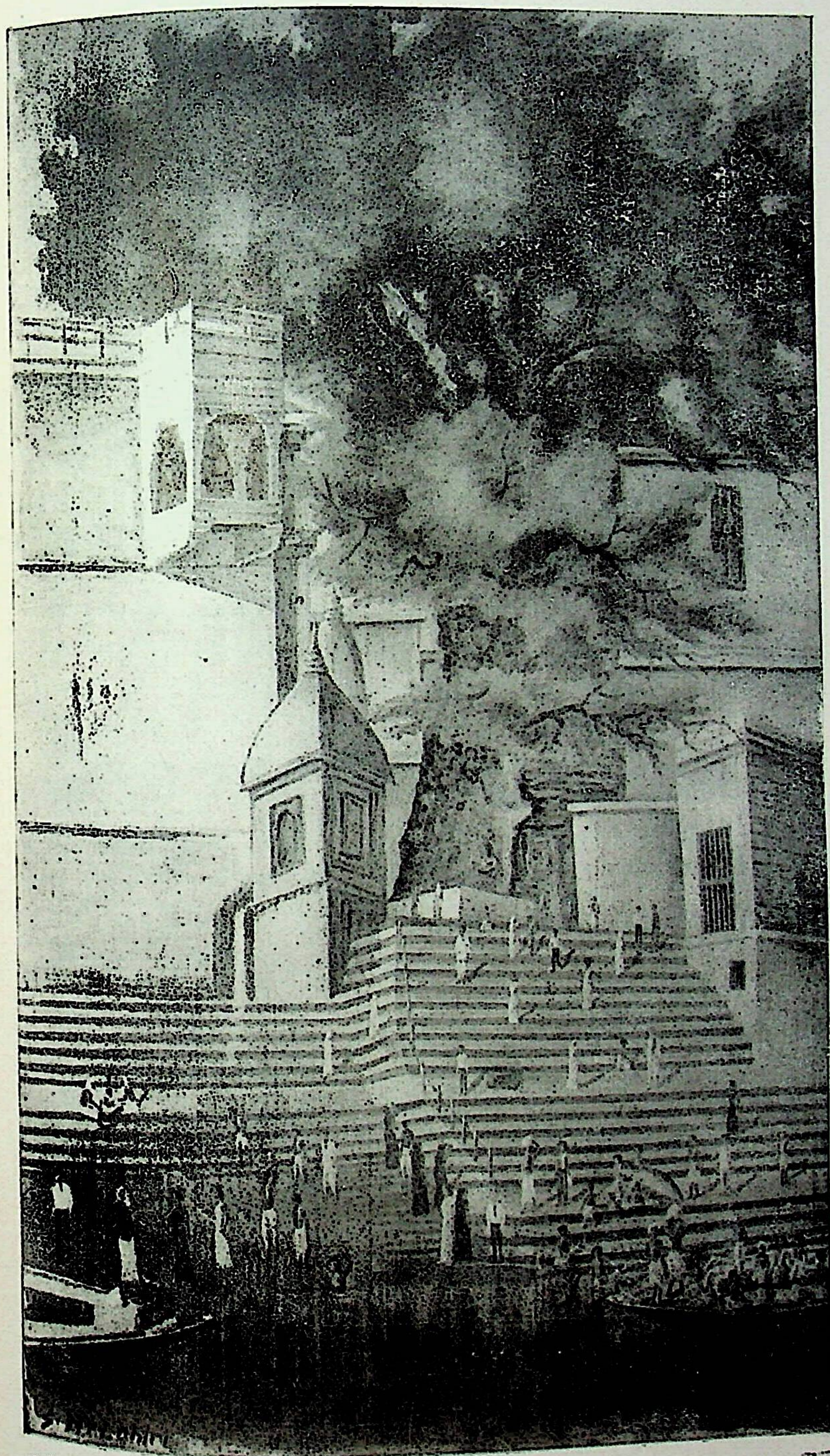
काशी नगरी एक प्राकृतिक किले की भाँति है

काशी नगरी का मान-चित्र देखने से यह स्पष्ट होता है कि यह नगरी तीन ओर से नदियों से घिरी है। नगर के पूर्वी सिरे पर गंगा नदी मुख्य हैं। इसके अतिरिक्त उत्तरी सिरे पर वरुणा नदी तथा दक्षिणी सिरे पर अस्सी नदी है। आज कल का यह छोटा सा अस्सी नाला प्राचीन काल में अपेक्षाकृत महत्वपूर्ण नदी रही होगी। तीन ओर से नदियों से घिरा हुआ, बीच में ऊँचे टीले पर बसा हुआ यह नगर एक प्राकृतिक किले की भांति है। प्राचीन काल में ये तीनों नदियाँ इस किले के चारो ओर पानी से भरी खाई की भांति इस नगर के निवासियों की शत्रुओं तथा हिंसक पशुओं से रक्षा करती थीं। इसके अतिरिक्त ऊपर टीले पर स्थित लोग सामने नदी से या पार से आने वाले शत्रुओं को दूर से देख सकते थे और उन पर तीरों भालों आदि से वार कर सकते थे। इसके विपरीत नीचे से आने वाले शत्रुओं के लिये ऊपर ऊँचाई में स्थित लोगों पर हमला करना अपेक्षाकृत कठिन होता था। यह अतिरिक्त सैन्य सुरक्षा प्राचीन काल में काशी के निवासियों के जीवन को निरापद एवं समृद्ध बनाने में अत्यन्त महत्वपूर्ण योगदान करती थी।

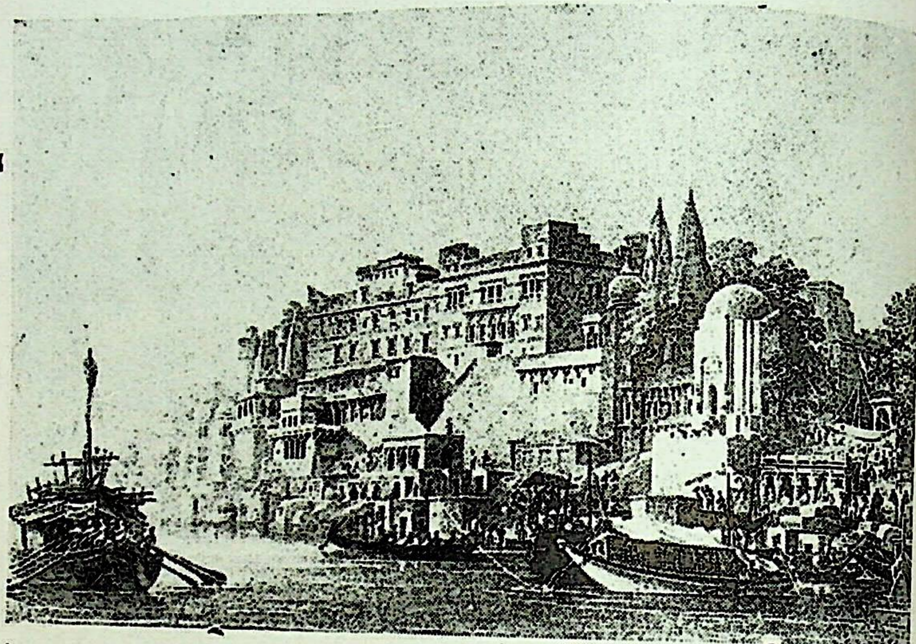
गंगा जी सदैव नगर तट से सटी हुई बहती हैं

अधिकांश नदियाँ सीधी रेखा में न बह कर सर्पिलाकार बहती हैं। नदियों के इस टेढ़े-मेढ़े मार्ग का कारण जल प्रवाह की द्रव गतिकी, किसी स्थान की भूमि संरचना तथा जल प्रवाह की दिशा आदि होते हैं। नदियाँ अपने मार्ग में कहीं-कहीं थोड़ी दूर सीधी भी बहती हैं। कभी-कभी नदियाँ अनेक भौगोलिक कारणों से अपना मार्ग बदलने लगती हैं। यदि यह मार्ग-परिवर्तन खेतों अथवा खुली जमीन में हो, तब किसी एक ओर का किनारा कटने लगता है। नदी उस किनारे की मिट्टी अपने साथ बहाती हुई नया मार्ग बनाती चलती है। दूसरे किनारे से नदी दूर हटने लगती है अतः वहाँ मिट्टी जमने लगती है तथा नई जमीन निकल आती है जिसे दिआरा कहते हैं। नगर के निकट नदी अपना मार्ग परिवर्तन करे तो वह नगर से केवल दूर हट सकती है। जहाँ पक्के घाट बने होंगे वहाँ घाट को काटना कठिन होता है। अतः नदी नगर के भीतर धँसती जाये इसकी सम्भावना कम होती है।

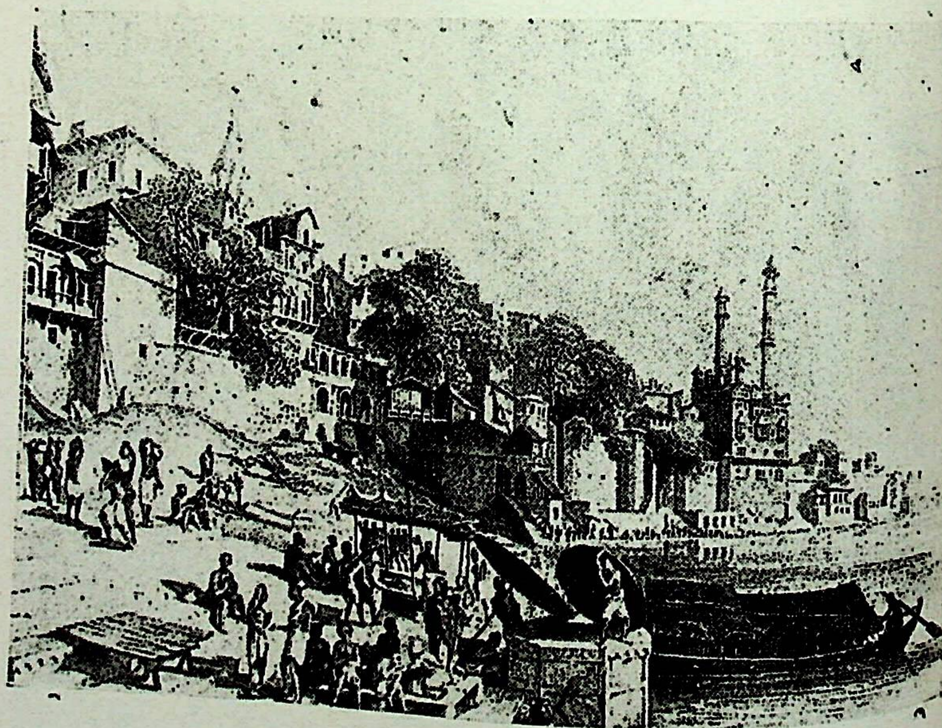
कोई नगर नदी के सीधे मार्ग पर बसा हो अथवा कटावदार मार्ग के उभार की ओर बसा हो, वहाँ नदी अपना मार्ग परिवर्तन करने पर उस नगर को छोड़ कर दूर हट जाती है। इससे केवल नगर की शोभा ही नष्ट होती नहीं बल्कि जल आपूर्ति तथा नदियों द्वारा



मानमन्दिर घाट



दशाश्वमेध घाट



पंचगंगा घाट

आवागमन पर भी हानिकारक प्रभाव पड़ता है, क्योंकि नगर तथा नदी के बीच एक रेतीला मैदान निकल आता है। यदि नगर किसी नदी के घुमावदार मार्ग पर कटाव की ओर बसा हो, तब नदी नगर को छोड़ कर दूर नहीं हट सकती। इसका कारण इस प्रकार समझ में आ सकता है। नदी की धारा जिस किनारे से टकराती है वहाँ की मिट्टी कटती है और फलस्वरूप उसी किनारे की ओर कटाव उत्पन्न होता है। इस स्थिति में नदी सदैव उसी किनारे की ओर अधिक काट कर अन्दर घुसने का प्रयत्न करती है परन्तु उस किनारे से दूर नहीं हट सकती।

काशी के निकट गंगा नदी का बहाव चित्र में तीरों द्वारा व्यक्त किया गया है। इससे स्पष्ट है कि प्रयाग-मिर्जापुर की ओर से आती हुई जल की धारा सबसे पहले रामनगर के निकट पूर्वी किनारे से टकराती है फिर परावर्तित होकर काशी के घाटों से टकराती है। प्रागऐतिहासिक काल से लगभग पन्द्रहवीं शताब्दी तक यहाँ के सभी घाट कच्चे थे। गंगा नदी सतत रूप से किनारे को काटती हुई एक कटावदार दर्शक दीर्घा का निर्माण करती रही। पूर्वी तट से यह नदी क्रमशः दूर हटती रही जिसके फलस्वरूप पूर्वी किनारे पर बालू जमती रही और बाल रवि की किरणों के लिए एक प्राकृतिक रंगमंच तैयार होता रहा। काशी नगर की ओर वाला पश्चिमी किनारा कंकड़ी तथा बजरी का बना है अतः मुलायम मिट्टी की अपेक्षा यह बहुत धीरे-धीरे कटता है। इस प्रकार सदियों से गंगा नदी ने पश्चिमी किनारे को काट कर काशी नगर के लिए एक प्राकृतिक बन्दरगाह तैयार कर दिया है। पन्द्रहवीं शताब्दी से प्रारम्भ करके गंगा के किनारे पक्के घाट तथा मन्दिर आदि बनने लगे। फिर अठारहवीं शताब्दि में, औरंगजेब के पतन के बाद मराठों ने काशी में, विशेषकर घाटों का बहुत अधिक निर्माण कार्य कराया। तब करीब पूरा पश्चिमी किनारा पक्के घाटों के रूप में बन गया। अब गंगा जी इन घाटों को अधिक नहीं काट पा रही हैं। साथ ही धाराओं की दिशा ऐसी है कि वे इस नगर से दूर भी नहीं हट सकतीं। अतः यह नगर परम पावनी गंगा नदी के तट पर ही बसा रहेगा।

इस वैज्ञानिक विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि गंगा नदी के मार्ग में यही एक ऐसा स्थल पड़ता है जहाँ पर सुविधा पूर्वक जीवनयापन के लिए कई भौगोलिक विशिष्टताएँ एक साथ विद्यमान हैं। इन सब का सामूहिक प्रभाव यह हुआ है कि अत्यन्त प्राचीन काल से यहाँ पर मनुष्यों की बस्ती रही है तथा उनका जीवन अत्यन्त सुखमय और समृद्धिशाली रहा है। इसलिए काशी नगरी की महत्ता गंगा जी के ही कारण है।

———

सौन्दर्य एवं औदात्य के परिप्रेक्ष्य में 'पथिक'

डॉ० मीरा खन्ना, हिन्दी विभाग

सौन्दर्य के सम्बन्ध में उदात्त की चर्चा उसी प्रकार आवश्यक है जैसे सधवा स्त्री के लिए उसके आभूषण एवं सिन्दूर। जिस प्रकार आभूषणों से विरक्त एवं सिन्दूर की लालिमा के अभाव में सधवा में वैधव्य का भ्रम निश्चित है ठीक उसी प्रकार औदात्य के अभाव में सौन्दर्य की चर्चा विकलांग है। उदात्तता ही वास्तव में आत्मा की महानता का प्रतिविम्ब है और इसी प्रतिबिम्ब में ही सुन्दर की सुन्दरता का भान हो सकता है, अन्यथा सौन्दर्य का महत्व व्यर्थ है।

सत्य तो यह है कि सौन्दर्य दृष्टि का विषय है। प्रत्येक मनुष्य उसका अनुभव करता है, उससे प्रभावान्वित होकर लाभ उठाता है किन्तु सौन्दर्य क्या है, सौन्दर्य का कटु सत्य क्या है, यह बताना कठिन है। वास्तव में सौन्दर्य की अनुभूति व्यक्ति चरित्र पर ही निर्भर है।[1] एक भव्य पुरुष[2] की सौन्दर्यानुभूति उसकामी पुरुष की सौन्दर्यानुभूति से सर्वथा भिन्न होगी जिसने सौन्दर्य की उत्पत्ति का मूल कारण यौन भावनाओं को ठहराया है। अर्थात् सौन्दर्य की सत्ता काम भावना की पूर्ति ही है और जिसका उपमान नारी है।[3] इस प्रकार की धारणा वालों के लिए 'सुन्दर' और 'उदात्त' अवश्य ही विलोम शब्द हैं, विशेषतः पर्याय भी।

वास्तव में रसानुभूति ही सौन्दर्यानुभूति है जिस अवस्था में आकर मनुष्य अपने को भूल जाता है। उसका चित्त वस्तु से एकाग्र होकर उससे तादात्म्य स्थापित कर लेता है। लेकिन इसके लिए आवश्यकता है विषयों से उपरामता। डा० सम्पूर्णानन्द के शब्दों में" दृष्टा अपने को जितना वासना से शून्य करता है उतनी ही उसको सौन्दर्य की अनुभूति होती है। वासना रागात्मक हो अथवा द्वेषरूपा, वह सौन्दर्य पर पर्दा डाल देती है"[4]। यह सत्य है क्योंकि वस्तु पर आश्रित रति, उसकी तृप्ति को ही पूर्ण करती है, उसका हृदय वस्तु के उपभोग में ही सीमित है[5]। इस प्रकार की दृष्टि एकांगी ही कही जायगी और सैक्स साइकोलाजी के आधार पर सौन्दर्य के इस विवेचन में वासनाजन्य संस्कार की ही बात सामने आती है। टाल्सटाय के शब्दों में वह वास्तविक पतिव्रता पत्नी के सदृश है जो केवल अलंकरण की मुखापेक्षी नहीं जब कि कृत्रिम कला वेश्या की भांति है जिसे अलंकरण की अपेक्षा होती है।

उपर्युक्त विवेचना से सामान्यतः यह प्रश्न उठ सकता है कि क्या सृष्टि में रचित अनेकानेक वस्तुओं में निहित आकर्षण, उसका सौरम्य क्या सुन्दर नहीं कहलायेगा? प्रत्येक पदार्थ सौन्दर्य का विषय बन सकता है लेकिन विशिष्टता उसके 'सत्य' रूप की है। सुन्दर वही है जो सत्य से समन्वित एवं शिवत्व रूप में हो। जिसे देखकर, सुनकर चित को आनन्द प्राप्त हो, और वह आनन्द कैसा, जिसमें स्थायित्व हो, पूर्णत्व हो नैरन्तर्य और विकास हो। जिससे हृदय, मन, चित्त, बुद्धि एवं अहंकार में विशालता आए, एक दीर्घ अनुभव हो।

जिससे अन्तर्मन एवं वाह्य स्वरूप दोनों को आनन्द मिले। वास्तव में वही सौन्दर्य है, वहीं रस है एवं वहीं पूर्ण सुख है फिर सुन्दर और उदात्त में भिन्नता कहां ? जो उदात्त है वही सौन्दर्य है, लेकिन सब प्रकार की सुन्दरता उदात्त नहीं। इस सन्दर्भ में कविवर दद्दा के विचार हैं कि" कला में उपयोगिता के पक्षपातियों से कहा जाता है कि सच्चे सौन्दर्य का विकास होने पर अशोभन के लिए अवकाश ही नहीं रहता, फूलों में स्वभावतः सुगन्धि ही होती है, दुर्गन्धि नहीं। ठीक है। परन्तु—यह भी तो परीक्षित हो जाना चाहिए कि कहीं फूलों में तक्षक नाग तो नहीं छिपा है[७]।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सुन्दर का उत्कृष्ट रूप ही उदात्त है। नग्न सौन्दर्य उनकी धारणा में अश्लीलता का चित्र है। "यदुच्चेते पार्वति पापवृत्तये न रूपमित्यव्यभिचारि तद्वचः अर्थात् हे पार्वती, यह जो कहा जाता है कि रूप (सौन्दर्य) पापवृत्ति के लिए नहीं होता वह वचन आज सही सिद्ध हुआ है"[८]। इससे यह तात्पर्य नहीं कि सौन्दर्य का स्थूलरूप सुन्दर नहीं। हां. मात्र इन्द्रिय सुख से ही सौन्दर्य का सम्बन्ध नहीं। क्या वाह्य सौन्दर्य से पूर्ण नारी का क्षणिक यौवन पुरुष को 'पूर्ण' वरणीय हो सकेगा ? यदि नहीं, तो मानना पड़ेगा कि सौन्दर्य की परिभाषा उदात्त के अभाव में अधूरी है अथवा सौन्दर्य के सम्बन्ध में उदात्त की चर्चा एक प्रकार से सौन्दर्य की परिभाषा ही है।

उपर्युक्त 'सत्यम्' 'एवं' 'सुन्दरम्' की विवेचना के परिपेक्ष्य में पं० रामनरेश त्रिपाठी रचित 'पथिक' 'खंडकाव्य' 'सत्यम् शिवम् सुन्दरम्' की त्रिवेणी है, इसमें सन्देह नहीं। 'पथिक' में पथिक की अकर्मण्यता पर साधु द्वारा पथिक को दिए उपदेश[१०] में कर्ममय जगत का गूढ़ रहस्य[११] मनुष्य जीवन की सार्थकता[१२] एवं प्रधान लक्ष्य[१३] आदि विचार महत् आदर्श के प्रतीक हैं। साधु के इन वचनों में औदात्य साकार हो उठा है—

सद्गुण, साहस, सत्य शूरता' लोकोत्तर उत्तमता।
पौरुष, प्रतिमा, प्रीति, प्राण, प्रभुता, पर—पालन—क्षमता।
क्षमा, शान्ति, करुणा, उदारता, श्रद्धा, भक्ति, विनयता।
सज्जनता, शुचिता' मनस्विता, मेधा, मन—निर्भयता।।[१४]

साधु का पथिक के प्रति यह कथन है कि यह सम्पत्ति प्रभु की धरोहर है जिसे लोक में वितरण करने के लिए तुम्हें मिली और तुम कायर की भांति इससे दूर भाग रहे हो[१५]। वास्तव में साधु का उपदेश मनुष्य के स्वार्थ एवं परमार्थ दोनों के लिए कल्याणकारी है। कवि का यह विचार यूनानी लेखक दिओन्युसियस लोंजाइनस की उदात्त विचारधारा का पार्यायवाची है जहां वह कहता है. कि "प्रकृति ने हम मनुष्य को नीच और जघन्य पशु होने के लिए नहीं वनाया है, वल्कि जब वह हमें जीवन के क्षेत्र में और इस विराट विश्व में प्रविष्ट करती है, मानो किसी वड़ी सभा में प्रविष्ट कर रही हो·····इस उद्देश्य से कि हम इस विराट पूर्णता का दर्शन करें और गौरव के उत्कट अभिलाषी बनें········"।[१६]

साधु के उपदेश से प्रेरित पथिक का परिवर्तित जीवन उदात्त चरित्र का परिचायक है। वह देश की दुर्दशा से दुखित होकर घर-घर की भूख शान्त करता,[१७] राजा के अत्याचारों से



प्रतीक्षा
कलाकार—सुधीन्द्रनाथ लाहिड़ी

लोहा लेकर देश सेवा में सन्नद्ध होता है[१८] उस अवसर पर उसकी यह उक्ति लोकोत्तर है कि जो लोक सेवा करने चला है वह मानापमान और निन्दा स्तुति से मार्ग भ्रष्ट कैसे हो सकता है[१९] ? पथिक का देश की रक्षा करते हुए उसका सर्वस्व त्याग, यहाँ तक कि पथिक पत्नी एवं पुत्र भी उसी यज्ञ में समर्पित हो जाते हैं। अन्त में पथिक कीं यह उक्ति कि संसार में मेरा कोई अपराधी नहीं है। राजपूत और वधिक ने राजा की आज्ञा का पालन कर मेरा प्राण लिया है। यह तो इनका धर्म था। अतः उसका बदला मेरे देश के निवासी न लें। और अन्त में अपना यह संदेश देते हुए—

पर-पीड़न से विमुख और सम्मुख पर-हित-साधन में।
पर निन्दा में मूक वधिर रहना नित निर्भर मन में।

आत्मा का अपमान न करना सत्य मार्ग पर चलना
है वह सत्य, तुम्हें न उचित है सत से कभी विचलना॥

पथिक अपनी जीवन लीला समाप्त कर देता है। वास्तव में पथिक का चरित्र स्वयं ही 'उदात्त चरित्र' की परिभाषा है। उसमें चित्रित सौन्दर्य का प्रत्येक दृश्य औदात्य के भाव से पूर्ण है। उसका सौन्दर्य चित्रण 'सौन्दर्य' के स्थायित्व, सत्यता एवं सद्गुण से समन्वित है। इसी से कवि ने इस संसार के क्षणिक सौन्दर्य को जहां स्वार्थ, झूठ, चोरी, दम्भ, पाखण्ड, सत्य एवं सदवृत्ति का अभाव है[२१] उससे दूर प्रकृति के अचिर सौन्दर्य की कल्पना को अधिक श्रेयस्कर माना है[२२] अब सौन्दर्य की विधा वाह्य ठाठ-बाट को तिलांजलि देचुकी थी। अब सरलता, सौहाद्र, त्याग एवं शील से समन्वित चरित्र सौन्दर्य ही भौतिक सौन्दर्य का पर्याय बनकर आया है। 'पथिक' में पथिक का निम्न कथन—

प्राणि मात्र पर दया, प्रेम की प्रतिमा देख नयन में।
सुन्दरता का समारोह तुमको समझे हूँ मन में॥[२३]

आचार्य शुक्ल ने इसी 'शील सौन्दर्य' को सौन्दर्य की पूर्णता माना है[२४]। डा० दीक्षित ने इसी 'शील सौन्दर्य' को 'प्राणि सौन्दर्य'[२५] की संज्ञा प्रदान की। कोरा स्थूल चित्रण कवि का उद्देश्य नहीं, पथिक ने स्वयं इस स्थूल चित्रण को क्षणभंगुर बताते हुए कहा है—परम तुच्छ, जड़ खग-पशु का उपमेय तुम्हारा तन है प्रकृति सदा सुन्दरी तुम्हारा यौवन अस्थिर धन है।[२६] और अन्त में पथिक प्रिया का विषपान तथा स्वयं पथिक का युद्ध में समर्पण सौन्दर्य की निस्सीमता है।[२७] यदि कहा जाए कि इस प्रकार की विचारधाराओं का चित्रण युगीन काव्य में मेरूदण्ड के सदृश है जिस पर समस्त काव्य भवन टिका हुआ है, तो अत्युक्ति न होगी। वह सौन्दर्य चाहे शारीरिक हो अथवा पति-पत्नि के रूपाकर्षण एवं संभोग का, सभी में कवि इसी विकसित व्यक्तित्व को साथ लेकर चला। पथिक अपनी प्रिया के अपूर्व सौन्दर्य को देखकर तृप्त नहीं होता। वह जिज्ञासा करता है कि इसका सिरजनहार कितना सुन्दर होगा। पथिक व्याकुल हो उठता है—

देख अतुल सौन्दर्य तुम्हारा, मुग्ध हुआ मन मेरा।
जिसने तुम्हें रचा वह कैसा होगा चारू चितेरा॥[२८]

इस प्रकार के औदात्य चरित्र की अवतारणा करने वाले कवि के काव्य का उद्देश्य अवश्य ही सौन्दर्य और औदात्य की परिभाषा का रूप कहलायेगा। वस्तुतः जीवन का सौन्दर्य उदात्तता ही पर निर्भर करता है। यों तो यह वैयक्तिक विषय है जिसे सामान्य रूप से समस्त जन मानस पर लागू नहीं किया जा सकता लेकिन फिर भी प्रत्येक के जीवन में 'जीवन' के ऐसे मोड़ अवश्य आते है जहां पहुँचकर हम सबकों एक बार सौन्दर्य और औदात्य को एक दूसरे का पर्याय समझकर उस मन्दिर में अपनी श्रद्धा के फूल अर्पित करने पड़ते हैं।

1. In the words of Plato "Everyone chooses his love out of the objects of beauty according to his own taste". The Dance of Shiva—p. 6.
2. "Beauty is a supreme expression of the absolute or divine reality as uttering itself through man".
3. ...."Our susceptibility to the beautiful tends to rise and fall with the curve of generative potency"...... sexual impulse......... this general agreement in the aesthetic standard that woman is the most beautiful object for man" Dr. B. L. Atreya—B.H.U., Journal, Silver Jubilee Number, 1942, Vol. 6, Article on 'Psychology of Beauty' sexual Impulse, p. 50.

४. चिद्विलास—पृ० १८६।

५. "दृष्टि की संकीर्णता सौन्दर्य प्रतीति को कुरूप और सुरूप दो टुकड़ों में बांट देती है"—टैगोर—साधना—पृ० ९३।

6. "......... a woman who sells her womanly attractiveness, intended for maternity, far the gratification of those who desire such pleasures. The art of our time and our circle has become a prostitute". Leo Tolstoy What is art, Chap. XVIII, p. 266.

७. हिन्दू भूमिका, पृ० ११-१२।

८. डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी—कलिदास की लालित्य योजना, पृ० ६७।

९. "मनुष्य जब स्वार्थ या भोगेच्छा की प्रवृत्तियों से सर्वथा वीतरागी, सर्वथा निरपेक्ष होकर वस्तुओं को देखता है तभी वह सौन्दर्य का सच्चा रूप देख सकता है। यह सौन्दर्य सर्वत्र है। तभी वह अनुभव कर सकता है कि हमें रुचिकर प्रतीत होने वाली सब वस्तुएं आवश्यक तौर पर असुन्दर नहीं होती, उसका सौन्दर्य उनकी सच्चाई पर निर्भर होता है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर—साधना, अनु० सत्यकाम—विद्यालंकार पृ० ९२-९३।

१०. पथिक—सर्ग २, छन्द ३६, पृ० ३४छन्द ८ पृ० २९, देखिए—गीता ३।१८, पृ० ७२।

११, पथिक—सर्ग २, छन्द १६, १७, १८, पृ० ३०-३१, गींता ३।४, ५, १६, पृ० ६७-६८ एवं पृ० ७१, ईशावास्योपनिषद् २, पृ० २।

१२. पथिक—सर्ग २, छन्द २०-२३, पृ० ३१-३२, गीता ३।११, पृ० ७०।

१३, पथिक—सर्ग २, छन्द ४८, पृ० ३६।

१४. पथिक—सर्ग २, छन्द २७, पृ० ३२।

१५. पथिक—छन्द २८, पृ० ३२।

१६. लोंगिनुस—काव्य में उदात्त तत्व, पृ० १००।

१७. पथिक—सर्ग ३, छन्द ४०, पृ० ४४।

१८. वही।

१९. वही सर्ग ४३, छन्द ६७, पृ० ४९।

२०. वही—सर्ग ४, छन्द ५९, पृ० ६२।

२१. शारीरिक वासना—तृप्ति का साधन जहां प्रणय है।

× × ×

जहां स्वार्थवश लोग प्यार करते हैं अन्यायी का

× × ×

चोरी, जारी छल, प्रपंच, पर पीड़न आडम्बर से, पथिक—सर्ग १, पृ० २५।

२२. शान्त स्वर्ग—सुख छोड़ कहां संसार—नरक में जाऊं?
हीरा-सा जीवन ले क्यों कौड़ी के मोल विकाऊँ—वही, पृ० २७

२३. वही—पृ० २१।

२४. चिन्तामणि—भाग १, पृ० १३३।

२५. डा० राजपति दीक्षित—तुलसीदास और उनका युग, पृ० ४८९।

२६. पथिक—सर्ग १, पृ० २३।

२७. पथिक—सर्ग ४, पृ० ५६।

२८. वही—सर्ग १, पृ० २३।

विश्व-धर्म की अवधारणा और सम्भावनाएँ :

डॉ० वशिष्ठ नारायण त्रिपाठी

ऐतिहासिक सर्वेक्षण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि साम्राज्य-वृद्धि के लिए जितना नर-संहार किया गया उससे अधिक धर्म के नाम पर रक्तपात हुआ। कितनी विचित्र विडम्बना है ! कितना विरोधाभास है ! जबकि विश्व का सांस्कृतिक इतिहास इस तथ्य की स्पष्ट घोषणा करता है कि धर्म का लक्ष्य सुख और शान्ति की शाश्वत स्थापना है। स्वामी विवेकानन्द का यह कथन कितना सत्य है—

> "Nothing has made the brotherhood of man more tangible than religion; nothing has loved more bitter enimity between man and man than religion. Nothing has built more charitable institutions, more hospitals for men and animals, than religion; nothing has deluged the world with more blood than religion"[१].

धर्मों की गर्हित हठवादिता और पारस्परिक कलह से मानवता की सुख-शान्ति को सम्भावित खतरा है। सम्भवतः इस खतरे की आशंका और धर्म के विकृत स्वरूप के कारण ही कुछ विचारकों ने, मानवता के हित में, धर्म का अन्त कर डालने पर ही जोर दिया है। कार्लमार्क्स ने धर्म को नशा की संज्ञा दी—"Religion is an opeate to the masses"; तथा मनोवैज्ञानिक फ्रायड ने धर्म को 'मानसिक रोग' समझा—"Religion is the mass obsessional nurosis of mankind as is bound to disappear with the knowledge of reality[२]." परिणामस्वरूप इससे छुटकारा पाने में ही मानवता का कल्याण है। परन्तु वास्तव में न तो धर्म को खोया जा सकता है और न तो इसके श्रेयस्कर प्रभावों को ठुकराया जा सकता है। धर्म तो कोई बाह्य वस्तु है नहीं, जिसे पाया या खोया जा सके। यह तो है हमारा स्वभाव, हमारी आत्यान्तिक सत्ता (Authentic being) जिसे भूला भले ही जा सके, पर खोया नहीं जा सकता। धर्म चूँकि हमारी प्रकृति है, इसलिए यही हमारा आधार है—यही हमें धारण करता है—(धारयति इति तेन धर्मः) स्वामी विवेकानन्द इसका स्वरूप निर्माण करते हुए कहते हैं—"Religion does not consist in talk, or doctrines, or books, but in realisation; it is not learning, but being.[३]" काल की कठोरतायें धर्म को निष्प्राण नहीं करतीं बल्कि एक नूतन आयाम उपस्थित करती हैं जिसमें धर्म कालगत विशेषताओं से विभूषित और अनुप्राणित होकर निखर उठता है। Will Durant ने 'Pleasures of Philosophy' में इसे आपने शब्दों में इस भांति प्रकट किया है, "Suppress all religion for a century, then take off the lid, and religion would grow again within a year.[४]"

वैज्ञानिक उपलब्धियों के आलोक में प्राचीन धार्मिक मान्यताएँ खंडित हो गयीं और नये मूल्य-बोध उपस्थित हुये। विवश होकर आधुनिक विचारकों ने धर्म का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया। चिन्तन के क्षेत्र में एक जागरण हुआ। समग्र धर्मों के परस्पर विरोधी मान्यताओं से पृथक् हटकर विश्व-धर्म—(Universal Religion) की अवधारणा हुई ताकि भौगोलिक सीमा भग्न हो जाय और दिग्भ्रमिता मानवता को नई दृष्टि मिले। विश्व-धर्म की स्थापना के लिए पथ का आग्रह, सम्प्रदाय का आग्रह, शास्त्र का आग्रह और 'शास्ता' का आग्रह त्यागना आवश्यक है। इन आग्रहों से मुक्ति सत्य के प्रति जागने और सत्य में जीने से ही सम्भव है। सत्यानुभूति से ही सही अर्थों म विश्व-धर्म की स्थापना हो सकती है। सत्य सहज ही सभी भेदों और द्वन्दों से मुक्त कर देता है। वाइविल में ठीक ही कहा है—"Ye shall know the truth and truth shall makes you free."—(Gospel). ऋग्वेद के अनुसार हमें सभी सत्य विचारों का आदर करना चाहिए, चाहे वह किसी भी स्रोत से आये—"आना भद्राः ऋत्वो यन्तु विश्वतः।"[५]

विश्व-धर्म की स्थापना का अर्थ विभिन्न सम्प्रदायों के बीच केवल एकता लाना नहीं, अपितु उनकी आत्मा तक—सार तक पहुँचना है, जहाँ सभी भेद-भाव स्वतः समाप्त हो जाते हैं। वास्तविक धर्म देश-काल की सीमाओं से परे है उसकी उपलब्धि व्यक्ति को भी सार्वभौम वनाती है। धार्मिक मनुष्य किसी देश-काल, जाति या सम्प्रदाय का मनुष्य नहीं होता, वह एक विश्व-मानव होता है, जो मानव-मात्र की मुक्ति के लिए निःस्वार्थ प्रयत्नशील रहता है। सभी धर्म अपने-अपने दृष्टिकोण से सत्य हैं। समस्त उपासना पृथक्-पृथक् पद्धति से एक ही सत्ता की उपासना है। डॉ० राधाकृष्णन के शब्दों में—"All Sincere religious worship is a worship of the Supreme, who responds to every case to reach His unreachable heights. Even as we approach, so does the Divine receive"[६]. इसलिए, आर्थिक एकता की स्थापना के लिए भी विश्वास का आग्रह तोड़कर, धर्म को ज्ञान पर, सत्यानुभूति पर आधारित करना होगा। विश्वास मूलतः अर्थहीन प्रस्थान है। सच पूछा जाय तो यह प्रस्थान है ही नहीं। यह अन्तिम है। प्रारम्भिक नहीं। तुलसीदास ने तो ठीक ही कहा है :—

"जानें बिनु न होइ परतीती।
विनु परतीति होइ नहिं प्रीती ।।"

[रामचरित मानस, उत्तर काण्ड ८८।७]

प्रोफेसर अर्नल्ड जे० टॉयनवी ने लिखा है : मेरा विश्वास है कि मेरे जीवन-काल के चार उच्चतर धर्म वास्तव में एक ही 'थीम' के चार रूप हैं, और यदि इन स्वर्गिक संगीत के चारों प्रकार एक साथ, समान स्पष्टता से, पृथ्वी पर एक मानव को सुनाई पड़े तो श्रोता प्रसन्न होगा कि उसे कर्कश ध्वनियाँ नहीं, मधुर संगीत सुनाई पड़ रहा है।"[७]. वे विश्वास नहीं करते कि कोई एक धर्म ही अध्यात्मिक सत्य का अनन्य और सुनिश्चित उद्घाटन है। दूसरे धर्मों को यह कहकर नकार देना कि हो सकता है 'ईश्वर ने उन्हें भी स्वीकार किया हो और वे भी कुछ मानवीय आत्माओ के समक्ष ईश्वर के रहस्य का उद्घाटन करते हों, मेरी

दृष्टि में ईश्वर निन्दा है।' उन्होंने साइमकस का कथन उद्धृत किया हैं: "इतने महान् अज्ञेय का ज्ञान एक ही रास्ते पर चलकर नहीं हो सकता"। प्रोफेसर टायनवी अपनी स्थिति को साफ शब्दों में व्यक्त करते हैं। हमारे अध्यात्मिक संघर्ष में वे कहते हैं: "मेरा अनुमान है कि परिचय तथा सम्पूर्ण संसार मानव से दूर हटते जा रहे हैं– विचार-धाराओं, साम्यवाद और धर्मनिरपेक्षवाद के उपासक बनते जा रहे हैं-और एक पूर्वीय धर्म के अनुयायी बनते जा रहे हैं जिसका उद्गम न रूस में हुआ है– न पश्चिम में। मेरा अनुमान है कि यह इसाई-धर्म होगा, जो फिलिस्तीन से यूनान और रोम पहुँचा था; अन्तर इतना होगा कि पारस्परिक इसाई-धर्म के एक-दो तत्वों का स्थान भारत का एक नया तत्व ले लेगा। मेरी आकांक्षा है और मैं आशा करता हूं कि इसमें ईश्वर को 'ईर्ष्यालु ईश्वर' मानने वाली ईसाई परम्परा नहीं होगी और इस 'ईस्यालु ईश्वर की आत्म प्रशंसा कि उसके 'चुने हुए व्यक्ति' आद्वितीय हैं, को भी स्थान नहीं दिया जायेगा। यही भारत की आवश्यकता है जिसका-विश्वास ईश्वर को प्रेम की संज्ञा देने का परिपूरक है कि ब्रह्माण्ड का रहस्योद्घाटन करने के एक नहीं अनेक ज्ञानमय और संरक्षण करने वाले ढंग हो सकते हैं"। आर्कविशप विलियम टेम्पुल दूसरे शब्दों में यही बात कहते हैं: ८. "मेरे-ईसाई विचार या आधार या उपासना की प्रणालियों में जो कुछ भी आदर्श है, वह सब उनपर और उनके भीतर ईसा का प्रभाव है। ईश्वरीय ज्ञान-अर्थात् ईसामसीह के बल पर ही प्लेटो, जरथूस्त, बुद्ध और कन्फूसियस अपने घोषित सत्यों को समझ और कह सकते थे। केवल एक ईश्वरीय प्रकाश है, अपनी सीमा के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति उससे आलोकित होता है, फिर भी प्रत्येक को उस प्रकाश की कुछ किरणें ही प्राप्त होती हैं और सम्पूर्ण प्रकाश के आलोकन के लिए मानवीय परम्पराओं के सम्पूर्ण ज्ञान की आवश्यकता होगी।"[९].

गुरु नानक ने उपनिषदों की शिक्षा के आधार पर हिन्दू और मुस्लिम को मिलाने का प्रयत्न किया और नये सिक्खमत के उद्गम में उसका अन्त हुआ। "मैं न हिन्दू हूँ, न मुसलमान। मैं उस निराकार को पूजनेवाला भक्त हूँ।" बंगाल के अधिकांश बाउल कवि इसी विचार धारा के समर्थक थे। उसमें से एक, जिसका नाम मदन है, गाया है– "हे प्रभु! तुम्हारा मार्ग मंदिरों और मस्जिदों ने ढक लिया है, मैं तुम्हारी पुकार सुन रहा हूँ, किन्तु गुरु ने मार्ग रोक लिया हैं। जो कुछ मेरे मन को शान्ति देता है, उससे दुनियाँ घबड़ा जाती है, नानात्व के द्वन्द्व में 'एक' का मार्ग रुद्ध हो जाता है। इस द्वार पर अनेक ताले लगे हुए हैं कुरान के पुरान के, माला। मुक्ति का मार्ग भी अनेक बाधाओं से घिरा हैं, इसलिए मदन निराश होकर रो रहा है।"[१०]. सम्राट अकबर ने महसूस किया था कि सत्य किसी एक धर्म की सम्पत्ति नही। उसने फतहपुरसिकरी में प्रसिद्ध 'इबादतखाना' (पूजाघर) बनवाया, जहाँ प्रत्येक धर्माध्यक्ष धार्मिक समस्याओं पर विचार विनिमय करते थे। इन धर्म-गुरुओं से तटस्थ रहकर उसने 'दीन इलाही' मत को जन्म दिया जो विभिन्न धर्मो के सत्य का संमिश्रण था। दीन-इलाही की तरफ सामान्य जन आकर्षित नहीं हुए फिर भी यह प्रयास भारतीय परम्परा की सहिस्णुता की आभि-व्यक्ति था। कालान्तर में अकबर का प्रयास निस्फल हुआ; क्योंकि वह जीवित समन्वय नहीं, वल्कि शुष्क बौद्धिक धार्मिकता थी।[११].

रामकृष्ण परमहंस (१८३६–१८८६) उपनिषद कालीन ऋषिओं की सीधी परम्परा में थे। वे कर्म और मानव-सेवा के पक्ष में थे। उनका जीवन-दर्शन मानवता पर आधारित 'विश्व-धर्म था'। वे कहते हैं–"क्या आप प्रभु की खोज में हैं ? तो उसे मानव में ढूँढ़िये देवत्व किसी भी अन्य वस्तु अथवा जीव की अपेक्षा मानव में अधिक प्रगट हुआ है "[१२] भारत के सभी धार्मिक नेता राम मोहन राय, दयानन्द सरस्वती, गांधी जी सभी उदार धर्मों के मानने वाले विश्व के नागरिक हैं, वेदों की भाषा में 'विश्व-मानव' हैं। अपने इतिहास में भारत ने बराबर आत्मा की मुक्ति और हृदयों के मिलाने के लिए प्रयास किया। भारत विभेदों को स्वीकार नहीं करता, अपितु आधारभूत सादृस्य खोजता है। भारत ने विदेशों से आने वाले प्राणियों के जीवन में प्रवेश किया और स्वयं वाह्यतत्त्वों को आत्मसात किया। भारत भूमि पर जब नये विचारों का उदय होता है, पुरानी परम्पराओं का तिरस्कार नहीं किया जाता, बल्कि व्याख्या के रूप में उनका आदर किया जाता है। भारत ने एक-रूपता की चाह कभी नहीं की। अथर्ववेद के 'पृथिवी सूक्त' में एक स्थल पर कहा गया है कि पृथ्वी माता हैं, जो विभिन्न भाषा-भाषियों, विभिन्न धर्मावलम्बियों को जन्म देती है, जो समान भाव से दूध पिलाकर सबका पोषण करती है"। [१३]

आज के नये विकसित समाज में एक सर्वथा नूतन सार्वदेशिक धर्म (विश्व-धर्म) की आवश्यकता बलवती है। इससे हमारा तात्पर्य एक ही साँचे में ढले धर्म का नहीं है वरन जागरूकता एवं प्रेम के, प्रज्ञा एवं करुणा के, सत्य एवं स्नेह के धर्म से हैं। धर्मों में उनकी प्रांतीयता दूर हो जानी चाहिए और उन्हें ऐसा रूप देना चाहिए कि उनसे सार्वदेशिकता प्रगट हो। इसका अर्थ आध्यात्मिक अनिश्चय या संदिग्धता नही है किन्तु निस्सीम व्यापकता है। [१४]. विश्व धर्म के निर्माण में प्रमुख जीवित धर्म सहयोगी होगे। लोगों में शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व, अन्तर्राष्ट्रीय कल्याण और न्याय, जातीय समानता और सब राष्ट्रों की राजनीतिक स्वाधीनता की उपलब्धि विश्व-धर्म का सन्देश होगा। जहाँ तक धार्मिक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति का प्रश्न है विभिन्न पक्ष विभिन्न प्रतीकों द्वारा प्रकट किये गये हैं। फिर भी इनमें आराधना के अन्य प्रकारों की स्वीकृति की गुंजाइश है। एक मध्यकालीन भारतीय रहस्यवादी संत ने लिखा है : "विभिन्न दीपकों में विभिन्न प्रकार तेल हो सकते हैं, वर्तिकाएँ भी विभिन्न प्रकार की हो सकती हैं किन्तु जब वे प्रज्वलित हो जाती हैं तो हमें एक समान लौ और प्रकाश मिलता है।" राह कोई भी हो यदि हमारा प्रयत्न सच्चा है तो हम मंजिल पर पहुँच ही जाते हैं।[१५]

विश्व-धर्म की शिल्प-रचना एवं आधार भूत तत्त्वों के विश्लेषण प्रस्तुत करने पर निम्नलिखित विशेषताएँ प्रगट होती है : [१६]. प्रथम, सर्वोच्च सत्ता एक है। देव-देवियाँ उसी शक्ति की अभिव्यक्ति है। द्वितीय, समग्र धार्मिक ग्रन्थ, जैसे वेद, कुरान, बाइबिल, जेन्डा अवेस्ता, टालमड, कन्फूसियस के सिद्धान्त, त्रिपिटक, गुरु-ग्रन्थ विश्व-धर्म के मान्य ग्रन्थ होंगे तथा नवीन ग्रन्थों के लिए, जो भविष्य मे आ सकते हैं, द्वार उन्मुक्त रहेगा। तृतीय, प्रत्येकधर्म में वर्णित उपासना-पद्धति, चिन्तन, मिथ, संस्कार परिष्कृत रूप आगामी धर्म को अनुप्राणित करेंगे। यद्यपि उनमें व्यक्ति-विशेष और देश-काल के आधार पर भिन्नता रहेगी फिर भी उनमें मौलिक भेद नहीं रहेगा। जैसे एक पवित्र हिन्दू-ग्रन्थ इस तथ्य की पुष्टि करता है :–

"Different are the paths laid down in the Vedas, Samkhya, Yoga, and Saiva and Vaisnava scriptures; of these some people take to one and some to another as the best. Devotees follow these diverse paths, straight or crooked, according to their different tendencies. Yet, O Lord! Thou alone are the ultimate goal of all man, as is the ocean of all rivers."१७.

चतुर्थ, विश्व-धर्म मानवतावाद पर आधारित है। इसमें व्यहारवाद और अध्यात्मवाद का सुभग समन्वय है। इसका लक्ष्य है समग्र मानवता को एक सूत्र में पिरो देना। इसमें जाति, धर्म और रंग भेद नहीं। स्वामी विवेकानन्द ने विश्व-धर्म को इस प्रकार परिभाषित किया है :—

"If there is ever to be a 'Universal Religion.' it must be one which will have no location in place or time: Which will be infinite, like the God it will preach, and whose sun will shine upon the followers of Krishna and Christ, or Saints or sinners alike, which will not be Brahmanic or Buddhist, Christian or Mohammadan, but the sum total of all these and still have infinite space for self - development, which in its Catholicity will embrace in its infinite arms, and find a place for every human being......... It will be a religion which will recognise divinity in every man and women, and whose scope, whose whole force will be centred in aiding humanity to realise his own divine nature." १८.

पंचम, विश्व-धर्म वैज्ञानिक सिद्धन्तों को स्वीकार करता है। विज्ञान के क्षेत्र में भौतिक, तात्त्विक और गतिशील पदार्थों का सन्तोष जनक विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है जो अंततः धर्म की अध्यात्मिक पृष्ठभूमि निर्मित करते हैं। वैदिक काल से धर्म के क्षेत्र में प्राकृतिक विज्ञानों का अध्ययन भी समाहित है। भारतीय दृष्टि से इस प्रकार धर्म भौतिक होने के साथ ही परा-भौतिक भी है। डॉ भगवान दास का कथन है—

"Science, in the limited sense of physical science, is imperfect religion, is one part of religion. Religion in the full sense, is larger science, is the whole of science."१९

वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में देखने के कारण ही धर्म तर्क-संगत, वौद्धिक तथा क्रमवद्ध प्रतीत होता है। षष्टम, विश्व-धर्म समाज-दर्शन का परिस्कृत रुप है। अध्यात्म की तरफ

उन्मुख मानवतावाद ही विश्व-धर्म है। शुष्क अध्यात्मवाद, भौतिकवाद की अवहेलना करता है और नग्न भौतिकवाद, अध्यात्मवाद की कोई जरुरत ही नहीं समझता। किन्तु विश्व-धर्म दोनों को परस्पर पूरक समझता है। एक का शुल्क पक्ष दूसरे का कृष्ण पक्ष है तथा दोनों के सामन्जस्य से निर्मित जो तृतीय व्यापक कलेवर है वहीं विश्व-धर्म का निखरा रुप है। डॉ० भगवान दास ने ठीक ही कहा है :—

> "A communism or socialism which, wishing to share and share alike, is truly spiritual and religious at bottom, but is so, very subconsciously, and is groping in the dark, and making many experiments and grievous mistakes because it is looking in the wrong direction and is not finding the secret of true social organisation, because it does not realise that politics is rooted in economics, economics in domestics, domestic in psycho-physics and that in metaphysics, which in its fullness is nothing else than spiritual Religion."[२०]

विश्व-धर्म आशावाद का संदेश देता है। इसके परिप्रेक्ष्य में जगत् मृगमरीचिका, मिथ्या तथा माया नहीं वल्कि यथार्थ है। सत्य है और सुमनोहर है।

आलोचनात्मक दृष्टिकोण से देखने पर ऐसा लगता है कि विश्व-धर्म के नाम पर एक सर्वथा नूतन धर्म निर्मित हूआ भी तो वह भी अनेक धर्मो के बीच एक और नवीन धर्म बनकर ही रह जायेगा। इतिहास साक्षी है कि प्रत्येक धर्म-प्रवर्तक ने अपने धर्म का प्रचार इस भावना से ही किया कि अपने अनुभूत सत्य को वह समस्त विश्व के लोगों तक पहुँचायें। इस भावना से नहीं कि वह अपना एक अलग सम्प्रदाय कायम करे। परन्तु, यह एक विचित्र विरोधाभास है कि जितनी वार ऐसे प्रयत्न किये गये, उतनी ही बार-धर्म का एक नवोन सम्प्रदाय हमारे समक्ष आ गया। स्व-धर्म को प्रवल समझना मानव-समाज की मनोवैज्ञानिक दुर्वलता है। वह इतिहास के साथ निरंतर परिवर्तित मानवीय इच्छाओं और आवश्यकताओं के अनुसार प्राचीन मान्यताओं में संशोधन और परिवर्तन वर्दास्त नहीं करता और इस तरह धर्म जीवन की ज्वलन्त तात्कालिक समस्याओं को सुलझोने में अर्थहीन लगता है। दैनिक समस्याओं में उलझा मनुष्य भौतिक साधनों में अपना तात्कालिक निदान ढूँढ़ता है। ऐसी परिस्थिति में विश्व-धर्म कहाँ तक उपादेय होगा और आगामी पीढ़ियाँ इसे किस रूप में स्वीकार करेंगी एक संदिग्ध और विवादास्पद विषय है।

सन्दर्भ :—

(1) विवेकानन्द: ज्ञानयोग, (अद्वैताश्रम, कलकता,१९६१), पृष्ठ ३७३.

(2) Sigmund Freud : Civilization and its discontents, 1930, P. 23.

(3) Complete Works of Swami Vivekanand, Vol. IV, P. 35.

(4) Will Durent : Pleasures of Philosophy, P. 387.

(5) ऋग्वेद : १।८९।१.

(6) S. Radhakrishnan : Eastern Religion and Western Thought, (London : Oxford University Press, 2nd Edition 1940), P. 320.

(7) 'ए स्टडी ऑफ हिस्ट्री,' खण्ड २, (१९५४), पृस्ठ ४२८.

(8) टाइम्स लिटरेरी सप्लीमेंट (१६ अप्रैल, १९५४), पृष्ठ २४६.

(9) 'रीडिंग्स इन सेन्ट जान्स गोस्पेल': प्रथम माला (१९३९) डा० राधाकृष्णन: पूर्व और पश्चिम-कुछ विचार, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, पाँचवा संस्करण, १९७१, पृष्ठ १४४, १४५ से उद्धृत.

(10) रिलिजियस एजुकेशन: रवीन्द्र नाथ टैगोर–'विश्व-भारती त्रैमासिक अंक १, भाग ३,न्यू सिरीज, नवम्बर–जनवरी १९३५-३६, पृष्ठ १०.

(11) डॉ० राधाकृष्णन: आत्मिक साहचर्य; राजपाल एन्ड मन्स, काश्मीरी ग्रेट, दिल्ली, पृष्ठ ३०-३१.

(12) रोमा रोला: दि लाइफ ऑफ रामकृष्ण; (१९५४), पृष्ठ १९८.

(13) अथर्ववेद: १२।१।४५; द्रष्टव्य: डॉ० राधाकृष्णन: आत्मिक साहचर्य पृष्ठ ३६.

(14) डा० राधाकृष्णनः भारतीय संस्कृतिः कुछ विचार, राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली प्रथम संस्करण १९७४, पृष्ठ २०.

(15) वही, पृष्ठ ३८.

(16) Vide : Dr. R. S. Srivastava : A Philosophy of Universal Religion, Presidential Address (Religion Section), Indian Philosophical Congress, Forty Eighth Session, 1974, Allahabad University.

(17) शिवमहिम्न स्तोत्र

18 The Complete Works of Swami Vivekananda, Vol. I, P. 16.

19 Dr. Bhagawandas : The Essential Unity of All Religions, P. 47. Varanasi, Ananda Publishing House, Third Ediion, 1947.

(२०) वही, पृष्ठ ५२५.

डॉ० वशिष्ठ नारायण त्रिपाठी
दर्शन विभाग
काशी विद्यापीठ,
वाराणसी

संस्कृत काव्यों में ग्रीष्म ऋतु

कु० आभा बिसारिया

मानव की चिर संगिनी प्रकृति, अपने विविध रूपों विविध वर्णों में उसे सदा से ही रिझाती आई है। वह कभी जननी बन कर अपनी सुखद स्नग्ध क्रोड में श्रान्त क्लान्त जीव को आश्रय देती है तो कभी अपनी ही भीषणता से भयभीत भी कर देती है। जहाँ एक ओर प्रातः कालीन मलय समीर, पक्षियों का नीड़ो में मृदु कलरव, कोयल की काकली, मधुप वृन्द की गूँज और उषा का आरक्तक दुकूल अपनी ओर बुलाता हुआ सा लगता है वहीं दूसरी ओर सूर्य का प्रचण्ड ताप श्रमसीकरों का अनवरत प्रवाह विरह विदग्धाओं के निःश्वास सा दुःसह वायु विह्वल मन को शीतल छाया का आश्रय ढूढ़ने के लिये विवश कर देता है।

प्रकृति के साथ आंख मिचौनी खेलते हुए मनुष्य का जीवन चक्र चलता रहता है। भारत वर्ष षड् ऋतुओं का क्रीडा स्थल है और ये ऋतुएँ, भाग्य पक्ति के समान अपना रुप वैंभव लेकर यथा समय उपस्थिति हो जाती हैं। समय की गति के साथ प्रकृति का स्वरूप परिर्वातित होता रहता है। दिन के प्रकाश के बाद रात्रि का अन्धकार प्रकृति के आयोजित एक सौन्दर्य दृश्य को छिपा लेता है और इसके बाद एक दूसरे रहस्यमय दृश्य पट पर चन्द्रमा अपनी कलाओं के विकास और ह्रास के साथ विभिन्न छायातप डालता रहता है। यह समस्त परिवर्तन युगों से मानव जीवन से सम्बन्धित रहा है। वस्तुतः यह उसके जीवन प्रवाह का अंग बन गया है।

संस्कृत के कवि सत्यं शिवं सुन्दरम् के उपासक हैं अतः उनकी दृष्टि रमणीय और मधुर दृश्यों में अधिक आसक्त है। उनकी अन्तः और वाह्य प्रकृति का सुन्दर समन्वय उनके काव्यों में द्रष्टव्य है। प्राकृतिक दृश्यों को कवियों ने अपनी सूक्ष्म निरीक्षणा का विषय बनाया है। यथार्थता से मंडित वर्णनों का चमत्कार सरस् हृदयों को वलात् अपनी ओर आकृष्ट करता है।

प्रकृति काव्य की प्रेरणा ही नहीं काव्य की पीठिका भी है अतः प्रकृति सुन्दरी के हर भाव विलास हर परिवर्तन का सूक्ष्मावलोकन संस्कृत कवियों का वैशिष्ट्य है। प्रकृति विलास तो यों भी एकान्त भारतीय है। बाल्मीकि आदि अनेक कवियों ने अपने काव्यों में प्रकृति का उल्लसित वर्णन किया है। कालिदासोत्तर काल के कवियों में तो ऋतु वर्णन परम्परा ही बन चुकी थी पर कालिदास से पहले किसी भारतीय कवि ने मात्र प्रकृति के भाव विलास पर कविता नहीं लिखी।

इस प्रसंग में यह कहना अनुचित न होगा कि संस्कृत कवि यौवन और वसन्त का कवि है, जीवन का विकासशील सुघर रूप ही उन्हें विशेष प्रिय है। यही कारण है कि संस्कृत काव्यों में ग्रीष्म के आतप से आकुल प्रकृति का उतना अंकन नहीं है जितना वर्षा और वसन्त का। फिर भी जीवन के संतापों की भाँति ग्रीष्म ऋतु प्रकृति का मनोरम संताप है अतः सर्वथा उपेक्षित भी नहीं है।

ऋतु चक्र के परिवर्तन के साथ ही प्राकृतिक वातावरण और परिवेश ही नहीं पशु-पक्षियों तृण-पल्लवों, तरु-कुसुमों की प्रवृत्ति प्रकार सभी में परिवर्तन आ जाता है।

कालिदास ने ऋतुओं के निरन्तर बदलते हुए वैभव को ही नहीं देखा अपितु मानव प्रकृति के ऊपर उसके प्रभाव का भी सूक्ष्म निरीक्षण किया है। ग्रीष्म के संताप से संतप्त प्रकृति का जो रूप ऋतु संहार में निखरा है वह अत्यन्त स्वाभाविक है। कवि कहता है—

प्रचण्डसूर्यः स्पृहणीय चन्द्रमाः, सदावगाहक्षतवारिसंचयः।
दिनांत रम्योऽभ्युपशान्तमन्मथो निदाघ कालोऽयमुपागतः प्रिये ।।

गर्मी के दिन आ गये हैं। सूर्य प्रचन्ड हो गया है, चन्द्रमा सुहावना लगता है, दिवसावसान रमणीय है इतना ही नहीं जलते हुए सूर्य की किरणों से झुलसे हुए जिन जंगली पशुओं की जीभ प्यास से बहुत सूख गई है, वे धोखे में उन जंगलों की ओर दौड़े जा रहे हैं जहां आञ्जन के समान नीले आकाश को ही वे पानी समझ बैठे हैं—

मृगा प्रचण्डातपतापिता भृशं, तृषा महत्या परिशुष्कतालवः।
वनान्तरे तोयमिति प्राधाविता, निरीक्ष्य भिन्नाञ्जनसंनिभं नभः ।।

कितना स्वाभाविक और यथार्थ चित्रण है। ग्रीष्म की उतप्तता में वन तो और भी डरावने लगने लगे हैं क्योंकि वहाँ जंगल की आग की बड़ी-बड़ी लपटों से सब वृक्षों की टहनियाँ झुलस गयी हैं अंधड़ में पड़ कर सूखे हुए पत्ते ऊपर उड़े जा रहे हैं और सूर्य की गर्मी से चारो ओर का जल सूख गया है इसका ही रूप चित्र उपस्थित करते हुए कवि कहता है—

पटुतर दवदाहो च्छुष्कसस्या प्ररोहाः, परुष पवन वेगोत्क्षिप्त संशुष्कपर्णाः।
दिनकर परितपक्षीण तोयाः, समन्ताद्विदधति भयमुच्यर्वीक्ष्यमाणा वनान्ताः ।।

गर्मियों में पहाड़ों पर दावाग्नि बहुत लगती है और जब प्रवल पवन उसे प्रेरित करता है तो कान्तार का कान्तार ही भस्म हो जाता है। ऐसी ही एक दावाग्नि का वर्णन् कवि के शब्दों में

विकचनवकुसुम्भस्वच्छसिन्दूरभासा, प्रबलपवनवेगोद्भूत वेगेन तूर्णम्।
तटविटपलताग्रालिंगन व्याकुलेन, दिशि-दिशि परिदग्धा भूमयः पावकेन ।।

ताजे खिले प्रसून की सिन्दूरी कान्ति लिये तेज चलते प्रवल पवन से प्रचालित, तीर के तरु लताओं को अपने आलिङ्गन में बांधने को आकुल पावक ने प्रत्येक दिशा की भूमि जला डाली है और—

ज्वलतिपवनवृद्धः पर्वतानां दरीषु, स्फुटति पटुनिनादैः शुष्क वंशस्थलीषु।
प्रसरति तृण मध्ये लब्ध वृद्धिः क्षणेन, ग्लपयति मृगवर्गं प्रान्तलग्नो दावाग्निः ।।

पवन योग से वृद्धि प्राप्त दावाग्नि पर्वतों की कन्दराओं में जल रही है सूखे बांसो की स्थलियों में फट-फट की आवाज करती दावाग्नि रह-रह कर भड़क उठती है और क्षण भर में ही तृणों के जंगल में प्रसारित हो उसे नष्ट कर देती है। प्रान्तलग्न मृग वर्ग व्याकुल हो उठता है।

और इसलिए तो अपनी प्राकृतिक मित्रता अमित्रता का स्मरण उन्हें नहीं रहता है। अग्नि से जलते परस्पर वैर भाव भूल गज, नील गाय और सिंह मित्र भाव धारण कर उस

जलती अग्नि से त्राण पाने के लिए गिरि गह्वरों से निकल शीघ्र नदी तट की फैली बालुका भूमि में एक साथ शरण लेते हैं—

गजगवयमृगेन्द्रा वह्निसंतप्तदेहाः, सुहृद इव समेता द्वन्द्व भावंविहाय।
हुतवहपरिखेदादाशु निर्गत्य कक्षा-, द्विपुलपुलिनदेशांनिम्नगां संविशन्ति ।।

कैसा भीषण है ग्रीष्म का उत्ताप कवि कालिदास ने अपने नाटक अभिज्ञान शाकुन्तलम् में ग्रीष्म ऋतु में मनुष्य की प्रवृत्ति उसकी लालसा का वर्णन सूत्राधार द्वारा बड़ी सुन्दरता से कराया है—

सुभगसलिलावगाहाः, पाटलसंसर्ग सुरभि वन वाताः।
प्रच्छाय सुलभ निद्राः, दिवसाः परिणामरमणीयाः ।।

जल में स्नान करना अच्छा लगता है। पाटल से टकरा-टकरा कर वन वायु सुगन्धित हो रही हैं। छाया युक्त स्थानों में निद्रा सुगमता से आती है और सूर्यास्त के समय का दिन अत्यन्त रमणीय लगता है।

रघुवंश महाकाव्य के सोलहवे सर्ग में कुश की क्रीडा की पृष्ठभूमि के रूप में ग्रीष्म का वर्णन किया है। ग्रीष्म ऋतु में हिमालय की बर्फ पिघलने लगती है इस यथार्थ को अपनी कल्पना से अनुप्राणित कर कालिदास ने बड़ी ही सुन्दरता से रखा है—

अगस्त्यचिन्हादयनात्समीपं, दिगुत्तरा भास्वति सनिवृत्ते।
आनन्दशीतामिव वाष्पवृष्टिम्, हिमसुतिं हैमवतीं ससर्ज ।।

महाकवि माघ ने अपने एकमात्र महाकाव्य शिशुपाल वध के छठे सर्ग में ग्रीष्म ऋतु का वर्णन करते हुए लिखा है—

रविन्तुरङ्ग तनूरुह तुल्यतां, दधति यत्र शिरीषरजोरुचः।
उपययौ विदधन्नवमल्लिकाः, शुचि रसौ चिरसौरभ सम्पदः ।।

अर्थात् जिस ग्रीष्म ऋतु में शिरीष पुष्पों के पराग की कान्ति सूर्य के घोड़े हरित वर्ण वाले रोमों की समानता ग्रहण करती है वही ग्रीष्म नवमल्लिकाओं की सुगन्धि को चिर-स्थायी करता हुआ आ गया है।

इसके अतिरिक्त महाकवि भवभूति ने अपने उत्तर रामरित नाटक में सूर्य के उत्ताप का अत्यन्त संश्लिष्ट एवं चित्रोपम वर्णन प्रस्तुत किया है। अपनी अन्तः प्रकृति के गाम्भीर्य के अनुरूप ही उन्होंने वाह्य प्रकृति के ताण्डव की ओर अधिक ध्यान दिया हैं और उसकी मुद्राओं को ओजस्विनी वाणी दी है कठोरी भूत दिवस का एक चित्र द्रष्टव्य है। —

कण्डूलद्विपगण्डपिण्डकषणोत्कम्पेन सम्पातिभिः
धर्मं स्रंतित वन्धनै श्च कुसुमैरर्चन्तिगोदावरीम्।
छायापस्किरमाणविष्करमुखव्याकृष्टकीटत्क्चः
कूजत्कलान्त कपोत कुक्कुटकुलाः कूले कुलायद्रुमाः ।।

सर्जनात्मक विश्व की अभिव्यक्ति प्रकृति है काव्य मानव की अभिव्यक्ति है। मानव को प्रकृति के प्रत्यक्ष बोधों में सुख-दुख की सम्वेदनायें प्राप्त हुई हैं। प्रकृति का सारा विस्तार

सौन्दर्य रूप में नहीं रहता उसके प्रत्येक दृश्य को सौन्दर्य की रूप रेखा में बांधने के लिए चयन करना पड़ता है हमारा मन चयन करके विभिन्न संयोगों से सौन्दर्य का चित्र पूरा करता है जैसे कलाकार अपने रंगों के संयोग द्वारा सौन्दर्य की अभिव्यक्ति करता है। कल्पनात्मक मानसिक स्तर असुन्दर में भी सुन्दर की सृष्टि कर लेता है। इसी लिए तो महाकवि वाण ग्रीष्म की भीषणता में भी मोहकता देखते हैं और अपने हर्ष चरित में लिखते हैं—

बाल सूर्य के ताप से तरल तथा तरंगित मृग तृष्णा के भ्रम पूर्व जल में पवन मानों तैर रहे थे सूखे समी के वृक्षों से मर्मर शब्द करने वाले मरुस्थल के मार्गों को वे आसानी से लांघने में अति वेगवान थे।

दावानल दारुण होकर चारो ओर दिखाई देने लगे हैं। वृद्ध अजगरों के कण्ठ कुहरो से निकली हुई सांसों के समान वे दावानल हजार-हजार भट्टियों के समान उद्दीप्त हो रहे हैं और रात्रियाँ क्षीण होती जा रही हैं इस कठोर यथार्थ के बीच कवि की सूक्ष्म मधुर कल्पना देखिये वह कहता है ग्रीष्म ऋतु में दावानल से मानो संसार की आरती उतारी जाती है और रात्रि मानों क्षय रोग से ग्रस्त हो गयी ह।

परन्तु इस ग्रीष्म का सौन्दर्य कम नहीं है क्यों कि इस ग्रीष्म ने पृथ्वी के सभी फूलों के बंधन खोल दिये हैं और नदियों के समान चाँदनी रात भी क्षीण हो गयी है इसलिए चक्रवाक मिथुन ग्रीष्म का अभिनन्दन करता है।

कालिदास कहते हैं वन में चमेली खिल गयी है और उसकी सुगन्ध चारो ओर फैलने लगी है सन्ध्या को गुन-गुनाते हुए भौंरे उसके एक-एक फूल पर बैठकर मानो फूलों की गिनती कर रहे हों शीत किरणों से गर्मी का ताप दूर करने वाला चन्द्रमा जन-मन का प्रिय हो गया है—

वनेषु सायन्तनमल्लिकानां, विजृम्भणोद्गन्धिषु कुड्मलेषु।
प्रत्येकनिक्षिप्तपदः स शब्दं, संख्यामिवैषां भ्रमरश्चचकार॥

प्रकृति ईश्वरीय विभूति है। उसकी सुषमा नवनवोन्मेष शालिनी हैं। प्रकृति अनेक रंगों में विखरी है उसमें अनेक आकार प्रकार के स्तर ह, उसमें असंख्य ध्वनियों का आरोह अवरो है और है अनन्त गति तथा चेतना का विस्तार। कवि चित्रकार शब्दों की रेखाओं से प्रकृति चित्र मानस गोचर करता है। ग्रीष्म के उत्ताप की चरम सीमा आकाश में मन्द स्वर से गर्जना करते मेघों के रूप में व्यक्त हो उठती है कवि का चितेरा हृदय आषाढ़स्य प्रथमदिवसेमेघमाश्लिष्ट सानुम् की घोषणा कर ग्रीष्म को विदा कर देता है।

शोधछात्रा संस्कृत
का०हि०वि०वि०



प्रकृति और पुरुष
कलाकार—सुधीन्द्रनाथ लाहिड़ी

आज के शिक्षक, शिक्षा और हम

डॉ० महेन्द्रनाथ राय

प्रवक्ता, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

आज देश में शिक्षितों की संख्या बढ़ती जा रही है। लोग बड़ी-बड़ी उपाधियाँ पा रहे हैं। ज्ञान-विज्ञान के अनेक क्षेत्रों में प्रशिक्षित हो रहे हैं। भौतिक दृष्टि से सभी क्षेत्रों में विकास की ओर अग्रसर हो रहे हैं। अपने देश में बौद्धिकों का एक बड़ा समूह है। लेकिन हम महसूस कर रहे हैं कि समाज में नैतिकता, ईमानदारी, चरित्र, त्याग और अनुशासन का अभाव होता जा रहा है। समाज के और क्षेत्रों की तो बात छोड़िए, शिक्षा संस्थानों में भी इन मानवीय गुणों की स्थिति पर प्रश्नचिह्न लग रहे हैं। हम ज्ञान-विज्ञान की, नीति और शास्त्र की धर्म तथा दर्शन की ऊंची-ऊंची ब.तें सुनते हैं। गम्भीर विषयों पर पांडित्यपूर्ण वक्तव्य देते हैं लेकिन व्यवहार में, व्यक्तिगत जिन्दगी में एक असंस्कृत अशिक्षित अर्धमानव के स्वरूप को प्रस्तुत करते हैं। हमारे शिक्षा-संस्थानों में युवावर्ग के बीच अनुशासनहीनता, अशोभन आचरण, असहिष्णुता, सतही मानसिकता, नैतिक और आत्मिक बल की शून्यता देखने को मिलती है। संयम, धीरता गम्भीरता, विनम्रता, सेवा, त्याग, प्रेम आदि मनुष्यता के अपरिहार्य गुणों का अस्तित्व दिखाई ही नहीं पड़ता। यह शिक्षा हमें मनुष्य नहीं बनाती उपाधि दिला देती है, दुनियादार बना देती है।

ऐसी बात नहीं है कि हम मानस, गीता, धर्म और दर्शन की बड़ी-बड़ी पोथियाँ नहीं पढ़ते, उनकी शाब्दिक व्याख्या नहीं सुनते-पढ़ते और सुनते हैं लेकिन असर नहीं पड़ता। पड़ता भी है तो कुछ देर के लिए। हम बड़े-बड़े संतों, महात्माओं देश और समाज के लिए अपना सर्वस्व न्यौछावर कर देने वाले महापुरुषों के त्याग और बलिदान की कथाएं सुनते हैं। कुछ क्षणों के लिए अभिभूत होते हैं लेकिन थोड़ी देर बाद सारा प्रभाव समाप्त हो जाता है। आज स्थिति यहां तक आ गई है कि हमारे सामने राष्ट्रीय महापुरुषों के जीवन और व्यवहार की भावोदात्त गतिविधियाँ, वैचारिक और व्य।वहारिक आदर्श, नैतिक और आध्यात्मिक विश्वास भी हमारे लिए अविश्वसनीय और संदेहजनक बन गए हैं।

परिवेश इस तरह का है कि महात्मा गाँधी का सत्याचरण, अहिंसा, क्षमा, आस्तिकता सबके सब और स्वयं महात्मा जी भी युवा-मानस को आंदोलित नहीं कर पाते। कारण यह कि वे उसके लिए व्यवहार्य नहीं प्रतीत होते, आजाद, भगत सिंह, सुभाषचन्द्र बोस के साहस, सर्वस्व त्याग, देश प्रेम को वह अवतारी पुरुषों के आश्चर्यजनक कृत्य के रूप में लेता है। वह लेनिन, मार्क्स जैसे समाजवादी चिंतकों की वैज्ञानिक वस्तुवादी दृष्टि की चर्चा तो करता है लेकिन उनके द्वारा आचरित श्रमिक की जिन्दगी, अपूर्वसाहस, धैर्य, श्रम के प्रति आदर की भावना, उच्चकोटि की मनुष्यता और सामान्य जन के प्रति गहरी रागात्मकता से तालमेल नहीं बिठा पाता। इस तरह वह न तो गाँधी पर भरोसा कर पाता है

और न मार्क्स पर विश्वास। उसकी स्थिति त्रिशंकु सी है। वह भ्रमित और दिशाहीन है। अंधकार में है। उसके भ्रम, उसके अज्ञान, उसके अंधकार को मिटाने का उत्तरदायित्व किसका है? शिक्षक का है, गुरु का है। 'गुरु' शब्द का अर्थ ही है अंधकार से प्रकाश की ओर ले जाने वाला।

किन्तु जो स्वयं अंधकार में है वह प्रकाश की ओर कैसे ले जायेगा? माता-पिता व्यक्ति को स्थूल शरीर अवश्य प्रदान करते हैं लेकिन चैतन्य और विवेकवान गुरु ही बनाता है। गुरु की महिमा से हमारा भारतीय वाङमय परिपूर्ण है। उसे सीधे ईश्वर माना गया है। कहीं-कहीं उससे भी महान आज शिक्षक को गुरु बनना है। शिक्षा केवल पांडित्य और ज्ञान का वक्तव्य नहीं—बल्कि उसे हार्दिक होना है, आत्मिक संस्पर्श से युक्त होना है। विद्यार्थी 'गुरु जी' कह कर प्रणाम करते हैं। उनके लिए 'गुरु' अर्थहीन शब्द है, प्रचलित, आदरणीय संबोधन मात्र है। प्राध्यापक गुरु की भूमिका पर स्थित नहीं है, फलतः वह उसे स्वीकार भी नहीं कर पाता, प्रणाम निवेदित करने वाले को, सामने झुकने वाले को आशीष दे भी नहीं पाता। उसने उसका हाथ पकड़ा ही नहीं—फिर पार लगाने की बात ही कहाँ? और वह तो स्वयं अधजल में है, उसकी नौका तो स्वयं डगमगा रही है, फिर दूसरे को किनारे कैसे पहुंचायेगा?

हमारे शिक्षा-संस्थानों में शिक्षक को शिक्षा देने के लिए पर्याप्त पारिश्रमिक मिलता है। उस पारिश्रमिक का मूल्य चुकाने वाले कम होते हैं। अंग्रेजी के लैक्चरर, रीडर, प्रोफेसर किसी में भी 'गुरु' की व्याप्ति और गम्भीरता नहीं है। वह माता-पिता सब कुछ माना जाता रहा है। आज के शिक्षक अपने हृदय पर हाथ रखकर देखें कि क्या किसी शिष्य के लिए वे माता-पिता की अगाध स्नेह वत्सलता से परिपूर्ण हो सके हैं? क्या कभी भी वे वह दीपक बन सके हैं जिससे बुझे हुए दूसरे दीपक जल सकें? यदि नहीं तो आज के युवा वर्ग पर अशिष्टता, उच्छृंखलता, अनैतिकता आदि के जो लांछन लगते हैं—सबके जिम्मेदार वे स्वयं हैं। इसकी लज्जा इसकी ग्लानि उन्हें होनी चाहिए। छोटा बच्चा कोई अपराध करता है तो पास-पड़ोस वाले यह शिकायत करते हैं कि आपके लड़के ने ऐसा किया और मां-बाप सुनते हैं। ये बड़े बच्चे, चेतना में शिशु यदि बड़ा अपराध करते हैं तो उनके शिक्षक शर्म से क्यों नहीं गड़ जाते? वह इसीलिए कि वे उन्हें अपना नहीं मानते। दूसरों का जन्माया हुआ मानते हैं। वे उनका ठीकेदार अपने को नहीं मानते बल्कि बड़ी शान से औरों के स्वर में अपना स्वर मिलाते हुए उनकी निन्दा कर सन्तोष कर लेते हैं।

मानस, गीता, पुराण-इतिहास सबका प्रवचन करता है शिक्षक, लेकिन प्रवचन ही। वह स्वयं भीतर इस ज्ञान को, उस आदर्श को आत्मसात नहीं कर पाता, फलतः वह सारा विवेचन ऐसी कारतूस के रूप में होता है जो हाथ से ढेले की तरह किसी पर फेंकी गई हो, बन्दूक की नली से निकलकर लक्ष्य को वेध देने वाली कारतूस वह उसे नहीं बना पाता। क्या कारण है कि मानस के किसी प्रसंग का विवेचन जब हम किसी संतजन से सुनते हैं तो पूरी तरह से तन्मय हो जाते हैं, वर्ण्य विषयवस्तु के अनुकूल भावदशा में चले जाते हैं, पूरा

परिवेश बदल जाता है, मर्म उद्घाटित हो जाता है, अन्तर के तार झनझना उठते हैं जबकि किसी प्राध्यापक के विवेचन में ऐसा कुछ नहीं होता। कारण यही हो सकता है कि उसका विवेचन बौद्धिक भले ही हो, हार्दिक नहीं। विवेचनकर्त्ता के व्यक्तित्व, उसकी मानसिकता, हार्दिकता सबका संश्लिष्ट प्रभाव वक्तव्य पर पड़ता है। हमारे वक्तव्य और आचरण में जब तक संगति नहीं होगी तब तक वह असरदार नहीं होगा।

सत्य, अहिंसा, विनम्रता, दया, करुणा, सेवा-त्याग के उपदेशों, नैतिक और आध्यात्मिक आदर्शों के कथनमात्र से कुछ घटने वाला नहीं। आज हमारे शिक्षा-संस्थानों में शिक्षक को स्वयं के जीवन में उन आदर्शों को उतारना होगा। उन्हें स्वयं मनुष्यता की राह पर चलना होगा। पारिश्रमिक का मूल्य चुकाना होगा। आदर और सत्कार का बदला आदरणीय बनकर देना होगा। विद्यार्थी वर्ग के प्रति माता-पिता और गुरु के दायित्व को निभाना होगा। तभी विद्यार्थी उसके व्यक्तित्व के अनुकूल हो सकेंगे।

आज अध्यापक सांसारिक सुखसुविधा से भरपूर जीवन चाहता है। उसके समक्ष स्वयं का कोई दर्शन नहीं है। अपनी व्यक्तिगत जिंदगी में, पासपड़ोस में अपने आचरण से वह ऊंचे आदर्शों की सुगंध बिखेर नहीं पाता। उसका खुद का जीवन त्याग और तपस्या, साधना और संयम का जीवन नहीं है। उनमें नैतिक और आत्मिक बल नहीं के बराबर है। वह धार्मिक आचरण और आध्यात्मिक विश्वास से शून्य है। श्रम के प्रति उसमें पवित्र भाव नहीं है। इतने आदरणीय पद को पाकर वह कभी ईश्वर के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित नहीं कर पाता। अपनी गुरु परंपरा के समक्ष कभी हृदय से झुक नहीं पाता। वह महान विचारों और आदर्शों से परिचित है लेकिन उनकी राह पर चल नहीं पाता। उसमें यह सामर्थ्य भी नहीं है। उसका कोई दिशा निर्देशक महापुरुष नहीं है, जिसका दामन पकड़ कर, जिसके आश्रित होकर वह मनुष्यता को और अधिक उर्वर बनाने वाले त्याग और तपस्या के पथ पर चले ताकि दूसरे उससे सीख ले सकें। शक्ति के केन्द्र से वह कटा हुआ है। संसार में जितने भी महापुरुष हुए हैं, वे किसी भी क्षेत्र के क्यों न हों, उनके समक्ष कोई महान रचनात्मक आदर्श रहा है और इन आदर्शों की राह पर चलनेके लिए शक्ति देने वाला कोई शक्ति का भंडार रहा है। यह शक्ति का भंडार कोई अन्य नहीं उनके गुरु हैं। उसके रूप तरह तरह के हो सकते हैं लेकिन धर्म एक ही है—तम से प्रकाश की ओर ले जाना। जीवन और जगत को समझने के लिए दृष्टि देना। सतगुणों एवं विवेक के पथ पर अग्रसर करना। हम जैसा चिंतन करते हैं, जिस परिवेश और साहचर्य में रहते हैं, जिस तरह के कर्म करते हैं, उन्हीं के अनुरूप हमारा जीवन बनता है। हमारे विचार बनते हैं। ये महान पुरुष, महान गुरु हमारे जीवन को बदल देते हैं। हमारी आदतों और स्वभाव को परिवर्तित कर देते हैं। इनके ध्यान से हमारे भीतर का सारा अंधकार, सारा कलमष घुलने लगता है। हम प्रकाश से भर उठते हैं और प्रकाश मिलते ही करणीय-अकरणीय, ग्राह्य-अग्राह्य का रहस्य समझ में आ जाता है। जब हम इनके जीवन को देखते हैं तब हमारा हृदय श्रद्धा और विश्वास से परिपूर्ण हो जाता है। सारे तनावों, सारे द्वन्द्वों से हमें मुक्ति मिल जाती है। इनके प्रकाश में हमारी अपनी कमजोरियाँ दिखाई

देने लगती हैं। इनकी कृपा से हमें अपना कर्तव्य सूझ जाता है। ये सारे महापुरुष स्मरणीय हैं। ये परमात्मा की उपस्थिति का बोध करते रहे हैं। उस महान शक्ति की दया और करुणा के भिखारी रहे हैं। महात्मा-गांधी का जीवन हमारे सामने है। उनके विचार और व्यवहार हमारे सामने हैं। भगवान कृष्ण के बाद इतना बड़ा कर्मयोगी दूसरा नहीं हुआ। उनकी शिक्षा-दीक्षा ऐसी थी कि बड़ी सुविधा से विलास और वैभव की जिन्दगी बिता सकते थे। लेकिन नहीं बिताया। उन्होंने अहिंसा और सत्य के आधार पर देश को स्वाधीनता की लड़ाई में अग्रसर किया। उन्होंने व्यक्ति के सुख और ऐश्वर्य से अधिक महत्व राष्ट्र को दिया। पराधीन भारत के भीतर स्वतन्त्रता और स्वाधीनता की चेतना पैदा की। अपने आचरण से मनुष्यता को गौरवान्वित किया। उन्हें यह शक्ति परमात्मा के प्रति एकान्त समर्पण से मिली थी। उन्होंने लिखा भी है कि 'कोई मेरी आंख निकाल ले मैं नहीं मरूँगा। कोई मेरा गला दबा दे मैं नहीं मरूँगा। लेकिन कोई मेरे मन से यह विश्वास निकाल दे कि ईश्वर नहीं है, मैं अभी मरा पड़ा हूँ। ईश्वर की उपस्थिति का बोध, उस महान शक्ति के न्याय विधान में विश्वास मनुष्य को शान्त, स्थिर और उन्हें उद्वेगहीन बना देता है। वह प्रकाश स्वरूप है, शक्ति स्वरूप है, प्रेम स्वरूप हैं। जो शान्त होकर ऐसे परमात्मा का थोड़ी देर के लिए भी ध्यान कर लेते हैं, उनमें सदगुण आ जाते हैं। यही नहीं परमात्मा की दया और करूणा में विश्वासी महापुरुषों का ध्यान करने से, उनके सान्निध्य में आने से हमें भी, वही शान्ति, वही करुणा, वही सेवा-भावना आदि के मानवीय गुण आने लगते हैं।

आज शिक्षा संस्थानों में धार्मिक और आध्यात्मिक विश्वास नहीं के बराबर है। पाश्चात्य सभ्यता, विचार धारा, रहन-सहन और देहवादी चेतना को हम विकृत रूप में अपनाए हुए हैं। हमारी अपनी पहचान खो गई है। आज अध्यापक को अपने विचारों तथा आचरण को ऐसा बनाना है जिससे निर्दोष, निश्छल, और भ्रमित विद्यार्थी प्रकाश की किरण पा सके। वह अंतर्दृष्टि पा सकें जिससे उन्हें अपना रास्ता दिखाई दे। उनमें नैतिक बल आ सके। माता-पिता, सगे-संबंधी, परिवार-समाज सबके प्रति वे अपने कर्तव्य को समझें, निर्वाह करें। गुरु का आसन बड़ा ऊँचा होता है उसकी बहुत बड़ी जिम्मेदारी होती है। उसका हृदय स्नेह और ममता से लबालब भरा होता है। क्या आज के शिक्षक में भी यह बोध है? यदि नहीं है तो क्यों? उसमें इसकी तड़प होनी चाहिए।

आज समाज में चेतना के अस्तित्व को सैद्धांतिक रूप से भले लोग स्वीकारें व्यवहार में देह से परे किसी भी तत्व को समझने और स्वीकार करने की क्षमता और प्रवृत्ति खत्म होती जा रही है। पढ़े-लिखे लोग प्रत्यक्षानुभूतियों, दैहिक संवेदनाओं से परे कुछ भी नहीं मानते। इसीलिए मानवीय गुण खत्म होते जा रहे हैं। देहवादी चेतना बलवती होती जा रही है। ये लोग सौंदर्य बोध को यौवनानुभूति से आगे देखने में असमर्थ हैं। इनका व्यक्तित्व एकहरा है। आज समाज में परादृष्टि और ध्यान इन दो महान क्रियाओं का लोप होता जा रहा है। आज लोग पशुवत काम और भय के संवेगों से आक्रांत हैं। निरंतर असुरक्षित महसूस कर रहे हैं। प्रेम-भावना, रागात्मकता का अभाव

दिखाई पड़ रहा है। सर्वत्र अशांति और बेचैनी है। इन पढ़ेलिखे लोगों को, शिक्षितों को कौन बताए कि विकसित मस्तिष्क वाले मनुष्य का ही स्वाभाविक धर्म है ध्यानस्थ और अंतस्थ होना। उसी में यह क्षमता है, अन्य जीवों में नहीं। परमात्मा की उपस्थिति का बोध हमें अभय प्रदान करता है। हम उसकी कृपा और अहेतुक करुणा का आश्रय पा, उसके चरणों पर अपने सिर का समूचा बोझ डाल कुछ छणों के लिए एकदम हल्के हो उठते हैं। भीतर से विकसित फूल की तरह ताजे और टटके बन जाते हैं। आनंद में होते हैं। मन के स्थिर और एकाग्र होते ही हमारी कार्यक्षमता बढ़ जाती है। अच्छे-बुरे की समझ आ जाती है। हम विकल ऐन्द्रिक जीवन जीने से उबर जाते हैं। भय और काम के संवेगों से अलग होकर उदात्त भाव भूमि में स्थिर हो जाते हैं। मानसिक, बौद्धिक और आत्मिक ऊँचाई की ओर अग्रसर होने लगते हैं। अन्तस्थता या ध्यान हमारी आन्तरिक शक्तियों को पुनर्गठित करते हैं। चिंतन तथा ध्यान के माध्यम से हम अपने आत्मिक स्वरूप की ओर अग्रसर होते हैं। हमारा विघटित व्यक्तित्व संगठित हो जाता है। ध्यानस्थ और अंतरमुखी होनेवाला व्यक्ति जीवन और जगत से पलायन नहीं करता बल्कि और गहरे जाकर मन और बुद्धि को संचालित करने वाली मूल शक्ति से जुड़ जाता है। इससे हमारा मन और हमारी बुद्धि और अधिक उर्वर हो उठते हैं। हमारी संवेदनशीलता, भावना और कल्पना की वृद्धि होती है।

संसार की सारी सुख-सुविधाएं मिल जाती हैं, भरापूरा परिवार मिल जाता है। यश और कीर्ति की प्राप्ति हो जाती है लेकिन फिर भी मनुष्य अशान्त और उद्विग्न बना रहता है। यह अशान्ति और उद्विग्नता भय और आशंका, संयमहीन जीवन, अशुद्ध चिंतन और आध्यात्मिक शक्ति के प्रति विश्वास के अभाव से है। शरीर का राजा मन है और वह अशान्ति से परिपूर्ण है। जो मन के अधीन हैं वे संसार के अधीन हैं। जो मन को अपने वश में कर लेते हैं वे अशान्ति से बच जाते हैं। ध्यान मन को शान्त बनाता है। वह हमें प्रकाश देता है। शिक्षा वही है जो हमें आत्मिक स्वरूप की ओर ले जाय। जीवन को सही ढंग से जीने में हमारी मदद करे। पुस्तकों में, बड़ी-बड़ी पोथियों में, महापुरुषों के वक्तव्यों में यह सारा ज्ञान भरा पड़ा है। हम जानते भी हैं लेकिन वैसा आचरण कर नहीं पाते। कारण यह है कि जिनके सम्पर्क में हम रहते हैं उनके चिंतन और आचरण में ऐसा सौंदर्य, ऐसी सुगन्ध नहीं है। वस्तुतः शिक्षा में कोई कमी नहीं है। शिक्षा देने वाले में है। शिक्षक के भीतर वह गुरु नहीं है जिसकी बंदना में शंकराचार्य जी ने लिखा था—शरीरं सुरुपं तथा व कलत्रं, यशश्चारु चित्रं, धनमेरुतुल्यम्।

मनश्चेन्नलग्नं गुरोरंध्रिपदमे ततः किं, ततः किं, ततः किम्।

आशय है कि रूपवान देह हो, सुंदर युवा पत्नी हो, यश और कीर्ति हो, मेरुतुल्य वैभव और ऐश्वर्य हो, किन्तु यदि मन गुरु के कमलवत चरणों में न लगा हो तो क्या हुआ, क्या हुआ, क्या हुआ········ ?

गुरु का अभिप्राय विवेक से है। उस प्रकाश से है जिसके आलोक में हमें अपना कर्तव्य दिखाई देता है, जीने और व्यवहार बर्ताव करने का शहूर आता है। हमारी अंतर

की आंख खुलती है। उसके सानिध्य में हमें अपनी कमजोरियाँ दिखाई पड़ने लगती हैं। हमारे भीतर नैतिक और आत्मिक वल पैदा होता है। ऐसे गुरु आज कहाँ हैं ? इसीलिए हमारी शिक्षा, शिक्षासंस्थान और शिक्षार्थी सत्वहीन हैं। वे अपने अध्यापकों की ही सत्यप्रतिलिपि हैं। यह शिक्षा अर्थवान नहीं है। यह हमें मनुष्य नहीं बना रही है। चारित्रिक दीप्ति, आध्यात्मिक बल ग्रौर नैतिक शक्ति जाग्रत करने में ही शिक्षा की सार्थकता है। इस अर्थ में वह बांझ सिद्ध हो रही है। आवश्यकता इस बात की है कि आज शिक्षक अपने को टटोलें। वस्तुतः क्या वे गुरु हैं ? क्या उनकी ही वंदना में गोस्वामी जी ने लिखा था—

वंदउँ गुरुपद पदुम परागा। सुरुचि सुवास सरस अनुरागा।।
अमिय मूरिमय चूरन चारू। समन सकल भव रुज परिवारू।।
सुकृति संभु तन विमल विभूती। मंजुल मंगल मोद प्रसूती।।
जनमन मंजु मुकुर मल हरनी। किए तिलक गुन गन बसकरनी।।
श्री गुर पद नख मनि गन जोती। सुमिरत दिव्य दृष्टि हियँ होती।।
दलन मोह तम सो सप्रकासू। वड़े भाग उर आवइ जासू।।
उघरहिं विमल विलोचन ही के। मिटहिं दोष दुख भव रजनी के।।

तुलसी की दृष्टि में विष्णु और राम

डॉ० राम मोहन पाण्डेय

तुलसी के राम का महत्वपूर्ण अंश है उनका विष्णुत्व। जो राम निर्गुण-निराकार हैं उन्हें सगुण-साकार कोशलाधीश के रूप में प्रतिष्ठित कर तुलसी ने अपने रामरूप की कल्पना में वैशिष्ट्य ला दिया है। जो ब्रह्म सर्वदेशीय और विश्व रूप था वही नररूप में भक्तों का पालक हो गया। परमात्मा की परम्परित तीन शक्तियाँ-सर्जनात्मक, पालनात्मक एवं संहारात्मक सर्वव्यापी हैं और इनके प्रतीक देवता भी ब्रह्मा, विष्णु और महेश माने जाते हैं। भक्ति के क्षेत्र में आत्म-कल्याण और लोक कल्याण की भावना से परिचालित होकर भक्त मानस ने प्रभु के पालनात्मक स्वरूप का विशेष चिन्तन किया है। तुलसीदास वैष्णव भक्त कवि हैं इसलिए उन्होंने भी विष्णु के पालकरूप का विशेष गुणगान किया है। पर उनके राम में 'विधि सत कोटि सृष्टि निपुनाई'[१] के साथ ही असुर शक्तियों के विनाश एवं जड़ तत्वों के संहार की अमोघ शक्ति भी सन्निहित है।[२] वे विशिष्ट अंश और मुद्रा से क्षीर सागर में विश्राम करते हैं। उनका यह विष्णु रूप नैमित्तिक है, नित्य नहीं। ये राम ऐसे हैं जिनकी माया ब्रह्मा, विष्णु और महेश को भी नचाने वाली है।[३]

तुलसी ने राम की संहारात्मक चरित्र चिन्तना में जो नवीनता का संकेत किया है वह परम्परित संहारात्मक रूप से किंचित भिन्न है। मानस के प्राय: सभी असुर चरित किसी न किसी जन्म में भक्त थे और किसी त्रुटि विशेष के चलते शाप पीड़ित होकर अपने लोक से च्युत हो असुर रूप में जन्म लेकर पृथ्वी तलवासी भक्तों को अनेकानेक अत्याचारों से पीड़ित करने लगे। इनका संहार करने में राम ने वैष्णवसाधनानुरूप निर्वाणपद को ध्यान में रखकर संहार क्रिया का संपादक किया है। परिणामतः तुलसी के राम का संहार भी, 'निर्वाणदायक' है।[४] विष्णु के जिस पालक रुप की कल्पना पौराणिक आख्यानों में की गयी है उसकी स्थिति उनकी इस संहारात्मक क्रिया में भी बनी हुई है

गोस्वामी तुलसीदास के राम में ब्रह्मत्व, विष्णुत्व और मर्यादा पुरुषोत्तमत्व का मणि-कांचन योग है। क्योंकि तुलसी की राम-कल्पना में उनकी कारयित्री प्रतिभा ने पूर्ण ब्रह्म, विष्णु और आदर्श पुरुष के विखरे हुए तन्तुओं का संचयन करके उसे निर्मित किया है।

---

१ रा० च० मा०, उत्तरकाण्ड ९१।५।

२ विष्नु कोटि सम पालन कर्ता। रुद्र कोटि सत सम संहर्ता।।
-वही, उत्तरकांड, ९१।६।

३ जगु पेखन तुम्ह देखनिहारे। विधि हरि संभु नचावनिहारे।।
वही अयोध्याकांड १२६।१-२।

तेउ न जानहिं मरम तुम्हारा। औरु तुम्हहि को जाननिहारा।।
वही, उत्तरकांड ६२।ख।

४ वही, अरण्यकाण्ड, दो० २५, छंद एवं० दोहा २० (क)

राम के जिस ब्रह्मपरक सगुण स्वरूप का दर्शन तुलसीदास ने किया है उसका स्पष्ट विवेचन उनके काव्यों में स्थल-स्थल पर प्राप्त होता है। राम का यह अवतारी रूप अनादि विग्रह की स्वेच्छया अवतारणा है। वह ब्रह्मा, विष्णु, और महेश, अनादि विग्रह स्वेच्छया अवतारणा है। वह ब्रह्मा, विष्णु, और महेश सबसे ऊपर पूर्ण ब्रह्म परमात्मा का अनादि विग्रह है। उसके अंशमात्र से त्रिदेवों की उत्पत्ति हुआ करती है जो तत्वज्ञानियों का चिन्त्य और 'निरूपाधि' है उसे ही नयन-विषय बनाकर तुलसी ने उपस्थापित किया है :

> अगुन अखंड अनंत अनादी। जेहि चिंतहिं परमारथ बादी ।।
> नेति नेति जेहि बेद निरुपा। निजानंद निरूपाधि अनूपा ।।
> संभु बिरंचि विष्नु भगवाना। उपजहिं जासु अंश ते नाना ।।
> ऐसेउ प्रभु सेवक बस अहई। भगत हेतु लीला तनु गहई ।।[१]

तुलसी के ब्रह्म राम के सगुण स्वरूप की चर्चा के भीतर परंपरित विष्णु रूप की व्याख्या भी रुपायित होती है। यदि इसके मर्म को न समझा जाय तो राम और विष्णु के स्वरूप बोध में भ्रम की पर्याप्त संभावना बनी रहती है और कहीं-कहीं विसंगतियाँ भी प्रतीत होती हैं। पर, सम्यक् रुप से विचार करने पर स्थिति सुस्पष्ट हो जाती है।

मानस में एक ओर राम को ब्रह्मा, विष्णु और महेश का अंस दिखलाया गया है तो दूसरी ओर उन्हें भिन्न भी चित्रित किया गया है। पर समग्रतः उनकी एकरूपता का ही चित्रण तुलसी को अभीष्ट है। जो राम निर्गुण-निराकार है वही विष्णुरूप में तथा दशरथ सुत के रूप में भी अवतरित होते हैं। उनका नित्य रुप राम रुप है अन्य समस्त रुप नैमित्तिक हैं। आगे हम ब्रह्म से विष्णु और राम स्वरूप पर विचार करेंगे।

पूर्ण ब्रह्म राम की प्राप्ति के लिए मनु और शतरूपा तपस्यारत हैं। उनकी तपस्या पर रीझ कर' विधि, हरि और हर आते हैं।[२] पर 'परमधीर[३]' साधक विचलित नहीं होते। उन्हें तो 'भुसुंडि मन मानस हंसा[४]' और 'जो सरूप बस सिव मनमाहीं[५]' का दर्शन अभीष्ट था। फलतः उनके समक्ष 'नील सरोरुह नील मनि, नील नीरधर स्याम[६]' भगवान राम का आविर्भाव होता है और उन्हे उनके द्वारा बरदान प्राप्त होता है। इन सगुण ब्रह्म राम में भी कुंडल, मकर और श्रीवत्स[७] आदि विष्णुबोधक चिन्ह सुशोभित हो रहे हैं जिससे संकेत ग्रहण किया जा सकता है कि ये पूर्ण ब्रह्म अपनी समस्त विराट चेष्टाओं सहित विष्णु रुप को समाहित किए आविर्भूत हुए हैं। वही प्रभु जब कौशल्या के समक्ष प्रकट होते हैं तब 'लोचन

---

[१] रा० च० मा०, बालकाण्ड, १४३।४-७।
[२] रा० च० मा०, बालकाण्ड, १५५।२।
[३] वही, बालकाण्ड, १४४।३।
[४] वही, बालकाण्ड, १४५।५।
[५] वही, बालकाण्ड, १४५।४।
[६] वही, बालकाण्ड, १४६।
[७] वही, बालकाण्ड, १४६।५-६।

अभिरामा तनु घनस्यामा, निज आयुध भुज चारी[१]' के अद्भुत विष्णु रुप में। उस 'अनंता' एवं 'श्रीकंता[२]' की अस्तुति भी माता 'ब्रह्माण्ड' निकाया निर्मित माया रोम रोम प्रतिवेद कहे[३]' के अनादि ब्रह्म के रुप में ही करती हैं। अस्तु, यहां स्पष्ट है कि जो ब्रह्म का अनादि, ब्रह्माण्ड निकाया वाला स्वरूप है वही विष्णु रुप और रामरूप में प्रकट होता है।

इसके पूर्व नारद मोह के प्रसंग में शिवगणों को शापमुक्त होने का मार्ग निर्देश करते हुए नारद का कथन है—

भुजवल विस्व जितव तुम्ह जहिया। धरिहहिं विष्नु मनुज तनु तहिया ।।[४]

यही आश्वासन देवताओं को भी मिलता है, जहाँ 'कस्यप अदिति[५] के वरदान की चर्चा के साथ ही 'नारद वचन सत्य सब करिहऊँ[६]' के द्वारा नारद के शाप की सार्थकता सिद्ध की गयी है। नारद मोह प्रसंग मे एक बात ध्यान देने की है। वह है विष्णु और राम के ऐक्य की। भगवान शंकर ने देवर्षि नारद से प्रार्थना की—

वार बार विनवउं मुनि तोही। जिमि यह कथा सुनायहु मोही।
तिमि जनि हरिहिं सुनावहु कबहूं। चलेहु प्रसंग दुराएहु तबहूँ ।।[७]

पर नारद को यह प्रीतिकर नहीं लगा और वे अपने क्षीर सिन्धु वासी भगवान के पास पहुँच गए। यहाँ का पूरा प्रसंग राम के विष्णु रूप का ही बोधक है :

छीर सिन्धु गवने मुनि नाथा। जहं वस श्रीनिवास श्रुतिमाथा।
हरषि मिले उठि रमा निकेता। वैठे आसन रिषिहि समेता ।।[८]

से लेकर 'श्रीपति निज माया तव प्रेरी[९]' से होता 'हरिसन माँगौ सुन्दरताई[१०]' की स्थिति का स्पर्श करता 'दुलहिनि लैगे लच्छि निवास[११]' तथा 'फरकत अधर कोप मन माही। सपदि चले कमलापति पाही[१२]' और 'बीचहिं पंथ मिले दनुजारी ।। संग रमा सोइ राजकुमारी[१३]' के पास पहुँच कर तो यह पूरी कथा विष्णु के स्वरूप बोध के साथ जुड़ जाती है। आगे :

---

[१] वही, बालकाण्ड, १९१। छंद २।
[२] वही, बालकाण्ड, १९१। छंद ४।
[३] वही, बालकाण्ड, १९१। छंद ५।
[४] वही, बालकाण्ड, १३८।६।
[५] रा० च० मा०, वालकाण्ड १८६।३-५।
[६] वही, बालकाण्ड, १८६।६।
[७] वही, वालकाण्ड १२६।७-८।
[८] वही, वालकाण्ड १२७।४-५।
[९] वही, बालकाण्ड १२८।८।
[१०] वही, बालकाण्ड १३१।१
[११] वही, बालकाण्ड १३४:४।
[१२] वही, वालकाण्ड १३५।२।
[१३] वही, बालकाण्ड १३५।४।

मथत सिंधु रुद्रहिं बौरायहु । सुरन्ह प्रेरि विष पान करायहु ।।
असुर सुरा विष संकरहि आप रमा मनि चारु ।
स्वारथ साधक कुटिल तुम्ह सदा कपट व्यवहारु ।।[१]

की चर्चा विष्णु के पौराणिक आख्यान की पुष्टि करती है ।

पर बात यहीं समाप्त नहीं होती, अन्यत्र भी तुलसी ने ब्रह्म राम और विष्णु की एकता का बोध कराया है । जरा बनवासी राम की उस झांकी का अवलोकन करें जब वे सीता के विरह में व्याकुल हो रहे हैं । महर्षि नारद को अपना शाप स्मरण हो आया और वे उस भक्त-वत्सल के दर्शन का लोभ संवरण न कर सके :

विरहवंत भगवंतहि देखी । नारद मन भा सोच विसेषी ।।
मोर साप करि अंगीकारा । सहत राम नाना दुख भारा ।।
ऐसे प्रभुहि विलोकउँ जाई ।। पुनि न बनिहि अस अवसरु आई ।।[२]

यहाँ की नारद राम वार्ता से यह स्पष्ट हो जाता है कि ये राम वही हैं जो विष्णु रूप में नारद मोह प्रसंस के समय उपस्थित थे । नारद के प्रश्न से इसका और भी खुलासा हो जाता है :

अति प्रसन्न रघुनाथहिं जानी । पुनि नारद बोले मृदुवानी ।।
राम जवहि प्रेरेउ निज माया । मोहेहु मोहिं सुनहु रघुराया ।।
तब विवाह मैं चाहउँ कीन्हा । प्रभु केहि कारन करै न दीन्हा ।।[३]

तुलसीदास यह दिखलाना चाहते हैं कि उनके परात्पर ब्रह्म राम ऐसे स्वरूप हैं जो इच्छानुसार अलग-अलग रुपों में प्रकट हो जाते हैं । किसी को यह भ्रम न रहे कि विष्णु की राम से अलग कोई सत्ता है इसलिए तुलसीदास ने उनका समन्वयात्मक स्वरुप उपस्थित किया है ।

जय और विजय[४] तथा जलंधर[५] की पौराणिक कथांओं की मान्यता द्वारा भी यही संकेत पुष्ट होता है । गोस्वामी जी ने पुराणों की परम्परा के अनुसार ही जय और विजय को भगवान विष्णु का द्वारपाल माना है तथा विप्र शाप से उनके असुर होने की बात कही है ।[६] उनके संहार के लिए विष्णु के तीन अवतारों की बात पुराण संगत है । गोस्वामी जी 'वराह' और 'नरहरि[७]' के रूप में भगवान के अवतार लेकर हिरण्याक्ष और हिरण्कशिपु के वध की चर्चा द्वारा विष्णु रूप की ही पुष्टि करते हैं । आगे 'तीनि जनम द्विज वचन

---

१ रा० च० मा०, बालकाण्ड, १३५।८ से १३६
२ वही, अरण्यकाण्ड ४०।५-७ ।
३ वही, अरण्यकाण्ड ४२।१-३ ।
४ श्रीमद्भागवत, तृतीय स्कन्ध, अध्याय १५ ।
५ लिंग पुराण, अध्याय ९७, स्कंद पुराण, शिवपुराण तथा पद्मपुराण ५।२३
६ रा० च० मा०, बालकाण्ड १२१।४-५ ।
७ वही, बालकाण्ड १२१।७-८ ।

प्रव।ना[१]' कहकर रावण और कुंभकर्ण के वध द्वारा इस परम्परा का पोषण करते हैं। तभी—

एक वार तिन्ह के हित लागी। धरेउ सरीर भगत अनुरागी ॥[२]

के रूप में विष्णु और राम का अभेद सम्बन्ध प्रतिपादित करते हैं। यहाँ भगवान के माता-पिता के वारे में संकेत है कि :

कस्यप अदिति तहाँ पितु माता। दसरथ कौसल्या विख्याता[३]

और इसी की पुनरावृत्ति है देवताओं के समक्ष भी जब उन्हें अवतार का आश्वासन मिलता हैं :

कस्यप अदिति महातप कीन्हा। तिन्ह कहुँ मैं पूरब बर दीन्हा ॥
ते दसरथ कौसल्या रूपा। कौसलपुरी प्रगट नर भूपा ॥
तिन्ह के गृह अवतरिहउं जाई। रघुकुल तिलक सो चारिउ भाई ॥[४]

यहां पुराणों की परम्परा में विष्णु के अवतार लेने की पुष्टि अवश्य होती है पर विष्णु बोधक शब्द का प्रयोग नहीं मिलता। उन दो जन्मों में जो भी 'भगवाना[५]' रहा हो विष्णु रूप राम या रामरूप विष्णु पर इस जन्म मे तो 'भगत अनुरागी[६]' राम द्वारा ही उनका उद्धार हो रहा है।

ऐसी ही स्थिति जालंधर के संहार की भी हैं। शिवपुराण के आधार पर वृन्दा का सतीत्व विष्णु ने भंग किया और उसके द्वारा शापित हुए। गोस्वामी जी इस पौराणिक आख्यान प्रभु, के शापित होने एवं शाप के फलीभूत होने की वात स्वीकार करते हैं।[७] यहाँ का प्रसंग विष्णु के पौराणिक स्वरूप का पोषक है, साथ ही 'हरि' शब्द भी विष्णु-बोधक है। आगे और भी सुस्पष्ट हो जाता है कि 'वे कौतुक निधि' कोई और नहीं राम हीं हैं। इस प्रकार विष्णु और राम की अविच्छिन्न एकता का बोध होता है।

तुलसी दास ने जहाँ राम के लिए बिष्णु-बोधक 'हरि[८]', 'माधव[९]', 'केशव[१०]', 'रमानिवास[११]', आदि शब्दों का बहुसंख्यक प्रयोग किया है वहीं विष्णु के लिए कहीं-कहीं

---

[१] वही, वालकाण्ड १२२।१।
[२] वही, वालकाण्ड १२२।२।
[३] वही, वालकाण्ड १२२।३।
[४] वही, वालकाण्ड १८६।३-४-५।
[५] रा० च० मा०, बालकाण्ड १२२।१।
[६] वही, वालकाण्ड, १२२।२।
[७] वही, वालकाण्ड १२३। तासु श्राप हरि दीन्ह प्रमाना। कौतुक निधि कृपाल भगवाना। —वही, बालकाण्ड १२३।१।
[८] विनयपत्रिका, ११७,११८,१२०,१२१।
[९] वही, ८५,११३,११४,११५,१११६।
[१०] वही, १११-१२। रा० च० मा०, अरण्यकाण्ड ११।१।
[११] वही, अरण्यकाण्ड ११।१।

'राम[1]' शब्द का भी व्यवहार किया है। विनय के पदों में राम, कृष्ण, विष्णु आदि समस्त ब्रह्म विषयक उपाधियों एवं अवतारों की एकता का प्रतिपादन तुलसी को अभीष्ट है। अस्तु वे 'केशव', 'रघुपति', 'कृपासिंधु'. 'हरि', 'रघुवंशमणि'' सभी को एक मानकर संबोधित करते और 'व्याघ', 'गनिका,' 'प्रह्लाद, 'गज', 'विभीषण, 'ध्रुव' अंबरीष, सुयोधन, पांडव, अजामिल आदि के अलग-अलग चरित्रों के मुक्ति एवं भक्ति प्रदायक भगवान के विभिन्न अवतारों की लीला को एक साथ समेट कर उसे पूर्ण ब्रह्म राम के साथ नियोजित कर सबकी एकता का प्रतिपादन करते हैं।[2]

राम और विष्णु की स्वरूपगत एकता का प्रतिपादन ब्रह्मज्ञानी ऋषियों ने भी किया है। जब अत्रि राम की वन्दना करते हैं, जिन्हें ब्रह्म का सम्यक् बोध है तब वे— 'नमामि इंदिरा पतिं। सुखाकरं सतां गतिं[3]' कह कर राम और विष्णु में अभेद दृष्टि का परिचय देते हैं। यही स्थिति सनकादिक ऋषियों की है। वे 'जय इंदिरा रमन जय भूघर। अनुपम अज अनादि सोभाकर[4]' के रूप में राम का गुणगान करते हैं। वहीं सुतीक्ष्ण जैसे प्रेमी राम के 'भूपरूप' में ध्यानस्थ हो जाते हैं पर विष्णु के चतुर्भज रूप के दर्शन से व्याकुल हो उठते हैं।[5] यहाँ राम रूप के प्रति उनके अनन्य आस्था की बात तो है ही, साथ ही राम और विष्णु की एकता का भाव भी विद्यमान है। ये वही राम हैं जिनमें विष्णु रूप का समावेश सहज ही विद्यमान है, या यों कह लें कि ये दोनों एक ही है तो ज्यादा संगत होगा।

कुछ स्थल ऐसे भी हैं जहाँ विष्णु के सामर्थ्य की न्यूनता द्वारा राम की अनन्य शक्ति का परिचय दिया गया है। भगवान राम के निकटवर्ती, अनन्य भक्त हनुमान द्वारा रावण को जो सीख दी गयी है वह द्रष्टव्य है। उनका कथन है—

संकर सहस विष्णु अज तोही। सकहिं न राखि राम कर द्रोही।[6] यहां विष्णु से अलग राम की इयत्ता का बोध होता है। यही चरितार्थ होता है 'जयंत' के चरित में जिसे राम का कोप भाजन होने कीं वजह से कहीं ठौर नहीं मिला।[7] यह है राम की

---

[1] वही, लंका काण्ड, १०८। छंद–२।

[2] विनयपत्रिका ११२,१३७,१४५,१६०,२११ आदि।

[3] रा० च० मा०, अरण्यकाण्ड ३। छंद ११।

[4] वही, उत्तर काण्ड ३४।४।

[5] भूप रूप तब राम दुरावा। हृदय चतुर्भुज रूप देखावा॥
मुनि अकुलाइ उठा तब कैसे। विकल हीन मनि फनिबर जैसे॥
—वही, अरण्डकाण्ड ९।१८-१९।

[6] रा० च० मा०, सुन्दरकाण्ड २२।८ तथा २०।५ (जाके बल विरंचि हरि ईसा पालत सृजत हरत दससीसा।

[7] ब्रह्म धाम सिव पुर सब लोका। फिरा श्रमित व्याकुल भय सोका॥
काहूं बैठन कहा न ओही। राखि को सकइ राम कर द्रोही॥
—वही, अरण्यकाण्ड, दों॰ १।४-५।

विभुता, सर्वव्यापकता और शक्तिमत्ता जिसके समक्ष सभी नत हैं, विनत हैं, असमर्थ हैं। कुछ इसीं तरह का संकेत लक्ष्मण ने रावण के नाम अपनी पाती में किया है :

बातन्ह मनहि रिझाई सठ जनि घालसि कुल खीस।
राम विरोध न उबरसि सरन विष्णु अज ईस।[१]

इस प्रकार तुलसी के राम विष्णु की समस्त चेष्टाओं और उपाधियों से युक्त होकर भी उनसे श्रेष्ठ ही नहीं उनके विधायक भी हैं।[२] तभी तो तुलसीदास राम व्याह के समय 'दुलह' राम के अनुपम सौन्दर्य पर 'रमा समेत रमापति' को मुग्ध होते दिखलाया है।

तुलसी के राम का एक स्वरूप वह भी है जो शंकर के हृदय में विराजमान है। शंकर की अनन्य प्रेम-साधना से प्रसन्न हो भगवान का जो आविर्भाव होता है वह राम रूप का है यहाँ विष्णु की सत्ता अलग दृष्टिगत होती है :

नेमु प्रेमु संकर कर देखा। अविचल हृदय भगति के रेखा।।[३]
प्रगटे राम कृतग्य कृपाला। रूप सील निधि तेज विसाला।।

यहाँ शंकर के द्वारा राम की अभ्यर्थना 'नाथ[४]', 'प्रभु[५]' और स्वामी रूप में की गयी है और अंत में 'संकर सोइ मूरति उर राखी[६], की स्पष्ट घोषणा भी की गयी है। शंकर उनकी सलाह को 'आज्ञा' और अपने सहज धर्म के रूप में ग्रहण करते हैं :

सिर धरि आयसु करिअ तुम्हारा। परम धरमु यह नाथ हमारा।।[७]
तुम्ह सब भांति परम हितकारी। अग्या सिर पर नाथ तुम्हारी।।

इनके पश्चात् वहीं जब सारे देवताओं के साथ ब्रह्मा और बिष्णु आते हैं तो वे शंकर की ही अभ्यर्थना करते हैं :

सब्र सुर बिष्णु विरंचि समेता। गए जहाँ सिव कृपा निकेता।।[८]
पृथक-पृथक तिन्ह कीन्हि प्रसंसा। भए प्रसन्न चन्द्र अवतंसा।।

---

१ रा० च० मा० सुन्दरकाण्ड, ५६। क।

२ हरिहि हरिता, विधिहि विधिता, सिवहि सिवता जो दई।
सोइ जानकी-पति मधुर मूरति, मोदमय मंगल भई।।—विनय० पद १३५।३।
हरि हित सहित राम जब जोहे। रमा समेत रमापति मोहे।।
—रा० च० मा० बालकाण्ड, ३६६।३।

३ वही, बालकाण्ड ७५।४-५।

४ वही, बालकाण्ड ७६।१।

५ वही, बालकाण्ड ७६।३।

६ वही, बालकाण्ड ७६।७।

७ रा० च० मा० बालकाण्ड ७६।२-४।

८ वही, बालकाण्ड ८७।५-६।

यहाँ उनकी स्तुति से प्रसन्न होकर शंकर आने का कारण पूछते हैं और 'सुनि विधि विनय समुझि प्रभु वानी[१]' उसे स्वीकार कर लेते हैं। यहाँ समुझि प्रभु वानी की अर्थवता अपना विशेष महत्व रखती है। इस पूरे प्रसंग में विष्णु के शिव प्रिय होने की बात तो स्पष्ट है पर स्वामी होने की नहीं। यहाँ राम से अलग विष्णु की सत्ता का बोध होता है। पार्वती भी विष्णु को सर्वज्ञता में शंभु के तुल्य मानती है पर उनसे श्रेष्ठ नहीं।[३]

रावणवध के उपरान्त देवताओं द्वारा राम के जिस 'अविनासी', 'एकरस', 'अकल', 'निर्गुन', 'करुनामय' स्वरुप की तथा उनके विविध अवतारों द्वारा उनके 'सुरपालक' स्वभाव की वन्दना की गयी है वह पौराणिक विष्णु के अवतारों के मेल में है :

तुम्ह सम रुप ब्रह्म अविनासी। सदा एकरस सहज उदासी ॥[४]
अकल अगुन अज अनघ अनामय। अजित अमोघ सक्ति करुनामय ॥
मीन कमठ सूकर नरहरी। वामन परसुराम बपुधरी ॥
जब-जब नाथ सुरन्ह दुख पायो। नाना तनु धरि तुम्हइ नसायो ॥

इसी प्रकार वन गमन के समय केवट के प्रसंग में स्वयं तुलसीदास की टिप्पणी है :

पद नख निरखी देवसरि हरषी। सुनि प्रभु बचन मोह मति करषी ॥
सोइ कृपालु केवटहि निहोरा। जेहि जगु किय तिहुँ पगहुं ते थोरा ॥[५]

यहाँ अवश्य ही तुलसीदास का संकेत राम के विष्णु रूप की ओर ही लक्षित होता है। देवसरि का हर्षित होना तथा जगती का 'तिहु पगहुं ते थोरा' हो जाना विष्णु की पौराणिक कथा का संकेत है। अन्यत्र भी राम के प्रकट होने पर 'रेख कुलिस ध्वज अंकुस सोहे[६]' तथा 'उर मनिहार पदिक की सोभा। विप्र चरन देखत मन लोभा[७]'॥ के द्वारा राम को विष्णु-बोधक लक्षणों से युक्त दिखाने का प्रयास किया गया है।

'मानस' में जामवन्त जैसे दीर्घजीवी पात्र भी हैं जिन्हें 'खरारी' राम के वामनावतार की भी प्रत्यक्ष स्मृति है[८]। वे राम को 'निर्गुन ब्रह्म अजित अज' के रुप में जानकर भी सगुन ब्रह्म के अनुरागी होकर अपने को बड़भागी मानते हैं।[९] यहां राम के पूर्ण ब्रह्म और विष्णु के रुप की समन्वयात्मक अभिव्यक्ति हुई है। यही स्थिति है राजरानीं मन्दोदरी की भी।

---

[१] वही, बालकाण्ड ८८।५।
[२] वही, ९२।४।
[३] विष्णु जो सुरहित नर तनु धारी। सोउ सर्वग्य जथा त्रिपुरारी ॥
—वही, वालकाण्ड ५०।१।
[४] वही, लंकाकाण्ड १०९।५-८।
[५] रा० च० मा०, अयोध्याकांड १००।४-५।
[६] वही, वालकाण्ड १९८।३।
[७] वही, वालकाण्ड १९८।६।
[८] वही, किष्कि० २८।८। तथा २९।
[९] वही, किष्कि० २५।१२-१३।

उसे राम के विस्वरुप[१] का सम्यक् बोध है तथा प्रतीति है कि विष्णु रुप में जिस राम ने मधु और कैटम का तथा वाराह और नृसिंह रुप से हिरण्यकशिपु का वध किया वही राम जगती का भार हल्का करने के लिए पुनः अवतरित हुए हैं[२]। आगे इसी तथ्य की पुनरावृत्ति माल्यवंत जैसे जरठ निसाचर[३] के द्वारा भी होती है[४]।

विष्णु और राम की एकता का बोधक एक और तथ्य है जो बार-बार उजागर हुआ है। वह है विष्णु-पद-निर्गता गंगा का राम रूप से तादात्म्य। गौतम पत्नी अहल्या उद्धारोपरान्त राम की स्तुति करते समय उन पावन, पातकहारी चरणों का स्मरण करना नहीं भूलती जिनसे 'सुरसरिता' का प्रादुर्भाव हुआ है[५] और न राजा जनक द्वारा जामाता राम के पैर धोते समय कवि ही इस तथ्य को भूल पाता है।[६] यहाँ तक कि राम के राज्याभिषेक के उपरांत वेदों द्वारा जो स्तुति की गई है उसमें भी 'नख निर्गता मुनि वंदिता त्रैलोक पावनि सुरसरी[७]' के रूप में इन पाद पद्मों की वन्दना की गयी है।

विष्णु और राम के स्वरूपबोध के मर्म को समझने में सती एवं कागभुशुंडि के मोह के प्रसंग भी विचारणीय हैं। दोनों के मोह का कारण भगवान के मानवीय स्वरूप में विभुता की अभाव दृष्टि है। पर यहाँ उन्हें राम के जिस स्वरूप का दर्शन होता है वह 'सबदरसी'[८] 'अन्तरजामी' और 'सर्वग्य'[९] राम का है जो एकमात्र जगत का कारण और सबका स्वामी है। ब्रह्मा, विष्णु आदि के अनेकों रूपों के बीच स्थित राम के एक ही रूप ने उनके पूर्ण परात्पर ब्रह्म होने की वास्तविकता ही उजागर की है।

सती ने जिस 'कौतुक'[१०] का दर्शन किया उसमें :

देखे सिव विधि विष्नु अनेका। अमित प्रभाउ एक तें एका ॥
वंदत चरन करत प्रभु सेवा। विविध वेष देखे सब देवा ॥
सती बिधात्री इन्दिरा देखीं अमित अनूप।
जेहि जेहि वेष अजादि सुर तेहि तेहि तन अनुरूप ॥

---

[१] वही, लंकाकांड, १४-१५।

[२] वही, लंका काण्ड ५१७-८-९।

[३] वही, लंका काण्ड ४७।५।

[४] वही, लंका काण्ड ४८-क : हिरन्याच्छ भ्राता सहित मधु कैटभ बलवान।
जेहिं मारे सोइ अवतरेउ कृपा सिंधु भगवान ॥

[५] रा० च० मा०, बालकाण्ड २१०। छंद ७।

[६] मकरंदु जिन्ह को संभु सिर सुचिता अवधि सुर बरनई।
वही, बालकांड ३२३। छंद २।

[७] वही, उत्तरकाण्ड १२। छंद ४।

[८] वही, बालकाण्ड ५२।३।

[९] वही, बालकाण्ड ५२।४।

[१०] वही, बालकाण्ड ५३।४।

देखे जहँ तहँ रघुपति जेते। सवितन्ह सहित सकल सुर तेते ।।
जीव चराचर जो संसारा। देखे सकल अनेक प्रकारा ।।
पूजहिं प्रभुहिं देव बहु वेषा। राम रूप दूसर नहिं देखा ।।
अवलोके रघुपति बहुतेरे। सीता सहित न वेष घनेरे ।।
सोइ रघुवर सोइ लछिमन सीता। देखि सती अति भई समीता ।।[१]

यहाँ सती द्वारा शक्तियों के सहित त्रिदेवों एवं विविध देवों के एक से एक बढ़ कर प्रभावशाली रूप के दर्शन और उनके द्वारा सेवित राम रूप की अखण्ड एकरसता द्वारा तुलसी ने यह सिद्ध किया है कि राम के स्वरूप में ही इन समस्त देवों की सत्ता का सन्निवेश है। ये समस्त देव अलग-अलग होकर भी मूलतः राम में ही समाहित हैं। इसी प्रकार मोहग्रस्त कागभुशुंडि ने भी राम के उसी अखण्ड अनन्तस्वरूप का दर्शन किया है।[२] इन दोनों ही प्रसंगों में ब्रह्मा, विष्णु आदि को विविध रूपों में चित्रित कर राम की निरवधि एकरसता का निरूपण किया गया है। राम अलौकिक और अविच्छिन्न हैं जो समस्त काल और उपाधियों से रहित निर्वाध हैं। विष्णु आदि के स्वरूप में अन्तर सम्भव है पर राम की पूर्णता में कहीं से लेशमात्र भी अन्तर नहीं आया है। कौशल्या को भी राम ने अपना ऐसा ही रूप दिखलाया था। जहाँ 'अगनित रवि ससि शिव चतुरानन'[३] की चर्चा तो है पर विष्णु की नहीं है। फिर भी भाव तो एक ही प्रतीत होता है। यहाँ राम के त्रिदेवोपरि सगुण निर्गुणातीत रूप की अभिव्यक्ति हुई है। यही तुलसी के राम का पूर्ण ब्रह्मत्व है।

समग्र अनुशीलन के पश्चात् तुलसी के राम का जो स्वरूप उपस्थित होता है वह शंकर के द्वारा निरुपित राम का सर्वव्यापक स्वरूप ही है। शायद देवताओं के समक्ष भी यह जटिल प्रश्न उपस्थित था कि इस धरणी का भार हल्का करने के लिए सर्वशक्तिमान

---

[१] रा० च० मा०, बालकाण्ड ५३।७ से ५४।५।

[२] उदर माझ सुनु अंडजराया। देखेउँ बहु ब्रह्माण्ड निकाया ।।
अति विचित्र तहँ लोक अनेका। रचना अधिक एक ते एका ।।
कोटिन्ह चतुरानन गौरीसा। अगनित उडगन रवि रजनीसा ।।
वही, उत्तर० ७९।३-४-५।
लोक लोक प्रति भिन्न विधाता। भिन्न विष्नु शिव मनु दिसित्राता ।।
वही, उन्नर० ८०।१।
दसरथ कौसल्या सुनु ताता। विविधरूप भरतादिक भ्राता ।। वही, उत्तर ८०।७
भिन्न-भिन्न मैं दीख सब अति विचित्र हरिजान।
अगनित भुवन फिरेउँ प्रभु राम न देखेउँ आन ।।
सोइ सिसुपन सोइ सोमा सोइ कृपालु रघुवीर।
भुवन भुवन देखत फिरउँ प्रेरित मोह समीर। वहीं, उत्तर० दो० ८१। क-ख।

[३] रा० च० मा०, बालकाण्ड २०१।१।

ईश्वर की खोज कहाँ की जाए।[1] समस्त पौराणिक प्रसंगों के सन्दर्भ में तुलसी ने अपने ब्रह्म राम के नव्यतम स्वरूप की प्रतिष्ठा द्वारा एक ऐसी उद्भावना की है जहाँ केवल प्रेम की ही प्रधानता है। तुलसी के राम केवल 'क्षीरसायी' हैं न 'वैकुंठाधिपति'। उनका सुखद निवास तो जनमानस का प्रेमपयोनिधि है जहाँ से वे भक्त की आर्त पुकार सुनते ही सद्यः प्रकट हो जाते हैं। यहाँ न तो वैकुंठ का द्वार खटखटाने की आवश्यकता है न क्षीरसिन्धु के खोज की। वे देश, काल, जाति, धर्म की सीमा से परे विशुद्ध राग की भाव-भूमि पर स्वतः प्रकट हो जाते हैं, आवश्यकता है शुद्ध मानस और प्रेम के प्रवाह की। तभी तो देवताओं की 'पुर वैकुंठ' और 'पयनिधि' में प्रभु को ढूंढने की सलाह[2] को अमान्य करते हुए भगवान शंकर ने राम के वास्तविक स्थायी निवास के मर्म को स्पष्ट किया। उनकी दृष्टि में प्रभु का निवास वैकुंठ और क्षीरसागर से इतर प्रेमनिधि मे हैं।[3]

———

[1] रा० च० मा०, बालकाण्ड १८४।१।

[2] वही, बालकाण्ड १८४।२।

[3] हरि व्यापक सर्वत्र समाना। प्रेम ते प्रगट होहिं मैं जाना॥
देस काल दिसि विदिसिहु माही। कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाही॥
अग जगमय सब रहित बिरागी। प्रेम ते प्रभु प्रगटइ जिमि आगी॥
रा० च० मा०, बालकाण्ड १८४।५–७।

'शकुन' एक विश्लेषण

कु० अर्चना भार्गव

मानव दिन प्रतिदिन उन्नति की ओर अग्रसर होने का प्रयास करता है पर इस उन्नति के प्रयास में कुछ ऐसे तथ्यों का योग अपने साथ मानता चलता है जिस कारण उसे अपनी उन्नति व अवनति की आशाओं का अनुमान होने लगता है। इन्हीं आशाओं के लिए -विभिन्न समाजों में 'शकुनों' का महत्वपूर्ण स्थान है।

'शकुन' शब्द को एकाएक सुनने में आश्चर्य तो अवश्य लगता है किन्तु इस आश्चर्य के साथ-साथ इस पर विचार करना भी अत्यावश्यक हो जाता है। शकुन शब्द में शक् प्रकृति तथा उनन् प्रत्यय है जिसका सामान्य अर्थ है—"शुभाशुभ बतलाने वाला चिन्ह।" यही 'शकुन' (संस्कृत शब्द) हिन्दी में 'शगुन' के रूप में प्रसिद्ध है। सर्वप्रथम यह जानना आवश्यक है कि यह 'शकुन' है क्या ?

समाज में शकुनों के स्वरूप पर अनेक प्रकार से विचार किया गया है पर सब विचारों का अन्तिम निर्णय लगभग एक ही तत्त्व को प्राप्त होता है—"ऐसे आकस्मिक संकेत जो भविष्य मे भारी शुभाशुभ घटना के द्योतक हों उन्हें शकुन कहते हैं।" अर्थात् शकुनों के द्वारा केवल भविष्य में घटित होने वाली घटना का संकेत मात्र ही होता है, वे शकुन उस घटना के शुभ या अशुभ होने के कारण नहीं बनते हैं। इसलिये हम कह सकते हैं कि संकेत और घटना में कार्यकारण भाव नहीं होता।

संकेत सर्वदा आकस्मिक होते हैं। यदि पूर्व उद्देश्य के अनुसार कोई घटना होती है तो वह शकुन के अन्तर्गत नहीं मानी जायेगी क्योंकि शकुनों के लिये किसी भी प्रकार की पूर्वयोजना नहीं बनाई जाती है। इन शकुनों का स्वरूप और भी तब स्पष्ट होता है जब हम शकुनों के दृष्टान्तों का अवलोकन करते हैं।

इस प्रकार शकुन के दो रूप हमारे सामने आते हैं। १—शुभ शकुन २—अशुभ शकुन। अब प्रश्न यह उठता है कि इन शकुनों की उत्पत्ति का कारण क्या है ? इसके समाधान में कहा जा सकता है कि शकुनों की उत्पत्ति में भय और अज्ञान का ही योग होता है। भय और अज्ञान एक प्रकार से परस्पर जुड़े हुए हैं। अज्ञान चूँकि अविवेक की कोटि में आता है इसलिये अज्ञान के साथ-साथ जो भय होता है वह भी अविवेकपूर्ण ही होता है जैसा कि स्त्रियों का यदि दायाँ नेत्र फड़कने लगता है तो वह असुरक्षा की भावना से युक्त विवेकहीन भय का अनुमान करने लगती हैं।

शकुनों की कई कोटियाँ दृष्टिगोचर होती हैं जो स्थूल रूप से इस प्रकार हैं :—

१—बिजली, वर्षा आदि प्राकृतिक तत्त्वों से होने वाले शकुन।

२—नेत्र बाहु आदि शारीरिक लक्षणों से प्राप्त शकुन।

३—अश्व, काक आदि पशुपक्षियों से प्राप्त शकुन।

४—स्वप्नों में होने वाले शकुन।

५—इनके अतिरिक्त जो शकुन हैं उन्हें मिश्रित शकुनों की कोटि में रख सकते हैं।

प्राकृतिक तत्त्वों में से कुछ तत्त्व केवल शुभ शकुन के और कुछ तत्त्व केवल अशुभ शकुन के तथा कुछ दोनों के सूचक होते हैं। जैसा कि आँधी को अशुभ शकुन का सूचक माना गया है तथा पुष्प वर्षा को सदैव शुभ शकुन का सूचक माना गया है किन्तु वायु, बिजली आदि कुछ ऐसे प्राकृतिक तत्त्व हैं जो शुभ और अशुभ दोनों शकुनों के सूचक होते हैं।

रघुवंश महाकाव्य में राजा दिलीप एवं रानी सुदक्षिणा के मार्ग में अनुकूल वायु का चलना शुभ शकुन का सूचक माना गया है—

"पवनस्यानुकूलत्वात्प्रार्थनासिद्धिशंसिनः।
रजोभिस्तुरगोत्कीर्णैरस्पृष्टालकवेष्टनौ॥"

मेघदूत में मेघ के मार्ग में मन्द-मन्द अनुकूल वायु का चलना कार्य की पूर्णता में शुभ सूचक माना गया है।

"मन्दं मन्दं नुदति पवनश्चानुकूलो यथा त्वां।
वामश्चायं नदति मधुरं चातकस्ते सगन्धः॥"

रावणवध महाकाव्य में विभीषण ने रावण को समझाते समय विकट आँधी का अशुभ शकुन के रूप में प्रतिपादन किया है—

"निमित्तशून्यैः स्थगिता रजोभिर्दिशो मरुद्भिर्विकृतैर्विलोलैः॥"

बालचरित नाटक में कृष्ण के जन्म के समय विद्युत का प्रकाशित होना आदि शुभ शकुन के सूचक माने गये हैं—

"भ्रमति नमासि विद्युच्चण्डवातानुविद्धैर्नवजलदनिनादैर्मेदिनी सप्रकम्पा।"

वाल्मीकि—रामायण में राम जब ऋषि विश्वामित्र के यज्ञ में विघ्न उपस्थित करने वाले राक्षसों के विनाश हेतु प्रस्थान करते हैं उस समय पुष्पवर्षा का होना अत्यन्त शुभ शकुन का सूचक माना गया है—

"पुष्पवृष्टिर्महत्यासीद्देवदुन्दुभिनिस्वनैः।
शंखदुन्दुभिनिर्घोषः प्रयाते तु महात्मनि॥"

कुछ शारीरिक लक्षण भी ऐसे होते हैं जिनसे शुभ और अशुभ शकुनों की सूचना मिलती है। अक्सर यदि पुरुषों की बाँयीं आँख फड़कती है तो वह अशुभ का द्योतक मानी जाती है, किन्तु दायाँ नेत्र फड़कने पर शुभ शकुन माना जाता है। जैसे कि वाल्मीकि—रामायण में राम के साथ युद्ध के लिये राक्षस खर का जो प्रस्थान है उस समय उसकी बायीं भुजा फड़कना अशुभ संकेत माना गया है।

"प्राकम्पतः भुजः सव्यः स्वरश्चास्यावसज्जत।
सास्रा संपद्यते दृष्टिः पश्यमानस्य सर्वतः॥"

मृच्छकटिक प्रकरण मे वसन्तसेना की दायीं आँख का फड़कना विपत्ति का सूचक माना गया है ।

"वसन्तसेना—(दक्षिणाक्षिस्पन्दं सूचयित्वा प्रवहणमधिरुह्य च) किन्तु इदं स्फुरति दक्षिणं लोचनम् ? अथवा चारुदत्तस्यैव दर्शनमनिमित्तं प्रमार्जयिष्यति ।।"

अभिज्ञान शाकुन्तल नाटक में कण्व के आश्रम में जाते समय दुष्यन्त की दायीं भुजा का फड़कना किसी सुन्दर नारी की प्राप्ति का सूचक माना गया है—

"शान्तमिदमाश्रमपदं स्फुरति च बाहुः कुतः फलमिहास्य ।
अथवा भवितव्यानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र ।।"

मृच्छकटिक प्रकरण में चारुदत्त के चरणों का एकाएक लड़खड़ाना अशुभ शकुन का सूचक माना गया है—

"स्खलति चरणं भूमौ न्यस्तं चार्द्रतमा मही ।"

मालती माधव नाटक मे कामन्दकी की बायीं आँख का फड़कना मालती तथा माधव के विवाह मंगल का सूचक होने के कारण शुभ शकुन माना गया है—

"मालतीमाधवयोरभिमतपाणिग्रह-मंगलं स्यात् ।।"

वेणीसंहार नाटक में जब दुर्योधन का बायाँ नेत्र फड़कता है तो उसका हृदय क्षोभ से व्याकुल हो उठता है—

"दुर्योधनः—(वामाक्षिस्पन्दनं सूचयित्वा)
आः ममापि नाम दुर्योधनस्यानिमित्तानि हृदय क्षोभमावेदयन्ति ।"

आश्चर्यचूड़ामणि नाटक में राम की बायीं भुजा का फड़कना अत्यन्त अशुभ शकुन माना गया ह—

"वामो वामाक्षि बाहुः स्फुरति तव शिखाबन्धनस्यैकबन्धुः ।"

तपतीसंवरण नाटक में राजा संवरण के दायें नेत्र का फड़कना शुभ माना गया है । सुभद्राधनंजय नाटक में धनंजय की बाँयीं भुजा का फड़कना अशुभ माना गया है ।

पशुपक्षियों के कारण भी अनेक प्रकार के शकुन दृष्टिगोचर होते हैं । जैसे कि श्वान का रोना अशुभ का सूचक माना गया है ।

रघुवंश महाकाव्य में दशरथ के मार्ग में शृगालों का गुंजन भावी विपत्ति का सूचक माना गया है—

"क्षत्रशोवितपितृक्रियोचितं चोदयन्त इव भार्गवं शिवाः ।।"

श्रीकण्ठचरित महाकाव्य में दैत्यों के प्रस्थान के समय शृगालों का उनके समक्ष में कटु शब्द करना विघ्न का सूचक माना गया है—

"अग्रतः पिशुनिताशिवाः शिवा वाशितानि दिवसेऽपि तेनिरे ।"

बालभारत महाकाव्य में कौरवों की नगरी में श्वानों के रुदन को कर्ण ने भावी विनाश का सूचक बताया है—

"चण्डालभूतेष्विव दुश्चरित्रैर्धावन्ति दूराद् भावना भषन्तः ।
काकाश्च मौलिनभि कौरवेषु मृतेष्विव क्रूरखाः पतन्ति ।।"

भरतचरित महाकाव्य में दुष्यन्त के रथ में जुते हुए अश्वों को मृगया के प्रस्थान के समय शुभ माना गया है—

"हेषाः कल्याणशंसिन्यो रथ्यानां तस्य निर्गमे ।
जयेति वन्दिनां घोषं तथेति प्रतिशश्रुवः ।।"

शकुनों की कोटि में स्वप्नों से होने वाले शकुन भी प्रायः होते हुए माने गये हैं। इसमें कुछ शकुन तो ब्राह्ममुहूर्त के होते हैं और कुछ ब्राह्ममुहूर्त से इतर होते हैं। जैसे— यशस्तिलक चम्पू में रानी चन्द्रमति के द्वारा ब्राह्ममुहूर्त स्वप्न में इन्द्र को पुत्र के रूप में देखना तेजस्वी पुत्र की प्राप्ति का शुभ शकुन माना गया है—

"इत्थं मया किमपि देव निशावसाने, स्वप्ने व्यलोकि तव संततिहेतुभूतम् ।"

मल्लिनाथचरित महाकाव्य में राजा भीम की स्त्री द्वारा स्वप्न में गृह में गज का प्रवेश शुभ सन्तान की प्राप्ति का शकुन बताया गया है—

"सुखप्रसुप्ता सा स्वप्नं प्रेक्ष्य राज्ञे व्यजिज्ञपन् ।
जाने हस्ती दवत्रस्तस्तवौकसि समाययौ ।।"

कादम्बरीकथासार में स्वप्न में शुकनास—पत्नी के अंक मे कमल की प्राप्ति तथा रानी विलासवती के मुख में चन्द्रमा का प्रवेश करना दोनों के लिये सन्तान की प्राप्ति में शुभ सूचक माना गया है। प्रसन्नराघव नाटक में गोदा नदी चामर और छत्र लेकर राम की सेवा में लगी हुई हैं ऐसा स्वप्न सीता के द्वारा देखने पर अत्यन्न शुभ शकुन माना गया है—-

"त्रिजटा—तर्हि बर्द्धसे ! सुखस्वप्न खल्वसौ ।"

श्रीशंकरदिग्विजय महाकाव्य में स्वप्न में भगवान् शंकर का शिवगुरू के लिये पुत्र—वरदान उनके जीवन में श्रेष्ठ पुत्र-प्राप्ति का सूचक माना गया है—

"स्वप्न शशंस वनितामणिरहस्य भार्या
सत्यं भविष्यति तु नौ तनयो महात्मा ।"

कुछ शकुन इस प्रकार के प्रचलित हैं जिन्हें किसी विशेष कोटि में न रखकर एक मिश्रित कोटि मे रखा जा सकता है। जैसे—पंचरात्र नाटक में धार्तराष्ट्रों के युद्ध के लिये जाते समय रथ का टूटना भावी विघ्न का सूचक माना गया है—

"(प्रविष्य)

भटः—भग्नः खलु कुमारस्य रथः ।

राजा—कथं भग्नो नाम ।

भगवान्— (प्रकाशम्) भो राजन् ।

निमित्तं किंचिदुत्पन्नं श्मशानाभिमुखे रथे।
धार्तराष्ट्राः स्थिता यत्र श्मशानं तद् भविष्यति ॥"

नैषधीय चरित महाकाव्य में हंस की यात्रा के प्रारम्भ में जल से परिपूरित कलश का दर्शन कार्यसिद्धि में शुभ शकुन माना गया है—

"प्रथमं पथि लोचनातिथिं पथिक प्रार्थित सिद्धिशंसिनम्।
कलसं जलसंभृतं पुरः कलहंस कलयाम्बभूव सः ॥"

अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक में शकुन्तला के लिये वनदेवताओं द्वारा मांगलिक वस्तुओं का प्रदान करना शुभ शकुन माना गया है। मृच्छकटिक नाटक में प्रस्थान के समय चारुदत्त द्वारा बौद्ध-सन्यासी का देखना अशुभ शकुन माना गया है—

"चारुदत्तः—तदेहि, गच्छावः।
(परिक्रम्य) कथमभिमुखमनाभ्युदयिकं श्रमणकदर्शनम् ॥"

हरविजय महाकाव्य में युद्ध के प्रस्थान के समय राक्षसों का अट्टहास करना तथा हाँकने पर भीं अन्धकासुर के रथ का न चलना भविष्य में होने वाले विनाश का अशुभ शकुन माना गया है।

इस प्रकार अनेक नाटक, काव्य आदि देखने पर ज्ञात होता है कि उनमें स्थल-स्थल पर शकुनों के उदाहरण भरे पड़े हैं। यदि सबका विश्लेषण किया जाय तो हमारे पास शकुनों के अनेकानेक उदाहरण उपस्थित हो जांयेंगे किन्तु यहाँ मेरा उद्देश्य 'शकुन' शब्द को स्पष्ट करना है। इसलिये शकुन के कुछ उदाहरणों को ही दिया है। यहाँ तक कि अशुभ शकुनों की निवृत्ति के लिये भी काव्य तथा नाटकों आदि में उपाय बतलाये गये हैं। जैसे—स्तुति के द्वारा देवताओं को प्रसन्न करके उनको इच्छा को शान्त करना आदि।

मृच्छकटिक नाटक के मवे अंक में जब चारुदत्त के पैर लड़खड़ाने लगते हैं, बायीं आँख फड़कने लगती है तो इन अपशकुनों की निवृत्ति के लिये देवताओं का स्मरण किया जाता है—

"सर्वथा देवताः स्वस्ति करिष्यन्ति।"

आश्चर्यचूड़ामणि नाटक में राम की बायीं भुजा फड़कने पर इस अपशकुन की निवृत्ति के लिये तप किया गया है—

"सीता—आर्यपुत्र ननु तप एव शान्तिरमंगलस्य।"

इस प्रकार शुभाशुभ शकुनों तथा अशुभ शकुनों की निवृत्ति-परम्परा सभी समाजों में प्रचलित है, यहाँ तक कि शिक्षित वर्ग भी इन शकुनों की परम्परा में विश्वास करता है। अतः ऐसी परम्परा का अवलोकन करके प्रतीत होता है कि भविष्य में भी सभी समाज इस परम्परा का अनुसरण करेंगे।

निष्कर्ष यही है कि शकुन को एक प्रकार का अंधविश्वास कहा जा सकता है। जसे किसी के यहाँ अमुक दिन यात्रा करने से अचानक कुछ अपशकुन घटित हो जाता है

तो उसके गृह में यह घटना परम्परा का रूप धारण कर लेती है कि इस दिन यात्रा करना अपशकुन है या परीक्षा भवन में अकस्मात् कापी पर स्याही फैल जाने से यह शकुन शुभ शकुन का रूप धारण कर लेता है।

वास्तविक रूप से देखा जाय तो मेरी दृष्टि में शकुनों में सदैव ही मिथ्या प्रवृत्ति का योग रहता है। यद्यपि संसार में आदिकाल से मानव शकुनों को मानता आया है और बड़े-बड़े ग्रन्थों में इसका उल्लेख भी मिलता है। किन्तु सत्य तो यही है कि जिन्हें शकुन माना गया है उसके विपरीत भी कार्य हो जाते हैं। जैसे—यदि दायीं आँख के फड़कने से किसी श्रेष्ठ कार्य की संभावना मानी जाये तो आवश्यक नहीं है कि कार्य श्रेष्ठ ही होगा। इसके विपरीत भी कार्य होते देखे गये हैं।

अतः अन्त में यही कहना होगा कि शकुन मिथ्या से युक्त एक प्रकार का अंधविश्वास है परन्तु मानव अपने सन्तोष के लिये इसका सहारा लेता रहता है और भविष्य में भी इसका सहारा लेता रहेगा।

शोध-छात्रा
संस्कृत विभाग
का० हि० वि० वि०

काशी की देवियाँ : स्थान एवं महत्व

डॉ० सरित श्रीवास्तव

जिस प्रकार काशी में शिवलिंगों का विशेष महत्व है उसी प्रकार देवियों का भी महत्व है। काशी में देवियों का महत्व विशेषकर दुर्गापूजा में अधिक है। उसी समय देवियों की पूजा देखने योग्य हैं। प्रत्येक देवी का अपना विशिष्ट स्थान है। काशी खण्ड के अनुसार काशी में ५६ देवियां हैं।

१—**शान्तिमरी गौरी**—इनका स्थान आदि केशव के समीप पूर्व में था। ग्रन्थानुसार आदि केशव के पूर्व संगमेश्वर और इसके पूर्व प्रयाग लिंग था।

शान्तिमरी गौरी पूजिता क्रद्भवेत ।।९७।१७।। काशी खण्ड/लिंग पुराण गुह्यातन वर्णन में अधिक रूप से इनके स्थान का वर्णन मिलता है—

प्रयाग लिंग सा शंकरी देवी विल्ववृक्षे उवतिष्ठिते
शान्ति करोति सर्वेषां येच तीर्थनिवासिनः।

प्रयाग लिंग के समीप, विल्व वृक्ष के नीचे गंगा/वरणा संगम के पहले ही इनका स्थान था। अव वरणा तट पर मढ़िया व ककरहा घाट के वीच इनकी पुर्नस्थापित मूर्ति है।

२—**विकटादेवी**—शान्तिमरी गौरी के बाद विकटा देवि का उल्लेख मिलता है। पंच मुडं महा पीठेविकरा नाम मातृका ।।८३-३६।। काशी खण्ड तथा बीच का विकटा देवि पंचमुद्रे महापीठे ।।६९-४९।। काशी खण्ड के रूप में आया है। वीरेश्वर के समीप पंचमुडा महापीठ में इनकी मूर्ति थी। वीरेश्वर तथा पंचमुद्रा महापीठ राजघाट के समीप था। पंचमुद्रा महापीठ शक्ति का स्थान था।

वीरेश्वर वहाँ से हटकर वर्तमान काल में आतम वीरेश्वर के नाम से संकटाघाट के समीप ही है तथा विकटा देवी अब संकठा देवी के नाम से प्रसिद्ध हैं। आत्मा वीरेश्वर के मन्दिर में स्थित कात्यायनी दुर्गा भी इनका दूसरा स्थान हो सकता है। परन्तु साम्यता एवं विकटा देवी की प्राचीन मान्यता पर विचार करने पर संकठा स्थान ही अधिक उपयुक्त दूसरा स्थान प्रतीत होता है। इनको महागौरी भी कहते हैं।

३—**महामुण्डा देवी**—इनका उल्लेख काशी खण्ड में है—

कपाली भैरव चण्डी महामुण्डा भक्त विघ्नोपशान्तित्तदा ६५।१५
तत्र मुण्डमयी मालामया क्षिप्ताडति शोभना।
महामुण्डा हातो देवी समुत्पन्ना घहमरणी ।।९७।७०।

लिंग पुराण गुह्यायतन में इनका वर्णन इस प्रकार है—

शुभोद कूपस्य सा देवी उपरिष्टात् स्थित शुभा
स्नानार्थ तजसा साक्षिप्ता माला मुण्डमयी मया
तेन संप्रोच्यते देवि महामुनेति मानवे ।।

दोनों वर्णनों से यह स्थान लाट भैरव के समीप कहीं था। इस ममय महामुण्डा देवी का नवीन स्थान जैतपुरा मुहल्ले में वागेश्वरी के नाम से प्रसिद्ध है।

४—**भद्रकाली** नाम की देवी का दो स्थानों में वर्णन मिलता है एक मध्यमेश्वर के समीप दूसरा अविमुक्त के निकट भी भद्रकाली द्वन्द्व का उल्लेख किया गया है। जिससे भद्रकाली देवि का स्थान होना अनुमानित होता है।

मध्येश्वर के समीप भद्रकाली का स्थान इस प्रकार निरूपित है।

भद्रकाली नरोंकृष्द्वा नपडंक्पशति क्वचित् भडनागस्थ
पुरतो भद्रवाच्यां कृतोदक ।।६०-४४।। काशी खण्ड
भद्रदा महाकाली च वीरभद्रस्य दक्षिणतः शुभा महकाल
हृदो नाम तजाडतीव शुभप्रद ।।९७।१५६।।

वीरभद्र भी दो हैं। एक मध्येश्वर के समीप और दूसरा विश्वेश्वर के समीप। इसी स्थान पर लिंग पुराण में भी भद्रकाल हृद का वर्णन है—

तयोस्ट्ट दक्षिणो देवि भद्रकाल हृदंस्मतम्

अविमुक्त के समीप भद्रकाली के विषय में यह लेख है—

भद्रयां भद्रकात्या च मार्यया शुभयायुतम्।
वीरभद्र नरोम्यर्च्य काशी वास फलं लभेत ।।५५-७।।

वर्णित दोनों स्थानों पर मूर्ति इस समय भी है।

५—**भद्रा देवी**—भद्रकाली के स्थान पर भद्रादेवि की भी प्रतिमा थी।

६—**ज्येष्ठा देवी**—ज्येष्ठा देवि का काशी खण्ड में विशेष महत्व है। ज्येष्ठ शुक्ल अष्टमी के दिन इनका महोत्सव होता था। ज्येष्ठ शुक्ल चतुर्दशी सोमवार के दिन यदि अनुराधा नक्षत्र होता था तो इस पर्व पर ज्येष्ठता की महा यात्रा होती थी। ज्येष्ठा स्थान पर ज्येष्ठेश्वर, ज्येष्ठा वापी ज्येष्ठा देवी ज्येष्ठा विनायक की मूर्तियां थीं। ज्येष्ठा देवी का मन्दिर सम्प्रति भूत भैरव के समीप है।

७—**मंगल गौरी**—का मन्दिर मंगला गौरी घाट पर है जो पंचगंगा के निकट उत्तर दिशा में है। ग्रन्थ में चैत्रशुक्ल ३ के दिन रात्रि में जागरण एवं ब्रत होता है। व्रत के बाद प्रतिक्रिया लिखी गई है। मंगला गौरी के समीप ही मयूखादित्य, गमस्तीरा किरणेश्वर की मूर्तियां थीं जो आज भी हैं।

८—**वदनपेक्षणा या मुखप्रेक्षणा**—मंगला गौरी के समीप मुखप्रेक्षेश्वर के उत्तर मुखप्रेक्षणा देवी की मूर्ति थी।

९—**चर्चिका देवी**—समीप ही चर्चिका देवी की मूर्ति थी। इस समय मकान नं० के २३।७२ पंचगंगेश्वर के समीप है।

१०—**सौभाग्य गौरी**—का स्थान प्राचीन विश्वेश्वर मन्दिर के समीप है। प्राचीन विश्वेश्वर के मन्दिर के स्थान पर ही इस समय वीवी रजिया की मस्जिद (आदि विश्वेश्वर)

के पूर्व में स्थित है। सौभाग्य गौरी का नाम नव-शक्तियों में भी आया है। इस समय इनकी मूर्ति आदि विश्वेश्वर मन्दिर में उत्तर कोष्ठ में स्थापित है।

११—**विशालाक्षी**—का मन्दिर जरासन्ध घाट, जिसे आजकल मीरघाट से सम्बन्धित कहते हैं, पर है। यह आज भी प्राचीन काल की ही तरह प्रसिद्ध है। भाद्रमास कृष्ण पक्ष तृतीय के दिन इनका व्रत एवं रात में जागरण का विधान काशी खण्ड में वर्णित है। विशालाक्षी के समीप विशालाक्षीश्वर : श्वेत माधव, वृद्धादित्य, श्वेतदीपेश्वर व आशा-विनायक के अधिष्ठान थे।

१२—**महादुर्गा**—महादुर्गा तथा दुर्गा नाम से काशी खण्ड में भिन्न-भिन्न दो वर्णन मिलते हैं। पहला वर्णन महादुर्गा नाम से है—

कन्धमेश्वर पश्चिमें महादुर्गा, महादुर्ग प्रमंजनी ।।

करन्धमेश्वर के पश्चिम में महादुर्गा हैं। महादुर्गा का स्थान प्रसिद्ध है उससे करन्ध मेश्वर, जो अज्ञात है, का पता लगाया जा सकता है। करन्धमेश्वर के अज्ञात होने से इस महादुर्गा का स्थान निश्चित नहीं हो पाता है सम्भवतः महादुर्गा अपने स्थान पर ही हैं ऐसा अनुमान लगाया जाता है।

दूसरा वर्णन दुर्गा देवी के नाम से है यह देवी स्वप्नेश्वरी, सम्प्रति शिवाला घाट के पश्चिम में है। दोनों वर्णनों में साम्य—भेद है क्योंकि आजकल की दुर्गा जी का मन्दिर शिवाला घाट के नैत्रटन्त कोण में है तथा दिशाओं का कोण भी ग्रन्थ में लिखा गया है, ऐसी स्थिति में एक अनुमान यह लगाया जा सकता है महादुर्गा और दुर्गा दो नाम से दो स्थान हैं।

इस वर्णन में देवी का नाम दुर्गा, क्षेत्र के दक्षिण में होना—यह दोनों बाते काशी खण्ड में वर्णित हैं दुर्गा देवी की कथा से साम्यता प्रतीत होता है। लेकिन काशी खण्ड में स्वप्नेश्वरी के पश्चिम तथा लिंग पुराण में लोलार्क के पश्चिम कहा गया है अतः दोनों में असमानता दिखाई पड़ती है। साथ ही लिंग पुराण में कूट अर्थात टीले पर स्थित लिखा है। यह वर्णन वर्तमान दुर्गा जी का मन्दिर वर्ष की स्थिति से साम्य रखता है। वर्तमान दुर्गा जी का मन्दिर वर्तमान सड़क से ५ या ६ फीट ऊंचा है। यदि दिशाओं पर ध्यान न दिया जाय तो वर्तमान मन्दिर को ही निर्दिष्ट करता है। लिंग पुराण के अनुसार लोलार्क के समीप वर्तमान में भी दुर्गा जी तथा अन्य देवियों की प्रतिमायें हैं। वर्तमान दुर्गा जी के मन्दिर में केवल मुखौटा ही है! प्रतिमा नहीं है।

वर्तमान काल में रेणुका देवी के नाम से प्रसिद्ध मन्दिर की स्थिति काशी खण्ड व लिंगपुराण के दुर्गा जी के स्थान से दिशा के विचार के मिलता है। हो सकता है कि प्राचीन काल में इनको दुर्गा तथा दुर्गा जी को महादुर्गा के नाम से सम्वोधत किया जाता था क्योंकि ऐसा परिवर्तन अन्य देवताओं के नामों में भी हुआ है जैसे भीपण भैरव का भूत भैरव, ककोर आदि का नागकुआँ आदि–।

१३—**द्वारेश्वरी**—तउद्वारेश्वरं लिंग देवी द्वारेश्वरी शुभ। का० ख० (९७-२५६)

यह स्थान का० ख० के अनुसार वाडव्य तथा लिंग पुराण के अनुसार माण्डव्य के

समीप था। अतः यह वर्तमान मडुआडीह जो माण्डव्य से विकृत हैं करवना में था। अब माण्डव्य आदि देवस्थान वहाँ नहीं हैं।

१४—**शृंगार गौरी**—सौभाग्य गौरी सम्पूज्या ज्ञान वाप्यां कृतोदर्कः ।।
ततः शृंगार गौरी चतत्रैव कृतांदकैः ।। १००-६९ ।। का० ख०

ग्रन्थ के अनुसार इनका मंदिर ज्ञानवापी के समीप था। आजकल इनकी प्रतिमा विश्वनाथ मंदिर के ईशान कोण में है। पं० कुवेर नाथ शुक्ल के अनुसार इनकी मूर्ति विश्वनाथ जी के उस मंदिर में ज्ञानवापी की मस्जिद की भूमि पर था।

१५—**ललिता देवी**—इयं सालिता गौरी विशालक्षीय मद्भुता (३३-१७५) का० ख०
ततोऽन्थ ललितातीर्थं गंगा के शव वसन्नि कौ तजास्ति
ललिता देवी क्षेत्र रक्षाकरी परा (७०-१७) का० ख०
अश्विन कृष्ण द्वितीयां ललिताम्परि पूज्यवे ।। (७०-२०) ।। का० ख०
विशालाक्षीति विख्याता भक्तानां तुफल प्रदा
तस्मै व दक्षिणे भागे जरासन्धेश्वर स्थितम्—लिंग पुराण

लिंग पुराण के अनुसार विशालाक्षीं देवी के मन्दिर के दक्षिण जरासन्धेश्वर का स्थान था। जरासन्धेश्वर के दक्षिण ललिता देवी का स्थान था। परन्तु आजकल काशी खण्ड के अनुसार गंगा—केशव के समीप विशालाक्षी से उत्तर की ओर ललिता देवी का मन्दिर है। इसी से घाट का नाम ललिता घाट है। अश्विनकृष्ण द्वितीया को इनके दर्शन का माहात्म्य है।

१६—**भवानी**—भवानी तीर्थमतुल दुंढितीर्थं स्यादक्षिणे
तउ स्नात्वाविधानेन भवानी परिपूण्यच। ६१-१२३ का० ख०

इस श्लोक अतुल ढुंढ़ि तीर्थ के दक्षिण भवानी तीर्थ पर स्नान करके विधान द्वारा भवानी की पूजा करें—से ज्ञात होता है कि भवानी देवी का मन्दिर ढुंढ़ितीर्थ के दक्षिण स्थित भवानी तीर्थ के पास ही होगा। का० ख० में इसका विधान इस प्रकार वर्णित है—

चैत्र शुक्ला महापाष्ट को भवानी की यात्रा तथा एक सौ आठ प्रदक्षिणा करनी चाहिए। इस समय यह मन्दिर अन्नपूर्णा जी के मन्दिर के पास है।

१७—**महालक्ष्मी**—का० ख० के अ० के ५८-३९वें श्लोक तथा ८४ के अध्याय के १२वें श्लोक के अनुसार यह मंदिर आदि केशव के समीप था तथा ९७वें अध्याय के १०९ श्लोक के अनुसार कपालशयान लाट भैरव के समीप था।

१८—**चण्डी**—चण्डी चण्डीश्वरौ दृश्यौ भवानी शकरौततः
ढुंढ़ि प्रणम्य। १००-९०। का० ख०।

इनका स्थान कालिका गली में है।

१९—**शिखी चण्डी**—इनका स्थान का० ख० में लाट के समीप बताया गया है। लेकिन अब वहाँ नहीं है। वर्तमान काल में इनका स्थान महालक्ष्मी में समीप लक्ष्मीकुण्ड

पर हैं। इनके विषय मे ग्रन्थ में यह भी उल्लेखनीय हैं कि महालक्ष्मी के वायव्य कोण में विघ्न सर्पों का भक्षण करती हैं।

२० — **चण्डिका**—काशी खण्डोक्त नव मातृकाओं में यह एक हैं।

२१—**शुष्कोदरी**—शुष्कोदरी चतत्रास्ति देवी विकट लोचना।
कृति वासा दुदीच्यांन्तु काशी प्रत्यूह ॥ ६८-७२ ॥ का० ख०

इनका स्थान पुराने कृति वासेश्वर के मन्दिर में था। कृतिवासेश्वर को मंदिर को औरंगजेब ने १६६९ में मस्जिद रूप दिया था।

२२—**विश्वभुजां**—मुने विश्वभुजां गौरी विशालाक्षी पुरः स्थिता ॥७०-२२॥ का० इनका स्थान विशालाक्षी के समीप है। मनोरथतृतीया का व्रत इन्हीं की अराधना में होता है।

२३—**वाराही**—अन्धास्ति काश्यां वाराही कतु वाराह सन्निधौ ॥७०-२६॥ का० ख०

व्रतु वाराह का स्थान प्रह्लाद घाट पर है। वहीं वाराही देवी का मंदिर हैं। धरणि वाराह या क्षोणी वाराह का स्थान दशाश्वमेध के पास हैं और वाराही देवी का स्थान भी दशाश्वमेध के उत्तर मीरघाट के पास हैं। नव मातृकाओं में भी इनकी गणना है।

२४—**शिवदूती**—वाराही देवी के समीप ही शिवदूती का स्थान प्रह्लाद घाट के समीप था।

२५—**एन्द्री**--वज्र हस्ता तथा एन्द्री गजराज। रस्थिता इन्द्रशद्दक्षिणो ममो।
७०-२८ ॥ का० ख०

हाथ में वज्र धारण किए हुए हाथी के रथ पर सवार एण्डी देवी का मन्दिर नाग कुआ या धर्म कूप में था क्योंकि इन्हीं दोंनों स्थानों पर इन्द्रश की मूर्तियाँ थी। इन्द्रेश के दक्षिण एण्डी देवी थी।

२६—**कुमारी**—स्कन्देश्वर समीपेतु कौमारी वहियर्निगा ॥ का० ख० ७० ७०-२९॥
इनकी मूर्ति स्कन्देश्वर के समीप कपिलधार (मयूर के ऊपर बैठी हुयी) थी।

२७ **माहेश्वरी**—माहेश्वराछक्षिरातो देवी माहेश्वरी ॥ का० ख० ७०-३०॥

प्राचीन विश्वनाथ जी के समीप महेश्वरी का स्थान था। महेश्वर के दक्षिण वृषभ पर सवार इनकी मूर्ति थी। आज भी विश्वनाथ जी की कचहरी में हैं।

२८ **नारसिंही**—का मन्दिर निर्वाण नृसिंह के समीप था। निर्वाण नृसिंह का मंदिर मणिकर्णिका में है। हाथ में चक्र उठाये नारसिंह की मूर्ति थी। आज भी इसी स्थान पर इनकी मूर्ति है। नव मातृकाओं में एक यह भी हैं।

२९ **ब्राह्मी**—हसं यानवती ब्राह्मी ब्रह्मेशात्पश्चिमेस्थिता ॥ का० ख० ७०-३२॥

ब्रह्मेश के पश्चिम में इनका स्थान है। हंस पर आरूढ़ इनकी प्रतिमा है। दशाश्वमेध के पास बाल मुकुन्द के चौराहे में ब्रह्मेश्वर के मन्दिर में है। ये भी नव मातृकाओं में एक हैं।

३० **नारायणी**—प्रतीच्यां गोपि गोविन्दात ॥ ७०-३५ ॥

गोरी गोविन्द का प्राचीन मंदिर प्रहलाद घाट के समीप सम्भवतः उत्तर दिशा में था उसी के पश्चिम में नारायणी देवी का मंदिर था। लेकिन अब ये दोनों मंदिर वहाँ नहीं हैं।

३१ **विरूपाक्षी**—देवयानीश्वर के उत्तर दिशा में इनका स्थान था।

३२ **शैलेश्वरी**—वरुणा नदी के तट पर, मढ़िया घाट पर, शैलेश्वर महादेव के समीप, इनका मंदिर है। प्राचीन मंदिर के स्थान पर मुसलमानों का अधिकार है। इनको शैलपुत्री दुर्गा कहते हैं। ये वर्तमान नव दुर्गा में से एक हैं।

३३ **चित्रघण्टा**—चित्र घण्टा का मंदिर त्रिगुप्तेश्वर के पास था। इसके पास ही चित्रकूप था। का० ख० चैत्र शुक्ल तृतीया को इनकी यात्रा और रात में जागरण एवं महोत्सव का उल्लेख है। इनका मंदिर चन्दू की गली में हैं।

३४ **चित्रग्रीवा**—केदार जी के पास ही चित्रांगदेश्वर के मंदिर में इनकी मूर्ति है। चित्रांगेदेश्वर के पूर्व ग्रन्थानुसार इनकी प्रतिमा होनी चाहिए।

३५ **हरसिद्धी**—सिद्धि विनायक के पूर्व इनके स्थान के विषय में उल्लेख है। सिद्धि विनायक काशी खण्ड में दो कहे गये हैं। एक वरुणा संगम के पास, दूसरा यमतीर्थ के पश्चिम। वर्तमान समय में मणिकणिका घाट के स्थित सिद्ध विनायक के पूर्व इनका स्थान है।

३६ **विधि**—विधीश्वर के समीप इनका स्थान शकरकन्द गली में है।

३७ **निगडमंजनी**—इन्हें वन्दी देवी भी कहते हैं। इनका स्थान दशाश्वमेध में है। मंगलवार को एंक समय भोजन करके इनका दर्शन करना चाहिए। ये बन्धन छुड़ाने वाली देवी है।

३८ **आरतेश्वरी**—मणिकणिका घाट के समीप स्वर्गद्वारी या सरंग दुआरी में इनकी मूर्ति है।

३९ **सिद्ध लक्ष्मी**—आरतेश्वर से पश्चिम प्रविता महेश्वर लिंग के आगे इनका स्थान कहा गया है। इनके मंदिर का नाम लक्ष्मी विलास था जो कमल के आकार का था शीतला गली में प्रपितामहेश्वर के पास इनकी मूर्ति है।

४० **कृष्णा**—प्रपितामहेश्वर के पश्चिम, नलकूवर के सम्मुख इनका स्थान कहा गया है। शीतला गली में शीतला नाम से प्रसिद्ध इनकी पूर्ति है।

४१ **त्रिलोक सुन्दरी**—का० ख० में नलकूवर से पश्चिम, त्रिभुवन शव के ऊपर कुब्जाम्ब्रोश्वर के सम्मुख इनका स्थान कहा गया है। वर्तमान समय में शीतला गली के पास ही इनका स्थान हैं।

४२ **दीप्ता**—दीप्ता नाम की महाशक्ति मुहाल सूर्य कुण्ड में साम्वादित्य नाम के भगवान सूर्य के मंदिर में है।

४३ **ह्यकण्डी**—महालक्ष्मी के ऊपर कुठार लिए इनकी मूर्ति कही गयी है। महालक्ष्मी का स्थान का० ख० के अनुसार तीर्थस्थान (१) आदि केशव (२) लाट के पास (३) लक्ष्मी कुण्ड पर कहा गया हैं। प्रथम दो अब नहीं है। तीसरे स्थान लक्ष्मी कुण्ड पर ह्यकण्डी देवी का स्थान है।

४४ **कौर्मी**—का स्थान महालक्ष्मी के दक्षिण दिशा में है जो हाथ में पाश लिए क्षेत्र के विघ्नों को दूर करती है। ऐसा का० ख० में वर्णित है। अब इनका स्थान केवल लक्ष्मी कुण्ड पर है।

४५ **भीमचण्डी**—भीमेश्वर के समीप पाश और मुग्दर को लिए ये देवी क्षेत्र के उत्तर द्वार की रक्षा करतीं है। वहाँपास में ही भीमकुण्ड भी है।

यह स्थान कैलेश्वरी के पास दक्षिण की ओर था। टूटने पर सदरबाजार के पास पाशपाणि विनायक और चण्डीश्वर के पास चण्डीनाम से अब प्रसिद्ध है। लिंग पुराण में शैलेश्वर के पश्चिम कोटीश्वर के स्थान पर भीष्म चण्डिका का वर्णन मिलता है। सम्भवतः का० ख० में इन्हीं का वर्णन भीमचण्डिका नाम से उल्लेख है।

४६ **छागवकेश्वरी**—वृषभ्ध्वज महादेव कपिल धारा के दक्षिण भाग में छाग वक्रेश्वरी देवी का स्थान है। क्वार सुदी अष्टमी को इनके पूजा का विधान है जो कि बहुत ही महत्वपूर्ण है।

४७—**तालजंघेश्वरी**—गंगा-वरुणा के संगम पर स्थित संगम पर स्थित संगमेश्वर मन्दिर के दक्षिण भाग सें स्थापित विकटानना और ताड़ के वृक्ष का शस्त्र धारण किए हुए ताल जयेश्वरी देवी का वर्णन का० ख० में मिलता है। सम्भवतः तालजंघ नाम के एक क्षत्रिय वंश की यह देवी थी।

४८—**यमदष्टा**—उद्दालक तीर्थ पर, उद्दालकेश्वर के समीप, इनका स्थान था।

४९—**चर्ममुण्डा**—दारूकेश्वर तीर्थ पर, दारूकेश्वर के समीप सम्भवतः कृतवासेश्वर के पास चर्मकुण्डा स्थान को चर्ममुण्डा देबी का स्थान बताते हैं। इनका मुख और तालु पाताल में और ऊपर का ओंठ आकाश में और अधर पृथ्वी में अवस्थित था। ये क्षण भर में बह्माण्ड का भक्षण कर सकती है। क्षेत्र के पूर्वी भाग की रक्षा करती थीं। इनके हाथ में खोपड़ी और कैंची के आकार कीं कतरनी रहती है। हजारों भुजाओं से और चमकती तिरछी आँखों से सौभाग्यमान थी। वह समुद्र तक फैलने वाले अपने हाथ में शत्रु रूपी मोदक धारण करती थी। इनका वस्त्र वाघचर्म था। इनका अट्टाहास बहुत ही भयंकर है। आभूषण मुण्डमाला था।

५०—**महामुण्डा**—चर्ममुण्डा की भाँति महामुण्डा देवी भी थी। वे धड़ (रूण्ड) की माला को धारण करती है। इनका स्थान हयग्रीवेश्वर तीर्थ हर लोलार्क के ऊपर दिशा में था।

५१—**चामुण्डा**—चर्ममुण्डा और महारूण्डा के बीच इनका स्थान था।

५२—**स्वप्नेश्वरी**—हयग्रीवेश्वर तीर्थ, शिवाला मुहल्ले में, महारूण्डा के पश्चिम में इनका स्थान था। इस समय इनकी मूर्ति शिवाला घाट पर किले के पश्चिम में स्थित हनुमान जी के मंदिर में है। शिवालाघाट को मध्यकाल में स्वप्नेश्वरीघाट कहते थे।

५३—**वाराणसी देवी**—का० ख० में इनके दो स्थान हैं। प्रथम राजघाट का मैदान (राजघाट) तत्पश्चाद्धि ग्रहवती पूज्या वाराणसी नरैः ।।९७-८।।

दूसरा स्थान त्रिलोचन महादेव के पास महादेव और इसके समीप स्कन्देश्वर और इसके पास ही विनायकेश्वर मंदिर के बाद है।

इयं वाराणसी देवी साक्षा-मूर्तिमयी शुभा ।।३३-१२६।।

५४—**वन्दी देवी**—काशी खण्ड अ० ३३ श्लोक १७० में इनका स्थान दशाश्मेध के पास है। सम्भवतः इन्हीं को अध्याय ७० में निगडमंज्जिनी के नाम से कहा गया है।

५५—**विश्वागौरी**—का० ख० में अ० ६१ श्लोक ११४ में इनका स्थान विश्वनाथ जी के समीप था। इस समय इनकी मूर्ति मणिकर्णिका में है।

५६—**आशापुरी**—का० ख० अ० ६७–श्लोक १७१ में मन्दाकिनी तट पर इनका स्थान था। उसी तालाब के उत्तर अब भी इनका स्थान इसी स्थान पर है।

५७—**अम्बिका**(–का० ख० अ० ६७ श्लोक २१९ में इनका मंदिर रत्नेश्वर महादेव के समीप था।

काशी जैसी नगरी में तो प्रतिदिन प्रत्येक देवी, देवता और प्रत्येक शंकर का महत्व है। इसलिए कोई विशेष दिन सभी हिन्दू देवियों और के लिए निर्धारित करना काशी नगरी की महत्ता है। जिस प्रकार शिवरात्रि को प्रत्येक शंकर का विशेष दिन है। ठीक उसी तरह नवरात्र के अवसर पर सभी देवियों के प्रति निष्ठा होती है।

———

दिव्या में यशपाल का सांस्कृतिक दृष्टिकोण

हरिश्चन्द्र त्रिपाठी

राष्ट्र के सम्पूर्ण जीवन के अतीत और वर्तमान में हुए सारे के सारे उतार-चढ़ाव जिसमें राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक एवं दिन प्रतिदिन के दैनिक कार्य-कलापों का चित्र झलकता रहता है, वही भावनात्मक पारदर्शी-दर्पण राष्ट्र की संस्कृति कहलाती है। इसमें संदेह नहीं भारत एक अद्‌भुत अनोखा सर्वप्राचीन राष्ट्र है। जिसकी अन्तरात्मा से संस्कृत रूपीं बीज का उद्‌भव हुआ है।

जाने या अनजाने में यहाँ की धरती और आसमान, दिशायें और वायुमण्डल सबने मिलकर एक अतिवैचित्र्यपूर्ण वातावरण का सृजन किया है। जहाँ तक इतिहास का प्रमाण उपलब्ध है ऋग्वेद संसार का अति प्राचीन ग्रन्थ है और वैदिक कालीन संस्कृति वेदों की परम्पराओं का निरुपण।

वैदिक काल के पश्चात् राष्ट्र की धार्मिक परम्परा में ब्राह्मण काल, तत्पश्चात् उपनिपद् काल आता है। वैदिक काल में धर्म की मुख्य विशेषता यज्ञों के सम्पादन में निहित है, जिसमें देवताओं को संतुष्ट एवं प्रसन्न करने के लिए बलि का प्राविधान था। समय के परिवर्तन के साथ राष्ट्र के इतिहास ने करवट ली और छठीं शताब्दी की स्वर्णिम वेला मे भारतीय गगनमण्डल के नीचे बौद्ध और जैन धर्मों का प्रादुर्भाव हुआ जिसमें संसार को दुःखमय कह कर अहिंसा के अमोघ सिद्धान्त को मनसा-वाचा-कर्मणा कार्यान्वित करने के लिए बल दिया गया।

जैसा कि परिवर्तन सृष्टि का नियम है, भारत का इतिहास भी अनेकानेक उतार चढ़ाव और परिवर्तन के बीच से अपना नया रूप ग्रहण करता हुआ अपने अंतस् में संस्कृति रूपी पुष्प की सुगन्ध को लेकर समाज के हर क्षेत्र को सुवासित करता रहा है।

समय के पटाक्षेप के साथ-साथ इतिहास की क्रमबद्धता का क्रम टूटा। नई परिस्थितियां आई और एक नया वातावरण बना। हर नये वातावरण में रूप, रस, गंध की कुछ मनोमुग्धकारी आकृतियाँ और कल्पनाओं के कुछ मधुर मादक चित्र रहते हैं। इतिहास देश काल परिस्थिसियों के अन्तर्गत घटनाओं के लेखा-जोखा का चित्र उपस्थित कर उसमें रंग भरने का काम साहित्यकार के लिए छोड़ देता है। यशपाल हमारे ऐसे ही सफल एवं सिद्धहस्त कथाकार हैं, जिन्होंने मौर्योत्तर कालीन भारत के इतिहास से संस्कृति रूपी सुगन्ध लेकर अमरकृत्य 'दिव्या' के रूप में विश्व को भेंट किया है।

दिव्या उपन्यास की प्रधान नायिका है और केन्द्र बिन्दु भी। तात्कालीन भारत में प्रतिपादित एवं प्रतिष्ठापित अनेकानेक धार्मिक सिद्धान्तों, राजनैतिक एवं दार्शनिक विचारों के व्यक्ति तथा संगीत कला मर्मज्ञों का मण्डल उसके व्यक्तित्व के चारो ओर परिक्रमा करते

दीख पड़ते हैं। कला मर्मज्ञ साहित्यकार श्री यशपाल जी केवल इतिहास के ही नहीं अपितु ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में समाज की गति को पहचानने वाले मर्मज्ञ पारखी हैं। उन्होंने दिव्या के व्यक्तित्व रूपी दर्पण से भारतीय संस्कृति का सच्चा स्वरूप झलकाया है। जैसा कि यशपाल जी ने स्वयं लिखा है, 'मनुष्य केवल परिस्थितियों को सुलझाता ही नहीं, वह परिस्थितियों का निर्माण भी करता है। वह प्राकृतिक और भौतिक परिस्थितियों में परिवर्तन करता है। सामाजिक परिस्थितियों का वह सृष्टा है।'

यशपाल जी की पैनी दृष्टि इतिहास के मौर्योत्तर काल में परिव्याप्त और हो रहे सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक उथल-पुथल के बीच संजोई गयी मुक्तामणियों को चुनकर अपनी अनुभूति और दूरदर्शिता रूपी धागे से गूंथ कर युग के सत्य रूपी कोहनूर हीरे को जोड़कर उसमें न केवल तात्कालीन भारतीय संस्कृति का संकेत मात्र दिया है वरन् विश्व मानवता की सहस्त्र-सहस्त्र वर्षों से चली आती हुई परम्परा के चिरन्तन सत्य का वोध भी कराया है। जिस वातावरण की पृष्ठभूमि में यशपाल जी ने अपनी कल्पना का चित्र खींचा है उस समय भारत में वर्णाश्रम धर्म, तथागत धर्म एवं यवन संस्कृति का समन्वयकारी दृष्टिकोण पूर्ण रूपेण परिलक्षित होता है।

'दिव्या' का जिस वातावरण में पालन-पोषण होता है उस महापंडित धर्मस्थ के आस्थान में यशपाल जी के शब्दों में 'ज्ञान और कर्मकाण्ड के प्रसंग श्रुति-स्मृति के शब्द प्रमाण और न्याय के तर्क प्रमाण वेदों के एकमेवाद्वितीयम् और नासदीयवाद के लिए स्थान था। वहां यवन ऋषि प्लातों के प्रतीपमान जगत से परे तर्क प्राप्य ध्रुव सत्य के विमर्ष और तथागत् के अनात्म-कर्मवाद के लिए भी स्थान था। उनकी उदारता में ब्रह्मलोक और निर्वाण दोनों ही अवज्ञा करने वाले सागल के धर्मज्ञ, विप्र समाज द्वारा लांछित और तथागत अभिधर्म द्वारा अभिशप्त, लोकायत के समर्थक, केवल स्थूल प्रत्यक्ष इहलोक को सत्य और जन्मान्तर में कर्मफल को असत्य वताने वाले चारवाक मारिश के लिए भी स्थान था।'

भारत में विखरे हुए भिन्न-भिन्न राज्यों के अन्तर्गत भिन्न-भिन्न विचारधारा रूपी सरिता प्रवाहित हो रही थी। किन्तु उसका संगम धर्मस्थ का प्रासाद या मद्र राज्य ही था। फिर भी मुख्यतः राजधर्म ही लोकधर्म बना हुआ था। उदाहरणार्थ मद्रराज्य में पौरव वंश के राज्य के समय वर्णाश्रम या कुल धर्म की श्रेष्ठता रही। यवन राज मिलिन्द के सत्ता हस्तान्तरित कर लेने के पश्चात् तथागत के धर्म की भावना ही न्याय हो गयी और यज्ञ में पशुवलि का पुण्य कार्य अपराध हो गया। आचार्य प्रवर्धन और अचार्य रुद्रधीर के शासन में पुनः वर्णाश्रम धर्म को मान्यता प्राप्त हुई। इस प्रकार परिवर्तन के साथ-साथ हम धर्म और न्याय के नियम में भी परिवर्तन पाते हैं। यशपाल जी ने धर्मास्थान की परिभाषा करते हुए स्पष्ट कहा है, 'धर्मास्थान कोई स्वयं भू और स्वतंत्र वस्तु नहीं है। वह केवल समाज की भावना और व्यवस्था की जिह्वा है।'

इस काल में न केवल धार्मिक प्रवृत्तियां ही जो भारतीय गगन मण्डल में घटाटोप की तरह छाई हुई थी और राज-नियम जिनसे राज्य का शासन संचालित होता था वे ही तात्कालीन भारत के समाज का प्रतिविम्व प्रगट करने में सक्षम् हैं, वल्कि समाज में

आयोजित पर्वों, समारोहों का आयोजन, शिक्षा एवं ललित कलाओं के केन्द्र तथा धार्मिक संस्थानों का भी महत्वपूर्ण योगदान रहा है। सागल में मधु पर्व और मथुरापुरी में दोलोत्सव के धार्मिक पर्व का आयोजन इस बात के प्रमाण हैं। संगीत और नृत्य-कला की अधिष्ठात्री देवी मल्लिका और रत्नप्रभा क्रमशः सागल नगरी और मथुरापुरी में साक्षात् कला की प्रतिमूर्ति के रूप में संगीत और ललित कलाओं की उच्च शिक्षा का प्रतिनिधित्व करती हैं।

समय से संघर्ष और परिस्थितियों का मंथन करने से सदा मनुष्य समाज में नई विचार धारा को जन्म देता चला आ रहा है। इतिहास के तात्कालीन परिवेश में वर्णाश्रम धर्म की प्रबल प्रवृत्ति के साथ-साथ समाज में एक नई शक्ति का अभ्युदय होता है। यह शक्ति सैनिक शक्ति है। यहां सेनापति मिथोद्रस सैनिक शक्ति के सूत्रधार होने के कारण ही मद्र गण के गणपति और महासेनापति नियत होते हैं। महाश्रेष्ठी प्रेस्थ के पुत्र पृथुसेन को शस्त्र कौशल के कारण ही कुमारी दिव्या सर्वश्रेष्ठ खड्गधारी का मुकुट भेंट करती है। मगध में मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त नापित होने के बावजूद भी पूजित होते हैं और ब्राह्मण चाणक्य उसका मंत्रित्व करता है। ऐसी परिस्थिति के उत्पन्न होने से मगध में मुंडी धर्म को समाज में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त होता है। इस धर्म के मूल में शत्रु पर विजय प्राप्त करने की अपेक्षा मन पर विजय प्राप्त करने की भावना को अधिक श्रेयस्कर बतलाया गया है। प्रमाण स्वरूप स्थविर चीवुक के विचार यशपाल जी के शब्दों में है 'विजय शत्रु का शरीर वश करने में नहीं, उसके मन की भावना वश करने में है। जैसे तथागत ने देवदत्त के मन को, धर्मघोष ने सम्राट अशोक के मन को, अर्हत नागसेन ने सम्राट मिलिन्द के मन को विजय किया था। उसी प्रकार आर्य आचार्य रुद्रधीर को विजय करें।'

इसी प्रकार के राजनैतिक उथल-पुथल के वातावरण में ब्राह्मण महासेनापति पुष्यमित्र मगध के अंतिम मौर्य सम्राट वृहद्रथ को मार कर वहां पर पुनः वर्णाश्रम धर्म की स्थापना करता है और मद्र के उत्तर पूर्व की सीमा पर दार्वराज केन्द्र से अपनी सशक्त सेना से मद्र को अपने आधीन कर वहां से कुल गणराज्य और कुल धर्म को समाप्त करने का स्वप्न देखता है।

इस प्रकार से दिव्या की पृष्टभूमि में राजनैतिक वातावरण को उभाड़ने में प्रमुख पात्र और स्थान हमारे समक्ष आते हैं।

राजनैतिक प्रक्रियाओं के साथ सामाजिक स्थिति का जो चित्रण दिव्या में किया गया है उससे यह स्पष्ट है कि इतिहास के संध्याकालीन युग में समाज में सुरा सुन्दरियों का भी महत्वपूर्ण स्थान रहा है। कापिशायिनी, कादम्बिनी उच्च कोटिकी तथा मेरय साधारण प्रकार की मदिरा का प्रयोग समाज में कुलीन और अकुलीन लोगों के द्वारा किया जाता था। वेश्याओं में सुन्दरी अलोमा का नाम प्रमुख है। "वेश्या स्वतन्त्र नारी है।" इसी आधार पर तथागत ने अम्बपाली को भिक्षु-धर्म में दीक्षित किया था। नगरों में वेश्याएँ युवक सामन्तों और रसिक जनों के मनोविनोद का साधन थीं। राजनर्तकियाँ राज पुरुषों और गणराज्य के उच्च कुलीन पुरुषों का मनोरंजन करती थीं। धनी वर्ग और राज

पुरुषों के पास दास दासियां उनकी सेवा सुश्रूषा के लिए रहती थीं। कुलीन वंशों में बहु-विवाह की भी प्रथा थी, जैसे आचार्य धर्मस्थ की तीन पत्नियां थी और आचार्य रुद्रधीर का दो वर्ष पूर्व एक विवाह हो चुका था, जब वे दिव्या के प्रति उसे अपनी पत्नी बनाने के लिए अनुरक्त होते हैं। समाज में मातलों का भी दल था जो लावण्य एवं रूपवती स्त्रियों का अपहरण कर उनका उचित मूल्य पाकर बेंच देते थे। इस सन्दर्भ में माताल वृक, प्रतूल तथा भूधर के नाम उल्लेखनीय हैं। इस प्रकार से समाज में स्त्री पुरुषों का जीवन भी पूर्णरूपेण सुरक्षित नहीं था। क्रय किये गये दास दासियों के साथ अमानुषिक व्यवहार किया जाता था। उदाहरण के लिए जब पुरोहित चक्रधर ने दारा को उसके नवजात शिशु शाकुल सहित दास व्यवसायी भूधर से क्रय किया तो वह तथा उसकी पत्नी दारा की अनेकों प्रकार से प्रतारणा करती है। जब दारा अपने ही स्तन का दूध अपने बच्चे को न पिला कर पुरोहित के बच्चे को सारा का सारा दूध पिला देने के लिए विवश की जाती है, तो उस समय अपनी तुलना एक गाय से करती है। परवशता की शृंखला में बधी हुई बेबस नारी जीवन से उपराम हो जाने के लिए कल्पना की छांह में विश्राम पाना चाहती है। समाज में आर्थिक विषमता है। जहां एक ओर राज नर्तकी देवी मल्लिका और देवी रत्नप्रभा के महल में अनायास ही द्रव्य की वर्षा होती है, राजपुरुषों, सामन्तों एवं कुलीन वंश के राजकुमारों तथा धनी वर्गों के लोगों द्वारा स्वर्ण, मुक्तामणियों का उपहार दिया जाता है, वहीं दूसरी ओर लोहकार शाण्डेय अपनी पेट की ज्वाला बुझाने के लिए भोजन तथा मदिरा हेतु पर्याप्त धन से वंचित रहता है। दारा अपना और अपने नवजात शिशु की क्षुधा शान्ति करने के लिए धन के अभाव में मृत्यु का वरण अधिक श्रेयस्कर समझती है।

समाज में आतंकमय एवं भयपूर्ण वातावरण के रहते हुए भी साहित्य, संगीत और कला अपने चरमोत्कर्ष पर थे। सुख सारिका द्वारा संस्कृत के सूत्रों और परिभाषाओं का उच्चारण जैसे "आपस्तम्ब सूत्र, कागतालीय न्यायेण, पांतजलि, कौटिल्य, संक्रमणाद, संक्रमणदवा, नौसादासीत, नासदासीत," तथा "न्यायात् पथः प्रविचलन्ति पदं न धीरः" आदि साहित्य की चरमोत्कर्षता एवं ज्ञान की ओर ध्यान आकर्षित करते हैं। लोहकार शाण्डेय अपने पैत्रिक व्यवसाय तलवार बनाने में निपुण हैं जिसके बल पर साम्राज्य जीते जाते हैं। उसके बाबा द्वारा बनाई गयी तलवार से दार्वराज केन्द्रस ने साम्राज्य जीता था। मूर्तिकार चारवाक मारिस पाषाण पर भगवान बुद्ध की मूर्ति उत्कीर्णकर, जिसमें बुद्ध के पूर्व के अवतारों को असत्य बताया है तथा नारी के उस अंग को मूर्तिरूप में अंकित कर जिसमें नारी सृष्टि की आदि शक्ति है और पुरुष का आवाहन करती है, मूर्ति कला की अद्वितीय दक्षता का परिचय देता है। चिकित्सा शास्त्र में शालहौत्री तथा स्थविर चीबुक का नाम उल्लेखनीय है। जब श्रेष्ठी पुत्र पृथुसेन केन्द्रस-पर विजय कर किन्तु घायल अवस्था में वापस लौटता है तो वैद्यवर स्थविर की औषधि और शैल्य चिकित्सा द्वारा उसे प्राणदान और स्वास्थ्य लाभ होता है। ज्योतिष शास्त्र एवं तन्त्र शास्त्र में भी आशातीत उन्नति हुई थी। तन्त्र शास्त्र के क्षेत्र में तांत्रिक पृथु का नाम उल्लेखनीय है। पर्वों या किसी शुभ कर्म का आयोजन भी नक्षत्र या शुभ लग्न में ही सम्पादित किया जाता है।

ऐसी सामाजिक परिस्थितियों के घेरे में जिन धार्मिक प्रवृत्तियों को ग्रहण कर समाज का विभिन्न वर्ग या सम्प्रदाय अपनी आस्थाओं और विश्वासों में जी रहा था वे प्रमुखतः वैष्णवधर्म, तथागत या मुंडी धर्म और यवन संस्कृति के अन्तर्गत आती हैं :—

(१) वर्णाश्रम धर्म—इस धर्म में देवता या देवी की इच्छा ही प्रधान होती है। यज्ञ, कर्मकाण्ड, भाग्य, कर्मफल, इहलोक और परलोक की भावना में विश्वास प्रमुख बातें हैं।

(२) तथागत धर्म—इसमें संसार को माया कहा गया है। अनात्म-कर्मवाद ही इस धर्म का प्रमुख सिद्धान्त है। प्रव्रज्या ग्रहण कर, काषाय-चीवर धारण का भिक्षाटन कर त्रिशरण—"बुद्धं शरणं, धम्मं शरणं. संघं शरणं" में शान्ति पाने का उपदेश और निर्वाण ही इस धर्म का परम लक्ष्य है। इस धर्म में नारी त्याज्य है। किन्तु भगवान बुद्ध ने वेश्या आम्रपाली को अपने धर्म में दीक्षित किया था। कारण "वेश्या स्वतन्त्र नारी है।"

(३) यवन धर्म या संस्कृति—इसमें केवल स्थूल प्रत्यक्ष इहलोक को सत्य और जन्मान्तर कर्मफल को असत्य बताने वाली भावना प्रमुख है। इस धर्म में देवी की उपासना का संकेत मिलता है। देवी को प्रसन्न करने के लिए बलि दी जाती है। शक्ति प्राप्त करना इस धर्म का लक्ष्य है। यवन नारी शीरों यवन संस्कृति का प्रतिनिधित्व करती है। उदाहरणार्थ वह अपने पति पृथुसेन से कहती है, "मैं द्विज कुल की पत्नी दासी नहीं हूं। मेरी धमनियों में यवन विजेता का रक्त है। मैं तुम्हारे वंश रथ की धुरी खींचने के लिए बछड़े उत्पन्न करने वाली गाय नहीं। यदि तुम मेरा अपमान करोगे, मेरे लिए विस्तृत जन समाज है।"

दिव्या रूपी महल में यशपाल के सारे के सारे ऐतिहासिक या काल्पनिक स्त्री और पुरुष पात्र गवाक्ष के सदृश हैं, जिनसे कि केवल मौर्योत्तर काल के भारत की राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक एवं सामाजिक स्थिति की चित्रमय झांकी ही मिलती है। किन्तु दार्शनिक आचार्य चारवाक मारिश का कथोपकथन इस महल के आंगल में बोलता हुआ जादू का ऐसा दर्पण है जिससे न केवल तात्कालीन परिस्थितियों का दिग्दर्शन ही होता है अपितु यशपाल जी के स्वयं के विचार भी बोलते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। मधु पर्व के उत्सव पर दिव्या द्वारा "मराली का आत्म समर्पण" नृत्य की सफलता पर आर्य मारिस ने आदर से कहा था "भद्रे तुम्हारी कला तुम्हारी आकर्षण शक्ति का निखार मात्र है जो नारी में सृष्टि की आदि शक्ति है।" दिव्या का सम्पूर्ण जीवन इसी पंक्ति की परिधि में घूमता है और अन्त में मारिस के ही इस उत्तर से "भद्रे नारी सृष्टि का साधन है। सृष्टि की आदि शक्ति का क्षेत्र वह समाज और कुल का केन्द्र है। पुरुष उसके चारों ओर घूमता है जैसे कोल्हू का बैल।" उसके जीवन में चरितार्थ होता है।

यशपाल उस युग की कुंठित परम्पराओं और रूढ़िवादी आस्थाओं के विरोध में एक क्रांतिकारी नवीन मान्यताओं से युक्त नये समाज की रचना में स्वतंत्र मानव, जो परिस्थितियों का दास नहीं वरन् अपना सृष्टा होता है, उसका सृजन करते हैं और सांस्कृतिक भावभूमि में वैदिक कालीन एवं सन्ध्या-कालीन इतिहास की प्राचीन परिभाषाओं को बदलती हुई

परिस्थितियों और परिवर्तित युग के अनुरूप आकार देते हैं, जैसा उन्होंने स्वयं लिखा है "मनुष्य भोक्ता नहीं कर्ता है।"

अपनी तर्क और अनुभूति के बल पर उन्होंने परलोक और पुनर्जन्म में विश्वास की भावना की जो नई परिभाषा दी है वह इस प्रकार है—"परलोक केवल अनुमान और कल्पना है प्रत्यक्ष नहीं। जो तुम्हें परलोक का विश्वास दिलाता है उसने परलोक को दूसरे के कथन मात्र से जाना है और दूसरे ने किसी और के कथन से। परलोक को स्वय देख कर किसी ने उसके सत्य होने का साक्ष्य नहीं दिया।" इससे आगे पुनर्जन्म के सम्बन्ध में मारिश ने देवी रत्न प्रभा से उत्तेजित स्वर में कहा "देवी जिस स्थूल, प्रत्यक्ष और शरीर का अनुभव सम्पूर्ण जन करता है उसे भ्रम मानना और जिस ब्रह्म और जीवात्मा की कल्पना केवल ब्रह्मवादी करता है उसे सत्य मानना युक्ति-युक्त और बुद्धि संगत है। देवी दूसरे के शब्द पर अन्ध विश्वास करने की अपेक्षा अपनी अनुभूति और तर्क का आश्रय लो। यह जीवन ही सत्य है यह संसार ही सत्य है। जो पाना है वह इसी जीवन में पाओ।" इसी प्रकार भाग्य और कर्मफल की परिभाषा देते हुए उनके विचार देखें—"भाग्य का अर्थ है मनुष्य की विवशता और कर्मफल का अर्थ है कष्ट और विवशता के कारण का अज्ञान।"

शरीर और शरीर द्वारा प्राप्त सुख को देवी रत्न प्रभा द्वारा नश्वर और अस्थायी कहे जाने पर मारिश का उत्तर ही वह दीप है जिससे दिव्या में यशपाल का दृष्टिकोण जगमगाता है। प्रमाण में निम्नलिखित पंक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं: "शरीर नश्वर और अस्थायी है। देवी अमरता चाहती हो, अच्छा कहो अपने चारों ओर जितने पदार्थ देख पाती हो उनमें से कितने सदा एक रूप, एक रस, तथा एक गंध रहते हैं। जिसे तुम नाश कहती हो वह केवल परिवर्तन है। अमरता का अर्थ है अपरिवर्तन"……। इसके आगे मारिश बोला "और फिर मनुष्य अमर ही है। सहस्त्र-सहस्त्र वर्षों से चली आयी मनुष्य की परम्परा ही उसकी अमरता है।" इस प्रकार हम देखते हैं कि यशपाल जी ने भारतीय संस्कृति की सारी मानवीय मान्यताओं को ज्यों का त्यों अंध विश्वासी एवं प्राचीन रूढ़िवादी परम्पराओं के एक पोषक के रूप में न स्वीकार कर उसे अपनी अनुभूति और विचार शक्ति की कसौटी पर कस कर, तर्क के तराजू पर तोल कर उसका सही मूल्यांकन किया है। अपनी बौद्धिक प्रतिभा और विवेक शक्ति से भारतीय संस्कृति में मिले हुए नीर-क्षीर को अलग कर अपनी कला की सर्वश्रेष्ठता दिव्या में प्रदर्शित किया है।

स्वर्गीय राष्ट्र कवि श्री मैथली शरण गप्त की दिव्या के विषय में जो अपनी सम्मति थी वह यहाँ अंकित की जा रही है। "यशपाल ने दिव्या में जादू की छड़ी घुमा कर पाठक को मंत्र मुग्ध कर लिया है।

दिव्या जहाँ कला की दृष्टि से उत्कृष्ट उपन्यास है, वहीं भारतीय संस्कृति की जीती जागती तस्वीर को प्रस्तुत करने में लेखक के मौलिक विचारों और दृष्टिकोण को समझने के लिए एक अनोखा पारदर्शी दर्पण भी है।

———

सामाजिक वस्तुपूजा और अस्तित्ववादी सामाजिक दर्शन

हरिश्चन्द्र श्रीवास्तव

रीडर, समाजविज्ञान विभाग

सारांश—समाजविज्ञान में सामाजिक आकारों को 'वस्तु' के समान मानकर समाज को अपरिवर्तनीय बोझ मान लिया गया है। वैज्ञानिक अध्ययन विधि ने इस अवधारणा की पुष्टि की है। अस्तित्ववादी दर्शन समाज का ड्रामैटिक माडल प्रस्तावित करके उसे नकारने और बदलने की सम्भावना, भावतरंग की अवधारणा द्वारा, सामने रखता है—सम्पादक

सादृश्य पर सामाजिक सम्बन्ध प्रारुपों को समझने का हमारे पूर्वजों ने 'जड़ वस्तु' का अच्छा उदाहरण दिया है—

उत्तम व्यक्ति की दोस्ती पत्थर पर लकीर के समान होती है। टुकड़े-टुकड़े हो जाने पर भी "अपनत्व" की निशानी मिट नहीं पाती। पर, निकृष्ट व्यक्ति की दुश्मनी भी पत्थर पर लकीर के समान ही होती है। उत्तम व्यक्ति की दोस्ती नहीं मिटती, निकृष्ट व्यक्ति की दुश्मनी नहीं मिटती।

मध्यम व्यक्ति की दोस्ती रेत पर लकीर के समान है जो कि छोटी-मोटी हलचल से मिट जाती है। मध्यम व्यक्ति की दुश्मनी भी रेत ही पर लकीर होती है। निकृष्ट व्यक्ति की दोस्ती पानी पर लकीर के समान होती है। बनती और साथ ही मिटती भी जाती है। ऐसी ही होती है उत्तम व्यक्ति की दुश्मनी–पानी पर लकीर के समान। सामाजिक रिश्तों को पत्थर, रेत या पानी के उदाहरण से समझना एक बात है लेकिन रिश्तों को पत्थर, रेत या पानी ही मान लेना 'वस्तुपूजा' (fetishism) कहलाता है। ईश्वर (या प्रेमिका) को सनम (पत्थर की मूर्ति) मानकर पूजने की प्रथा बड़ी पुरानी है। सामाजिक रिश्तों के 'सनम' पूजते रहने की प्रथा समाजविज्ञान में अभी तक जारी है। इसीलिए सामाजिक परिवर्तन या नियोजित परिवर्तन में रुकावट होती है। सनम-खानों के पुजारी 'पत्थर के सनम' तोड़ने नहीं देते। कहा जाता है 'सामाजिक वस्तुपूजा' (social fetishism) के कारण समाज विज्ञान सामाजिक जड़ता का पोषक है। शोषकों के साथ है। समाजविज्ञान पर यह चार्ज कसकर ठोका जा रहा है। प्रश्न है, क्या वास्तव में समाजविज्ञान सामाजिक जड़ता का पोषक है ? जिस समालोचना द्वारा यह चार्ज लगाया जाता है उसके तर्क में कहाँ तक संगतता है ?

'रेडिकल सोसिआलजी' समालोचना पद्धति का यह कहना है कि 'कार्पोरेट सोसिआलजी (जिसका हम-आप अध्ययन-अध्यापन करते हैं) सामाजिक प्रक्रिया में प्राणरूपण या कार्य रूपण (reification) करती है। कुछ ऐसा ही हुआ जैसे साँप निकल जाने के बाद लकीर पीटते रहना। कुछ लोगों ने मिलकर किसी प्रकार की अन्तराक्रिया किया और आगे

बढ़े। हमने उनकी अन्तराक्रिया को आकार में बांधकर व्यक्तियों की वास्तविकता को तो छोड़ दिया, और लगे आकार को (सहयोग-संघर्ष) लकीर की तरह पीटने। हम इसी तरह के आकारों के अनुसार सामाजिक यथार्थ को विवेचित करते हैं। इतना ही नहीं, हम यह भी मान लेते हैं कि यही 'आकार' समाज को चलाते भी हैं—यही कार्यरूपण है।

यहीं से अचल विचार कोटियां (Fixed Categories) आरम्भ होती हैं। पारसन्स की समाज व्यवस्था का सिद्धान्त इसी तरह की अचल विचार कोटियों का निर्माण है जिसमें प्राण फूँकती है 'संतुलन' की अवधारणा। यह व्यवस्था 'चलती है', 'दमन करती है', अपने सरुपों की रक्षा करती (Pattern maintenance) है। अजगर की तरह समाज-व्यवस्था रेंगती रहती है। हम उसकी लकीर को पढ़ते-पढ़ाते, परीक्षा में पूछते, और उसकी लम्बाई-चौड़ाई के आकड़े निकाल-निकाल कर सिर धुनते रहते हैं। हमारे पास केवल आकार रह जाते हैं, उन आकारों से मनुष्य की सामाजिकता उड़ जाती है। हमारा समाज विज्ञान, इस तरह, मानवीय तत्वों से शून्य (de-humanize) हो जाता है। इन आकारों की हम वस्तुपूजा कर रहे हैं। हम समाज को समझ सकते हैं मगर वदल नहीं सकते। विज्ञान वह है जो दोनों ही कार्य कर सके। समाजविज्ञान ऐसा विज्ञान है जो मानवतापूर्ण भूमिका नहीं निर्वाह पाता।

पूंजीवादी व्यवस्था में मनुष्य का श्रम एक कमाडिटी होकर हमारे ही अन्दर लेकिन हमसे अलग, क्रय-विक्रय योग्य हो जाता है। हम अपनी इच्छा के विपरीत भी अपनी इस कमाडिटी (श्रम) को बेचते हैं। समाजवैज्ञानिक भी बौद्धिक श्रमिक के रूप में विनिमय के लिए कमाडिटी बनाता है। ऐसी अवधारणायें और ऐसे सिद्धान्त बनाता है जिनका आदान प्रदान हो सके, छप सके, फण्ड देने वाली संस्थायें उसे चाव के साथ अपना सकें। प्रोफेशन में उसकी धाक जम सकें। अपने आप को वस्तुनिष्ट एवं तटस्थ कहने वाला प्रोफेसर 'शासक यथार्थ' के पक्ष में ज्ञान जमाकर के एलीट की 'टेकनालिजिकल आवश्यकताओं' की पूर्ति करता है। व्यर्थ का ज्ञान अर्जित करके कनफ्यूजन उत्पन्न करता है। सत्य की खोज में जो प्रोफेसर जितना ही कुशल होता है वह उतना मिथ्या अभिमानी होता है। अकेडेमिक फ्रीडम को मूल्य बनाकर तव तक भटकता रहता है जब तक कि 'शासक राजनीतिक यथार्थ' को स्वाभाविक घोषित नहीं करता। यह तभी हो सकता है जब वह विचार कोटियों को वस्तुपूजा का विषय वना देता है। फिर उसके लिए 'धर्म बोलने लगता है,' राज्य डीमान्ड करने लगता है,' समाज दवाने लगता है,' 'नाम उलंघन करने वाले पर झपटने लगता है, 'मतैक्य (कन्सेन्सेस) अपने मुह में विरोध और प्रोटेस्ट को देशी पान की गिलोरियों की तरह दवा लेता है कूँच-काँच कर कुछ निगल लेता है और कुछ नाली में थूक देता है। प्रोटेस्ट का मार्गतन्त्रीकरण हो जाता है।

कुछ न करना 'वेल्युफ्री' होना है अर्थात प्रत्यक्षवादी समाज वैज्ञानिक होना है। निर्णय न लेना वस्तुनिष्टता है। इसीलिए मेक्सवेवर ने कहा है 'विज्ञान हमें जीना नहीं सिखाता इसलिए विज्ञान निरर्थक है।' तर्कयुक्त क्रिया की वात कहकर मेक्सवेवर ने विज्ञान के महत्व को बचाने का प्रयास किया है। प्रश्न है तर्कयुक्त क्या है ? मेक्सवेबर के अनुसार

तो 'अधिक मुनाफा' देने वाली क्रिया तर्कयुक्त है। दुर्खीम ने सामाजिक यथार्थ को 'स्थिर वस्तु' बनाकर दवाव पूर्ण कर दिया। समाज को ठोस वस्तु बना देने से वस्तुपूजा का आधार पक्का हो गया। सामूहिक सामाजिक तथ्य का दूसरा नाम जड़-दवाव पूर्ण यथास्थितिवादी-सामूहिकता है। वर्तमान व्यवहार वादियों का जोर समायोजन पर है। व्यवहारवाद मनुष्य को निर्णय लेने वाला प्राणी नहीं मानता। विज्ञान केवल समायोजन की तकनीक है। मानव समूह लम्बे संघर्ष के वाद, अपने परिवेश और एक दूसरे से समायोजित हुये हैं। अतः विज्ञान में निर्णय या परखने (मूल्यांकन) का संकल्प नहीं होता। तथ्य की शक्ति वास्तव में अनुशासन की शक्ति होती है।

सामाजिक वस्तुपूजा का परिणाम यह निकलता है कि अपने चारोतरफ की दुनिया का चित्र उतार कर समाज वैज्ञानिक विभोर रहता है। वह सुक्रमित व्यवस्था के पक्ष में होता है। अतीत और वर्तमान तो है मगर समाज वैज्ञानिक के पास भविष्य नहीं है। समाज विज्ञान के सामने जो कुछ परिपाटिक है वही सामाजिक तथ्य है और वही आब्जेक्टिव भी है। अगर कुछ रचा जा सकता है तो वह सब्जेक्टिव है। अवैज्ञानिक है। पहले वाक्य और फिर उसे प्रमाणित करते हुये तथ्य। इसी विधि पर समाज विज्ञान निर्भर है। यह विधि समाज विज्ञान की 'सत्ता' है। इस सत्तावाद के कारण कुछ तथ्यों को वास्तविक मानना ही होगा क्योंकि वे वैसे ही हैं। अगर तथ्यों को (जैसे वे हैं उसी रूप में) स्वीकार कर लिया जाय तो 'विज्ञान' है। अगर दायें या वायें खिसकाया जाय तो 'राजनीति' है अथवा नैतिकता है। अतः सामाजिक यथार्थ का अनुलिपिकरण (duplicating) करते रहने का समाज विज्ञान है। शासक एवं शोषक की सेवा करते रहने में ही आज के समाज विज्ञान की वैज्ञानिकता है। प्रोटेस्ट को नकारने से अच्छा उसे आत्मसात करना है। प्रोटेस्ट या नये विचार से भी विज्ञापन होता है और माल खूब बिकता है। विद्रोह का भी भरपूर लाभ आज की व्यवस्था उठाती है।

इसी कारण समाज विज्ञान के विद्रोही (या उग्रवादी) विचार श्मशान में जल रहे हैं सर्व रिसर्च का प्रतिक्रियावादी भूत, मुह से आग उगलता, सम्मेलनों, सेमिनारों, क्लबों, सरकारी दफ्तरों एवं संस्थाओं में घूम रहा है। उसके लिए समाज एक नियंत्रणकारी संरचना मात्र है। इस संरचना को बदलने के लिए वह व्यवहारिक क्रिया करने में असमर्थ है।

प्रश्न है, हम तथ्यों पर आधारित तर्क वाक्यों को अन्तिम क्यों मान लें? क्यों न वैज्ञानिक मानववाद की ओर आगे वढ़ें। तथ्य की चौखट पर दम तोड़ने से बेहतर है उसे लांघ कर आगे वढ़ना। तथा कथित वैज्ञानिक सत्तावाद को पार करके ही वैज्ञानिक मानववाद का लक्ष्य पूरा किया जा सकता है। हमें अवधारणामूलक वस्तुपूजा से नहीं बल्कि लोगों के वास्तविक जीवन से सम्बन्ध रखना चाहिए। समाज विज्ञान में घटना विज्ञान (phenomenology) इस वात की व्याख्या करने का प्रयास करना है कि समूह/व्यक्ति किस प्रकार अपन विचार-जगत में समाज का संरचित प्रतिरूप वनाता है। वस्तु के समान प्रतिरूप होते नहीं, वे चेतना में वनाये जाते हैं। सामाजिक वस्तुपूजा पर आधारित समाज

२२

का माडल या तो 'कारावास' या तो 'कठपुतली रंगमंच' के समान होता है। दोनों ही माडल में जो 'दिया हुआ है' उसके अतिरिक्त कोई दूसरा विकल्प नहीं है। दुर्खीम के लिए समाज बाध्यतामूलक है। व्यक्ति पर सामूहिक प्रतिनिधित्व दबाव डालता है। मेक्सवेबर को पारसन्स ने 'स्वेच्छावादी' माना है लेकिन वेबर का मत कान्तवादी है अर्थात् बहुत कुछ पहले से 'दिया हुआ' है। समाज पहले से परिभाषित है। जब करिश्मा रोटिनाइज्ड हो जाता है तो उसी को पूर्वपरिभाषा करने की शक्ति कहते हैं। हम इस करिश्मा से सहयोग करके अपने लिए बन्धन बुनते हैं और समाज को जिस रूप में वह है उसी रूप में (taken for granted) उसे स्वीकार कर लेते हैं। वैधानिक समाज इसी का नाम है। इस समाज के विपरीत प्रतिसमाज (Counter Society) बनाने का विकल्प वही रह जाता। सामाजिक अध्ययन की वैज्ञानिक विधि विकल्प की स्वतंत्रता नहीं देती।

यह समझ बैठना कि यथार्थ वही है जो वैज्ञानिक अध्ययन विधि की पकड़ में आवे तो ऐसी समझ बौद्धिक गंवारपन (intellectual barbarism) है। समाज विज्ञान को दमन एवं जड़ता का विज्ञान बनाना है। सामाजिक संस्थागत व्यवहार या तादात्म्य एकमात्र विकल्प नहीं है। लेकिन वैज्ञानिक विधियों से सामाजिक कार्य की स्वतंत्रता नहीं मिल सकती। यहाँ दो मार्ग हमारे सामने आते ह। एक तो कालमार्क्स का क्रान्तिकारी परिवर्तन का मार्ग है और दूसरा अस्तित्ववादी सामाजिक दर्शन की बैड फेथ (bad faith) की आलोचना और समाज को नाटक के रूप में समझने की अवधारणा है।

समाज का ड्रामैटिक माडल हमारे भारतीय लोकदर्शन में 'लीला' के समान है। यह संसार एक प्रकार की 'लीला' है। जार्ज सिम्मेल ने कहा है हम समाज को खेल की तरह "खेलते हैं।" अगर हम चाहें तो समाज रूपी रंगमंच पर अपनी भूमिका अच्छी तरह अदा करें, खराब तरह अदा करें या चाहें तो भूमिका अदा करने से इनकार भी कर दें। हम समाज की पूर्व परिभाषा को बदल सकते हैं। नकारना, पूर्वपरिभाषा के स्थान पर प्रतिपरिभाषा देना स्वतंत्रता है। सम्भावनाओं की सम्भावना है। सामाजिक रूपांतरण की सम्भावना है।

अस्तित्ववादी दृष्टिप्रारूप के अनुसार सभी भूमिकायें नकारी जा सकती हैं। भूमिका 'दी हुयी वस्तु' के समान नहीं है। अगर हम सामाजिक भूमिका को बाध्यतापूर्ण या पूर्वपरिभाषित मानते हैं तो यह हमारा 'बैड फेथ' है वास्तव में हम भूमिका को स्वीकारने या नकारने की स्वतंत्रता रखते हैं मगर कहते हैं कि 'दी हुयी सामाजिक स्थिति में हम विकल्पहीन हैं। अस्तित्ववाद के अनुसार हम जीने या न जीने के लिए (आत्महत्या) भी स्वतंत्र हैं। पर हम आत्म हत्या नहीं करते और जीवित रहने के विकल्प का चयन करते तथा भविष्य में अपने व्यक्तित्व को प्रोजेक्ट करना शुरू कर देते हैं। आत्महत्या बेड फेथ है अर्थात् यह मान लेना है कि मरने के अतिरिक्त दूसरा विकल्प था ही नहीं, जबकि विकल्प की स्वतंत्रता अन्तिम साँस तक बनी रहती है। मैदान में पड़े घायल सिपाही ने अपने शरीर से बहते हुए खून को देखकर, अपने कलेजे में दूसरी कटार नहीं भोंका बल्कि उसने जेब से अपनी प्रेयसी का चित्र निकाला और तब तक देखता रहा जब तक उसकी

आँखें पथरा नहीं गयीं। सभी आशाओं के टूट जाने के वाद भी हम इस संसार की सुन्दरता को उस समय तक निहारते रहेंगे जव तक कि हमारी आँखें पथरा नहीं जाती। इस विकल्प को चुनने के लिए हम स्वतंत्र हैं। इसी तरह, समाज वस्तु के समान हमें भूमिका के साँचे में जकड़ने वाला दबावपूर्ण औजार नहीं। हम उसको वदलने के लिए स्वतंत्र है। प्रश्न केवल हमारे विकल्प-चयन का है।

अस्तित्ववादी समाज दर्शन यहाँ पर भावतरंग (ecstasy) की अवधारणा प्रस्तावित करता है। हमें इसे आन्तरिक कमिटमेन्ट भी कह सकते हैं। भावतरंग 'दी हुयी सामाजिक स्थिति के वाहर' छलांग लगाने को कहेंगे। गाफमेन ने इसे भूमिका-दूरी (role-distance) वताया है। भावतरंग में व्यक्ति की चेतना उस स्तर की पहुँचती है (जहाँ कर्म भी प्रारम्भ हो जाते हैं) जव हम 'दी हुयी दुनियाँ' को अस्वीकार कर देते हैं और सम्भावनाओं की दुनिया को भावतरंग में आकर वास्तविक रूप देने लगते हैं। हम परिवर्तन ला सकते हैं। हम सामाजिक वस्तुपूजा छोड़ सकते हैं।

वास्तविक प्रश्न यह है कि समाज को विकल्पहीन सागर समझकर उसमें डूबकर जान दे देना चाहते हैं या घायल सिपाही की तरह आखो के पथराने तक संसार की सुन्दरता देखते रहना या रचते रहना चाहते हैं। अस्तित्ववादी वज्र तब गिरता है जव उनका दर्शन दो टूक भाषा में कह देता है कि 'डूव जाना' और 'आँखों के पथराने तक श्रम करना' दोनों ही निरर्थक विकल्प हैं। अपने आप में जीवन निरर्थक श्रम के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं। हम अपने साहस और अपनी स्वतंत्रता से जीवन को सार्थक वनाये रखने की 'लीला' करते हैं। इस अर्थ में समाज ड्रामैटिक रंगमंच के समान है जहाँ हम अपनी भूमिका 'खेलने के लिए' स्वतंत्र हैं।

———

वैदिक संस्कृति और मूल्य

डॉ० हरिहर नाथ त्रिपाठी

आचार्य, एम० ए०, पी-एच० डी०

[राजनीति शास्त्र विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय]

संस्कृति एवं जीवन के मूल्य विकसित करने वाली सात इच्छाओं का परिगणन वैदिक करते हैं—आयु, परिवार, धन, यश, मान, विद्या, न्याय और मुक्ति। प्रत्येक नागरिक शतायु होने की कामना करता है। उसकी आकांक्षा होती है कि यह 'जीवन निष्क्रियता, आलस्य या प्रमाद का न हो, यह आरोग्य और शक्ति का प्रतीक हो। इसमें ज्ञान-नेत्र का उदय हो। इसमें दीनता न आ सके।[२] जीवन के साथ कामवृत्ति का प्रथम सम्बन्ध होता है। इसी से परिवार नामक संस्था का जन्म होता है—**रतिपुत्रफलवती संस्था**। परिवार के संचालन का मूल है धन।[३] धन की प्राप्ति मान एवं यश के साथ होनी चाहिए।[४] इस स्थिति में पहुँचा हुआ व्यक्ति निश्चिन्त मन से ज्ञान प्राप्ति की कामना कर सकता है।[५] ज्ञान सम्पन्न समाज न्याय प्रदान एवं प्राप्त कर सकता है।[६] अन्ततः संसार के अन्धकार से परम प्रकाशमय परमात्मा प्राप्त करने का संकल्प होता है जिसे मुक्ति कहते हैं।[७]

गृहस्थ

इन मूल्यों की प्राप्ति गृहस्थाश्रम से ही हो सकती है। परिव्रज्या, संन्यास आदि में सामाजिक उच्छृंखलता भी हो सकती है या अपवादस्वरूप व्यक्तित्व का विकास, यदि उसका प्रयोग गृहस्थाश्रम की उपेक्षा से किया गया। गृहस्थाश्रम की पहली शर्त है निर्विरोध दाम्पत्य।[८] इसके लिए पति पत्नी की समान योग्यता एवं शिक्षा आवश्यक है।[९] इनसे युक्त घर ही समृद्धि एवं शान्ति का मूल है।[१०] घर मात्र पति-पत्नी तक ही सीमित नहीं है। इष्ट-मित्र, अतिथि और क्षुधा पीड़ित मनुष्य भी इसके अनिवार्य अंग हैं। उनकी

[१] यजु० २५।२२; ३६।२४।

[२] अथर्व० १९।२५।१।

[३] वही १७।१।२-५; ऋ० १०।११७।८।

[४] अथर्व० १०।३।

[५] यजु० ३२।१४-१५; अथर्व० ६।४१।१।

[६] यजु० ३।५०।

[७] वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥
(यजु० ३१।१८)

यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुदः प्रमुद आसते।
कामस्य यत्राप्ताः कामास्तत्र माममृतं कृधि ॥
(ऋ० ९।११३।११)

[८] ऋ० १०।८५।४२।

[९] वही १०।८५।४७।

[१०] अथर्व० ९।३।१६, ९।३।१७,२१।

तृप्ति गृहस्थ का प्रथम कर्त्तव्य है।[1] अथर्ववेद का यह वर्णन कितना मार्मिक है—"ये घर सत्य बोलने वालों, भाग्यवानों, धनियों, हँसमुखों और भूख प्यास से रहितों के हैं, इसलिए डरिये मत। थके हुए पथिक जो इन घरों का स्मरण करते हैं, उन्हें ये घर अपनी ओर बुलाते हैं, इसलिए कहीं मत जाइए, यहीं रहिए। ये घर अनेक प्रकार से पोषण करते हैं, इसीलिए हम भी यहां आ गये है, ठहरे हैं और सब प्रकार से सुखी हैं।"[2]

अतिथि सत्कार न करने वाले स्वार्थी व्यक्ति को वेदों में दस्यु तक कहा गया है। उन्हें मित्र नहीं मिलते।[3] लेकिन इस प्रकार के अतिथि सत्कार या दानशीलता से निर्धनता नहीं होना चाहिए, अन्यथा उसे फिजूल खर्ची कहते हैं।[4] पुरुषार्थ से प्राप्त धन का ही व्यय होना चाहिए। यहाँ पारिवारिक सम्बन्ध की सीमा गृहभृत्य, पशु, मित्र और पड़ोसी तक विकसित होती है।[5] इस प्रकार के गृहस्थ का व्यापक सामाजिक व्यक्तित्व प्रस्तुत होता है जिसके अनुसार वह समाज के सभी वर्गों के साथ सौमनस्य स्थापित करता हुआ राज्य के संचालन में भाग लेता है और उसमें निश्चित अपना स्थान प्राप्त करता है। अन्ततः उसकी सीमा पूरी मानव जाति हो जाती है जिसमें वह विराट् पुरुष का साक्षात्कार करता है। विषमता का लोप हो जाता है। जो कुछ उपलब्ध है उसमें समाज का प्रत्येक व्यक्ति समान रूप से भागीदार बनता है। 'समान-भाग' सम्पत्ति से लेकर संस्कृति के प्रत्येक घटक से जुड़ा हुआ है। इसका पालन करन वाला ही शतायु होने का अधिकारी है।[6] ऐसे ही व्यक्ति को सभी मित्र भाव से देखते हैं और वह सभी को मित्रभाव से देखता है। ऐसे ही समाज में सभी प्राणी परस्पर एक दूसरे को मित्रभाव से देखते हैं।[7]

सामाजिक व्यक्तित्व

सात मर्यादाएँ मानी गयी हैं—हिंसा, चोरी, मद्यपान, जुआ, असत्य भाषण और दुष्टमैत्री से दूर रहना।[8] काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर छः विकार हैं।[9]

---

[1] अथर्व० ७।६०।१-५।

[2] सूनृतावन्तः सुभगा इरावन्तो हसामुदाः।
अतृष्या अक्षुध्यास्त गृहा मास्मद्बीभीतन ॥
इहैव स्त मानु गात विश्वा रूपाणि पुष्यत।
ऐष्यामि भद्रेणा सह भूयांसो भवता मया ॥
(अथर्व० ७।६०।६-७)

[3] ऋ० ११।११७।

[4] अथर्व० ६।११७।३।

[5] ऋ० १०।७१।१०; १०।११७।४; अथर्व० १९।६२।१; यजु० १८।४८।

[6] अथर्व ३।३०।६; ३।३०।१; यजु० १९।४६; अथर्व० ९।१।२२।

[7] दृते दृंह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे।
(यजु० ३६।१८)

[8] ऋ० १०।५।६।

[9] ऋ० ७।१०४।२२।

हिंसा आदि वाह्य और कामादि आन्तरिक दुर्वासनाओं से मर्यादित व्यक्ति ही सामाजिक हो सकता है। इसका आधार है सत्य और मधुर भाषण।[1] इस प्रकार के व्यक्ति एवं समाज के परस्पर सम्बन्ध में ऐसे वातावरण का निर्माण अवश्यम्भावी है जिसमें "भद्र (कल्याणकारी) ही सुनाई देगा, भद्र ही आँख से दिखाई देगा, भद्र ही कर्म किया जाएगा जिससे समग्र समाज का हित हो।"[2] ज्ञान-युक्त मन ही शान्ति प्राप्त कर सकता है। निष्पाप मन समाज का केन्द्र है।[3] ईर्ष्या-द्वेष युक्त मन श्मसान भूमि के समान है।[4] पर निन्दा करने वाला नीच तो है ही किन्तु व्यक्ति को ऐसा स्वयं बनना चाहिए कि लोग निन्दा न कर सकें।[5] पशुओं से लेकर मनुष्यों तक की हिंसा नहीं करनी चाहिए।[6] इसी प्रकार व्यसनों से मुक्त व्यक्ति का ही सामाजिक स्वरूप विकसित हो सकता है।

संस्कार

सामाजिक व्यक्तित्व के सदाचार तभी विकसित हो सकते हैं जब उसके संस्कार किये जांय। कहीं-कहीं संस्कृति संस्कार का पर्याय मानी जाती है। 'संस्कार का सामान्य अर्थ है मन, वाणी और शरीर का सुधार। यह सुधार गर्भ से ही प्रारम्भ होता है क्योंकि भारतीय व्यक्ति भौतिक तत्त्वों के संघात की आकस्मिक उपलब्धि नहीं बल्कि परम सत्ता के अंश रूप में वह सोद्देश्य विकास है। गर्भ में वह उसी उद्देश्य पूर्त्ति के लिए अपनी लौकिक यात्रा प्रारम्भ करता है। फलतः संस्कार वहीं से आरम्भ होना चाहिए। मूलतः विवाह संस्कार इसीलिए अत्यन्त उच्च कहा गया है जो गर्भाधान आदि का प्रारम्भ कारण है। विवाह सामाजिक संस्था है, वैयक्तिक सुख साधन नहीं। उसके लिए नियम, संयम आदि योग्यताएँ अनिवार्य हैं। इसी प्रकार विभिन्न संस्कारों के द्वारा व्यक्ति के उस व्यक्तित्व की कल्पना की गयी है जो 'पृथ्वी से लेकर अन्तरिक्ष और द्यौ तक अपना विकास कर सके।"[7]

जीविका

इस प्रकार की अदम्य शक्ति से युक्त व्यक्ति ही अपनी जीविका के लिए प्रश्न करता है "इस पृथ्वी का अन्त कहाँ है, भुवन का मध्य कहाँ है, सेचन करने वाले अश्व-रेत कहाँ हैं और कहाँ है आकाशमयी वाणी ?"[8] अर्थात् व्यक्ति की जीविका की कोई सीमा नहीं, वह आकाशमयी वाणी (वेद) के ज्ञान के द्वारा सर्वत्र अपना स्थान बना सकता है। इसके लिए वह यज्ञ, (सर्वस्व समर्पण पूर्वक भोग) व्रत (नियम, अनुशासन) आदि के द्वारा जीविका प्राप्त कर

---

[1] ऋ० १०।७१।२; यजु० १।५; १९।७७; अथर्व० १०।५।२२; ऋ० ७।१०४।१२; अथर्व० १।३४।

[2] यजु० २५।२१।

[3] अथर्व० १९।९, अथर्व० ६।४५।१।

[4] अथर्व० ६।१८।२।

[5] अथर्व० १९।५।१।१।

[6] अथर्व० १०।१।२९; १२।२।५१।

[7] यजु० ७।२९।

[8] वही २३।६१-६२।

सकता है। इन नियमों के द्वारा प्राप्त सारी पृथ्वी, खनिज पदार्थ सभी कुछ उसी का है।[1] धरती पर रहने का अधिकार उसे तभी है जब वह नियमपूर्वक उसके साधनों का उपयोग करे, शत्रुओं से कभी भी पराजित न हो, ऐश्वर्य और तेज का विस्तार करे, पर्वत, जंगल, खनिज शक्ति आदि से सुख प्राप्त करें, पृथ्वी को शत्रुहीन बना दे, समाज की सभी संस्थाओं से वह सम्मान प्राप्त करे, मणि, सुवर्ण से समाज को भर दे, बुद्धि और विवेक से ही सारा व्यवहार करता रहे। इस प्रकार का व्यक्ति भूमि का मध्य, उसका कर्म और वल प्राप्त कर सकता है। ऐसे ही व्यक्ति की यह पृथ्वी माँ है और वह उसका पुत्र—माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः।[2]

व्यक्ति की उत्पादन क्षमता में विषमता सिद्धान्त है किन्तु वितरण में समता सिद्धान्त की व्यवस्था की गयी है। इसके लिए वैदिक उपमाएँ देना ही उत्तम है। "नेत्र आदि इन्द्रियों के समान होने से सब मनुष्य समान दिखाई पड़ते हैं परन्तु मनोवेगों और बुद्धिवलों में सब असमान हैं—एक ही माता से उत्पन्न गौएँ भी बराबर दूध नहीं देतीं। यमज (जुड़ुआ) भाई भी समान बल नहीं रखते। एक ही जाति के होते हुए भी सभी व्यक्ति समान व्यवहार नहीं करते"।[3] लेकिन धन का बँटवारा पूरे समाज में योग्यता और आवश्यकता के अनुसार करना चाहिए।[4] निर्धनता राष्ट्र के लिए कलंक है।[5] कृषि, वनस्पति, पशुधन, व्यापार, कला, उद्योग-धन्धे, औषधिविज्ञान आदि का 'स्वाभाविक रुचि और मनोवृत्ति' के अनुसार विकास कर राष्ट्र को समृद्ध बनायें।[6]

समाज और राष्ट्र

चार प्रकार के भय माने गये हैं—बीमारी, प्राकृतिक विप्लव, समाज के आन्तरिक दुष्ट और वाह्य शत्रु। इनसे रक्षा आयुर्वेद, मंत्र, प्रार्थना और राज्य प्रवन्ध से होता है। परिस्थिति के अनुसार इनका उपयोग करना चाहिए। तभी समाज अन्तरिक्ष, द्यावा, पृथिवी सर्वत्र निर्भयता सम्भव है।[7] सर्वत्र शान्ति का साम्राज्य फैलता है।[8] मनुष्यों से उत्पन्न उत्पात सामाजिक और वाह्य शत्रु जन्य हैं। समाज में ईर्ष्या, द्वेष, आलस्य, मूर्खता और विलासिता उत्पात के कारण हैं। इनसे ही समाज निर्बल होता है। निर्बल समाज पर ही वाह्य शत्रुओं का आक्रमण होता है। फलतः इन उत्पातों से रक्षा की एकमात्र संस्था है—राज्य। धर्म नियन्त्रित राज्य के सम्यक् प्रयोग से ऐसे राष्ट्र की स्थापना होती है जिसमें

[1] वही १८।१३।
[2] अथर्व० १२।१।
[3] ऋ० १०।७१।७; १०।१।७।९।
[4] यजु० ३०४।
[5] ऋ० १०।१५५।१।
[6] ऋ० ४।५७;; ५।४५।६; ८।४६।२२; ९।११२।२-३; यजु० १६।१७; अथर्व० ३।१५।१-६।
[7] यजु० ३६।२२; अथर्व० १९।१५।५-६।
[8] यजु० अध्याय ३६।

धर्म-कर्म से युक्त ब्राह्मण, महारथी वीर क्षत्रिय, दूध देने वाली गायें, पुष्ट बैल, गतिमान् अश्व, रूप गुणवती ललनाएँ, विजयी रथी, सभा में भाग लेने वाले पुत्र, वीर सन्तति, यथेष्ट अवसर पर वर्षा, फलवती वनस्पतियाँ और पूरे समाज के योगक्षेम की स्थापना संभव होती है।[१]

राज्य-व्यवस्था में विना भेद-भाव के सभी व्यक्तियों का योग्यता एवं क्षमता के आधार पर योगदान होना चाहिए। इस प्रकार की व्यवस्था में ही राज्य पर्वत के समान स्थिर होकर राष्ट्र धारण कर पाता है।[२] राज्य व्यक्ति विशेष की इच्छा नहीं निर्वाचित सामाजिक एवं राजनीतिक संस्थाओं से संचालित होता है।[३] शासन वाह्य-शत्रु के समान समाज के उन आन्तरिक शत्रुओं का भी उन्मलन करता है जो समाज के नियमों का उल्लंघन करते हैं। इनमें धनिक वर्ग के द्वारा नियम उल्लंघन पर विशेष ध्यान दिया गया है।[४] नियम उल्लंघन पर स्त्री-पुरुष को समान दण्ड देना चाहिए।[५] विवेकशील एवं बौद्धिक वर्ग का राज्य में अधिक महत्त्व रहा है। इसके उल्लंघन पर राज्य का नाश अवश्यम्भावी है।[६] बौद्धिक वर्ग के नेतृत्व को राजा व्यर्थ नहीं कर सकता।[७] बौद्धिक एवं सैनिक शक्ति सम्पन्न राष्ट्र अपराजेय है।[८] वाह्य शत्रुओं पर विजय के दृढ़ संकल्प से पूरा वैदिक साहित्य भरा पड़ा है।

व्यक्ति, समाज और राज्य में स्थापित सम्बन्ध के लिए यजुर्वेद की एक ऋचा का उद्धरण ही पर्याप्त है। व्यक्ति का वैदिक व्यक्तित्व इस प्रकार है—

'श्री मेरा शिर है, यश ही मुख है, केश और दाढ़ी-मूछ ही प्रकाश हैं, राजा प्राण है, सम्राट् चक्षु, विराट् कान है। यही सब अमरता है। भद्रता ही जिह्वा है। कीर्ति ही वाणी है। क्रोध ही मन है। स्वतन्त्रता ही प्रकाश है। आमोद प्रमोद ही अंगुलियाँ और अंग हैं। सहनशीलता ही मित्र है। बल ही बाहु है। कर्म ही इन्द्रियाँ हैं, वीर्य ही हाथ है। क्षत्र ही हृदय और आत्मा है। राष्ट्र ही पीठ है। प्रजा ही उदर, ग्रीवा, पैर, जंघा, घुटना और अन्य समस्त अंग-प्रत्यंग हैं।[९]" राष्ट्र, समाज और विधि का आधार है ऋत।[१०] ऋत एवं सत्य ही समग्र समाज और राज्य व्यवस्था के मूल हैं।

औपनिषदिक ज्ञान

व्यक्ति, समाज और राज्य की आदर्श व्यवस्था के वाद ही मोक्ष का प्रश्न आता है जिसे औपनिषदिक ज्ञान कहते हैं। इसमें सृष्टि की उत्पत्ति और उसमें विनाश के कारणों

---

१ यजु० २२।२२।

२ ऋ० १०।१७३।

३ अथर्व० ७।१२।१-२; ३।१९।१-२।

४ ऋ० १।५।१८; १।३३।४; ७।५६।१९; ८।७०।११; ७।९४।१२।

५ अथर्व० २०।९६।१४-१६; ८।६।२३; ५।१४।६।

६ वही, ५।१७।९-१९; ५।१९।११, १२।५।७-११।

७ अथर्व० ५।१८।४।

८ यजु० २२।२५; ३२।१६।

९ यजु० २०:५-८।

१० अथर्व० ८।९।१३।

का अनुसन्धान प्रारम्भ होता है। जिज्ञासा इस प्रकार पैदा होती है—"कौन-सा वन है और कौन-सा वह वृक्ष है, जिसकी लकड़ी से भूलोक और पृथिवीलोक बनाया गया है? मनीषियों! अपने मन से पूँछो कि इन भुवनों का धारण करने वाला और उनका अधिष्ठाता कौन है?' इस एक प्रश्न के उत्तर में वैदिक ऋषियों का अपार ज्ञान साहित्य विकसित होता है। निष्कर्ष में कहा जा सकता है कि परमेश्वर जीव और प्रकृति ही संसार के कारण हैं। इन्हीं से उत्पत्ति-विनाश प्रक्रिया चलती है। जीव प्रकृति बन्धन से मुक्त होने पर ही मोक्ष या परमेश्वर प्राप्ति कर सकता है। इसके लिए उसे स्वयं विवेक शक्ति प्राप्त है—"तद्वा अथर्वणः शिरो देवकोशः समुब्जितः"। मनुष्य का शिर ही ज्ञान-विज्ञान का खजाना है। इस विवेक शक्ति के प्रयोग से ही व्यक्ति विराट् की सत्ता का साक्षात्कार कर जीवन्मुक्त हो सकता है।

निश्चित ही जीवन का लक्ष्य मोक्ष है, लेकिन वह ऐकान्तिक नहीं है। वह जीवन की अनेक सद्वृत्तियों की अन्तिम स्थिति है। इसमें संसार के सम्यक् ज्ञान और उपयोग आवश्यक हैं। इनकी विधि है। यह विधि चार भागों में विभक्त है—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। मनुष्य की आवश्यकताओं के चार स्थान हैं—शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा। इन्हें उक्त चार पदार्थ पूर्ण करते हैं। इन चारों में परस्पर आधार और आधेय सम्बन्ध है। सभी एक दूसरे के पूरक हैं। इस प्रकार के सम्बन्ध के अभाव में इनके उपयोग से समाज नष्ट हो जाता है। इनमें सम्बन्ध स्थापित कराने में सबसे बड़ी शक्ति है—धर्म जिसके द्वारा अर्थ और काम मोक्ष का साधन बन जाता है। इसमें दो बातें आवश्यक होती हैं—सृष्टि के कारणों का ज्ञान, सभी के कारण ईश्वर की प्राप्ति और सृष्टि के उपयोग की विधि का ज्ञान। दूसरे का तात्पर्य है अर्थ और काम के उपभोग का ज्ञान। लेकिन मूल प्रश्न है सृष्टि के कारणों का ज्ञान जिसमें मोक्ष का उद्देश्य ईश्वर का स्वरूप अभिव्यक्त होता है।

कारण-कार्य

यह सृष्टि कार्य है। इसका प्रत्येक पदार्थ नियमपूर्वक परिवर्तनशील है। प्रत्येक जाति के प्राणी अपनी जाति के भीतर ही उत्तम, मध्यम और निकृष्ट स्वभाव से पैदा होते हैं। इस विशाल सृष्टि में सभी कुछ नियमित, बुद्धिपूर्वक और आवश्यक है। परिवर्तनशीलता प्रत्यक्ष है। वह नैमित्तिक है स्वाभाविक नहीं, अन्यथा ह्रास विकास सम्भव ही नहीं हो पाएगा। इस परिवर्तन से स्पष्ट है कि सृष्टि अणु परिमाणुओं का नियमबद्ध सोद्देश्य संघात है। प्रश्न है कि क्या ये अणु परमाणु चेतन और ज्ञानवान् भी हैं? यदि वे ऐसा होते तो दूसरे के बनाये हुए नियमों में बद्ध न होते। फलतः वे जड़ हैं। इसी जड़, परिवर्तनशील और परमाणु रूप उपादान-कारण को माया आदि कहा गया है। दूसरा नियम है प्राणियों के उत्तम और निकृष्ट स्वभाव का। समान परिस्थिति में रहने वालों में भी यह विषमता प्रति पग पर दीखती है। प्रकृति की एक जातीय वस्तु दूसरे से निकृष्ट या उत्तम है। यह स्वभाव भिन्नता चेतन, बुद्धि-ज्ञान से सम्बद्ध है। प्रत्येक शरीर में ज्ञानवान् जीव से ही यह संभव है, यही सृष्टि का दूसरा कारण है। सभी कुछ नियमित

बुद्धिपूर्वक और आवश्यक होने का नियम अत्यन्त स्पष्ट है। पहला कारण है प्रकृति, दूसरा है जीव और तीसरा है ईश्वर।[1]

इनमें प्रकृति एवं जीव अणु, परिच्छिन्न और एकदेशी होने से मूल कारण नहीं हो सकते। यद्यपि समस्त जीव ज्ञानवान् हैं तथापि अणु होने से उनमें ज्ञान भी अणु मात्र ही है। फलतः अनन्त जगत् को वे नियम में नहीं बाँध सकते। इतना अवश्य है कि शरीरधारण करने पर वे अपने से भिन्न पदार्थों की प्राप्ति का प्रयास करते हैं। इनमें संघर्ष-युद्ध इत्यादि भी होते हैं। इन स्थूल एवं सूक्ष्म संघर्षों में नियामक ईश्वर ही हो सकता है। जड़ सृष्टि में स्वयं उत्पन्न होने का सामर्थ्य नहीं है। दूर दूर स्थित परमाणु बिना किसी माध्यम के एक दूसरे पर प्रभाव डालकर न तो आकर्षित ही कर सकते हैं और न आकृष्ट परमाणुओं को अलग कर सकते हैं। फलतः मात्र प्राकृतिक शक्तियाँ सृष्टि उत्पन्न नहीं कर सकती हैं। समस्त जीवों से भी सृष्टि नहीं वन सकती है क्योंकि वे एकदेशीय हैं। परमेश्वर सर्वत्र व्याप्त और परिपूर्ण है, फलतः निष्क्रिय है। लेकिन परमाणुओं को वह गतिमान् तभी वना सकता है जव वह स्वयं गतिशील हो।

उक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि सृष्टि की उत्पत्ति में तीनों का सहयोग आवश्यक है। यहाँ भारतीय दर्शनों में परस्पर मतभेद हैं। लेकिन सृष्टि विद्या के विकास पर प्रायः ऐक्यमत्य है कि चेतन से जड़ में शक्ति संचार हुआ और अन्ततः सृष्टि का विकास प्रारम्भ हुआ। यजुर्वेद (३५।५) के अनुसार जिसके द्वारा पहले कुछ उत्पन्न नहीं हुआ, उसी षोडश कला वाले प्रजापति ने प्रजा के साथ रमते हुए अग्नि, विद्युत और सूर्य का निर्माण किया। उपनिषद् में परमात्मा या आत्मा से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी का निर्माण हुआ। छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार परमात्मा ने जीवों म विशेष रूप से प्रविष्ट होकर इस नाना रूपात्मक जगत् की सृष्टि की। मनु भी (१।७४-७५) मानते हैं कि सबसे प्रथम परमात्मा ने सजग होकर मन को उद्बुद्ध किया। मन से समस्त प्रकृति में हलचल हो गयी। सांख्य दर्शन ने प्रकृति-पुरुष के पंगु अन्धे संयोग से सृष्टि मानी है। गीता ने इन दोनों को अनादि माना है। वेदान्त ने दोनों का अन्तर्भाव ब्रह्म में मानते हुए सृष्टि क्रम सांख्य का ही स्वीकार किया है। इन समग्र मान्यताओं में यह सभी मानते हैं कि चेतन मूल है न कि जड़।

इस दार्शनिक मीमांसा से यह स्पष्ट हुआ कि भारतीय ईश्वर, कर्मफल और पुनर्जन्म को समाज संघटन का मूल मानते हैं। जीव अनादि काल से कर्म करता आ रहा है और ईश्वर अनादि काल से उसे फल देता आ रहा है। इसीलिए प्रलय के वाद भी जीवों के कर्मफल के कारण पुनः सृष्टि होती है।[2] समस्त कर्म तीन गुणों में विभक्त है—सत्व, रज, तम। धर्मानुकूल बुद्धिपूर्वक किया गया कर्म सात्त्विक, निर्बुद्धिपूर्वक किया गया काम राजस और प्रमाद-आलस्य आदि से किया गया कर्म तामस होता है। प्रथम कोटि में मनुष्य, दूसरे मे पशु और तीसरे में वृक्षादि शरीर प्राप्त होते हैं। ज्ञान और कर्म से युक्त मनुष्य

---

[1] ऋ० १।१६४।२०; श्वेताश्वतरोपनिषद्।
[2] मनु० १।२८।

इस सृष्टि का भोक्ता है और शेष उसके भोग्य। भोग्य पहले और भोक्ता बाद में उत्पन्न होता है। फलतः मनुष्य सबसे अन्त में उत्पन्न हुआ।[१] लेकिन जब मनुष्य अपने भोक्तृत्व में अनाचारी होकर सृष्टि के नियम में असन्तुलन उत्पन्न करता है तो प्राकृतिक उत्पात अवश्यम्भावी हैं। उनसे मनुष्य का नाश भी अपरिहार्य है।

अब प्रश्न है कि जड़ से चेतन सृष्टि का क्या सम्बन्ध है? हमारा सौरजगत् ही विराट् है। विराट् का शिर द्यौ अर्थात् सूर्यस्थायी आकाश है, नेत्र सूर्य है, प्राण वायु है, उदर विद्युत और मेघ है और चरण पृथ्वी है। पृथ्वी से आकाश तक इस विराट् का सूचकत्व मनुष्य को प्राप्त हुआ है। फलतः विराट् और मनुष्य में पिता पुत्र सम्बन्ध है। मनुष्य के अतिरिक्त पशु या वृक्ष के शिर आकाश की ओर नहीं होते। सात्त्विक कर्म से ही जीव ऊर्ध्व रेता होता है, उसे ज्ञानपूर्वक कर्म करने का अवसर प्राप्त होता है। यह मनुष्य को ही प्राप्त है। मनुष्य जब अविवेकी होता है तो ऊर्ध्व आकाश से क्षितिज पर मुड़ता है। नशे में पड़ा व्यक्ति आकाश की ओर सिर नहीं कर सकता। उसके पाँव पृथ्वी पर नहीं रह पाएँगे। या तो वह निद्रा में डूब जाएगा या बेहोश होकर लड़खड़ाने लगेगा। इसी तरह सूर्य एवं उसकी शक्ति के अभाव में नेत्र शक्ति निष्क्रिय हो जाती है। वायु और प्राण का सम्बन्ध इतना स्पष्ट है कि वे पर्याय भी बन जाते हैं। इसी प्रकार अन्य अंगों के भी संबंध हैं। स्पष्ट है कि हम विराट् के प्रतिरूप हैं। उसी के सहारे हमारा संचालन हो रहा है। पशु और वृक्ष इस सौभाग्य से शून्य हैं। वे आड़े शिर (क्षितिज) की ओर अधोमुखी हैं।

चेतन का जड़ से जैसे सम्बन्ध है, उसी प्रकार उनके परस्पर भी सम्बन्ध हैं। निकृष्ट कोटि के जीव उत्कृष्ट कोटि के जीवों के भोग्य बने हुए हैं। मानव उत्कृष्ट जीवधारी है। वृक्षों से पशुओं तक सभी उसके कर्मभोग और नवीन कर्म में सहायक बने हुए हैं। मनुष्य उनसे जिस प्रकार सहायता प्राप्त करता है उसी तरह पशु एवं वृक्षादि भी परस्पर एक दूसरे की सहायता करते हैं। पशु वृक्षों का उपयोग करते हैं। सिंहादि उत्कृष्ट जन्तु अपने से निकृष्ट जीवों को आहार बनाते हैं। दीमक सर्प के लिए बिल बनाता है और कौवा कोयल के अंडों की परवरिश करता है। घोड़ों के असाध्य रोग वन्दरों के सहवास से अच्छे होते हैं। एक क्षण भी एकाग्रचित्त होकर हम सृष्टि का यह नियमबद्ध संचालन देख सकते हैं। वृक्षों में भी यह प्रक्रिया चलती रहती है। स्पष्ट ही यह संसार महान् यंत्र है। सूर्य, चन्द्रमा, पृथ्वी, जलादि उसके ढाँचे हैं। उसमें जड़ी हुई समस्त चेतन योनियाँ उसके संश्लिष्ट पुरजे हैं। इस यंत्र के कारीगर ने इसमें एक भी पुरजा अकारण और निरुद्देश्य नहीं लगाया है।

जाति, आयु और भोग

सृष्टि रहस्य की दार्शनिकता जटिल है लेकिन भारतीय समाज का छोटा सा बालक भी प्रातः काल की संध्या में संकल्प और "सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्" जैसे मंत्रों में इसका स्मरण करता है। उसी संदर्भ में अपने व्यक्तित्व का मूल्यांकन करता है। समग्र

---

१ यजुर्वेद अ० ३१।

जीवों में मनुष्य ही विवेशील है। उसमें ही नियमभंग करने की शक्ति है। मनुष्य से अपेक्षा की जाती है कि वह विना किसी को कष्ट दिये अपना स्वत्व भोग करेगा। उसके लिए नियम वने हुए हैं। योग-शास्त्र के अनुसार पूर्वकर्मानुसार प्राणियों की जाति, आयु और भोग मिलते हैं—"सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः।" प्रत्येक प्राणी किसी न किसी जाति का होता है। जाति की अनेक परिभाषाओं में गौतम की भी परिभापा है—"समानप्रसवात्मिका जातिः।" अर्थात् जिसकी समान पैदाइश हो वह जाति है। मनुष्य की एक जाति है और गाय-वैल की दूसरी। इनके प्रसव में परस्पर समानता नहीं है। मनुष्यों की आयु में भी समानता है। घोड़ों, कुत्तों आदि एक जाति वाले जीवों की समान आयु होती है। एक जाति के जीवों के आहार-विहार अर्थात् भोग समान हैं। इनमें मनुष्य का यह दायित्व है कि यह विवेकशील होने से अन्य जीवों को उनकी आयु और भोग में वाधा न उपस्थित करे। संसार में आये हुए जीवों की यही -जाति, आयु, भोग, तीन शर्तें हैं। वह अपना सारा कार्यक्रम उन्हीं के अनुसार बना सकता है।

उक्त व्यवस्था ईश्वरीय हैं। इसमें वाधा पहुँचाना ईश्वर के नियमों का उल्लंघन है। जीवों में सहज मैत्री है, क्योंकि सभी ईश्वर की सन्तान हैं। व्याघ्र आदि हिंसक माने जाते हैं किन्तु वास्तविकता ऐसी नहीं है। महाभारत में सभापर्व में यह श्लोक है—

"सा हि मांसार्गलं भीष्ममुखार्त्सिहस्य खादतः।
दन्तार विलग्नं यत्तदादत्तेऽल्पचेतनः॥

अर्थात् भूलिंग पक्षी सिंह के मुँह में अपना मुँह डालकर उसके दातों में घुसे मांस निकाल कर खाता है। भूलिंग पक्षी इतना वड़ा होता है कि व्याघ्र उसके माँस से पेट भर सकता है। परन्तु अपने मुँह में आ जाने पर भी वह उसे नहीं मारता। स्पष्ट है कि हिंसक जन्तु मात्र अपने भोग भर की हिंसा करते हैं। इससे आगे प्रवृत्त होने में मनुष्य ही कारण होता है या आकस्मिक स्थितियाँ। इस प्रकार सृष्टि उपयोग के नियमों का सारा दायित्व मनुष्य पर है। वह सृष्टि के नियमों के ज्ञान के बाद उन्हीं नियमों के अनुसार मोक्ष की साधना करे।

मोक्ष

मोक्ष दो प्रकार का है—दुखों का अत्यन्त अभाव और आनंद की प्राप्ति। लेकिन दोनों परस्पर सम्वद्ध नहीं हैं। दुखों का न होना ही सुख नहीं है। क्लोरोफार्म सूंघे हुए व्यक्ति को दुखों का अभाव तो रहता है किन्तु आनन्द की प्राप्ति नहीं होती। वस्तुतः दुखों का कारण शरीर है, इसका अत्यन्ताभाव होने पर ही दुखों का अत्यन्ताभाव होता है। लेकिन तव भी आनन्द की प्राप्ति इसका परिणाम नहीं होगा। इस प्रकार संसार सुख से परे परमेश्वर प्राप्ति ऐसा आनन्द है जो शरीर के बिना ही संभव है, जिसमें आत्मा परमात्मा में अपने को आत्मसात् कर लेता हैं। वैसे विभिन्न दर्शनों में मोक्ष के स्वरूप पर मतभेद है किन्तु चेतन सत्ता में जीव का तिरोधान यही यहाँ हम प्रस्तुत कर रहे हैं।

अमृत तत्त्व परमेश्वर के दर्शन पर किस प्रकार का आनन्द प्राप्त होता है, इसपर वेद-उपनिषदों में अत्यधिक विचार किया गया है, क्योंकि यही जीवन का अन्तिम लक्ष्य है। उपनिपद् के अनुसार जो आनन्द रूप अमृत है उसे विज्ञान से ही विद्वान् देखते हैं—"तद्वि-

ज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृतं यद्विभाति।" परमेश्वर की प्राप्ति से सभी शंकाएँ समाप्त हो जाती हैं और संसार की कोई भी वस्तु अज्ञात नहीं रह जातीं।[1]

जहाँ तक प्रकृति (माया) का वेष्टन है, वहाँ तक दुखों से छुटकारा नहीं हो सकता। प्रकृति एक रस नहीं रहती। सदा परिवर्तनशील है। परिवर्तन में अनुकूलता प्रतिकूलता बनी रहती है। प्रतिकूल वेदना से दुःखों का होना अनिवार्य है। प्रकृति के तीन वेष्टन हैं—सूक्ष्म शरीर, स्थूल शरीर और बाह्य विराट् शरीर (ब्रह्माण्ड) जिसमें यह शरीर (पिण्ड) बँधा हुआ है। इन तीनों से छुटकारा ही मुक्ति है। वेद के अनुसार परमात्मा के एक पाद में यह समस्त मायिक जगत् है और तीन पाद द्यौ में अमर हैं। स्पष्ट है कि उसके तीन पाँव वाला द्यौ लोक परमात्मा का अमृत लोक है। यहीं पहुँचना जीव का लक्ष्य है। वेदों में "द्यावापृथिवी" शब्द की व्याख्या में कहा गया है कि इसके तीन भाग हैं—नीचे पृथ्वी, मध्य में अन्तरिक्ष और ऊपर द्यौ। यही तीन लोक हैं। अथर्ववेद में (४।३९) सूर्य को द्यौ का वत्स कहा गया है अर्थात् द्यौ लोक का देवता सूर्य है। सूर्य के आगे भौतिक जगत् (प्राकृतिक) का अस्तित्व समाप्त हो जाता है। वही स्वर्ग या ब्रह्मलोक है। जीवन्मुक्त पुरूष सूर्य द्वार से ही मोक्ष धाम जाते हैं—"सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति।" सूर्य ही मोक्षधाम का दरवाजा है। सूर्य का पृष्ठ भाग ही स्वर्ग है। बृहदारण्यकोपनिषद् के अनुसार ब्रह्मज्ञानी पुरुष मुक्त होकर ऊपर की ओर स्वर्ग लोक जाते हैं—"तेन धीरा अपि यान्ति ब्रह्मविदः स्वर्गलोकमित ऊर्ध्वं विमुक्ताः।" मुण्डकोपनिषद् के अनुसार सूर्य की सातों रश्मियाँ ब्रह्मविद् को वहाँ पहुँचा देती हैं जहाँ देवाधिदेव एक परमात्मा रहता है—"तन्नयन्त्येताः सूर्यस्य रश्मयो यत्र देवानां पतिरेकोऽधिवासः (१।२।६)। यजुर्वेद में परमात्मा स्वयं कहता है कि सूर्यद्वार से जो निर्मल और अमृत पुरुष दिखायी देता है वह मैं ही हूँ—"योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्"।

यह तो सच है कि इस लोक में पहुँचकर आनन्द प्राप्त होता है। यहाँ जीव भय-मुक्त हो जाता है। उसे वृद्धावस्था का डर नहीं रहता। क्षुधा, तृषा आदि दुःख समाप्त हो जाते हैं। मृत्युपाश को वह तोड़ देता है। लेकिन यह स्वर्ग एवं ब्रह्मलोक धाम परमानन्द की प्राप्ति नहीं है। यहाँ से भी जीव को पुनः लौटना पड़ता है। उपनिषदों में ही यह भी कहा है कि[2] सूर्य के पृष्ठ भाग स्वर्ग में आनन्द भोगकर प्राणी हीनतर लोकों में जाते हैं—"नरकस्य पृष्ठे तेसु कृतेऽनुभूयेमं लोकं हीनतरं चाविशन्ति" (मु० उ० १।२।१०)। गीता ने भी यही माना है कि ब्रह्मलोक तक के जीव पुनः नीचे के लोकों में आते हैं—"आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्त्तिनोऽर्जुन" (गीता० ८।१६)।

स्पष्ट है मोक्ष इससे ऊपर है। इस लोक में आने पर जीव प्राकृतिक बन्धनों से मुक्त होता है। पुण्य समाप्त होने पर उसे पुनः अपने शेष कर्म भोगने पड़ते हैं। किन्तु जब

---

[1] भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥मु० उ० २।२।८

[2] ततोमुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मृत्युलोकं विशन्ति।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे। (मु० उ० ३।२।६)

उसकी साधना इस लोक से भी ऊपर जाने की हो जाती है, तब जीव भाव ही मिट जाता है। ब्रह्म जीव दोनों तादात्म्य प्राप्त कर लेते हैं। तब किसी प्रकार के आवागमन का प्रश्न ही नहीं रहता। आने जाने वाला तो अब स्वयं ब्रह्म स्वरूप ही हो गया। अब आने जाने वाले का अस्तित्व ही समाप्त हो गया। यही परापरावतब्रह्म लोक है। यहाँ से पुनरावर्त्तन कथमपि नहीं होता—

तेषु ब्रह्मलोकेषु परापरावतो वसन्ति तेषां न पुनरावृत्तिः :
एवं वर्तन्यावदायुषं ब्रह्म लोकमभिसम्पद्यते न च पुनरावर्त्तते न च पुनरावर्तते ॥

मोक्ष के साधन हैं—ज्ञान, उपासना और कर्म। इन्हें ही त्रयी विद्या कहते हैं। इस विद्या की व्याख्या और निर्देशन करने से ही वेद को भी त्रयी कहते हैं। वेदों में ज्ञान, कर्म और उपासना का व्यावहारिक और मोक्ष के पूरक के रूप में विश्लेषण किया गया है। मनुष्य शतायु होकर इनका व्यवहार करता है। चारों पुरुषार्थों, चारों वर्णों और चारों आश्रमों की व्यवस्था इसी नियम के अनुसार की गयी है। व्यक्तित्व विकास के स्तर हैं। उनके अनुसार ही व्यक्ति ऊपर उठता है। मोक्ष जीवन की अन्तिम स्थिति और स्वधर्म पालन पूर्वक परमसाधना का परिणाम है।

काम

स्त्रियों में पुरुषों और पुरुषों में स्त्रियों का स्वाभाविक परस्पर स्नेह ही काम है—"स्त्रीषु जातो मनुष्याणां स्त्रीणां च पुरुषेषु वा। परस्परः कृतः स्नेहः काम इत्यभिधीयते' (शार्ङ्गधर 1/6)। काम धर्मानुसार होने पर भगवान् का स्वरूप माना गया है। मूलतः ब्रह्मचर्य इस संस्कृति का लक्ष्य रहा है। इस सहज नियम में ही सन्ततिनिरोध की व्यवस्था की गयी है। ब्रह्मचर्य के विपरीत भोग प्रोत्साहित करना और कृत्रिम साधनों से गर्भ निरोध या गर्भपात आदि को अत्यन्त घृणित माना गया है।

काम का तात्पर्य प्रजोत्पत्ति है। उसके तीन सिद्धान्त हैं। बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा है, "पूर्वे विद्वान्सः प्रजा न कामयन्ते किं प्रजया करिष्यामः"। अर्थात् पूर्व समय में विद्वान् सन्तान की कामना नहीं करते थे। उनके अनुसार प्रजा क्या होगी ? यही भाव मनुस्मृति में इस प्रकार व्यक्त किया है—"अनेकानि सहस्राणि सहस्राणि कुमार ब्रह्मचारिणाम्। दिवं गतानि विप्राणामकृत्वा कुलसन्ततिम्। महाभारत शल्य पर्व में इस पर विस्तार से विचार किया गया है (54 अध्याय)। अथर्ववेद में कहा है—आजीवन ब्रह्मचर्य से मोक्ष प्राप्त होता है "ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमाप्नुत"। दूसरा सिद्धान्त नियमित सन्तान की उत्पत्ति है। मनु ने ज्येष्ठ को धर्मज और शेष को कामज सन्तान माना है। ऋग्वेद का निर्देश है कि वहु सन्तान वालों को कष्ट उठाना पड़ता है आगे कहा गया है कि युवती स्त्रियाँ एक ही गर्भ धारण करें। तीसरा यह भी सिद्धान्त पाया जाता है जिसमें अधिक सन्तति उत्पन्न करने के प्रमाण मिलते हैं।

आहार आदि के समान ही मैथुन भी मनुष्य की नैसर्गिक आवश्यकता है, यह वैदिक सिद्धान्त के विपरीत है। आहार के बिना मनुष्य जीवित नहीं रह सकता किन्तु मैथुन के बिना वह ब्रह्मचारी अतएव अमोघवीर्यशाली होता है। वस्तुतः काम ज्ञान को नष्ट करने

वाला है। काम्य कर्मों का न्यास ही संन्यास है। इस प्रकार नियमित काम ही समाज के स्थायित्व का आधार बन सकता है न कि उच्छृंखल काम।

अर्थ

मनुष्य शरीर के लिए अर्थ की अनिवार्य आवश्यकता होती है। उसका नियमपूर्वक प्रयोग ही अर्थशुचि है। यह अत्यन्त कठोर और उच्च है "सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचपरं मतम्"। इस प्रकार अर्थ संचय में परम सावधानी की आवश्यकता होती है। इसकी शर्तें निश्चित हैं। इसका इस प्रकार प्रयोग करना चाहिए जिससे किसी दूसरे को कष्ट न हो, यदि हो भी तो बहुत कम। इस प्रकार जो द्रव्य प्राप्त हो उसी से जीवन निर्वाह करना चाहिए। सम्पत्ति प्राप्त करने के लिए नीच कर्म करना उचित नहीं है। इससे स्वाध्याय में बाधा न पड़े।[1] संसार में जो कुछ भी है वह ईश्वरमय है। उसमें तुम उतना ही अपना स्वत्व समझो जो उससे बँचा हुआ है। दूसरे के स्वत्व पर दृष्टि मत डालो। उतना ही लो जितने से तुम्हारा निर्वाह होता है। इस प्रकार जीविका निर्वाह से ही मुक्ति सम्भव है। इस प्रकार अर्थोपार्जन करने वाला व्यक्ति कर्मबन्धन में नहीं पड़ता।[2]

मनुष्य विवेकशील है। नूतन कर्म करने की उसमें क्षमता है। उसे आहार और आवास से भी अधिक आवश्यकताओं का ज्ञान है। पशु आदि को मात्र आहार और आवास का ज्ञान है। वे नूतन कर्म नहीं कर सकते। मकड़ी कितना ही सुन्दर जाला बना ले किन्तु वह मात्र जाला ही बना सकती है। उससे अतिरिक्त का उसे ज्ञान ही नहीं है। वह भोगने के लिए शरीर प्राप्त करती है कर्म के लिए नहीं। मनुष्य सभी प्राणियों से श्रेष्ठ है। फलतः उसका दायित्व भी सभी से अधिक है। मनुष्य की आर्थिक आवश्यकताएँ समान हैं। दायित्वहीन व्यक्तियों के द्वारा आर्थिक शक्तियों के दुष्प्रयोग से ही विषमता उत्पन्न होती है।

———·———

[1] अद्रोहेणैव भूतानामल्पद्रोहेण वा पुनः।
या वृत्तिस्तां समास्थाय विप्रो जीवेदनापदि ॥
यात्रामात्रप्रसिद्धयर्थं स्वैः कर्मभिरगर्हितैः।
अक्लेशेन शरीरस्य कुर्वीत धनसंचयः ॥
सर्वान् परित्यजेदर्थान् स्वाध्यायस्य विरोधिनः ॥ (मनु० ४।२-३)

[2] ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥
कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥ (यजु० ४०।१-२)

राष्ट्रीय हित में संगीत की उपादेयता

राधेश्याम जायसवाल

शोधछात्र, संगीत एवं ललित कलासंकाय, का० हि० वि० वि०

संगीत प्रत्येक राष्ट्र की संस्कृति का सर्वप्रमुख अंग है। वह राष्ट्र की ऐसी निधि है जो अपनी समृद्धि के कारण राष्ट्र-गौरव को न केवल वर्तमान में ही अपितु, भविष्य में भी निरन्तर प्रकाशित करती रहती है। इसे एक ऐसा बैरोमीटर कह सकते हैं जो राष्ट्र की आन्तरिक अवस्था एवं सभ्यता के स्तर को प्रतिपल दर्शाता रहता है। वस्तुतः यह राष्ट्र के सांस्कृतिक इतिहास का दर्पण ही है। यह कहना अयुक्त नहीं होगा कि यही एक ऐसा विषय है, जिसकी भाषा को किसी भी राष्ट्र के मनुष्य तो क्या, प्रत्येक जीव-जन्तु पशु-पक्षी, तथा पेड़-पौधे तक भलीभाँति समझते हैं। इसका मात्र विहंगावलोकन मानव के सभी प्रकार के दर्द के निवारण में जड़ी-बूटी का कार्य करता है। यह विद्या मानव को सभी वर्गगत एवं दलगत वातों से पृथक् करती है। इस प्रकार यह मानव के अन्तस्थल में मानवता की भावना को परिप्लावित करके सही रूप में इसका पाठ पढ़ाता है। मानव के अन्तंदृष्टि का पट खोलकर उनके सही मार्ग का निर्देशन तो यह करता ही है, इसके साथ ही यह परम शक्तिवान् परमेश्वर से साक्षात्कार करा कर एक स्वर्गिक आनन्द प्रदान करता है जिसे ब्रम्हानन्द सहोदर कहा गया है। यहाँ याज्ञवल्क्य स्मृति का निम्न श्लोक उद्धरणीय है :—

वीणावादनतत्वज्ञ। श्रुतिजातिविशारदः।
तालज्ञश्चाप्रयासेन मोक्षमार्गं निगच्छति ॥

अर्थात् वीणावादन के तत्व को जानने वाला, श्रुति-जाति को समझने वाला एवं ताल को जानने वाला विना किसी प्रयास के ही मोक्ष-मार्ग को प्राप्त करता है।

देवर्षि नारद को उपदेश देते हुए भगवान् ने स्वयं भी कहा है कि :—

नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च।
मद्भक्ताः यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद ॥

अर्थात् न तो मैं वैकुण्ठ में निवास करता हूँ और न तो योगियों के हृदय में। हे नारद! मेरे भक्त जहाँ गाते हैं, वहीं मैं निवास करता हूँ।

यही कारण है कि प्रायः भारतीय सन्तों ने मोक्ष-मार्ग की प्राप्ति के लिए अभी तक संगीत का ही आश्रय लिया है तथा इसी हेतु भारतीय मन्दिरों में भी संगीत के नियमित आयोजन की व्यवस्था थी।

भारतीय साहित्य ने भी संगीत की महत्ता को विनम्रता से स्वीकार किया है। तभी तो भर्तृहरि जी को यह कहना पड़ा कि :—

'साहित्यसंगीतकलाविहीनः साक्षात् पशुपुच्छविषाणहीनः।'

अर्थात् जो मनुष्य साहित्य एवं संगीतकला से विहीन है, वह साक्षात् बिना पूँछ और सींग का पशु है।

वात्स्यायन ने 'कामसूत्र' में लिखा है कि नागरिक को सुसंस्कृत कहलाने के लिए संगीत का ज्ञान आवश्यक है। हमारे देश के भूतपूर्व राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद ने कहा है कि :--

"भौतिक और आध्यात्मिक दोनों ही दृष्टियों से संगीत मनुष्य के लिए साधना का विषय है। भौतिक जीवन में संगीत मनोरंजन का उतना ही बड़ा साधन है, जितना ही यह आध्यत्मिक जीवन में प्रेरणा का स्रोत है। आज ही नहीं, सदियों से हमारे देश में संगीत और भगवद्—भक्त में घनिष्ट सम्बन्ध रहा है। इसलिए मैं समझता हूँ कि संगीत में जो प्रभाव और शक्ति है, उसका उपयोग मानव-कल्याण के लिए होना चाहिए।"

संसार को कुछ अन्य प्राचीन जातियों ने संगीत कला के महत्व को वास्तविक रूप में समझा था एवं अपने दैनिक तथा राष्ट्रीय जीवन में उसको एक आदर्श पद पर प्रतिष्ठित करके उसका समुचित सम्मान किया था। सहस्रों वर्ष पूर्व मिस्र तथा ग्रीस के नागरिकों का जीवन संगीत से ओतप्रोत था। कैप्टेन एन० अगस्टस विलार्ड ने अपनी पुस्तक 'ए ट्रीटाइज आन दि म्युजिक आफ इण्डिया' में उल्लेख किया है कि अर्काडिया (सम्भवतः दक्षिणी ग्रीस का एक नगर) में प्रत्येक नागरिक को कानूनन संगीत सीखना अनिवार्य कर दिया गया था ताकि वे अपने क्रूरतापूर्ण व्यवहार को सुकोमल बना सकें।

प्रसंगवश यहाँ कुछ पाश्चात्य विद्वानों के संगीत सम्बन्धी उद्धरण प्रस्तुत किए जा रहे हैं :

"संगीत विश्व का नैतिक विधान है। यह विश्व में दिव्य सौन्दर्य प्रदान करता है, मानव-मस्तिष्क में नवीन रंग भरता है और भावनाओं में रंगीन उड़ान की नयनाभिराम सुषमा एवं निराशा के प्रांगण में आनन्द का प्रपात प्रवाहित करता है, तथा विश्व के प्रत्येक पदार्थ में जीवन और उत्साह के अभिनव स्फुरणों को मुखरित करता है।"—मार्टिन लूथर।

"जिस मनुष्य में संगीत नाम की कोई वस्तु नहीं होती या जिस पर मीठे स्वरों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता, वह राजद्रोही, दगाबाज और लुटेरा होने योग्य है, ऐसा मनुष्य कभी भी विश्वास योग्य नहीं है।" —शेक्सपीयर।

"जिस राष्ट्र का संगीत अपनी आत्मिक चमक को खो बैठता है, अपने आन्तरिक ऐश्वर्य को लोप कर देता है और अपने पावन रूप को विनष्ट कर बैठता है, वह राष्ट्र कभी भी शक्तिशाली नहीं हो सकता। किसी भी राष्ट्र के गौरव को सजीव बनाए रखने के लिए सबसे प्रथम उसके संगीत के ऐतिहासिक रूप को प्राणवान रखना है, जिससे कि राष्ट्र अपनी खोई हुई चेतना को पुनः प्राप्त कर सके। जब तक संगीत के ऐतिहासिक गौरव को सजीव नहीं बनाया जायगा, तब तक आप अपने राष्ट्र को नवस्फूर्ति, नवचेतना एवं नवजीवन प्रदान नहीं कर पायेंगे।"

—ओवल जील।

इस प्रकार हम देखते हैं संगीत का क्षेत्र असीमित है। संगीत सुधा न केवल प्रकृति के ही अंग-अंग में बल्कि मानव-जीवन के भी अंग-प्रत्यंगों में अनन्त काल से अपने निर्मल रूप में अविरल बहती चली आ रही है। राष्ट्रीय जीवन में भी संगीत का अतीव महत्त्व है। संगीतकार प्रायः वर्ग-भेद की परिधि से मुक्त रहता है जो राष्ट्रीय एकता के लिए नितान्त अनिवार्य है। उनका केवल एक ही वर्ग होता है जिसे 'संगीतज्ञ' वर्ग की संज्ञा दी जाती है। संगीत ही ऐसा सर्वोत्तम साधन है जो युद्ध के समय नागरिकों में देश प्रेम की भावना जागृत करता है एवं उन्हें देश के हेतु आत्मोत्सर्ग कर डालने के लिए तत्काल प्रेरित करता है। हाल ही में घटित भारत-पाक युद्ध एवं पिछले कुछ अन्य युद्ध-अवसरों तथा संकट के कई अन्य क्षणों में देश के नागरिकों को एक सूत्र में पिरोने उनके मनोबल का वर्धन करने तथा सुरक्षाकोष तथा अन्य अनेक कार्यों में संगीत के कलाकारों का योगदान स्तुत्य रहा है।

यदि राष्ट्र के कल्याण के लिए संगीत विद्या का समुचित उपयोग किया जाय तो इससे न केवल राष्ट्र के वैभव-शक्ति एवं सांस्कृतिक मूल्य की ही वृद्धि होगी अपितु सत्यनिष्ठ कर्मनिष्ठ एवं आदर्श नागरिक उपलब्ध हो सकेंगे जो किसी भी राष्ट्र की अमूल्य सम्पत्ति हैं। लेकिन यह अत्यन्त दुःख की बात है कि संगीत में उपर्युक्त गुणों के विद्यमान रहने के उपरान्त भी हमारे देश के अधिकतर राजनीतिज्ञ, शिक्षाविद्, शासनाध्यक्ष आदि इस विद्या से अभी तक विमुख रहे हैं एवं इसके कलाकारों तथा विद्वानों को अत्यन्त ही निम्न तथा उपेक्षात्मक दृष्टि से देखते हैं। संभवतः वे संगीत को मात्र वासना का ही अन्यतम रूप समझते हैं तथा इसके कलाकारों एवं विद्वानों को उसमें बसने वाला कीड़ा। इस बात से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि जब भी उनसे संगीत सम्बन्धी कोई पद, छात्रवृत्ति या अन्य सुविधाओं की माँग की जाती है तो न केवल उनके द्वारा नकारात्मक उत्तर ही मिलता है बल्कि उसका उपहास भी किया जाता है। अर्थाभाव के कारण संगीत के न जाने कितने छात्र एवं कलाकार मारे-मारे फिरते नज़र आते हैं। अन्य विषयों की तुलना में संगीत के छात्रों को दी जाने वाली सहायता की मात्रा अत्यन्त ही नगण्य परिलक्षित होती है। सौभाग्य की बात है कि पण्डित रविशंकर एवं सुश्री सुब्ब लक्ष्मी आदि विश्वविख्यात कलाकारों ने संगीतज्ञों को इस देश में सम्मान पूर्वक जीने के लिए किंचित् स्थान बना दिया है, अन्यथा संगीत के विद्वानों एवं कलाकरों को कितना और तिरस्कृत होना पड़ता, यह सोचने से परे है। इन्हीं महानुभावों का प्रभाव है कि इस राष्ट्र के कुछ वर्तमान कर्णधारों के हृदय में इस विद्या के प्रति नवीन चेतना जागृत हो रही है तथा संगीतज्ञों के प्रति उनका थोड़ा सा अनुराग दृष्टिगोचर हो रहा है, जो राष्ट्रीय-हित के लिए शुभ-सूचक है।

इस देश में शासन के कल्याण के लिए संगीत विद्या का कई अन्य प्रकार से भी उपयोग किया जाता रहा है। मौर्यकाल में चाणक्य ने संगीतकला को गुप्तचर के अनिवार्य गुणों में से एक माना था तथा उन्हें निर्देश दिया था कि आवश्यकता पड़ने पर वे संगीतज्ञों का वेश धारण कर शत्रु के दुर्ग में निवास करें एवं उनसे होने वाले आक्रमण की सूचना शंख तथा दुन्दुभी-वादन से दें। रण-स्थल में संगीत के प्रयोग की परम्परा तो अतिप्राचीन

है जो अपने वीरों का उत्साह-वर्धन एवं शत्रु को भयातुर करता है। उस काल में शत्रुओं के मर्दन के लिए विषकन्याओं का भी उपयोग किया जाता था जिन्हें संगीत कला में अति प्रवीण होना नितान्त आवश्यक था। शासन की ओर से प्रत्येक नागरिक को संगीत (वीणा, वेणु एवं मृदंग) सीखने के लिए विशेषरूप से प्रेरित किया जाता था ताकि वे सुसंस्कृत तथा निष्ठावान् नागरिक बन सकें। संगीत शालाओं एवं उसके प्राचार्यों को शासन की ओर से द्रव्य दिया जाता था। राजा स्वयं भी संगीतमर्मज्ञ हुआ करता था तथा संगीत-विद्वानों को अपने दरबार में सम्मानित कर धन-धान्य से उन्हें परिपूर्ण कर देता था। प्राचीन काल में भारतीय जन-मानस मे संगीत की यह व्याप्ति सभी वर्गों के अकथनीय प्रयास का ही फल था। इसी का परिणाम था कि उस युग की भारतीय जनता में आज जैसी विश्वव्यापी अशान्ति का लेशमात्र भी चिह्न न था। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीनकालीन भारत में संगीत विद्या की श्रेष्ठता को ग्राह्य कर उसका सही मूल्यांकन किया गया था एवं संगीतज्ञों को समाज में आदरपूर्ण स्थान दिया गया था।

अब इस बात की अत्यन्त आवश्यकता है कि इस देश में संगीत विद्या का पुनरुद्धार कर उसका समुचित उपयोग राष्ट्रहित के लिए किया जाय एवं इस विद्या के प्रति अभिरुचि जन-जन में प्रवाहित की जाये। मेरा यह निश्चित मत है कि इस विद्या का अच्छी तरह प्रचार हो जाने पर वर्तमान देशव्यापी अशान्ति बहुत सीमा तक स्वतः समाप्त हो जायगी। इसके अतिरिक्त इससे आज के युवावर्ग की उच्छृंखलता भी कुछ सीमा तक नियंत्रित होगी।

———————

म्यूजिकोलाजी एवं संगीतशास्त्र : एक तुलनात्मक परिदृश्य

श्रीमती उषा द्विवेदी

भारतीय सभी कलाओं और शास्त्रों की तरह ही संगीतशास्त्र की उत्पत्ति की खोज करते हुए हमारी दृष्टि वेद, आगम और महर्षियों के आप्त वचनों की ओर आकृष्ट होती है, जिन्हें अनादि और शाश्वत माना जाता है, जो अपने मूल रूप में आज भी विद्यमान हैं एवं जो इतनी अगाध और विस्तृत सूचनाओं न भरपूर हैं कि हमेशा हमें दिशा निर्देश कर सकते हैं। यही कारण है कि भारतीय संगीत शास्त्र का जो रूप परम्परानुक्रम से आचार्य भरत मुनि को प्राप्त हुआ था वह इतना प्रबल और पुष्ट था कि उसके आधार पर प्रणीत ग्रन्थ नाट्यशास्त्र केवल (संगीत और) नाट्य का ही नहीं वरन् तत्सम्बन्धी अन्यान्य कलाओं का भी आकर ग्रन्थ बन गया और उसके श्लोक प्रत्येक कला के लिए आप्त वचनों के रूप में मान्य माने जाते हैं। संगीतशास्त्र की प्राचीनता और उसकी महत्ता का इससे बड़ा प्रत्यक्ष प्रमाण और क्या हो सकता है कि वेदों, उनके अंगभूत प्रातिशाख्यों एवं अन्य शिक्षा ग्रन्थों में भी संगीतशास्त्र का अत्यन्त महत्वपूर्ण विवेचन प्राप्त होता है।

स्पष्टतः इतने पुष्ट भारतीय संगीतशास्त्र के विषय विस्तार की तुलना में पाश्चात्य म्यूजिकोलाजी, जिसका वर्तमान रूप मुश्किल से डेढ़ सौ या दो सौ वर्षों का है, को लाने में कुछ साधक कारण जुटा पाना कठिन लगता है; कारण सम्बद्ध विषयवस्तु के आधार पर भी दोनों में प्रत्यक्ष तुलना सम्भव नहीं दीखती। इस प्रस्तुत विवेचन की दृष्टि से म्यूजिकोलाजी का क्रमिक विकास, विशुद्ध ऐतिहासिकता की दृष्टि से वर्तमान म्यूजिकालाजिस्ट्स के मत को ध्यान में रखते हुए, यदि **पायथागोरस** से स्वीकार किया जाए तो कदाचित् वैसी स्थिति में वह तुलनीय हो सकता है। प्रस्तुत निबन्ध में पाश्चात्य म्यूजिकोलाजी एवं भारतीय संगीतशास्त्र के विषयविस्तार की तुलना एवं अन्तर प्रधानतः ऐतिहासिकता, सम्वन्वित विज्ञानों एवं अन्य आधारों के साहाय्य से की जायगी।

म्यूजिकोलाजी शब्द जर्मन भाषा के शब्द 'म्यूजिकविसेनशाफ्ट' के अंग्रेजी पर्याय के रूप में प्रयुक्त हुआ है जो वस्तुतः उस जर्मन शब्द का वाचक नहीं है, उसका यथार्थ अनुवाद होना चाहिए 'सांगीतिकज्ञान' (म्यूजिकल लर्निंग) न कि संगीत विज्ञान (म्यूजिकोलाजी)। यह शब्द संगीत विज्ञान (म्यूजिकोलाजी) संगीत के वैज्ञानिक अध्ययन से सम्बन्धित है और उसके स्वरूप का हृदयंगम उसकी परिभाषाएँ देखने से ठीक प्रकार से हो सकता है।

ओटो किकेल्डी (१९५६) के अनुसार म्यूजिकोलाजी "संगीत के बारे में क्रमबद्ध वह सम्पूर्ण ज्ञान है जो अन्वेषण एवं शोध की वैज्ञानिक प्रविधियों से परिणामित होता है अथवा जो दार्शनिक अनुमानों व तथ्यों की वैज्ञानिक क्रमबद्धता से बनता है, सांगीतिक कला के विकास की प्रक्रियाओं एवं कला से मानवमात्र के (अथवा यहाँ तक कि पशु के भी) सम्बन्धों का यह विवेचन भी करता है।"[१]

---

[१] ओटो किंकेल्डी : म्यूजिकोलाजी, इन ओ० टामसन (सम्पादक) दी इण्टरनेशनल साइक्लोपीडिया आफ् म्यूजिक एण्ड म्यूजिशियन्स, लन्दन : डेण्ट, पंचम संस्करण, १९५६, पृ० १२१८।

मान्फ्रेड बुकोफ्जर (१९५७) के अनुसार "संगीत का वैज्ञानिक अध्ययन···संगीत के सभी पक्षों को अन्तर्हित करता है और इसीलिए वह कोई अलग क्षेत्र नहीं है वरन् एक सर्वग्राही दृष्टिकोण है जिसके द्वारा किसी भी सांगीतिक अभिव्यक्ति से निकट सम्बन्ध बनाया जा सकता है।"[१]

पैलिस्चा (१९६३) ने म्यूजिकोलाजी के क्षेत्र पर सर्वांग विचार करते हुए एक व्यापक परिभाषा इस प्रकार दी है : 'म्यूजिकोलाजिस्ट अस्तित्वमान संगीत से, चाहे वह मौखिक हो अथवा लिखित परम्परा से प्राप्त हो, एवं हर उस पदार्थ से उसके मानवीय सन्दर्भों को प्रकाशित कर सकता हो, सम्बन्धित है।"[२]

ग्लेन हेडन (१९७०) ने उपर्युक्त सभी परिभाषाओं को ध्यान में रखते हुए सारे विषयों को सुव्यवस्थित करने की दृष्टि से एक परिभाषा इस प्रकार की है : "म्यूजिकोलाजी का लक्ष्य संगीतीय ज्ञान और समझ की सुव्यवस्था एवं विकास है।"[३]

उपरिवर्णित सभी परिभाषाओं पर विचार करने पर यह स्पष्ट होता है कि यद्यपि ये सभी एक दूसरे से पर्याप्त भिन्न हैं किन्तु उनमें फिर भी एक आन्तरिक साम्य है और उनसे इतना ज्ञात तो होता हीं है कि म्यूजिकोलाजी सभी संगीतीय विज्ञानों का एक समूह है जिसके अन्दर वह सभी कुछ समाहित हो जाता है जो कि क्रियात्मक संगीत से भिन्न है। इस प्रकार स्वर संहति, काउण्टर प्वाइण्ट, संगीत का इतिहास एवं संगीत सम्बन्धी सम्पूर्ण शोध आदि सब कुछ म्यूजिकोलाजी शब्द के अन्तर्गत आ जाता है। इस सम्बन्ध में यहां यह विशेषतः ध्यातव्य व विचारणीय है कि म्यूजिकोलाजी के अन्तर्गत पाश्चात्य म्यूजिक अर्थात् केवल वाद्य और कण्ठ संगीत पर ही विचार होता है, किन्तु इसके विपरीत भारतीय संगीत शास्त्र सम्पूर्ण संगीत के शास्त्रीय पक्ष की वैज्ञानिक विवेचना से सम्बन्धित है जिसके अन्तर्गत गीत, वाद्य एवं नृत्य तीनों आ जाते हैं क्योंकि संगीत की परिभाषा ही तीनों के समुच्चय को ध्यान में रखकर की गई है—"गीतं वाद्यं तथा नृत्तं त्रयं संगीतमुच्यते।"

भारतीय संगीतशास्त्र की विशदता, गम्भीरता व लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए यद्यपि भारतीय संगीशास्त्र की कोई समुचित परिभाषा वैसी नहीं दीख पड़ती जिससे उसके स्वरूप का सही सही हृदयंगम हो सके, फिर भी स्वामी प्रज्ञानानन्द (१९६०) की परिभाषा विषय बोध कराने में कम से कम सहायक तो अवश्य ही होगी। स्वामी प्रज्ञानानन्द के अनुसार "संगीत शास्त्र संगीत का विज्ञान कहलाता है क्योंकि यह हमें संगीत को उसके

---

१ मान्फ्रेड बुकोफ्जर : दी प्लेस आफ म्यूजिकोलाजी इन अमेरिकन इन्स्टीट्यूशन्स आफ हायर लर्निंग, न्यूयार्क : लिबरल आर्ट प्लेस, १९५७, पृ० २१।

२ क्लाड वी० पैलिस्चा : दी स्कोप आफ अमेरिकन म्यूजिकोलाजी, इन एफ० एल० हैरिसन, एम० हुड, एवं सी०वी० पैलिस्चा : म्यूजिकोलाजी, न्यू जर्सी : प्रेण्टिस हाल, १९६३, पृ० ११६।

३ ग्लेन हेडन : म्यूजिकोलाजी, इन माडर्न रेफरेन्स इन्साइक्लोपीडिया, भाग १३, न्यूयार्क : ग्रोलियर कम्पनी, १९७०, पृ० २१०।

यथार्थ परिप्रेक्ष्य एवं रस को समझने तथा अनुभव कराने में सहायक होता है। यह उन नियमों एवं विधानों का निर्माण करता है जो संगीत के सही पथ का नेतृत्व करते हैं एवं इस प्रकार संगीत की प्राक्कालिक शुद्धता एवं ख्याति की रक्षा तथा संरक्षण करते हैं।"[१]

डा० प्रेमलता शर्मा के अनुसार "भारतीय संगीतशास्त्र का दृष्टिकोण तथा उसकी विधियाँ धार्मिक दार्शनिक हैं। उसका परिप्रेक्ष्य मात्र उपयोगितावादी अथवा क्रियात्मक नहीं है, वरन् उसका लक्ष्य व्यक्ति का उच्चतम एवं शाश्वत कल्याण है, केवल व्यक्ति के मनोभौतिक अस्तित्व का ही नहीं जिससे हम अवगत हैं बल्कि उस शाश्वत आध्यात्मिक सत्ता का भी जो शुद्ध चैतन्य से संघटित है और जो अपनी सम्पुष्टि के लिए आध्यात्मिक उपादान व वातावरण की अपेक्षा रखता है।"[२]

भारतीय संगीतशास्त्र कीं ये परिभाषाएं इतना तो स्पष्टतः बोध कराती ही हैं कि यद्यपि म्यूजिकोलाजी एवं संगीतशास्त्र दोनों के आधार एक हैं—वैज्ञानिक अध्ययन—तथा यह भी कि दोनों के अध्ययन की विधियाँ भी वैज्ञानिक ही हैं लेकिन दोनों के दृष्टिकोण में महदन्तर है। आज की भाषा में जिसे वैज्ञानिक विधि या पद्धति कहा जाता है वह निरन्तर परिवर्तनशील है और स्पष्टतः उस रूप में भारतीय संगीत कभी भी विकसित नहीं हुआ, कारण यह है कि आधुनिक वैज्ञानिक विधि बहुत अर्वाचीन है जिससे स्थूल संगीत का विश्लेषण. अध्ययन, मनन व विवेचन सम्भव है किन्तु भारतीय संगीत का मूल आधार अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण इस पद्धति से अविवेच्य हैं। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि आधुनिक वैज्ञानिक पद्धति के द्वारा भारतीय संगीत सिद्धान्तों का परीक्षण व अध्ययन सम्भव नहीं है। इन सिद्धान्तों को यद्यपि आधुनिक विज्ञान की विधि से भी सिद्ध कर दिया जा सकता है किन्तु उसकी सूक्ष्मता, जो कि सूक्ष्य दार्शनिक सिद्धान्तों एवं योग पर आधृत है—संगीत को नादयोग की संज्ञा देना उसका एक परिचय मात्र है—कैसे आधुनिक उपकरणों से देखी परखी जा सकती है। इनके क्षेत्र विस्तार के पूर्व संक्षिप्त ऐतिहासिक विकास पर विचार कर लेना अप्रासंगिक न होगा। इस क्रम मे पहले म्यूजिकोलाजी एवं तत्पश्चात् भारतीय संगीतशास्त्र का परिचय प्रस्तुत किया जायगा।

म्यूजिकोलाजी के ऐतिहासिक विकास कीं दृष्टि से यह मानना होगा कि ग्रीस में संगीत का वैज्ञानिक अध्ययन अत्यन्त प्राचीनकाल से चला आता प्राप्त होता है। ग्रीक संगीतकारों की दृष्टि से संगीत एक विज्ञान है जिसमें सिद्धान्त व क्रियात्मक दोनों पक्ष सम्मिलित हैं पायथागोरस, जिसका समय ईसा पूर्व छठी शताब्दी माना जाता है, सम्भवतः पहला ज्ञात म्यूजिकोलाजिस्ट है जिसने 'दर्शन का संख्या सिद्धान्त' प्रतिपादित किया और उसके द्वारा संगीत के लिए एक विशेष स्केल के मापन की विधि प्रस्तुत की जो आज तक स्वरान्तरालों के मापन एवं तुलना के लिए ध्वनिशास्त्रीय आधार के रूप में मान्य है और

[१] स्वामी प्रज्ञानानन्द : हिस्टोरिकल डेवलपमेन्ट आफ इण्डियन म्यूजिक, कलकत्ता, फर्मा के० एल० मुखोपाध्याय, १९६०, भूमिका, पृ० IX।

[२] प्रेमलता शर्मा : इम्पार्टेन्स आफ म्यूजिकोलाजी : सिम्पाजियम : म्यूजिक एण्ड म्यूजिकोलाजी, इण्डियन म्यूजिक जर्नल, १९६७, भाग ४, नं० ७, पृ० ५७-५९।

जिसे आज तक परिवर्तित नहीं किया जा सका है। किंकेल्डी के अनुसार उसे प्रथम म्यूजिकोलेजिस्ट माना जाना चाहिए।[१] प्लूटार्च ने, जिसका काल ईसा की प्रथम शती से दूसरी शती तक है, एक लेख 'संगीत पर' (आन म्यूजिक) लिखा जिसमें कई ऐतिहासिक सन्दर्भ उसने प्रस्तुत किए। एरिस्टाइडीज विवण्टिलियानुस ने ईसा की प्रथम शती में संगीत सम्बन्धी निम्नलिखित तालिका प्रस्तुत की जो सर्वांगपूर्ण कही जा सकती है। उसने केवल क्रियात्मक अथवा सैद्धान्तिक पक्ष पर ध्यान केन्द्रित नहीं किया है वरन् सभी पक्षों पर समान विचार किया है। उसके अनुसार संगीत के दो मुख्य प्रभाग होने चाहिए, सैद्धान्तिक तथा प्रायोगिक, जिसके अन्तर्गत निम्नलिखित विषयों का समावेश होना चाहिए।[२]

१—सैद्धान्तिक प्रभाग :	(अ) विज्ञान :	(क) अंकगणित	(ख) भौतिकशास्त्र
	(ब) तकनीक :	(क) संहति	(ख) छन्द (ग) लय
२—प्रायोगिक प्रभाग :	(अ) रचना :	(क) संक्रम	(ख) लय (ग) कविता
	(ब) प्रदर्शन :	(क) वाद्य	(ख) गीत (ग) नाटच

यह तालिका संगीत के विविध सैद्धान्तिक एवं प्रायोगिक पक्षों को समाविष्ट किए हुए है और इससे यह भी ज्ञात होता है कि प्राचीन ग्रीक संगीत में नाटच भी संगीत के उसी प्रकार अनिवार्य अंग थे जैसा कि भारत में माना गया जिसके अनुसार गीत को नाटच की शय्या कहा गया।[३] और क्योंकि भारतीय परम्परा की धारा वैदिक स्रोतों से सम्बद्ध है अतः सम्भव है कि ग्रीक संगीत ने वह प्रभाव भारतीय संगीत से प्राप्त कर लिया हो। चाहे जो भी हो कम से कम इस तालिका से नाटच और संगीत के अभिन्न सम्बन्ध का बोध स्पष्टतः तो अवश्य हो ही जाता है। मात्र यही नहीं वरन् अंकगणित, छन्द व काव्य को भी इसमें सम्मिलित किया गया है जो उनके अनिवार्य सम्बन्धों को बताता है।

एरिस्टाइडीज के पश्चात संगीत सम्बन्धी ४ दृष्टिकोण मिलते हैं जिनमें पहला है **बोइथियस** (ईस्वी सन् ४७५-५२५) का जिसने संगीत सिद्धान्तों को नैतिकता से भी सम्बद्ध माना है। उसने संगीत को तीन प्रकारों में विभाजित किया : (१) म्यूजिका मुण्डाना, जो सृष्टि में व्याप्त संगीत से सम्बद्ध है, (२) म्यूजिका ह्यूमैना, प्रत्येक मनुष्य में विद्यमान संगीत का अनुभव करना जिसमें शरीर और आत्मा का सम्बन्ध जाना जा सके, (३) म्यूजिका इस्ट इन क्विवुस्डम कान्स्टिटचूटा इस्ट इण्स्ट्रूमेण्टिस अर्थात् कण्ठ एवं वाद्य संगीत। उसके अनुसार केवल गाने-बजाने वाला ही होना पर्याप्त नहीं है वरन् वैज्ञानिक ढंग से इसका ज्ञान प्राप्त किए हुए होना चाहिए। **सेसियोडोरस** (४९०-५८० सन्) दूसरे दृष्टिकोण का प्रतिपादक है एवं उसका विभाजन अधिक व्यापक है। उसके अनुसार संगीत विज्ञान के तीन विभाग हैं : सिण्टिया हार्मोनिका, रिद्मिका एट मिट्रिका। तीसरा दृष्टिकोण रेजिनो

---

[१] ओटो किंकेल्डी : वही, पृ० १२२०।

[२] ई० जे० डब्ल्यू० : म्यूजिकालाजी, इन एरिक ब्लाम (सं०) ग्रोव्स डिक्शनरी आफ् म्यूजिक एण्ड म्यूजिशियन्स, न्यूयार्क : सेण्ट मार्टिन, १९५५, भाग ५, पृ० १०२२।

[३] भरत नाटचशास्त्र, निर्णयसागर संस्करण, अध्याय ३२, श्लोक ४४१, पृ० ६०३।

(सन् ९५०) का है जिसने संगीत को दैवी (डिवाइन म्यूजिका नेचुरेलिस) एवं कृत्रिम (म्यूजिका आर्टिफिशियलिस) के अन्तर्गत विभाजित किया। बारहवीं शती के मध्य में चौथा दृष्टिकोण प्रभाव में आया जिसके अन्तर्गत संगीत कों म्यूजिका स्पेक्युलेटिवा एवं म्यूजिका एक्टिवा के रूप में बांटा गया।[१]

मध्यकाल में म्यूजिकोलाजी के वैज्ञानिक अध्ययन से एक प्रकार से विरति सी दिखाई पड़ती है जिसका प्रमाण हमें केवल संगीत के क्रियात्मक पक्ष के प्रावल्य से प्राप्त होता है।

अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में जर्मनी में **योहान निकोलास फार्कल** ने, जिसे म्यूजिकोलाजी का प्रतिष्ठापक कहा जाता है, संगीत के सैद्धान्तिक पक्ष को ५ भागों में विभाजित किया, यद्यपि उस समय तक म्यूजिकोलाजी शब्द का अस्तित्व भी नहीं था। उसके अनुसार संगीत के ५ भाग है : भौतिक ध्वनि (एकूस्टिक्स), गणितीय ध्वनि (नोटेशन एण्ड थियरी), सांगीतिक अलंकार शास्त्र (म्यूजिकल फार्म एण्ड स्टाइल), एवं सांगीतिक समालोचना (एस्थेटिक्स एण्ड पर्फार्मेन्स प्रैक्टिसेज)।[२]

उन्नीसवीं शती के उत्तरार्ध में संगीत से सम्वन्धित समस्याओं के अध्ययन में वैज्ञानिक दृष्टिकोण का उपयोग प्रारम्भ हुआ। **फ्रीडरिक क्राइसैण्डर** ने जर्मन शब्द "म्यूजिक विसेन्शाफ्ट" (संगीत-विज्ञान) का प्रयोग १८६३ में प्रकाशित "यारवुशेर फुर म्यूजिकालिशे विसेनशाफ्ट" की भूमिका में किया था जिसका यह अर्थ था कि सांगीतिक शोधों में भी गम्भीरता एवं परिशुद्धता वैसे ही आवश्यक है जैसे कि ज्ञान के अन्य क्षेत्रों में, प्राकृतिक विज्ञानों या मानवीय विज्ञानों में।[३] उसने कलाकार के संगीत के सौन्दर्यशास्त्र पर भी ध्यान दिया। इसके उपरान्त सन् १८८५ में **गाइडो एडलर** "उम्फांग, मेथोडे, उण्ड त्सील डेर म्यूजिकविसेनशाफ्ट" (स्कोप, मेथड एण्ड आब्जेक्ट आफ् म्यूजिकल साइन्स) शीर्षक एक लेख प्रकाशित किया जिसके अन्तर्गत ग्रीक धारा का अनुसरण करते हुए एडलर ने संगीत को एक विज्ञान के रूप में रखा एवं उसके सम्पूर्ण क्षेत्र का वर्गीकरण इस प्रकार किया :

१ -ऐतिहासिक विभाग (हिस्टोरिकल सेक्शन) :

(क) संगीत लिपि (म्यूजिकल पैलियोग्राफी)

(ख) ऐतिहासिक मौलिक प्रारूप (हिस्टोरिकल बेसिक फार्म्स)

(ग) सांगीतिक नियम (म्यूजिकल लाज)

(घ) सांगीतिक वाद्य यंत्र (म्यूजिकल इन्स्ट्रूमेण्ट्स)

२—सुव्यवस्थित विभाग (सिस्टमेटिक सेक्शन) :

---

[१] ई० जे० डब्लू०, वही, पृ० १०२२-२३

[२] फ्रैंक एल एल हैरिसन : अमेरिकन म्यूजिकोलाजी एण्ड दी यूरोपीयन ट्रेडिशन, इन एफ० एलएल० हैरिसन, एम० हुड, एण्ड सी० वी० पैलिस्वा म्यूजिकालाजी, न्यू जर्सी : प्रेण्टिस हाल, १९६३, पृ० २५।

[३] आर्टिकिल आन म्यूजिकोलाजी इन हार्वर्ड डिक्शनरी आफ म्यूजिक, हार्वर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, हार्वर्ड।

(क) नियमों की खोज एवं यथार्थता (इन्वेस्टिगेशन एण्ड जस्टिफिकेशन आफ लाज)
(अ) संहृति (हार्मनी, (ब) संक्रम (मेलाडी), एवं (स) लय (रिद्म)

(ख) संगीत का सौन्दर्यशास्त्र एवं मनोविज्ञान (एस्थेटिक्स एण्ड साइकोलाजी आफ म्यूजिक)

(ग) संगीतीय शिक्षा (म्यूजिकल पेडागागिक्स)
(अ) संगीत की सामान्य शिक्षा (जेनरल टीचिंग आफ म्यूजिक), (व) संहृति-शिक्षा (टीचिंग आफ हार्मनी), (स) काउण्टरप्वाइण्ट की शिक्षा (टीचिंग आफ काउण्टर प्वाइण्ट], (द) संगीत रचना शिक्षा (टीचिंग आफ कम्पोजिशन), (इ) वाद्यवृन्द की शिक्षा (टीचिंग आफ आरकेस्ट्रा), एवं (फ) शिक्षण, गायन एवं वाद्य यंत्र बजाने की विधियां (मेथड्स आफ टीचिंग, सिंगिंग एण्ड इस्ट्रुमेण्ट प्लेयिंग)।

(घ) म्यूजिकोलाजी : लोकगीत एवं जाति संगीत के वारे में शोध एवं तुलनात्मक अध्ययन (रिसर्च एण्ड कम्परेटिव स्टडीज इन कनेक्शन विथ फाक्लोर एण्ड इथ्नोग्राफी)।[१]

इसके अतिरिक्त रीमान ने सन् १९६४ में संगीत रचना की मनोवैज्ञानिक क्रिया का वर्णन किया जिसके अन्तर्गत कलाकार का मनोविज्ञान अध्ययन की वस्तु वन जाता है।

इस पर्यवेक्षण से यह ज्ञात होता है कि म्यूजिकोलाजी के अध्ययन में पाश्चात्य संगीतज्ञों की दृष्टि संगीत के मूल उपकरणों के भौतिक विचार पर, उनके उपयोग के प्रकार पर संगीत की विविध विधाओं एवं शैलियों के अध्ययन, निरूपण, अंकन व तुलनात्मक विवेचन पर, संगीत के क्रमिक विकासात्मक इतिहास पर एवं सौन्दर्यशास्त्र के अन्तर्गत संगीत का मानव मात्र पर पड़ने वाले प्रभावों पर केन्द्रित रही है। यद्यपि इसमें सन्देह नहीं कि यह कार्य वैज्ञानिक विधि से सम्पादित होता है एवं किसी पूर्वग्रह को वहाँ स्थान नहीं है फिर भी उसको वह पूर्णता उपलब्ध नहीं हो सकी है जो भारतीय संगीतशास्त्र की अपनी विशिष्टता व मौलिक निधि है।

म्यूजिकोलाजी की इस ऐतिहासिक विकासात्मक परम्परा की तुलना में भारतीय संगीतशास्त्र के अवतरण की तीन परम्पराएँ मुख्यतः प्राप्त होती हैं : वेद-परम्परा, आगमों और पुराणों की परम्परा, एवं ऋषि प्रोक्त संहिता परम्परा।[२] इन तीनों परम्पराओं से प्राप्त प्रमुख ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय भारतीय संगीतशास्त्र के इतिहास का एक सामान्य परिचय करा सकती है।

वेद परम्परा में हमारे संगीत की उत्पत्ति सामवेद से वताई गई है जैसा कि इस उद्धरण से व्यक्त होता है : "सामवेदादिदं गीतं सन्जग्राह पितामहः।" ब्रह्मा को सप्तगीतों

---

[१] इ० जे० डब्लू० : म्यूजिकोलाजी, वही, पृ० १०२६-२७।
[२] के० वासुदेवशास्त्री : संगीतशास्त्र, लखनऊ : हिन्दी समिति, द्वितीय संस्करण १९६८, पृ० ३।

का प्रवर्तक माना जाता है और शुष्काक्षरों का नियोजक भी और यह माना जाता है कि ये गीत आदि उन्होंने सामवेद से प्राप्त किए।[१] गीत और वाद्य में क्रमशः नारद और स्वाति ब्रह्मा के शिष्य हुए और नाट्य में उपयोग के लिए गीत और वाद्य को इन दोनों से ब्रह्मा ने प्राप्त किया। महर्षि नारद का आदि ग्रंथ "नारदीय शिक्षा" सामवेद की शिक्षा है जिसमें श्रुति, स्वर, ग्राम, मूर्च्छना, सप्तगीतियों आदि का विवरण है एवं इनके अतिरिक्त सामवेद के सप्तस्वरों, लौकिक संगीत के सप्तस्वरों तथा इतर वेदों के स्वरों में परस्पर अन्तस्सम्बन्ध भी बताया गया है।

इसी वेद परम्परा में संगीत के उपलब्ध सभी तत्वों का अत्यन्त पुष्ट और पूर्ण स्वरूप मिलता है भरत के आदि ग्रन्थ 'नाट्यशास्त्र में जहाँ यद्यपि 'संगीत' शब्द का प्रयोग प्रायः नहीं ही हुआ है एवं जो भी विवरण मिलता है वह गांधर्व के अन्तर्गत मिलता है, फिर भी संगीत के सभी सिद्धान्तों को सूत्र रूप में गान्धर्व में प्रस्तुत कर दिया गया है। संगीत सम्बन्धी अध्याय नाट्यशास्त्र में २८ से ३३ तक हैं एवं ३४ से ३६ तक भी संगीत से सम्बन्धित माने जा सकते हैं। इन अध्यायों का विषय विस्तार इस प्रकार किया गया है : २८वें एवं २९वें अध्यायों में आतोद्य विधि व ततातोद्य विधानों का क्रमशः वर्णन है। इन दो अध्यायों में तत् वाद्यों एवं उनकी प्रयोग विधि देकर शारीर और दारवी वीणा का स्वरगत, स्वर, श्रुति, ग्राम, मूर्च्छना, साधारण, जाति, वर्ण, अलंकार, धातु वृत्ति आदि विषयों का पूरा विवेचन किया गया है। ३०वें अध्याय में विभिन्न सुषिर वाद्यों का विवेचन है एवं ३१वें अध्याय में ताल विधि के अन्तर्गत चन्चपुट, चाचपुट, आदि के विविध भेदों का विवेचन है। ३२वें अध्याय में पदगत विधि अर्थात् ध्रुवागीति और उनके भेद, छन्दो विधि, पन्चविध गान, गायक वादकों के गुण-दोष आदि का विवेचन है। ३३वें अध्याय में अवनद्ध बाद्यों की वादन विधि आती है। वाकी के तीन अध्यायों में रस तथा भाव से सम्बन्धित दो अध्य य हैं एवं काकु से सम्बन्धित एक और अध्याय प्राप्त होता है जिसका संगीत से सीधा सम्बन्ध है।

भरत के शिष्यों में दत्तिल, कोहल और विशाखिल हुए और इन तीनों के द्वारा भी संगीत शास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थ लिखे गए किन्तु केवल दत्तिल कृत दत्तिलम् ही उपलब्ध है वाकी दोनों ग्रन्थ उपलभ्य नहीं हैं। दत्तिलम् में रागों की उत्पत्ति, नाम और लक्षण के विवरण हैं।

इसी परम्परा में आए हुए मतंग मुनि ने 'वृहद्देशी' नामक ग्रन्थ की रचना की है जिसमें नाट्य से स्वतंत्र रूप में संगीत के सिद्धान्तों का निरूपण सर्वप्रथम मिलता है। यह ग्रन्थ काफी बड़ा रहा होगा ऐसा अनुमान किया जाता है किन्तु सम्भवतः आज अपने पूर्णरूप में उपलभ्य नहीं है। अब उसके केवल आठ अध्याय ही उपलब्ध हैं जिनसे इस महान ग्रन्थ का विषय परिचय तो हो ही जाता है। भरतोक्त सप्तस्वर मूर्च्छनाएँ स्वीकार करने के साथ-साथ उसके आकार का विस्तार करके उसके स्थान पर द्वादशस्वर मूर्च्छना का प्रति-

[१] कैलाशचन्द्र देव वृहस्पति : भरत का संगीत सिद्धान्त, लखनऊ : हिन्दी समिति, १९५९, पृ० २९०।

पादन मतंग मुनि ने किया है। देशी की व्युत्पत्ति तथा लक्षणादि वताने के अनन्तर नादोत्पत्ति के अन्तर्गत उसकी महिमा, उत्पत्ति प्रकार और भेदों का निरूपण किया गया है। नादोत्पत्ति सम्वन्धी ४-६ श्लोक अत्यन्त महत्व के हैं जो उसके दार्शनिक व मनोवैज्ञानिक पक्ष का सांगोपांग विवेचन करते हैं। मतंग मुनि ही सर्वप्रथम ज्ञात आचार्य हैं जिन्होंने पृथक् राग प्रकरण लिखा जिसमें रागों की व्युत्पत्ति, लक्षण, वर्गीकरण तथा ग्राम रागों का पूरा विवरण प्रस्तुत किया गया है। यद्यपि शुद्ध ग्राम राग और उनके लक्षणादि का विवेचन भरतानुसार ही हुआ है लेकिन शुद्धा गीति के अतिरिक्त अन्य गीतियों का निरूपण नाट्य से स्वतंत्र रूप में हुआ है। देशी रागों का ग्राम रागों की भाँति नाट्य से सम्वन्ध नहीं जोड़ा गया है जो इसका परिचायक है कि मतंग के काल में आकर सगीत का नाट्य से स्वतंत्र प्रयोग भी काफी प्रचलन में आ गया था। यहीं से राग विवेचन व राग वर्गीकरण की परम्परा का उदय हुआ जो इतनी प्रचलित हुई कि वाद के शास्त्रकारों के लिए मात्र वही एक लिखने की विषय वनकर रह गयी। भरत के अलावा राग वर्गीकरण मतंग की अपनी स्वतंत्र देन है और मध्यकालीन राग रागिणी के वर्गीकरण का मूल कम से कम ग्राम रागों, उनकी भाषा, विभाषा अन्तरभाषा के रूप में यहीं से माना जा सकता है।

नान्यदेव का रचित ग्रन्थ "भरत भाष्य" कुछ दृष्टियों से एक महत्वपूर्ण कड़ी के रूप में प्राप्त होता है जिसमें शिक्षा, ध्रुवा तथा छन्द पर तीन महत्वपूर्ण अध्याय लिखे गए हैं। शिक्षा के अन्तर्गत वैदिक वर्णोच्चारण का, ध्रुवा के अन्तर्गत ध्रुवा गीतों का, तथा छन्द के अन्तर्गत विभिन्न छन्दों का यथोचित निरूपण इस ग्रन्थ की विशेषता का परिचायक माना जा सकता है।

इस वेद परम्परा से भिन्न आगम परम्परा में संगीत के आदि कर्ता महादेव माने गए हैं। छत्तीस हजार श्लोकों का एक ग्रन्थ गांधर्व नाम से शिव-शिवा संवाद रूप में प्रचलित था जो अब अप्राप्य है और मात्र उसकी विषय सूची अब यामलाष्टक में प्राप्त होती है। इसी परम्परा के ग्रन्थों में नन्दिकेश्वर संहिता भी मानी जाती है जो अधुना अप्राप्य है। इस प्रकार आगम परम्परा के कोई भी ग्रन्थ अब प्राप्त नहीं होते हैं। इन दोनों परम्पराओं से भिन्न ऋषि प्रोक्त संहिता परम्परा में काश्यपीयम् मुख्य ग्रन्थ है जो आजकल केवल उद्धरणों के रूप में यत्र तत्र उपलब्ध होता है। इन तीन प्रमुख परम्पराओं के अतिरिक्त याष्टिक, दुर्गा एवं आन्जनेय परम्पराएं भी प्रचलित रही हैं जिनके प्रतिनिधि ग्रन्थ काल गर्त में समा चुके हैं।

इन सव परम्पराओं का विधिवत् अध्ययन, मन्थन करके आचार्य निश्शंक शार्ङ्गदेव ने सन् १२०० ई० में "संगीत रत्नाकर" नामक संगीत के आकर ग्रन्थ की रचना की। सम्पूर्ण ग्रन्थ ७ अध्यायों में विभाजित है जिनके नाम हैं : स्वरगताध्याय, रागविवेकाध्याय, प्रकीर्णकाध्याय, प्रवन्धाध्याय, तालाध्याय, वाद्याध्याय तथा नृत्याध्याय। स्वरगताध्याय में वीणा की धातु व वृत्ति को छोड़कर भरत के स्वरगत विषय को पूर्ण विस्तार से समझाया गया है। इसके पिण्डोत्पत्ति प्रकरण में जीव सृष्टि क्रम, मनुष्य देह की उत्पत्ति (भ्रूण की सम्पूर्ण अवस्थाओं का वर्णन बीज से लेकर जन्म तक की सारी अवस्थाओं तक किया गया

है), पंचभूत, धातु, हृदय, अस्थि, स्नायु पेशी, शिरा पटचक्र ब्रह्मग्रन्थि, मुख्य नाड़ियां आदि का विवेचन करने के अनन्तर मनुष्य देह द्वारा मुक्ति के उपायों के रूप में नादोपासना, नाद स्वरूप तथा ब्रह्म का विवरण है और फिर सविस्तार संगीत का विवेचन है। पहले के अन्य ग्रन्थों की अपेक्षा प्रकीर्णक के अन्तर्गत कुछ अन्य फुटकर विषयों का निरूपण मिलता है जिनके अतिरिक्त देशी ताल का विवरण आदि भी प्राप्त होते हैं। शार्गंदेव के काल तक संगीत का नाट्य से स्वतंत्र प्रयोग स्थापित हो चुका था फलतः इसी रूप में विवेचनीय अनुभव करके ही शार्गदेव ने संगीत के तीनों अंगों गीत, वाद्य तथा नृत्त का स्वतंत्र विवेचन किया है। नर्तन पर स्वतन्त्र अध्याय लिखकर उसमें उन्होंने नृत्य तथा नृत्त इन सबको समाविष्ट कर लिया है।

इस भारतीय परम्परा का एक प्रमुख ग्रन्थ पण्डित मण्डली द्वारा विरचित "संगीत शिरोमणि" है जिसकी रचना कड़ा के मलिक सुल्तान के पुत्र बहादुर मलिक ने भारत के प्रत्येक भाग से अनेक शास्त्रों के पण्डितों की मण्डली द्वारा सन् १४२९ में कराई। यह ग्रन्थ खण्डित रूप में उपलब्ध हुआ है, जिसमें सम्भवतः पांच या छः प्रकाश रहे होंगे, किन्तु अब केवल प्रथम और चतुर्थ ही उपलभ्य हैं।

इस परम्परा की अन्तिम कड़ी के रूप में मेवाड़ के अपराजित महाराणा कुम्भा द्वारा रचित ग्रन्थ 'संगीतराज' है जो १६,००० श्लोकों में विरचित है और अपने आकार के आधार पर 'संगीत रत्नाकर' से प्रायः तिगुना और "नाट्य शास्त्र' से प्रायः दुगना है। विषय विभाजन में महाराणा कुम्मा ने शार्गदेव का अनुकरण किया है तथापि अभिनवगुप्त, विप्रदास, अशोक, देवेन्द्र, मदन एवं पण्डित मण्डली का प्रभाव उनके चिन्तन पर है यह स्पष्टतः ज्ञात होता है। यह ऐसा 'संगीत मीमांसा' ग्रन्थ है[1] जिसमें सभी सम्बद्ध विषयों का इतना सांगोपांग विवेचन हुआ है जितना अन्यत्र कहीं भी उपलब्ध नहीं होता। इस ग्रन्थ रत्न में ५ रत्नकोश हैं : पाठ्यरत्नकोश, गीतरत्नकोश, वाद्यरत्नकोश, नृत्य रत्नकोश तथा रसरत्नकोश, प्रत्येक कोश ४ भागों में विभाजित है और प्रत्येक भाग ४ अध्यायों में। पाठ्य रत्नकोश में सार्थक पद को पाठ्य का विषय मानकर सार्थकता के लिए छन्द, अलंकार, काव्य के गुण दोष व लक्षणों का सुन्दर विवेचन किया गया है।[2] इसके अतिरिक्त शेष विषय वे ही हैं जो संगीत रत्नाकर के हैं किन्तु और सरल तथा सुबोध ढंग से लिखे जाने के कारण सुस्पष्ट हैं।

इसके बाद के अन्य ग्रन्थों में संगीत के पूरे विषय विस्तार को समेटने की बजाय गेय को और उसके बाद में केवल राग-रागिणी वर्णन और वर्गीकरण को ही संगीतशास्त्र मान लिया गया, परिणामतः उनमें कुछ नावीन्य नहीं दीख पड़ता। इसी से उस ग्रन्थ समूह का पर्यवेक्षण प्रस्तुत लेख की दृष्टि से अनावश्यक है।

म्यूजिकोलाजी एवं भारतीय संगीतशास्त्र के प्रमुख ग्रन्थों के इस अत्यन्त संक्षिप्त पर्यवेक्षण से भारतीय संगीतशास्त्र की कुछ मौलिक विशेषताएं उभरती हैं जिनका म्यूजिको-

[1] पं० ओंकारनाथ ठाकुर : संगीतांजलि, पंचम भाग, वाराणसी, १९५८, पृ० ३५।
[2] डा० प्रेमलता शर्मा: संगीत राज, प्रथम भाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय प्रकाशन, १९६४।

लाजी में आत्यन्तिक अभाव है। उन विशेषताओं का संक्षिप्त वर्णन अप्रासंगिक न होगा। प्रथमतः गान्धर्व के नाट्यांग होने के कारण इसके द्वारा मानव जीवन की विभिन्न परिस्थितियों, मानव व्यवहार व अनुभव गम्य सुख दुःखादि की अभिव्यक्ति सम्भव मानी गई है। केवल यही नहीं उसे आत्मानुभूति का साधन माना गया है जो "वह केन्द्र विन्दु है जिसकी ओर सभी विद्याओं को उन्मुख रखा गया है।[१]" अर्थात् मानव जीवन की सभी उदात्तताएं घनिष्टतम रूप में इससे सम्बद्ध रहीं हैं जिनके निर्वाहार्थ मानव मनोविज्ञान, शरीर विज्ञान आध्यात्म विज्ञान आदि इससे असम्बद्ध नहीं रखे जा सके। द्वितीयतः, संस्कृत साहित्य में कोई विषय स्वतंत्र नहीं दिखाई देता। यही कारण है कि संगीत के सभी मूल उपकरण स्वर, पद, लय, ताल आदि का अत्यन्त सूक्ष्म वैज्ञानिक विवेचन प्राप्त होता है जो पाश्चात्य म्यूजिकोलाजी अनेक वर्षों के प्रयास के बाद अभी आंशिक रूप से सिद्ध कर सकी है। तृतीयतः, मानव की अन्तश्चेतना को समग्र रूप से देखने के कारण रस, भाव, छन्द, अलंकार, पाठ्य, वर्ण, उच्चार, काकु, ध्वनि आदि का अत्यन्त गम्भीरता पूर्ण एवं सूक्ष्मविवेचन किया गया है जो मन्त्रद्रष्टा मुनियों की मौलिक देन हैं और जो सार्वजनीन तथा शाश्वत हैं और सम्पूर्ण विश्व-संगीत पर लागू होते हैं। चतुर्थतः, संगीत प्रधानतः श्रव्य माना गया है और बाद में नाट्य से स्वतंत्र अस्तित्व होने पर भी उसे श्रव्य प्रधान रखा गया। यद्यपि नृत्त के समावेश से वह मिश्र प्रकार का दृश्यांश व श्रव्यांश दोनों से संयुक्त माना गया है। पंचमतः, भारतीय संगीत कण्ठ प्रधान है जबकि पाश्चात्य संगीत वाद्य प्रधान है। यही कारण है कि म्यूजिकोलाजी के अधिकांश शोध वाद्यों पर ही प्राप्त होते हैं। संगीत शब्द ही सम्यक् गीत का परिचायक है और गीत का अर्थ है पदयुक्त गेय, यहां तक कि वाद्यों का विभाजन भी 'स्वर वाद्य' तथा 'ताल वाद्य' के रूप में किया गया है।

इन वैशिष्ट्यों के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय संगीत शास्त्र संगीत व उससे सम्बद्ध सभी पक्षों का अत्यन्त सूक्ष्म तात्विक विवेचन करता है जब कि पाश्चात्य म्यूजिकोलाजी में भौतिक और वैज्ञानिक दृष्टिकोण के आधार पर किए गए विश्लेषण में वह अनुपलब्ध है। भारतीय संगीतशास्त्र और म्यूजिकोलाजी के मौलिक चिन्तन का यह अन्तर उनके क्षेत्र-वर्णन में भी देखा जा सकता है।

ध्वनिविज्ञान (एकूस्टिक्स) : ध्वनि की उत्पत्ति, ग्रहण, प्रसार व उपयोग सम्बन्धी मूल सिद्धान्तों का अध्ययन ध्वनिविज्ञानान्तर्गत किया जाता है। उन सिद्धान्तों के उपयोग से संगीत भवनों के निर्माण, ध्वनि रिकार्डिंग, प्रसारण, ध्वनि ग्रहण व उसका विश्लेषण आदि का अध्ययन किया जाता है। पैलिस्चा के अनुसार "ध्वनि मेकेनिक्स की प्रयोगशाला से होकर इलेक्ट्रानिक्स प्रयोगशाला में जा पहुंची है जिसके मूल उपकरण हैं आसिलोस्कोप एवं आसिलेटर, अतः वहाँ संगीतशास्त्री केवल सहायक हो सकता है।"[२]

---

[१] पं० ओंकारनाथ ठाकुर : संगीतांजलि, पंचम भाग, वाराणसी, १९५८, पृ० २।

[२] पैलिस्चा, सी० वी० : दी स्कोप आफ् अमेरिकन म्यूजिकोलाजी, इन एफ० एल० हैरिसन, एम० हुड, एण्ड सी० वी० पैलिस्चा, म्यूजिकोलाजी, न्यजर्सी : प्रेण्टिस हाल, १९६३, पृ० १०३।

उपलब्ध भारतीय संगीतशास्त्रीय ग्रन्थों से यह ज्ञात होता है कि स्थूल विज्ञान की भाषा अपनाने के स्थान पर उन ग्रन्थों में उनका विवेचन सूक्ष्म ढंग से दर्शन-मनोविज्ञान के आधार पर किया गया है। स्वरों के मन्द्र, मध्य व तार स्थान निरूपण से ध्वनि के प्रति भारतीय वैज्ञानिक दृष्टि ज्ञात होती है। शरीर वीणा में ध्वनि का उत्पत्ति स्थान ऊपर तथा दारवी वीणा में उसका स्थान नीचे की ओर बताया गया है जो इसका परिचायक है कि स्वर की ऊच्चता व लम्बाई उसकी तारता बढ़ाने या घटाने वाली होती हैं। न्याय दर्शन के अनुसार ध्वनितरंगों का विवरण मिलता है तथा व्याकरण का स्फोटवाद ध्वनि उत्पादन व उसके प्रभाव की दार्शनिक वैज्ञानिक समीक्षा करता है। संवाद सिद्धान्त तो भारत की मौलिक खोज है एवं सा-म संवाद तथा सा-प संवाद तो ग्राम रचना के आधार ही हैं। ये अन्तराल वैश्व संगीत को मान्य हैं जो सहस्राब्दियों पूर्व भारतीय मनीषियों को ज्ञात थे।

शरीर शास्त्र (फिजियोलाजी) : संगीत का सीधा सम्बन्ध कान एवं कण्ठ से है जो ध्वनि के ग्राहक तथा उत्पादक यंत्र हैं। इस विषय पर शरीरशास्त्रियों ने विस्तार से विचार किया है और संगीत ने उन सिद्धान्तों का उपयोग। प्रसिद्ध भौतिकविद् तथा शरीरशास्त्री हेल्महोल्ट्स ने संगींतात्मक ध्वनियों का ग्रहण कैसे होता है एवं उनका मन पर क्या प्रभाव पड़ता है बताया है जो आज भी संगीतोपयोगी है।

भारतींय संगीतशास्त्र अपने उपांग व्याकरण के शब्द विचार से इस विषय में पर्याप्त प्रकाश डालता है जिसके अन्तर्गत शब्द प्रत्यक्ष का विवरण देते हुए कान के स्वरूप का भी विवेचन किया गया है जो यद्यपि शारीरिक दृष्टि से आधुनिक नहीं है परन्तु दार्शनिक दृष्टि से उसके स्वरूप का बताने वाला है। इसी प्रकार 'संगीत रत्नाकर' के पिण्डोत्पत्ति प्रकरण में भ्रूण के गर्भाधान से लेकर जन्म व विकासक्रम तक की सारी अवस्थाएं वर्णित हैं। इसके अनुसार ध्वनि की उत्पत्ति की प्रक्रिया आत्मा में विवक्षा से होती है जो मन को प्रेरणा देती है, मन प्राण वायु को प्रेरित करता है जिसके अग्नि से संयोग होने पर मन द्वारा वायु ऊपर की ओर उठाई जाती है। इसी वायु संचरण से ध्वनि की उत्पत्ति बताई गई है जो अत्यन्त सूक्ष्म व वैज्ञानिक है।

मनोविज्ञान (साइकोलाजी) : व्यवहार के अध्ययन का विधेयात्मक विज्ञान मनोविज्ञान है। उद्दीपक की उपस्थिति व्यक्ति के अन्दर क्या परिवर्तन लाती है जिनसे व्यवहार उत्पन्न होते हैं इनका अध्ययन ही मनोविज्ञान की विषयवस्तु है। संगीत उद्दीपक की उपस्थिति से क्या परिवर्तन होते हैं उसकी अनुभूति कैसे होती है एवं प्रत्यक्षण, अनुभव, संवेगात्मक परिवर्तन आदि कैसे सम्भव हो पाते हैं इनका क्रमबद्ध अध्ययन संगीत-मनोविज्ञान की विषय वस्तु है। पाल, कार्ल सीशोर आदि ने इन सबका विवेचन किया है।

भारतीय संगीतशास्त्र में भावानुभूति, संवेगात्मक परिवर्तन आदि का विवेचन रस परिपाक के अन्तर्गत किया गया है। मनोविज्ञान की चेतना और रस शास्त्र की चेतना में कितना साम्य है। इस चेतना के तीन स्तर बताए गए हैं—जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति व उसकी एकाग्रता के अनुसार क्षिप्त, विक्षिप्त, मूढ़, एकाग्र उसकी भूमियां बताई गई हैं। प्रत्येक दर्शन ने मानसिक प्रक्रियाओं का अध्ययन किया है और योगशास्त्र ने तो इसका इतना सूक्ष्म वर्णन किया है जो आज भी मनोविज्ञान के लिए पथ प्रदर्शक है।

जाति संगीत समाजशास्त्र, एवं मानव शास्त्र (एथ्नो म्यूजिकोलाजी, सोशियोलाजी एण्ड एंथ्रोपोलाजी)

मानव जातियों की संगीत रचना का तुलनात्मक अध्ययन व विवेचन म्यूजिकोलाजी का वर्ण्य है जबकि समाज-प्रक्रियाओं की संरचना व विवेचन समाजशास्त्र की विषयवस्तु। जाति संगीत के अन्तर्गत अन्य देशों की संगीत पद्धति के साथ तुलना भी की जा सकती है। एंथ्रोपोलाजी के साथ संगीत का विस्तार बहुत कम वर्षों से प्रारम्भ हुआ है जबकि समाज में मनुष्य के संगीत की अभिव्यक्ति व उत्पत्ति म्यूजिकोलाजी के प्रारम्भ से ही है।

भारतीय संगीतशास्त्री भी संगीत पर मानव जातियों के पड़ने वाले प्रभावों से परिचित रहे हैं एवं 'जाति' शब्द का प्रचलन ही यह बताता है कि वे ग्राम राग किसी स्थान विशेष के लोगों से सम्बद्ध रहे। उनके भाषा विभाषाओं के नाम इसके परिचायक हैं। गान्धारोदीच्यवा, सैन्धवी, गुर्जरी, मालव, गौड़ आदि जिनका सहज सम्बन्ध उन प्रदेशों में निवास करने वाली जातियों से स्थापित किया जा सकता है। समाजशास्त्र का अल्प परिचय स्मृति ग्रन्थों में यत्र तत्र उपलब्ध होता है जिसमें समाजानुसार संगीत की महिमा अथवा हेयता वर्णित है। संगीत के सामाजिक अध्ययन का सीधा प्रयास न होकर उसे अन्य अध्ययनों से संयुक्त किया जाता है।

सौन्दर्यशास्त्र (एस्थेटिक्स) : म्यूजिकोलाजी में सत्य, उचित और सुन्दर के आधार पर निर्मित मेटाफिजिक्स, इथिक्स एवं एस्थेटिक्स में से अन्तिम का विचार किया जाता है। किन्तु भारतीय संगीतशास्त्र सत् चित् आनन्द को अपना लक्ष्य मानकर आनन्द के अन्तर्गत सौन्दर्य का अध्ययन करता है। इसका ही विवेचन भारतीय संगीत रस शास्त्र के अन्तर्गत करता है जिसके परिपाक का सांगोपांग विवेचन नाट्यशास्त्र में सूत्ररूप में एवं अन्यत्र विस्तार से हुआ है।

संगीतशिक्षण (म्यूजिकल पेडागागी) : म्यूजिकोलाजी प्रारम्भिक स्तर से आरम्भ करके विश्वविद्यालय स्तर तक संगीत के शिक्षण के ढंग पर विचार करता है जिसमें मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों के आधार पर नवीन विधियों से प्रशिक्षण देना सम्मिलित है। भारतीय संगीत में गुरु शिष्य के गुणों दोषों का यत्र तत्र वर्णन उपलब्ध मिलता है एवं वह इस तर्क को आधार देता है कि सम्भवतः भूतकाल की शिक्षण संस्थाएँ अपने सिद्धान्तों को लिए दिए लुप्त हो गई। किन्तु शिक्षण के लिए विधि स्थिर नहीं की जा सकी इसके न मानने का कोई आधार नहीं।

इस प्रकार म्यूजिकोलाजी के समान भारतीय संगीतशास्त्र का क्षेत्र भी विस्तृत है किन्तु भारतीय संगीत की अपनी आत्मा है और अपना स्वरूप भी; अतः भारतीय संगीतशास्त्र के क्षेत्र का संक्षिप्त वर्णन यहाँ अभिप्रेत है।

साहित्यशास्त्र : स्वर ताल पद की व्याख्या के कारण संगीत में साहित्यशास्त्रीय विषयों का ग्रहण वैज्ञानिक विधि से किया गया। गुण, अलंकार, वृत्ति, शब्द शक्ति, ध्वनिसंप्रदाय, छन्द, रीति आदि सभी कुछ इस प्रकार संगीत के सहायक हो जाते हैं किन्तु म्यूजिकोलाजी का कोई भी सम्बन्ध काव्यशास्त्र अथवा अलंकारशास्त्र से नहीं है यह हमने देखा।

छन्दः शास्त्र : छन्दों को वेदांग में गिना जाता है एवं नाट्यशास्त्र से लेकर संगीत राज तक प्रत्येक ग्रन्थ में छन्दों पर विस्तार से विचार किया गया है। छन्दशास्त्र अत्यन्त विकसित हैं जो संगीत के लिए पद व ताल दोनों दृष्टियों से सहायक हैं। इसकी तुलना में पाश्चात्य साहित्य में प्रोसोडी नाम से जो छन्दः शास्त्र हैं वह केवल विशेष वर्णों को बल देने पर आधृत हैं।

नाट्यशास्त्र : संगीत का अध्ययन नाट्य के अंग के रूप में ही प्रारम्भ हुआ। अतः नाट्य और संगीत में अटूट सम्बन्ध है। किस प्रकार की परिस्थिति में किस जाति के अथवा किस ग्राम राग का वर्णन हो सकता है इसका स्पष्ट निर्देश किया गया है। नाट्य से स्वतंत्र रूप में प्रयुक्त होने पर भी प्रबन्ध का एक अन्य नाम रूपक के रूप में जो कि नाटक का ही अपर नाम है मान्य रहा। ज्ञान, कला, शास्त्र, शिल्प इन सबका समावेश नाट्य में आचार्य भरत मुनि ने किया हैं जो सत्य ही हैं। ऐसा म्यूजिकोलाजी में कहीं प्राप्त नहीं होता किन्तु कुछ समानताएँ दोनों शास्त्रों में हैं जिनका संक्षिप्त उल्लेख आवश्यक है।

स्वर शास्त्र का अध्ययन भारतीय संगीतशास्त्र व म्यूजिकोलाजी दोनों में अलग ढंग से हुआ। हमारा सप्तक और पाश्चात्य म्यूजिकोलाजी दोनों में अलग ढंग से हुआ, हमारा सप्तक और पाश्चात्य म्यूजिकोलाजी की मूलभूत यूनानी पद्धति का आधार स्वराष्टक रहा है। ताल अध्ययन भारतीय संगीतशास्त्र व म्यूजिकोलाजी दोनों में हुआ किन्तु पाश्चात्य में उसका उतना विस्तार नहीं हुआ जितना भारतीय संगीत में। भारतीय संगीत राग पद्धति के आधार पर बनने से संक्रम प्रधान और पाश्चात्य संहति प्रधान रहा। ये दोनों ही अविभाज्य हैं। वाद्यों का विकास दोनों पद्धतियों में प्रचुरता से मिलता हैं, किन्तु अवनद्ध वाद्य भारतीय संगीत की अपनी विशेषता हैं। प्रबन्ध का विचार दोनों परम्पराओं में है किन्तु पाश्चात्य संगीत में किसी अन्य निबद्धकार की रचनाएँ गायी या बजायी जा सकती हैं जबकि भारतीय प्रबन्ध केवल गेय रहे हैं। इसके अतिरिक्त भारतीय संगीत में गायक तात्कालिक राग विस्तार की स्वाधीनता से युक्त होता है जो पाश्चात्य संगीत में संभव नहीं है।

भारतीय संगीतशास्त्र व पाश्चात्य म्यूजिकोलाजी में कुछ समानताओं के बावजूद मौलिक भेद हैं। फिर भी म्यूजिकोलाजी की विधि का प्रयोग करते हुए प्राचीन सिद्धान्तों का उपयोग आधुनिक लक्ष्य संगीत के लिए करना अभी शेष है। प्राचीन भारतीय संगीत शास्त्रों को पुनः ठीक से समझने की प्रवृत्ति विकसित करनी होगी अन्यथा तात्विक आधार ढूँढ़ पाना सम्भव न हो सकेगा।

———

भोजपुरी-व्यवसाय सम्बन्धी शब्दावली में प्रत्यय

अयोध्या प्रसाद उपाध्याय, एम०ए०

शोध-छात्र, हिन्दी-विभाग

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

व्यावसायिक शब्दावली के अंतर्गत अनेक प्रकार के विशिष्ट अर्थ-बोध के लिए प्रत्यय का प्रयोग हुआ है। प्रत्यय, शब्द से आवद्ध होकर शब्द को अर्थवत्ता प्रदान करता है। भाषा में प्रत्यय तत्त्व एक आवद्ध रूप है।[१] यह प्रकृति (रूट) से युक्त होकर विभिन्न प्रकार के पदों का निर्माण करता है। सामान्यतः प्रत्यय का अध्ययन दो प्रकार से किया जाता है—पद में प्रत्यय प्रयोग की स्थिति तथा प्रत्यय का कार्य। कार्य की दृष्टि से पुनः प्रत्यय दो वर्गों में विभाजित होते हैं—व्युत्पादक तथा रूपसाधनात्मक। शब्द, उक्त दोनों प्रकार के प्रत्ययों में से किसी एक या दोनों के योग से निर्मित होता है। इस प्रकार प्रत्यय प्रयोग से शब्द में एक ओर अभिव्यंजना शक्ति आ जाती है तो दूसरी ओर उसमें भिन्न शब्द वर्ग (वर्ड क्लास) में परिवर्त्तित होने की क्षमता आती है। इसलिए किसी भी भाषा में प्रयुक्त प्रत्यय विधान के अध्ययन से उस भाषा की आधारभूत प्रकृति और प्रवृति के विवेचन में सहायता मिलती है।

व्यावसायिक शब्दावली में प्रयुक्त प्रत्ययों का अध्ययन मुख्यतः प्रयुक्त प्रत्ययों के कार्य की दृष्टि से किया गया है। पुनः स्रोत के आधार पर इन प्रत्ययों को दो वर्गों में विभाजित किया गया है—(अ) स्वदेशी प्रत्यय तथा (आ) विदेशी या आगत प्रत्यय। नीचे वर्णानुक्रम प्रत्ययों का विवेचन प्रस्तुत है—

(अ) स्वदेशी प्रत्यय :—

(क) अक्—इस प्रत्यय के योग से धातु संज्ञापद बनता है। भाषाविद् ब्लॉख ने इस प्रत्यय का सम्वन्ध संस्कृत विशेषण से बताते हुए इसे द्रविड़ भाषाओं से आगत भी अनुमानित किया है किन्तु डा० उदयनारायण तिवारी का मत है कि मध्य भारतीय आर्य भाषा में इस प्रत्यय का 'अक्क' रूप होगा। डा० तिवारी ने यह भी मत प्रकट किया है कि उक्त प्रत्यय का सम्वन्ध प्राचीन भारतीयआर्य भाषा के क्रियामूलक विशेषण से है।[२] व्यावसायिक शब्दावली में इसके उदाहरण इस प्रकार हैं।

कचक्—कच्+अक्; झूमक—झूम+अक्

(ख) अका—यह प्रत्यय उसी का विस्तृत रूप है। उदाहरण के लिए—तड़ाका—तड़(आ)+अका; पड़ाका—पड़(आ)+अका; फट्का—फट्+अका।

---

१ प्रत्यय को परिभाषित करते हुए ब्लूम फील्ड ने यह लिखा है कि 'आवद्ध रूप जो गौण सिद्धि में आधारवर्त्ती रूप के साथ जोड़े जाते हैं प्रत्यय कहे जाते हैं।'—भाषा (डा० विश्वनाथ प्रसाद द्वारा अनूदित—दिल्ली, १९६८, पृ० २६०)।

२ देखिए—हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास-द्वितीय भाग, ना० प्र० सभा, पृ० २०१।

(ग) अन्[1]—इस प्रत्यय के द्वारा साकार रूप (कंक्रीट फार्म) वाले क्रियामूलक विशेष्य पद बनते हैं। उदाहरण—काटन्—काट्+अन्; गढ़न्—गढ़्+अन्; छेवन—छेव्+अन्; पीटन्—पीट्+अन्; पोतन्—पोत्+अन्।

(घ) आ[2]—हिन्दी भाषा में इस प्रत्यय का प्रयोग वहुत अधिक हुआ है, साथ ही यह अर्थ-बहुला भी है। इससे निश्चय, गुरूत्व, लघुत्व, सम्वन्ध, स्वार्थें तथा घृणा आदि भावों की अभिव्यक्ति होती है।

उदाहरणार्थ—

(१) निश्चय भाव—अंकुरा–अंकुर+आ; जांता–जांत+आ; फरसा–फरस+आ; हथौरा—हथौर्+आ।

(२) गुरूत्व भाव—अंगेठा—अंगेठ+आ; टांगा—टांग+आ; ठेहा—ठेह+आ; ढकना—ढकन्+आ।

(३) लघुत्व भाव—खुटिला—खुटिल+आ; ठीहा—ठीह+आ।

(४) सम्बन्ध भाव—गृटुकारंदा–गुटुक+आ (रंदा); चंपाकली–चंप+आ (कली); झरनारंदा—झरन्—आ(रंदा); सोनगढ़आ सोनार—सोनगढ़+आ (सोनार)। उपर्युक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि ऐसे प्रत्यय समस्त पदों में अपेक्षया अधिक प्रयक्त हुए हैं। यहाँ मुख्यत: ये दो पदों में एक विशिष्ट सम्बन्ध स्थापित करते हैं। एक अर्थ में ये 'वाला' अर्थ के पर्याय रूप सिद्ध होते हैं।

(५) स्वार्थें—हाथा (हस्त)

(६) घृणा भाव—पिंडा—पिंड+आ; पिलण्डा—पिलण्ड+आ; धोंधा—धोंध+आ

(ङ) आई[3]—इस प्रत्यय के योग से प्रेरणार्थक क्रिया के पद निर्मित होते हैं तथा भाववाचक संज्ञापद और क्रियावाचक विशेष्य पद निष्पन्न होते हैं।[4] उदा०—कमाई–कम+आई; उभराई—उभर+आई; खोदाई—खोद+आई; छिलाई—छिल+आई; धुनाई—धुन+आई; धोआई—धो+आई।

(च) आर[5]—इससे कर्तृवाचक संज्ञापद बनते हैं। उदाहरण—कुम्हार—कुम्ह+आर। चमार—चम+आर; सोनार—सोन+आर; लोहार—लोह+आर।

(छ) इन—इस प्रत्यय के द्वारा स्त्रीलिंग शब्द बनते हैं। उदा०—चम+इन—चमइन; डोम+इन—डोमिन; धोविन—धोव+इन; लोहइन—लोह+इन।

---

[1] इस प्रत्यय की उत्पत्ति प्रा० भा० आ० भा० 'अन्' से है।

[2] इसकी उत्पत्ति प्रा० भा० आ० भा०—'आक्' से हुई है।

[3] चाटुर्ज्या ने इसकी व्युत्पत्ति निम्नलिखित प्रकार से बताई है—प्रा० भा० आ० भा० णिजंत—'आप'+'इका'

[4] देखिए—हिन्दी सा० का बृहत् इतिहास, द्वितीय भाग, ना० प्र० सभा, पृष्ठ १९२

[5] इसका विकास संस्कृत 'कार' म० भा० आ० भा०—आर आ० भा० आर।

(ज) इया—इस प्रत्यय के योग से कर्त्तृवाचक संज्ञापद तथा संज्ञाओं के लघु रूप निर्मित होते हैं। उदा०—अरकसिया—अरकस+इया; चुड़िया—चुड़+इया; डोमिनिया—डोमिन+इया; धुनिया—धुन+इया; नियरिया—नियर+इया।
लघु रूप—घड़िया—घड़+इया; घरिया—घर+इया; डंड़िया—डंड़+इया; डलिया—डल+इया; पहिया—पह+इया; पुठिया—पुठ+इया।

(झ) इला—यह प्रत्यय किसी भी शब्द में लगकर संज्ञापद तथा उसके लघु रूप को प्रकट करता है। उदा०—खुटिला—खुट+इला; दबिला—दब+इला; बसिला—बस+इला।

(ञ) ई—यह बहुप्रयुक्त प्रत्यय है। इसके प्रयोग से करणवाचक संज्ञाएँ, विशेषण, भाववाचक, लघुतावाचक, तथा व्यापारवाचक संज्ञाएँ बनती हैं और संख्यावाची विशेषणों से समुदायवाचक संज्ञाएँ भी निर्मित होती हैं। उदाहरण—

(१) करणवाचक संज्ञाएँ—खोरनी—(खोरना); चवेनी—(चवाना); चिमटी—(चिमटना); रेती—(रेतना)।

(२) विशेषण—तेजापी (तेजाप); निपरियागिरी—निपरिया (गिर)+ई।

(३) भाववाचक संज्ञाएँ—कसेरी—कसेर+ई; लोहारगिरी—लोहार (गिर)+ई; सोनारगिरी—सोनार (गिर)+ई।

(४) लघुतावाचक—अंगुठी--अंगुठ+ई; आरी—आर+ई; ओखरी—ओखर+ई; ढकनी—ढकन+ई।

(५) संख्यावाची विशेषणों से समुदायवाची संज्ञाएँ—चौलरी चौ(लर)+ई; तिलरी—ति(लर)+ई; पचलरी—पच(लर)+ई।

(ट) एरा—इस प्रत्यय का प्रयोग कर्त्तृवाचक, व्यापार सूचक तथा सम्बन्ध सूचक आदि भावों की अभिव्यक्ति के लिए किया जाता है। निम्नलिखित उदाहरण के अंतर्गत ही उपर्युक्त सभी भाव समाविष्ट हैं- कसेरा—कसेर+आ; ठठेरा—ठठेर+आ; पथेरा—पथेर+आ।

(ठ) एला[१]—इस प्रत्यय के योग से संज्ञा एवं विशेषण पद बनते हैं—उदाहरण—अगेला—अग+एला; पछेला—पछ+एला।

(ड) ठ–ठा – प्रस्तुत दोनों प्रत्ययों के संयोग से संज्ञा पदों का निर्माण होता है। उदा०—जूआठ—जूआ+ठ; परिकठ—परिक+ठ; दबठा—दब+ठा।

(ढ) ड़–ड़ी[२]—इन प्रत्ययों के संयोग से भी संज्ञाएँ बनती हैं। उदा०—जूअड़—जूअ+ड़; पच्चड़—पच्च+ड़; हाथड़—हाथ+ड़; पचड़ी—पच+ड़ी।

---

[१] इसकी उत्पत्ति सं० स्वार्थों तथा विशेषणीय प्रत्यय इल प्रा० इल्ल एल+(आ) से हैं।

[२] तत् सम्बन्धी विशेष जानकारी के लिए देखिए—भोजपुरी भाषा और साहित्य—उदयनारायण तिवारी (बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, १९५४, पृ० १६७।

(ण) ल[1]—इस प्रत्यय का प्रयोग संज्ञा एवं विशेषण पद निर्माण के लिए होता है तथा इस प्रत्यय के पूर्व 'आव' लगने से क्रियावाची पदों का बोध होने लगता है। उदाहरण—पायल (पांव का आभूषण)—पाय+ल; गरमावल—गरम(आव)+ल; चढ़ावल—चढ़(आव)+ल; धीपावल—धीप(आव)+ल; पजावल—पज(आव)+ल।

(त) वत्—यह प्रा० भा० आ० भा० का प्रत्यय है। इसका अर्थ होता है 'के समान'। उदाहरण—अखवत्—अख्+वत्; कठवत्—कठ्+वत्।

(थ) वाला[2]—भोजपुरी में इसका प्रयोग अल्पमात्रा में हुआ हैं। इससे संज्ञापद बनते हैं और साथ ही व्यापार वाचक भाव भी प्रकट होते हैं। उदाहरण—कारचोववाला—कारचोव+वाला; तमाकुवाला—तमाकु+वाला; रवाइसवाला—रवाइस+वाला।

(द) सार—यह प्रत्यय किसी स्थान विशेष को द्योतित करने केलिए प्रयुक्त होता है। उदाहरण—घुन्सार—घुन्+सार; लोह्+सार।

(ध) हार-हारा[3]—प्रस्तुत दोनों प्रत्यय 'वाला' के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं, परन्तु अपेक्षाकृत ये अल्पप्रयुक्त प्रत्यय हैं। उदाहरण—चुरिहार चुरि+हार; मनिहार—मनि+हार; खटहारा—खट+हारा; गोड़हारा—गोड़+हारा।

(आ) विदेशी प्रत्यय :—

भारतवर्ष की अनेक भाषाओं की तरह भोजपुरी भाषा में भी विदेशी प्रत्यय प्रयुक्त हुए हैं। भोजपुरी भाषा में ऐसा होना स्वाभाविक है। ऐसे प्रत्ययों का वाहुल्य इतिहास द्वारा सिद्ध इस तथ्य को पुष्ट करता है कि शताब्दियों से भोजपुरी भाषी तथा विदेशी लोग संपर्क में रहे हैं। ऐसा संपर्क भो० पु० तथा भोजपुरीत्तर दोनों क्षेत्रों में हुआ है। नौकरी पेशे और व्यापार के लिए भोजपुरी लोग समस्त भारत ही नहीं विश्व के अनेक देशों में जाते हैं या वसे हुए हैं।

विदेशी प्रत्ययों की स्थिति भो० भा० में दो प्रकार की है—प्रथम ऐसे प्रत्यय जो विदेशी शब्द के साथ ही प्रयुक्त हैं और द्वितीय ऐसे प्रत्यय जो स्वदेशी शब्द के साथ प्रयुक्त हैं। इन दो प्रकार के प्रत्ययों का नीचे विवेचन किया जा रहा है।

चा—इसकी उत्पत्ति तु० चा से हुई है और यह आ० भा० आ० भाषाओं में फारसी से आया है। इससे संज्ञापद् सिद्ध होते हैं। उदा०—खान्चा—खान्+चा; खोन्+चा; दमदमाचा—दम्दमा+चा।

ची[4]—इस प्रत्यय की व्युत्पत्ति भी तु० से हुई है तथा यह भी फारसी से आया है। उदाहरण—खल्ची—खल+ची; डेग्ची—डेग+ची।

---

[1] इसका सम्बन्ध सं० ल प्रत्यय से है।
[2] इसका विकास सं० 'पालक शब्द से हुआ है।
[3] इसकी व्युत्पत्ति सं० हारक हारअ हार-हारा से सिद्ध है।
[4] इसकी उत्पत्ति इस प्रकार है—फा० ची तु० ची, जी।

गर—इसकी उत्पत्ति फा० गर् से हुई हैं। इससे संज्ञापद एवं व्यवसायसूचक पद बनते हैं। उदा०—जिल्दगर—जिल्द+गर; डंटीगर—डंटी+गर; सिकिल-गर—सिकिल+गर।

दान-दानी—इस प्रत्यय का मूल फा० दान या दानी है। इसके प्रयोग से संज्ञापद वनते हैं। यह 'रखने वाला' अर्थ में प्रयुक्त होता है। उदा०—कवावदान—कवाव+दान; कवावदानी—कवाब+दानी; धूपदान—धूप+दान; धूपदानी—धूप+दानी।

वन्द—यह प्रत्यय भी फारसी के 'वन्द' से निष्पन्न हुआ है। इसका प्रयोग वन्धन के अर्थ में होता है। उदाहरण—वाजूवन्द—वाजू+वन्द।

वाज—फा० 'वाज' से इसकी उत्पत्ति हुई है, जिसका अर्थ होता है 'करने वाला'। उदाहरण—मोरवाज—मोर+वाज।

वीन—यह एक फा० प्रत्यय है जिसका अर्थ है 'देखने वाला'। उदा०—हजारवीन—हजार+वीन।

———

प्रशासक अशोक : आधुनिक परिप्रेक्ष्य में

देवन्द्र प्रसाद, एम० ए०
शोध-छात्र, संस्कृत-पालि विभाग,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

इसमें कोई सन्देह नहीं कि देवानांप्रिय प्रियदर्शी अशोक की अमिट छाप अभी भी दृष्टिगोचर है। भारत के राष्ट्रपति की कुर्सी के ऊपर लोक सभा में आज भी "धर्मचक्र-प्रवर्तनाय" लिखा है जो हमें अशोक के धर्मविजय का स्मरण कराता है। अशोक के स्तम्भों के शीर्ष भाग पर अंकित चार सिंह, जो मानों विश्व के चारों दिशाओं में निर्भयता पूर्वक धर्म की उद्घोषणा कर रहे हैं, भारतीय गणराज्य की मुहर (सील) के रूप में स्वीकार किये गये हैं। इस प्रकार भारतीय गणतंत्र ने मूलतः अशोक की नीतियों को आदर्श रूप में स्वीकार किया है।

अशोक हमारे सामने कुशल प्रशासक ही नहीं महामानव के रूप में प्रस्तुत होते हैं। उन्होंने राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को ऐसा मानवीय मोड़ दिया जिसमें कूटनीति से प्रसूत राजनीति लोकमंगलकारी नीति में परिणित हो गयी। विश्व की राजनीति को, अशोक की यह मौलिक देनें हैं। आज भी विश्व में जिन उद्देश्यों को लेकर संयुक्त-राष्ट्रसंघ की स्थापना हुई है और वह जिन सिद्धान्तों का आश्रय ले विश्व में शान्ति की स्थापना तथा मानव-जाति के विकास के प्रयत्न में व्यस्त हैं, वे सिद्धान्त नवीन न होकर अशोक के सिद्धान्तों पर आधारित प्रतीत होते हैं।

बीसवीं शताब्दी के संसार व्यापी दो महायुद्धों ने यह स्पष्ट कर दिया है कि शस्त्र विजय के परित्याग एवं धर्म-विजय की स्थापना में अशोक सही मार्ग पर था। आज की परिस्थिति में जब मानव-जाति युद्धों की बर्बरता, साम्प्रदायिकता एवं जातीयता के घृणित संघर्षों के परिणाम स्वरूप सिसकियां भर रही है, अशोक के नैतिक सिद्धान्तों का पुनः अध्ययन एवं मूल्यांकन अनिवार्य हो गया है।

कलिंग-युद्ध ने अशोक की आंखें खोल दी और नये मानवीय मूल्यों को उजागर किया। उसने भेरीघोष के बदले धर्म-दुंदुभी बजायी। कलिंग युद्ध की भीषणता के सम्बन्ध में वह कितने मर्मस्पर्शी शब्दों में कहता है कि जितने मनुष्य कलिंग देश प्राप्त करने में मारे गये और अपहरण किये गये हैं, उसका सौवां अथवा हजारवां भाग भी देवताओं के प्रिय के दुःख का कारण होगा[१]।

अशोक पर कुछ इतिहासकारों का आरोप है कि उसकी अहिंसा की नीति के कारण भारत शक्तिहीन हुआ। उनका कहना है कि धर्मविजय की नीति अपनाने के परिणाम स्वरूप यद्यपि यहां आध्यात्मिक दृष्टि से भले भारत की उन्नति हुई हो, परन्तु राजनीतिक दृष्टि से यह नीति विनाशकारी सिद्ध हुई है।[२] कुछ विद्वानों ने अशोक की धर्मविजय की नीति को सैनिक दृष्टि से भारत को कमजोर बनाने में उत्तरदायी बताया है।[३]

---

[१] त्रयोदश शिला अभिलेख। [२] भंडारकर : अशोक पृ० २१२-१३।
[३] रायचौधरी, हेमचन्द्र : पोलिटिकल हिस्ट्री आफ एन्शियंट इंडिया, पृ० ३६५।

हमारी समझ में यह आरोप मिथ्या धारणा पर आधारित है। हम देखते हैं कि अशोक ने किसी भी अभिलेख में यह संकेत नहीं किया है कि वह अब सेना को भंग करना चाहता है। इतना ही नहीं उसने मृत्यु दंड को भी अपने शासन में रद्द नहीं किया था, सिर्फ मृत्युदण्ड प्राप्त व्यक्तियों को तीन दीन की छूट दी थी।[१] अभिलेखों में अशोक कहीं भी कमजोर शासक के रूप में नजर नहीं आता। मैत्री भावना से ओत-प्रोत होते हुये भी एक कड़े शासक के रूप में दिखाई देता है। तेरहवें शिला अभिलेख में वह वनवासियों को चेतावनी देता है कि वे अपने किये हुये अपराधों पर सोचें। वह उन्हें केवल वहीं तक क्षमा कर सकता है जहां तक वे क्षमा के योग्य हैं, उससे अधिक नहीं।

वास्तव में अशोक की युद्ध-विजय के स्थान पर धर्म-विजय की नीति ही थी, जिसने भारत के पड़ोसी देशों से अच्छे सम्बन्ध बनानें में योगदान किया। महाभारत के शान्तिपर्व में भी कहा गया है "वर्जनीयं सदा युद्धं राज-कामेन धीमता"[२] अर्थात् राज्य की इच्छा करने वाले बुद्धमान् शासक को युद्ध से सदैव विरत रहना चाहिये। सिंहल देश इसी धर्म-विजय के कारण भारत के समीप आया एवं बौद्धधर्म द्वारा वहाँ भारतीय संस्कृति का प्रसार हुआ। अशोक यदि युद्ध द्वारा लंका पर विजय प्राप्त करता तो आज कदाचित् भारत के साथ लंका का संबन्ध कुछ और ही होता। इस प्रकार अशोक की नीति ने लंका ही नहीं अन्य बौद्ध देशों में भी भारतीय संस्कृति को फैलाया।

यह हमारी गलत धारणा होगी यदि हम यह समझें कि शान्ति की नीति राष्ट्र को कमजोर बनाती है और युद्ध एवं सैनिक बल द्वारा ही शासन सशक्त होता है। जब देश में शान्ति और स्थिरता आती है तभी आर्थिक एवं सामाजिक उन्नति होती है तथा शासन सुचारु रूप से चलता है। व्यापार, कृषि आदि कार्य युद्ध के अभाव में ही अबाध रूप में चलते हैं और देश समृद्ध होता है। अतः अशोक पर भारत को कमजोर बनाने का आरोप सर्वथा निराधार है।

पंडित जवाहरलाल नेहरू की नीति भी शान्ति और सद्भावना पर आधारित थी। वे भी अशोक के नैतिक मूल्यों से अनुप्राणित थे। महात्मा गाँधी ने भी भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में अहिंसा का मार्ग अपनाकर इस देश में जनक्रान्ति लायी और बिना सैन्य-बल से एक सशक्त विदेशी शासक को भारत छोड़ने के लिये विवश कर दिया।

हम अच्छी तरह जानते हैं कि गत वर्षों में चीन एवं पाकिस्तान के साथ युद्ध तथा बंगला देश की लड़ाई से भारत को कितनी आर्थिक हानि हुई। देश में कितना आर्थिक संकट बढ़ा। अतः युद्ध किसी समस्या का निदान नहीं। किन्तु इसका अर्थ यह भी नहीं कि देश की सेना को भंग कर दिया जाय और आक्रमणकारी के आगे घुटने टेक दिये जायं। अशोक की नीति ने हमें यह कभी नहीं सिखाया। अतः अशोक की नीतियों को सम्यक् परिप्रेक्ष्य में देखने पर हम उस पर सैनिक दृष्टि से भारत को कमजोर करने का आरोप नहीं लगा सकते।

---

[१] चतुर्थ स्तम्भ अभि०।

[२] महा० शान्तिपर्व ६८।२५।

अशोक ने अपने प्रशासन में राजनीति को एक नया मोड़ दिया। उसने यह अनुभव किया कि परस्पर भय एवं सन्देह की प्रवृत्ति से शासन चल नहीं सकता। न हीं इस प्रवृत्ति द्वारा पड़ोसी राज्यों में शान्ति स्थापित की जा सकती है। उसने परम्परागत साम, दाम, दंड, भेद की कूटनीति को परित्याग कर, राष्ट्र को सैनिक या राजनीतिक क्षति न पहुंचाते हुये, देश और विदेश में धर्म-विजय की उदार नीति अपनायी। इस नीति ने शान्ति, विकास एवं समृद्धि के रूप में सुफल दिये और भारत के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध सुदृढ़ हुये।

अशोक ने एक राष्ट्र से दूसरे राष्ट्र को अलग करने वाले विचारों, को विश्वबन्धुत्व के सन्देश द्वारा समाप्त किये। उसने अपने पराये में कोई अन्तर नहीं माना। उसने जन-कल्याणकारी कार्यों का क्षेत्र केवल अपने देश तक ही सीमित न रखा बल्कि विश्व-बन्धुत्व के विचार ने उसे दूसरे देशों में भी कल्याणकारी कार्यों के लिये देश की सम्पत्ति का कुछ भाग लगाने की प्रेरणा दी। जैसा हम जानते हैं कि उसने मनुष्यों एवं पशुओं की चिकित्सा का प्रबंध पड़ोसी राज्यों में भी किया था। मनुष्योपयोगी और पशुपयोगी जो औषधियां जहाँ नहीं थीं वे उन स्थलों पर ले जायी गयीं तथा लगायी गयीं।[1]

भारत में कई राजा और सम्राट हुये परन्तु अशोक सदृश सम्राट पाना दुर्लभ है जिसने 'सर्वलोक कल्याण' अपना आदर्श रखा था। अशोक के अनुसार सर्वलोकहित से बढ़कर कोई अन्य कार्य नहीं है।[2] सर्वलोकहित के लिये उत्साह और कार्य सम्पादन आवश्यक है। अदम्य उत्साह एवं पराक्रम के बिना किसी कार्य में सफलता पाना असम्भव है। अशोक में अदम्य उत्साह था। वह स्वयं कहता है, सभी समय में जनता का कार्य करने को तत्पर हूँ। चाहे मैं भोजनशाला में रहूं, अवरोधन में रहूं, शयनकक्ष में रहूं, पशु-शाला में रहूं, विनीत (सवारी) पर रहूं या उद्यान में रहूं, सर्वत्र प्रतिवेदक प्रजा के कार्य की प्रतिवेदना करे।[3] इस प्रकार अशोक सदैव प्रजा के दुःख दर्द सुनने तथा उसे दूर करने को तत्पर रहता था। आज कितने ऐसे शासक होंगे जो अहोरात्र जनता के लिये द्वार खुला रखने का साहस करेंगे।

पिता अपने पुत्र का सदैव शुभ इच्छुक होता है और चाहता है कि मेरा पुत्र सदैव सुखी एवं प्रसन्न रहे। अशोक अपनी प्रजा को पुत्रवत् समझता था तथा सदैव उनकी सुख-समृद्धि का ध्यान रखता था। अशोक स्वयं कहता है 'सभी मनुष्य मेरी सन्तान के समान हैं। मैं अपनी सन्तान की तरह चाहता हूं कि सभी मनुष्य ऐहलौकिक और पारलौकिक सब तरह के हित-सुख को प्राप्त करें।[4]

---

[1] द्वितीय शिला अभिलेख।

[2] नास्ति हि कंमतरं सर्वलोकहिततूपा। षष्टम शिला अभिलेख गिरनार प्रति।

[3] सवेकाले भुंजमानस मे ओरोधनम्हि गमागारम्हि वचम्हि व विनीतम्हि च उयानेसु च सर्वत्र पटिवेदिका स्टिता अथ मे जनस पटिवेदेथ इति : सर्वत्र च जनस अथं करोमि। षष्टम शिला अभिलेख, गिरनार।

[4] सवे मुनिसे पजा ममा। अथा पजाये इछामि हकं, किंति, सवेन हितसुखेन हिद-लोकिकपाल-लोकिकायेकेन यूजेवूति तथा भे इछा सवमुनिसेसु पि इछामि हकं। प्रथम कलिंग शिला अभिघोली।

अशोक प्रजाजनों के हित-सुख के लिये सदैव यत्नशील रहता था। वह एक आदर्श राजा की भांति सोचता है कि प्रजा से कर लेना एक प्रकार का ऋण लेना है। अतः उस ऋण से उऋण होना आवश्यक है। प्रजा को अत्यधिक सुख पहुंचाकर ही राजा उस ऋण से उऋण हो सकता है। अतः राजा का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह अत्यधिक लोगों को सुख पहुंचाये। अशोक कहता है—'जो कुछ मैं पराक्रम करता हूं, सो इसलिये कि प्राणियों के प्रति जो मेरा ऋण है उससे मैं मुक्ति पा सकूँ तथा लोगों को इस लोक में सुखी करूं तथा परलोक में भी उन्हें स्वर्ग प्राप्त करा सकूं'।[१] इस प्रकार वह अपने को प्रजा का ऋणी समझता था और सदैव उऋण होने को तत्पर रहता था। आज कितने शासक हैं जिसमें अशोक की सी कर्तव्य-परायणता एवं प्रजा के प्रति सदाशयता दृष्टिगत होती है। आज के प्रशासक तो प्रजा के नाम पर स्वार्थसिद्धि में लगे हैं।

अशोक ने लोगों के हितार्थ अत्यधिक उद्योग (पराक्रम) किया था। अशोक के उद्योग का ही फल था कि जम्बुद्वीप के मनुष्यों को, जो देवों से अलग थे, उन्हें देवों से मिलाया।[२] अशोक के ऐसा कहने का तात्पर्य यह हो सकता है कि अपने परक्रम एवं उत्साह के द्वारा उसने देवताओं के समान-प्रजा को सुखी सम्पन्न वना दिया हो।

प्रथम स्तम्भ शिला अभिलेख में तो अशोक जनमत के भय को 'अग-भय' (अग्रभय) बतलाता है अर्थात् वह इस भय को अच्छा समझता है जिसके कारण लोग जनमत की उपेक्षा न करें। आज हम देखते हैं कि अपने स्वार्थसिद्धि के लिये चुनाव के समय कितने नेतागण जन साधारण की दुहाई देते हैं। किन्तु कितने ऐसे हैं जो चुने जाने के वाद जनमत की परवाह करते हैं? यदि उन्हें यह भय हो कि लोगों का कार्य न करने पर वे जनता में अप्रिय होंगे और उनका विश्वास खो देंगे तथा फिर से वे कभी नहीं चुने जायेंगे तो देश का कार्य सुचारु रूप से चल सकता है। परन्तु आज इतने विवेकशील नेता कहां मिलते हैं?

धर्म के क्षेत्र में भी अशोक का दृष्टिकोण उदात्त एवं समन्वयवादी था। उनमें धार्मिक असहिष्णुता एवं साम्प्रदायिक कट्टरता लेशमात्र भी नहीं थी। यद्यपि अशोक व्यक्तिगत रूप में बौद्धधर्म का अनुयायी था तथापि उसने बौद्धधर्म को 'राज्य-धर्म (स्टेट रिलीजन) कभी घोषित नहीं किया। यह आवश्यक है कि उसने भिक्षु संघ में दिलचस्पी ली तथा बौद्ध स्थानों की यात्रा की परन्तु उसने परोक्ष या अपरोक्ष रूप से किसी को भी धर्मपरिवर्तन के लिये वाध्य नहीं किया। यदि साम्प्रदायिकता विरोधी-आन्दोलन के परिप्रेक्ष्य में हम अशोक का अध्ययन करें तो देखेंगे कि अशोक का दृष्टिकोण केवल यही नहीं था कि भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय एक दूसरे की निन्दा न करें अपितु उसकी हार्दिक इच्छा थी कि वे आपस में मिलकर रहें, उनमें समभाव हो, समन्वय हो। इतना ही नहीं वह तो यह चाहता था कि अलग-अलग सम्प्रदायों के अनुयायी एक दूसरे के धर्म को सुनें तथा एक

---

[१] य च किंचि. पराक्रमामि अहं, किंति, भूतानां आनणं गछेयं। इध च नानि सुखापयामि परत्रा च स्वगं आराधयंतु। षष्टम शिला अभि० गिरनार।

[२] अमिसा समाना मुनिसा जंबुदीपसि मिसा देवेहि। लघु शिला अभि० ब्रह्मगिरि।

दूसरे को समझें,[1] क्योंकि हर धर्म में अच्छाई है जिसको अशोक ने 'सारवढी' कहा है। उस सार को ग्रहण करने से सम्प्रदाय एक दूसरे के समीप आयेंगे और उनमें भेद-भाव नहीं रहेगा। आज ऐसा सन्देश कौन शासक देता है और यदि देता भी है तो उसे चरितार्थ कराने में उसकी कितनी दिलचस्पी है ?

एक और बात जो ध्यान देने योग्य है वह यह है कि अशोक ने धार्मिक वादों को कोई प्रोत्साहन नहीं दिया किन्तु ऊर्जस्वी आचरण पर बल दिया। उसने धर्म के सार को जाना और लोगों को उसे ग्रहण करने की प्रेरणा दी। सभी धर्मों की उन्नति के लिये उसने धर्ममहामात्रों की नियुक्ति की जो सभी सम्प्रदाय के लोगों में व्याप्त थे।[2] तथा सभी धर्मों की उन्नति करवाने में प्रयत्नशील रहते थे। इस प्रकार अशोक का राज्य पूर्णतः धर्मनिरपेक्ष राज्य था।

चूंकि अशोक का दृष्टिकोण सदैव लोकहित से अनुप्राणित था, इसलिये भाषा के क्षेत्र में भी उसने जनसाधारण की दृष्ट में रखकर उस समय प्रचलित प्राकृतों को प्रोत्साहन दिया। अशोक के अभिलेखों से पता चला है कि उसने किसी एक वर्ग-विशेष या धर्म विशेष की भाषा को प्रोत्साहन नहीं दिया किन्तु जन-साधारण में बोली जाने वाली प्राकृत भाषाओं का ही प्रयोग किया। इस प्रकार अशोक सदैव जनता-जनार्दन का उपासक रहा।

अशोक की दूर-दृष्टि उसके चिंतनमेंमुखरित हैं; जो आधुनिक युग में भी महत्व रखती है। अशोक के समय में यद्यपि भारत समृद्ध था तथापि उसने लोगों को 'अल्प व्ययता एवं' 'अल्प भांडता' की बात कही।[3] प्रजा इन गुणों का पालन करती थी या नहीं इसकी देख-रेख के लिये युक्त नामक अफसर नियुक्त थे। ये अफसर घर-घर जाकर निरीक्षण करते तथा यह हिसाब लगाते थे कि प्रत्येक गृहस्थ ने कितना व्यय किया और कितनी वस्तुओं का व्यय या संचय किया।[4] आज के युग में तो अल्प व्यय एवं अल्प संग्रह की विशेष आवश्यकता है। करीब डेढ़ साल पूर्व महाराष्ट्र विधान सभा में विधायिका श्रीमती मृणाल गोरे ने सभी निर्वाचित प्रतिनिधियों के लिये अपनी सम्पति का हिसाब देना अनिवार्य बनाने के लिये एक गैर-सरकारी विधेयक रखा। यह कैसी विडम्बना है कि ऐसा सुन्दर प्रस्ताव केवल बहुमत के अभाव में अस्वीकृत हो गया। उसी प्रकार राष्ट्रपति के चुनाव समय संसदसदस्य शंभुनाथ मिश्र ने मंत्रियों के जायदाद का हिसाब मांगने की आवाज उठायी किन्तु उसका भी प्रभाव नहीं पड़ा। जापान के प्रधान मंत्री तकेओ मिकी ने तो प्रधान मंत्री बनने के साथ ही अपनी संपत्ति का पूरा हिसाब देशवासियों के सामने रख दिया। परन्तु आज कितने ऐसे शासक हैं जो मंत्रियों, विधायकों एवं धनिकों के व्यय एवं संग्रह का हिसाब रखने की व्यवस्था करते हैं।

---

[1] द्वादश शिला अभिलेख।

[2] सप्तम स्तम्भ अभि०।

[3] अपव्ययता अपभांडता साधु। तृतीय शिला अभिलेख, गिरनार।

[4] भंडारकर : अशोक, पृ० २४५।

संग्रह की प्रवृत्ति अनेक अपराधों को जन्म देती है आज देश में कालाबाजारी, तस्करी, जमाखोरी और भ्रष्टाचार के मूल में यही अनैतिक संचय की प्रवृत्ति है। यदि आज भी हम अशोक के अल्पसंचय और अल्पव्यय के सन्देश को चरितार्थ करें तो देश की कई समस्याओं का हल हो सकता है। अशोक के अल्पव्यय की बात भी ध्यान देने योग्य है जो व्यक्तिगत एवं राष्ट्रीय स्तर पर कार्यान्वित करने के योग्य है। लोग राष्ट्रीय सम्पत्ति का कितना अपव्यय करते हैं तथा अधिक धन संग्रह कर किस प्रकार उसका दुरुपयाग करते हैं, यह हम जानते ही हैं। अतः आधुनिक संदर्भ में भी अशोक के ये वचन कितने प्रेरणा-दायक हैं।

यह भारत का दुर्भाग्य था कि अशोक के सिद्धान्तों और नीतियों को उसके बाद आने वाले शासकों ने भुला दिया। यह विचित्र विडम्बना थी कि अशोक के बाद सिवाय बौद्ध-ग्रन्थों के, उसका नाम लेने वाला भी कोई नहीं रह गया, न हीं उसके बाद हमें कोई ऐसा शासक मिला जिसने अशोक के समान नैतिक मूल्यों की आधार-शिला पर प्रशासन चलाया। भारत के लम्बे राजनैतिक इतिहास में हमें लगता है कि केवल गांधी जी ने ही अशोक के अहिंसक और मैत्रीपूर्ण नीति को अपने आन्दोलन का मूल आधार बनाया। भारत में लम्बे अर्से के बाद गांधी जी ने कुछ नैतिक मूल्यों को उजागर किया और उन्हीं के आधार पर जन-आन्दोलन आरम्भ किया। इस प्रकार मानो अशोक के नैतिक सिद्धान्तों का पुनः प्रस्थापन हुआ, वरना अशोक के धर्म और अहिंसा के सिद्धान्त तो भूतकाल के विस्मृति के गर्त में पड़े रहते। भारत ने अशोक के महान कार्य को सर्वथा भुला दिया था। गांधी जी की प्रेरणा और जवाहरलाल जी के शान्तिमय अभियान ने ही फिर से एक बार अशोक के आदर्शों को उजागर कियां।

संहितायुग में दान की परिकल्पना

डा० सुशील कुमार शुक्ल

पूर्व संहिता युग में बौद्धिक वर्ग की सांस्कृतिक उपलब्धियाँ और उसकी सामाजिक स्थिति

ऋग्वैदिक समाज के व्यवस्थित होते स्वरूप के साथ सांस्कृतिक चेतना से प्रेरित आर्यों के नैतिक मूल्यों का पारम्परिक संरक्षण अनिवार्य हो गया। समाज की बौद्धिक इकाइयों के व्यक्तिगत संरक्षण (गुरुकुलीय पद्धति) में शिक्षा संस्थानों का परिगठन उक्त अनिवार्यता का ही परिणाम रहा होगा।[१] इस पद्धति की शिक्षा व्यवस्था परम्परानुगतिक थी। उसका समूचा उपक्रम आचार्य के विधायी व्यक्तित्व[२] पर निर्भर था। ऋक्-संहिता में शाश्वत मानवीय मूल्यों के आपूर्ण उद्घाटन या 'ऋत्' की प्राप्ति को ही बौद्धिक उत्कर्ष की दिशा में आर्यों का जातीय लक्ष्य बताया गया है। 'ऋत्' चित्-जगत के सदाचार शास्त्र का ही नाम है। इसका निहिताशय अँग्रेजी के 'राइट' (Right) शब्द के पर्याप्त निकट था। वैदिक आचार्य की स्थिति 'ऋत्' की नाभि में (ऋतस्य नाभौ)[३] थी। ऐसी स्थिति में उसके सतत सान्निध्य और सम्यक् निर्देश द्वारा ही आर्यों के अपेक्षित जातीय लक्ष्य की प्राप्ति सम्भव थी।[४] गुरुकुलीय व्यवस्था के शिक्षा संस्थान भी इसी लक्ष्य के पूरक थे।

समवेत निकास की आवश्यकता ने सामाजिक श्रम की दृष्टि से आर्य समूह को चार वर्गों में पहले ही विभक्त कर दिया था। व्यष्टि के नैतिक ऋणों के दायित्व बोध[५] और उनकी उपलब्धि के अनिवार्य भाव से आर्य जीवन को भी चार समान भागों में बाँट दिया गया। चूँकि वैदिक युग के सारे सामाजिक प्रयास बौद्धिक उत्कर्ष द्वारा समष्टि के आधिभौतिक कल्याण से जुड़े हुए थे,[६] यह स्वाभाविक ही था कि भारतीय जीवन के उस प्रथम चरण में व्यवस्थाकार बौद्धिक साधना पर विशेष बल देता। शायद इसीलिए 'आश्रम' से सम्बद्ध आचारगत विधान ऋचासाहित्य के बहुत प्राथमिक अंशों में ही स्वरूप

---

[१] ऋग्वेद : ७।६।६, ७।३६।१, ९:६६।१३, ९।७२।६, ९।६६।९

नोट—ऋग्वेद संहिता—भाष्य—आचार्य जयदेवशर्मा कृतः प्रका०—आर्य साहित्य मंडल लि० अजमेर, सं० १९९२ देखें।

[२] वही, ६।५१।२, ६:७५।१०, ९।८६।३७।

[३] वही, १०।३३।३

[४] वही, १।१२८।२, १।१३९।५, १।१६३।६, ३।९।५, ९।६७।२९।

[५] ऋग्वेद, १।१६३।३, ९।११०।१।

[६] वही १०।२५।८।

ग्रहण करने लगे थे। द्वितीय मंडल के एक सूक्त[1] में 'आश्रम' में नियोजित साधकों (ब्रह्मचारियों) की विविध उपकोटियों की गणना की गयी है। यह वैदिक अंश आश्रम विधान की परिपक्व स्थिति का परिचायक कहा जा सकता है।

व्यवस्थाकारों ने ब्रह्मचर्य आश्रम को जीवन का प्रभात कहा है।[2] इस उक्ति में प्रभात का द्वयार्थ अभिप्रेत था।[3] ब्रह्मचर्य की विशिष्ट अवस्था में समाज का बौद्धिक वर्ग जहाँ व्यक्तिगत साधना की चरम परिणति से ऊर्ध्वगतिक आचार्यत्व को प्राप्त करने मे निमग्न था, वहीं अपने सात्विक बल से ब्रह्मविद्या के इच्छुक शिष्यजनों को अविद्या के अंधकार (तमसः) से मुक्त कर देने (निरअमोचि) के लिए भी व्रतबद्ध था।[4] इस दृष्टि से ब्रह्मचर्य आश्रम को व्यक्तिगत सांस्कृतिक साधना और समष्टि के समवेत उत्कर्ष हेतु निर्धारित प्रयासों का काल कहा जा सकता है। इस आश्रम की ही उपलब्धियों द्वारा वह बौद्धिक और संस्कृतिगत आधार प्रस्तुत हो रहा था, जिस पर आर्यों के जातीय चरित्र की प्रतिष्ठा सम्भव हो पायी। व्यवस्थाकार शायद इसीलिए बाद के आश्रमों में भी इस आश्रम की विशिष्ट उपलब्धियों को संजोये रखने और उनके प्रति सामान्य रूप से सामाजिक सम्मान निवेदित करते रहने की व्यवस्था करता हुआ दीखता है।[5] ऋक्संहिता के अपेक्षाकृत उत्तरवर्ती स्थलों में ब्रह्मचारी को अन्य तीनों आश्रमों का पोषक (अपने ज्ञानतत्व से 'साधक' का पोषण करने वाला) बन्धु कहा गया है। साथ ही उसके परिव्राजक स्वरूप को दृष्टिगत करते हुए (उसके लिए) वृद्धावस्था तक की दीर्घायु की कामना की गयी है।[6] इस कामना मे लोकार्थ अपनी उपलब्धियों को निवेदित करते रहने वाले ब्रह्मचारी के व्यक्तित्व की बढ़ती हुयी सामाजिक आवश्यकता का ही वस्तुतः दर्शन होता है।

ब्रह्मचारी की व्यक्तिगत संस्कृति साधना दीर्घकाल तक चलती रहती थी। वह स्थिति आगे के नैष्ठिक ब्रह्मचारी के पूर्व स्वरूप जैसी थी जिसमें वह आजीवन गुरुकुलों में ही रहकर राष्ट्र के सांस्कृतिक उत्कर्ष को अपना सम्पूर्ण जीवन समर्पित कर देता था। समाज की सारी बौद्धिक पृष्ठभूमि और गुरुकुलों में अपने व्यक्तित्व की अपेक्षित पूर्णता को प्राप्त करते हुए ब्रह्मचारियों की दायित्व चेतना आचार्य के निःस्पृह और केन्द्रस्थ

---

[1] वही, २।३।११।

[2] वही, ३।२८।१।

[3] प्रभात का प्रतीकात्मक अर्थ में उपयोग करते हुए ऋचाकार का मंतव्य, जीवन के प्रारम्भिक चरण और 'ज्ञान प्रकाश के अर्जन का उपयुक्त काल', दोनों से ही रहा होगा। प्रभात दिन का प्रारम्भ तो है ही रात्रि तमस् से लोक को मुक्त करने का स्पृहणीय काल भी है।

[4] ऋग्वेद ५।१।२।
अवोधि होता यजमाय देवानूर्ध्वो अग्निः सुमनाः प्रातरस्थात्।
समिद्धस्य रुशदर्दर्शि पाजो महान्देवस्तमसो निरमोचि ॥

[5] ऋग्वेद, ५।६९।३।

[6] वही, ७।३७।७।

'व्रत-बोध' से जुड़ी हुई थी। आचार्य अपने व्यक्तिगत संरक्षण में संगठित (गुरुकुलीय) शिक्षा संस्थानों में साधक ब्रह्मचारियों का नियोजन करता हुआ उन्हें प्रतीकात्मक अर्थों में ज्ञान के ज्योतिर्मय गर्भ में प्रविष्ट कराता था।[१] वहाँ साधक ब्रह्मचारी मा॰व व्यक्तित्व की सम्पूर्णता को उपलब्ध करता हुआ[२] सच्चे अर्थों में प्रकाशमय जन्म ग्रहण करता हुआ दीखता है। ज्ञान-गर्भ से लोक के प्रतीकात्मक द्विजन्म का यह संदर्भ ऋक्संहिता के अनेक अंशों में दुहराया गया है।[३] ऐसा लगता है कि इस आवृत्ति में सारस्वतों के प्रति समवेत सामाजिक कृतज्ञता का ज्ञापन ही अभिप्रेत था।

इस प्रकार आर्य चेतना में समाया हुआ समष्टि के बौद्धिक उत्कर्ष का यह सामाजिक लक्ष्य निश्चय ही महत् और व्यापक था।[४] विधानकार की दृष्टि इस लक्ष्य के सैद्धान्तिक पहलू के साथ ही उसके व्यवहार पक्ष तक विस्तृत थी। एक विशिष्ट उद्देश्य की साधना के लिए साधक के चरित्र में एक विशेष धारणा शक्ति का प्रादुर्भाव भी आवश्यक प्रतीत हुआ, जिसके लिए ब्रह्मचारी के आचारगत नियमों में कठोरता लायी गयी। इन नियमों द्वारा जहाँ लक्ष्य के प्रति निःस्पृह और एकांतिक समर्पण निश्चित किया गया वहीं एक ऐसे मनोवैज्ञानिक परिवेश का निर्माण भी हुआ जिसमें साधक की आस्था सामाजिक विकास हेतु स्थापित सुदूर लक्ष्य से विचलित न हो।

आचार्य एवं साधनारत साधक के अन्योनाश्रित[५] कर्तव्यों के माध्यम से भौतिक उत्कर्ष की प्राप्ति का समूचा व्यवहारिक उपक्रम बहुत कुछ उपयुक्त मनोवैज्ञानिक परिवेश की ही देन थी। साधना बोध से अपनी इन्द्रियों को नियमित करता हुआ[६] ब्रह्मचारी 'सप्तव्रधि'[७] (सात मनोरोगों को वशीभूत करने वाले) के एक ऐसे मानसिक स्तर को प्राप्त कर लेता था जिसमें निःस्पृहता, अहंकार का विसर्जन और दायित्वबोध की एकान्तिक चेतना मात्र उसके पास रह जाती थी।[८] साधना के इस मार्ग में जन्म से लब्ध ब्रह्मचारी का भौतिक शरीर (जन्मगत संस्कार) गुरु के सान्निध्य में उसके तप और ज्ञानतेज से स्वतः निखर उठता था। इस संदर्भ में अग्निदृप्त गुरु के व्रत-बोध में अपने को तपाकर शुद्धकर

---

[१] वही, १।१६२।१, ३।८।४, ३।२२।१, ३।२९।१, ५।४५।३।

[२] वही, ५।७८।७, ७।३२।१२, ९।३३।५।

[३] ऋग्वेद, १।१३९।९, २।१४९।५, ४।१।४, ५।७८।५, ६।३९।३, ६।७७।६, १०।२।६।

[४] वही, १०।१३।३।

[५] वही, ५।२६।१, ९।३३।२ तथा १।१३५।५ एवं ९।६७।२९।

[६] वही, ९।८८।२।

[७] वही, ५।७५।५।

'श्रुतं ये अश्विना हवं सप्तवध्रि च मुंचतम्॥'

—इसकी व्याख्या के देखिए गो॰ ब्रा॰ पू॰ २।२;

[८] वही, ९।७०।२।

२८

लेने का भाव बड़े महत्व का है।[१] वस्तुतः साधक (शिष्य) की पूर्णता गुरु के साहित्य जन्म संरक्षण का ही परिणाम हो सकती थी।

वाद की परम्पराओं का बौद्धिक तेज पूर्व पीढ़ियों के बौद्धिक और चारित्रिक गौरव पर ही अवलम्बित किया जा सकता था। इस दृष्टि से यह आवश्यक हो गया होगा कि आचार्य निश्चित विधान के अनुरूप आचार के दस महत् लक्षणों[४] को अपने चरित्र में उतारकर[२], विद्वत्ता के साथ ही वैयक्तिक शुद्धता[३] को उपलब्ध करता तथा अपने व्यक्तित्व में लोक संरक्षण की सम्यक् सामर्थ्य पैदा करता। अपनी इन उपलब्धियों से वह स्वतः लोक-श्रद्धा का आस्पद बन गया। तपोतेज से युक्त आचार्य का यह स्वरूप अग्नि का पर्यायवाची बन गया, जिसे समर्पित किया जाने वाला आदर अग्निहोत्र कहा जाने लगा।[५] आचार्यत्व की पूर्णता से ही सारे पार्थिव एवं अपार्थिव ऐश्वर्य उद्भूत होते थे।[६] परिपक्व बौद्धिकता की यह अन्तिम परिणति थी। पूर्ण 'आचार्यत्व' का सतत संरक्षण ही ज्ञान पिपासु साधक को प्रचण्ड रश्मियों से आवेष्टित (सूर्य तेज से दीप्त) अभिनव द्विजन्म का दान दे सकता था।[७] यह उपलब्धि ही साधनारत ब्रह्मचारी का अन्तिम साध्य मानी जाती रही। इसे प्राप्त करता हुआ वह आचार्य के विशिष्ट व्रतबोध के अनुरूप उसके संस्कृतिपरक संकल्प की अधिकाधिक साधना करता हुआ सच्चे अर्थों में उसका (आचार्य का ही) वर्द्धक (ववृधन्तः)[८] बनता था। इस अवस्था तक आते-आते कृतसंकल्प 'स्नातक'[९] (गुरु के ज्ञानजल से स्नात, जिसके साथ कालान्तर में समावर्तन संस्कार का रूढ़िगत स्नान जुड़ गया) परिपक्व बुद्धि होकर विजिगीषु की भाँति सर्वंगतिक और अपरिबाध्य हो जाता था।[१०] पर यह स्थिति, व्यवस्था की अंतिम बिन्दु न थी। परम्परानुगत दायित्व के बोध से 'स्नातक' हुआ समावर्तित साधक अपने ज्ञान को लोक के लिए देने का उत्तरदायित्व स्वीकार करता था। गुरु के ज्ञान अंक में वर्द्धित[१२] होने के बाद उसका लोक-संरक्ष्य व्यक्तित्व अतिभौतिक मातृत्व की विशाल गरिमा से भर उठता था।[१३] बौद्धिकों के व्यक्तित्व का यह लोकानुप्रेरित स्वरूप बाद की पीढ़ियों के लिए अभीष्ट बन गया।

---

[१] ऋग्वेद, ९।७०।२।
[२] वही, ९:७० ४।
[३] वही, ५।६५।१, ९।९७।७।
[४] वही, ९।१०।११०।
[५] वही, ६।१।१०।
[६] वही, ९।६४।६।
[७] वही, ६।८।२।
[८] वही, ४।२।१७।
[९] ऋग्वेद, ५।४२।१४, ९।६६।१३।
[१०] वही, २।३८।६, 'समावर्वत्ति विष्ठितो जिगीषुर्विश्वेषां कामश्चरताममूत॥'
[११] वही, १।१२८।२।
[१२] वही, ९।८९।१।
[१३] वही, १।१२२।५, १।१४९।५।

साधना द्वारा अर्जित अपनी बौद्धिक उपलब्धियों के रक्षण और वर्द्धन की व्यग्रता के कारण इस युग का आचार्य उन योग्य साधकों को पाने की कामना करता दीखता है[1] जिन्हें वह अपना बौद्धिकदाय सौंपता। गतिमान शिष्य परम्पराओं को ही बौद्धिको की कुलपरम्परा माना गया, जिनके सम्मुख लकड़ी (समिधा) की भांति तेज (अग्नि) दीप्त होकर अन्यों को प्रकाशदान का महान् आदर्श उपस्थित था :[2] परम्परा के इस भाव से ही संस्कृति-साधना का समूचा उपक्रम अपेक्षाकृत अधिक सहज हो सका।

इस तरह सांस्कृतिक चिन्तन से उपजी गुरुकुलों की शिक्षापद्धति संस्कृति और सदाचार दोनों के संवर्द्धन को दिशा दे रही थी। शिक्षा का स्वरूप नैतिक था।[3] साथ ही, इस युग का नीतिशंसी आचार्य समस्त मानवीय धर्मों का नियामक भी था।[4] शिष्यों में[5] उसे ही उन नैतिक-मूल्यों के बीज बोने थे,[6] जिन्हें अपने दिव्य ज्ञान के रस से सींचता[7] और जमाता हुआ वह अपने ध्येय की साधना करता दीखता है।[8] पर, वस्तुत: उसकी व्यक्तिगत साधना के इस उपक्रम में समूचे लोक की अभिवृद्धि का भाव संश्लिष्ट था।[9]

उत्तर संहिता युग

उत्तर संहिता युग में समाज प्राय: व्यवस्थित हो गया और सांस्कृतिक चिंतन का उक्त भाव लोक के समूचे मानसिक परिवेष पर आवृत्त हो गया। प्रथम वर्ण के सम्यक् संरक्षण में ज्ञानयज्ञ के सम्पादन द्वारा राष्ट्र के ऊर्ध्वगामी विकास का चिन्तन[10] और बौद्धिकों (प्रथम वर्ण) के सामाजिक महत्व की प्रतिष्ठा अब भी स्थिर रही। उनका ज्ञानमय संरक्षण

---

१ वही, ३।३६।३।
२ वही, १।२२।८।
३ ऋग्वेद, ९।६।८
४ वही, ९।७।१
५ वही, ९।८८।१
६ वहीं, ४।५।७
तमिन्ने डे व समना समान मभि क्रत्वा पुनती धीतिरेश्या:।
ससस्य चर्मन्नधि चारु पृश्नेरग्रे रूप आरुपितं जबारु॥
७ वही ५।६६।५
८ ऋग्वेद, ६।८।२
९ वही, १०।१।१
१० अथर्व०, ५।१२।११ (जयदेव शर्मा कृत भाष्य) यजु०, १।१२, २।१३ तथा (यजु० जयदेव शर्माकृत भाष्य) तथा साम०, उत्तरा०, प्रपा—१, अ० प्र० २, अ० २। खं० १—३।४ (साम० के उद्धरणों के लिए, सामवेद-संहिता-भाष्य स्वामी श्री भगवदाचार्य कृत, प्रका० व्यासवाड़ा पेटलाद (गुजरात) देखें।)

लोक चेतना का एकांतिक लक्ष्य बना रहा।[1] अपने अधीन साधक के व्यक्तित्व की पूर्णता द्वारा लोक को अभिप्रेत दिशा देने की इच्छा से वह व्यग्र था।[2] वह परम्पराओं का आवाहक था।[3] अपने शिशु-शिष्य के प्रति वत्सला गो की भांति पोषण के नैतिक दायित्व का उसे बोध था। इस प्रकार अपनी उपलब्धियों के समूचे फल को समष्टि के हित में समर्पित करता हुआ प्रथम वर्ण स्वतः ही समाज का वरेण्य और नियंता बनता गया।[4] विशिष्ट साधना के इस उपक्रम में महत् व्यक्तिगत चरित्र अब भी आवश्यक बना रहा। अपने इस 'शुचिव्रत' की साधना हेतु एक अनूठे आत्मविसर्जन के कारण साधक और आचार्य दोनों को ही इस युग में धर्म के विशिष्ट माहात्म्य से विभूषित और ईश्वरीय प्रभुत्व का अधिकारी कहा गया है।[6]

बौद्धिकों की सामाजिक उपासना के पीछे थी उनके द्वारा प्रदर्शित ज्ञानमार्ग पर अपने को नियोजित कर लेने की सामाज की सामूहिक इच्छा। समाज का यह समवेत स्वार्थ अब तक काफी स्पष्ट हो चुका था।[7] सम्यक् चरित्र एवं प्रतिभा से दीप्त साधक गुरु के अपरिहार्य संरक्षण में अभीष्ट लक्ष्य की ओर बढ़ता था और ज्ञानमार्ग की साधना द्वारा मोक्ष

---

[1] अथर्व०, ४।९।७, ४।२७।५, ५।१९।१५, ६।७६।२, ७।७४।४, १९।४०।२, २०।१४३।१,
यज०, ११।५, ११।५९,
साम पूर्वा० प्रपा १, अ० प्र० १, द० ३, अ० ३, खं० १,—८
वही, १।२।६।१।६—२
वही, ३।१।३।२।२—८
वही, ४।२।८।४।२—३
सा०, उत्तरा०—प्रथा १, अ० प्र० १, अ० १, खं० १,—१।२
वही, १।१।१।२—२।४
वही १।१।१।४—२।११,
वही, १।२।२।२—२।७,
वही, ५।२।१०।१—२।९,
वही, ६।१।१।१।१—२,२,
वही, ६।३।१४।१—३।१,

[3] साम० उत्तरा०, प्रपा—२।अ० प्र० १। अ० ५ खं० ६।—३।१८

[4] वही, १।१।१।४।—२।११
वही, ७।३।१६।४।—२।१९

[5] साम० पूर्वा०, ३।१।३।२।२।—८॥८॥
तथा यजु०—१३।१,

[6] साम० उत्तरा०, प्रपा० १।अ० प्र० १।अ० १।खं २।—३।५।

[7] साम०, पूर्वा०, प्रपा० ४। अ० प्र० २। द० ८।अ० ४। खं० २।—३,
वही, १।२।३।३।१।—"८"

के परम अन्न[१] को क्षुधातुर की भांति उपलब्ध कर लेता था। मोक्ष ही उत्कर्ष की दिशा में मानवीय प्रयासों का अन्तिम लक्ष्य माना गया। इसी कारण विधानकारों ने सर्वोत्कृष्ट ज्ञानसाधन के अर्जन के लिए सदाचारी महात्माओं के सतत संसर्ग[२] की आवश्यकता में गुरुकुलीय पद्धति की शिक्षा व्यवस्था को परम्परागत रूप में स्वीकार किया।

संस्कृति साधना के इस उपक्रम में साधक ऋतपालन द्वारा ईश्वर की, आत्मशुद्धि द्वारा अपनी, बोध-प्राप्ति द्वारा विद्वानों की ओर काम-क्रोधादि विकारों के बहिर्गमन द्वारा हृदय की उपासना करता हुआ[३] लक्ष्य के विन्दु (सर्व विद्याओं मे निष्णातता के भाव) तक पहुँचता था। यह उपासना व्यापक सामाजिक दायित्व की सूक्ष्म चेतना मात्र है। परम्पराग्रहीत संयमों में लगे हुए शिष्य के व्यक्तित्व में अपनी उपलब्धियों को व्यवहारतः व्यवस्थित करता हुआ गुरु उस आध्यात्मिक शक्ति की सर्जना करता था[४], जिसकी उपलब्धियाँ समष्टि के लिए ही समर्पित थीं।[५] तपःप्रधान प्रथम वर्ण की विशिष्ट ज्ञानशक्ति (व्यचः)[६] और वैयक्तिक तेज भी केवल लोकहित की पूर्ति के लिए थे। समष्टि के पक्ष में कर्त्तव्य के इस आदर्श बोध द्वारा ही वह अपने विद्यागर्भ से सामर्थ्यशील यशस्वी शिष्य की उद्भावना कर पाने में सक्षम हो पाता था।

उत्तर संहिता युग में राजशक्ति का विकास और प्रथमवर्ण के सामाजिक वर्चस्व की समस्यायें

उत्तर संहितायुग के समूचे विस्तार में सामान्यतः प्रथमवर्ण की विशिष्ट स्थिति और उसके व्यक्तित्व की सामाजिक प्रतिष्ठा यथावत् स्वीकारी जाती रही। पर बाद में सामाजिक विधान के इस उपक्रम में कदाचित् कुछ विरोध की स्थितियां उत्पन्न होने लगीं। अथर्ववेद का युग राजनीतिक प्रयासों की दिशा में कुछ महत् उपलब्धियों का काल कहा जा सकता है। इस वेद के कुछ अंशों में मंत्रकार बौद्धिकों की मान्य प्रतिष्ठा को यथापूर्व स्वीकारे जाते रहने के लिए कुछ विशिष्ट सामाजिक विधान प्रस्तुत करता हुआ दीखता है। यह स्थिति ऐतिहासिक विकास के एक ऐसे स्तर की द्योतक थी जहां लौकिक शक्ति (राजशक्ति) की संप्रभुता ने प्रथमवर्ण के पारम्परिक प्रभुत्त्व को एक सीमा तक बाधित करने की चेष्टा की। फिर भी विधानकारों ने यह अनुभव किया कि प्रभुपद से विगलित राजसत्ता के संभावित निरंकुश स्वरूप को भी प्रज्ञाशक्ति के प्रचण्ड आध्यात्मिक तेज से साधा जा सकता है।[७]

---

१ साम० उत्तरा०, प्रपा० १। अ० प्र० १। अ० १।खं० १।—२।२

२ वही, ६।३।१४।१।—३।४,
वही, ६।१।११।१।—२।२,

३ वही, ७।२।१५।१।—३।१,

४ वही, ९।२।२।७।—२।९,
'शिक्षेयमस्मै दित्सेयं शचीपते मनीषिणे। यदहं गोपतिः स्याम्॥'

५ अथर्व०, ४।२७।५,

६ वही, ६।६१।१

७ अथर्व०, ५।१८।४,५।१८।१०, ५।१८।१३,५।१९।१०,

उत्तर संहिता युग का 'पुरोहित' ब्राह्मण या बौद्धिक वर्ग की धर्माश्रित नियंत्रणी शक्ति का प्रतिनिधि था।[१] विधानकार राजा के ऊपर धर्मशास्त्र की प्रतिष्ठा करता हुआ उसके व्याख्यापन का पूरा अधिकार बौद्धिक (पुरोहितों) को ही सौंपता दीखता है। राजसत्ता की सार्थकता इस व्याख्याकृत विधान के अनुगमन और इसके संरक्षण में हीं निहित थी।[२]

समाज का बौद्धिक वर्ग राजशक्ति द्वारा स्वयं अपनी ही तरह (प्रियतनोः)[३] संरक्ष्य था, क्योंकि उसकी साधना (ब्रह्मज्ञान के प्रसार) द्वारा ही राष्ट्रश्री का वर्द्धन सम्भव था।[४] वशाशक्ति[५] (बौद्धिकों द्वारा लोक नियंत्रण) की साधना, ब्रह्मजाया[६] (ब्राह्मण बौद्धिकों की ज्ञानशक्ति) की उन्मुक्तता और ब्रह्मगवी (ब्राह्मण की वशवर्त्तिनी गो अर्थात् पृथ्वी—अथर्ववेद, पंचम काण्ड) के प्रतीकात्मक विवरणों में भी प्रथमवर्ण के सामाजिक महत्त्व को उभार कर प्रस्तुत किए जाने के प्रयत्न दिखायी देते हैं। पर आर्य व्यवस्थाकार इतने से ही आश्वस्त न हो पा रहा था। आगे बढ़कर उसने मानवीय अंगों में (बृहत्सामानमांगिरसमार्पयन् ब्राह्मणं जनाः) चेतन प्राणशक्ति की भांति प्रवाहित अथवा अंगारों की भाँति प्रदीप्त महान् ब्राह्मण (बौद्धिक) के विनाशकर्ताओं को सर्वरक्षक प्रभु के पृथ्वी और द्यौः रूपी जवड़ों का ग्रास बताया।[७] ब्राह्मण का अपमान अथवा उस पर राजशुल्कादि के प्रतिबन्ध शक्तितत्त्व के पक्ष में अहितकर एवं अतिभौतिक भयों के उद्भावक कहे गये।[८] ज्ञान भी ऊर्ध्वंगतिक परम्परा का बाधन राष्ट्र की शक्ति का विनाशक कहा गया।[९] क्षत्रिय को स्पष्ट चेतावनी दी गयी कि यदि वह बौद्धिकों के प्रति हिंसात्मक व्यवहार करेगा (ब्राह्मणां यत्र हिंसन्ति तद् राष्ट्रं हन्ति दुच्छुनां।') तो उसकी सत्ता भग्न नौका की भांति (भिन्ना इव नावम्) जल के प्रवेश से (उदक आ स्रवति) अतिभौतिक विपत्तियों का ग्रास बन जायेगी।[१०] ब्रह्म हत्यारे के राष्ट्र में सूर्य और समुद्र से उठने वाली वर्षाओं का अप्रभावी होना और शासन समिति की अव्यवस्था तक के भय की सर्जना[११] द्वारा विधानकार ने उदीयमान शक्तितत्त्व को अपनी बुद्धि द्वारा नियंत्रित करने में पर्याप्त सफलता पा ली थी।

---

[१] वही, ५।१९।१५,६।२०।१, यर्जु०, १३।१,१८।६५,२३।१४,

[२] वही, ४।३०।५।

[३] अथर्व०, ५।१८।६,

[४] वही, ५।१८।६,

[५] वही, १२।४।५३, १२।४।४०, १२।४।३४, १२।४।२५,१२।४।१४, १२।४।३,

[६] वही,५।१७।१३,

[७] वही, ५।१९।२

[८] वही, ५।१९।३,

[९] वही, ५।१९।४-५,

[१०] अथर्व० ५।१९।८,

तद् वे राष्ट्रमा 'स्रवति नावं' भिन्नाभिवोद्कम्।
ब्राह्मणां यत्र हिंसन्ति तद् राष्ट्रं हन्ति दुच्छुना॥

[११] वही, ५।१९।१५,

समाज का प्रथमवर्ण (बौद्धिक वर्ग) अब जंगलों में निःस्पृह संस्कृति-साधना तक ही परिसीमित न था। लोक नियंत्रण एवं स्वव्याख्यापित विधायक नियमों की व्यवस्था के लिए अब उसके लिए लौकिक और व्यावहारिक कदम उठाने आवश्यक हो गये। पुरोहित के स्वरूप की समूची धारणा बहुत कुछ इसी व्यावहारिक आवश्यकता से ही उद्‌भूत हुई। यह बात दूसरी थी कि अपने व्यक्तित्व में शक्ति की प्रतिष्ठा और सामाजिक दायित्व की अभिवृद्धि के होते हुए भी तथा विधायी शक्ति को हस्तगत करते हुए भी वह लोक नियंत्रण के निःस्पृह दायित्व मात्र का वहन करता रहा। उसकी सारी सामाजिक प्रतिष्ठा पूरी तरह लोकार्थ निवेदित थी।

वैदिक दान : एक सामाजिक प्रतीकार

अभी तक हमने पूर्व और उत्तर संहिताओं से उपलब्ध तत्युगीन सामाजिक संदर्भों को जोड़ते हुए यह देखने की कोशिश की है कि किस तरह वैदिक समाज अपनी संस्कृति-परक चेतना से अनुशासित होता हुआ महत् जातीय लक्ष्य की दिशा में व्यवस्थित सामाजिक विधान के अनुरूप गतिशील था।

इस युग का आर्य वर्ग अज्ञान के घिरते हुए तम को भेदकर लोक को अपनी प्रकाश-पूर्ण संस्कृति के घेरे में डाल लेने को व्यग्र दिखता हैं। आर्य विधानकार की दृष्टि में नदी का बढ़ता हुआ जल दोनों कगारों को शुद्ध कर देता है। ठीक उसी तरह आर्यसंस्कृति की गरिमा से 'स्वपक्ष' और व्यवस्था के विद्वेषक वर्ग, दोनों ही शुद्ध हो सकेंगें, यह विश्वास एक सत्य के रूप में व्यवस्थित हो गया दिखायी देता है।[१] यही कारण है कि यजुर्वेद के एक अंश में राष्ट्र[२]शरीर में प्रथमवर्ण (सांस्कृतिक उत्कर्ष के प्रयासों में निरत बौद्धिकों) को मस्तक की भांति श्रेष्ठ और सम्मान्य माना गया है।

राष्ट्रीय स्तर पर ज्ञानयज्ञ के सम्पादन का दायित्व बोध अब तक एक सुनिश्चित लक्ष्य के रूप मे प्रतिष्ठित हो चुका था।[१] तथापि इस विशिष्ट यज्ञ के सम्पादन का संकल्प अपनी पूर्णता के लिए बहुत अंशों में आचार्य के लोकार्थ निवेदित व्यक्तित्व पर ही टिका था। ऋचाकारों ने इस तथ्य को दृष्टिगत करते हुए प्रथमवर्ण को ज्ञानयज्ञ के लिए (आवश्यक रूप से) उद्‌भूत पवित्र वह्नि-राशि की साम्यता दी,[२] उसके अग्निधर्मा स्वरूप के अनेक उल्लेख बहुत पहले से दुहराये जा रहे थे।[३]

---

[१] ऋग्वेद, ६।१६।११, ६।१५।१। अथर्व, ५।१२।११, ५।२४।१ यजु० २।१२, साय० उत्तरा०, प्रपा०१। अ० प्र० २। अ० २। खं० १।—३।४

[२] ऋग्वेद, ६।१५।१, २।१५।१, ३।१४।३, ३।१७।२, ३।१७।२, ३।२१।१, ३।२८।१, ३।२९।७, ४।१२।१,

[३] वही, १।१३९।९, १।१४८।२,४, १।१५०।३, २।६।१, २।२५।१, ३।९।१,५, ३।१२।४, ३।१४।३, ३।१७।२, ३।१८।३, ३।२१।१, ३।२२।१, ३।२९।७, ३।५७।६, ३।५९।६, ४।१।१, ४।२।१७, ४।५।६, ४।६।१, ४।११।३, ४।१२।१,२ ५।१।१,२, ३,४,५,१०,११,१२, ५।९।११, ५।२६।१, ५।४९।३, ५।६०।२, ६।१।१०, ६।३।२,

जलती हुई अग्नि को उद्दीप्त करने के लिए घृत की आहुतियां दी जाती हैं, (घृतस्य-धारा अभिचोक्शीभिः) ।[१] प्रायः उसके समानान्तर रूप में अनेक बौद्धिक रहस्य प्रथमवर्ण के ज्ञानतेज को उद्दीप्त करने का कारण बन रहे थे। पर घृत की आहुतियों के पूर्व अग्नि के भौतिक स्वरूप की प्रतिष्ठा के लिए एक ठोस आधार के रूप में 'समिध', या 'हवि' की आवश्यकता होती है। समिधायुक्त एवं घृत की आहुतियों से प्रदीप्त भौतिक अग्नि बदले में ऊष्मा और प्रकाश का दान करता है। ठीक उसी तरह, समाज द्वारा प्रदत्त सामाजिक संरक्षण और श्रद्धा प्राप्तकर बौद्धिकों ने एक ऐसे सामाजिक प्रतिदान की व्यवस्था की, जिसे निरपेक्ष भाव से ग्रहण करता हुआ उस युग का समूचा बौद्धिक वर्ग समष्टि के पक्ष में अपनी व्यक्तिगत उपलब्धियों को निवेदित करने के लिए व्यवहारतः बाध्य हो गया। 'ग्रहण' और 'त्याग' की इस विशिष्ट प्रक्रिया में ही दान संस्था के वीज और अंकुर निहित थे।

पिछले पृष्ठों में संहितायुगीय समाज के सांस्कृतिक प्रयासों का सर्वेक्षण प्रस्तुत करते हुए यह कहा जा चुका है कि जब आर्य भारतभूमि में अपनी सामाजिक स्थापना के उपक्रम के प्रारम्भिक काल से गुजर रहे थे, वैदिकों ने संस्कृति साधना और उसके संरक्षण को अपने एकमात्र लक्ष्य के रूप में प्रतिष्ठित कर लिया था। ज्ञान के रहस्यों के उद्घाटन और स्थापित लक्ष्य की प्राप्ति के लिए एकान्तिक और सतत भाव से समर्पित निःस्पृह और सोद्देश्य व्यक्तियों की अपेक्षा की जाती रही। बाद की अनुवर्ती परम्पराओं द्वारा समाज के पक्ष में अर्जित बौद्धिक गरिमा को पोषित और संवर्द्धित करते रहने के भाव से गुरुकुलों की शिक्षा व्यवस्था का जन्म हुआ। ये गुरुकुल राजनियंत्रणों से दूर, शान्त तपोवनों में विकसित होने वाले उस युग के शिक्षा संस्थान थे, जहां आचार्य के सतत संरक्षण और संसर्ग में साधक अपने को तपाकर ज्ञान की उपलब्धि करता हुआ स्थापित सामाजिक 'व्रत' (दायित्व) की सम्यक् साधना करता था। इन शिक्षा संस्थानों का सारा विधान आचार्य के व्यक्तित्व में ही केन्द्रस्थ था। इस प्रकार गुरु साधक के व्यक्तित्व में ऊर्ध्वगतिक

६।८।२, ६।११।५, ६।१४।२, ६।१५।१,७, ६।११।१३, ७।१।१७, ७।४।६,७, ७।६।६, ७।१४।१, ७।४२।४, १०।१।१, १०।२।२, १०।६।१५, १०।१५।९, १०।१६।५,.१, १०।२०।५, १०।३५।८,

अथर्व०, ३।३१।१, ४।३३।१, ५।१२।११, ५।१८।४, ५।१८।६, ५।१९।२, ६।३८।१, ६।७६।१, १२।४।३४, १९।५९।२, १६।६४।१,

यजु०, २।११,१३,२९, ५।३४, ११ ५९, १२।५१, १३।१,३८,४५, १५।२९, १७।१३, १८।३१, १८।६५, २९।१,

साम०, पूर्वा० : १।१।२।१।२।–६, १।१।३।३।१।–८, १।१।४।१।४।–१०, १।२।६।१।६।–२, १।२।९।१।९।–१०,

वही, उत्तरा० : १।१।१।२।–२।४, १।२।२।१।–३।४,

[१] ऋग्वेद ६।५८।६,

मानवीयता के उत्कृष्ट मूल्यों को बीज के रूप में स्थापित करता हुआ[1] उसे ज्ञान के दिव्यरस से सिंचित कर[2] लोकोत्तर उत्कर्ष की उत्थानगामी दिशा देते रहने का दायित्व पूरा करता था।[3]

आचार्य अपनी दुःसाध्य साधना से आत्मीकृत ज्ञान के विशद गर्भ में समष्टि को धारण और पुष्ट करता हुआ न केवल लोक को सम्पूर्ण अर्थों में द्विजन्म[4] का दान देता रहा अपितु अपने इस लोकोत्तर गर्भ से प्रसूतप्राय–समष्टि के ज्ञानशरीर को माता की भांति वत्सल संरक्षण देकर निरन्तर पोषण द्वारा वर्द्धित करते रहने का दायित्व स्वीकार कर चुका था।[5]

ब्रह्मचर्य आश्रम की विशिष्ट स्थिति और उसकी महत् उपलब्धियों की चर्चा हम पिछले पृष्ठों में कर चुके हैं। अपनी उपलब्धियों से लोक-पोषण[6] और समष्टि के लोकोत्तरीय ध्येय की साधना का ब्रह्मचारी का भाव भी उस क्रम में विवेचित किया जा चुका है।[7] इस प्रक्रिया में ही आचार्य के विधायी व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा थी।

लोक के पक्ष में अपनी समूची ज्ञाननिधि को अर्पित करते रहने वाले[8] इस महत् व्यक्तित्व (आचार्य) ने गुरुकुलीय पद्धति के शिक्षा संस्थानों को सतत गति से चलाते रहने के लिए ही इस बात की कामना की कि समाज ब्रह्मचारी को सम्मानपूर्वक भिक्षा निवेदित करे।[9] भैक्ष्यचर्या कालान्तर में विद्यार्थी के ब्रह्मचर्य जीवन का एक अनिवार्य अंग बन गयी।[10] संचित भिक्षा के न्यूनांश से आचार्य का पोषण होता रहा और शेषांश से शरणागत साधकों (ब्रह्मचारियों) की जीविका चलती रही।[11] कालान्तर में गृहस्थ के लिए पंचमहा-यज्ञों[12] के दैनिक सम्पादन की अनिवार्यता भी शायद भैक्षचर्या के सतत क्रम को बनाये रखने के लिए ही की गयी। बलिवैश्वदेव या अतिथियज्ञ के अनन्तर गृही, परिव्राजक-ब्रह्मचारी को प्रतिदिन भोज्यअन्न का अनिवार्य भैक्ष्य (दान) देता था।[13]

---

[1] ऋग्वेद ४।५।७।
[2] वही, ५।६६।५।
[3] वही, ६।८।२।
[4] वही, १।१४९।५, ३।१६३।१, ३।२२।९, ३।२९।१, ४।१।४, ५।७८।५,७।
[5] वही, ७।३३।१२, ९।१२।२, ९।३३।५, ९।८९।१, १०।४०।८।
[6] वही, ३।३७।७
[7] अथर्व०, ११।५।१
[8] ऋग्वेद, ३।१७।२, ३।३१।७, ४।५०।५, ५।६६।५, ९।८६।२३, ९।४६।१४, ९।९७।
[9] ऋग्वेद, ९।७०।२।
[10] शत० ब्रा० ११।३।३।४, बौ० ध० २।१२, बौ० ध० १।२।१८।
[11] आप० ध० १।२५, ३१-३५।
[12] शत० ब्रा० ११।५।६।१, बौ० ध० २।६।१-६, बौ० ध० १।५।३।
[13] ऐत० ब्रा० ५।२५।५, १।३।६।

२९

इस प्रकार इन संदर्भों के इर्द गिर्द ही दान की प्रारम्भिक संकल्पना विकसित होती दृष्टिगत होती है। दान के वैदिक स्वरूप के मूल में एक विशिष्ट प्रतिकारपरक भाव की स्थिति थी।

लोकत्यागी बौद्धिकों की उत्कर्षपरक साधना का समूचा फल समाज के हित में ही विसर्जित होता आ रहा था। आवश्यक था कि समाज इस साधना की गति और पूर्णता के लिए कम से कम आजीविका के आवश्यक भौतिकसाधनों को लोकविरत साधकों के पक्ष में निवेदित करता रहता।

क्या वैदिक युग में दान एक सामाजिक अनुबंध था?

ऋग्वेद के पंचम मंडल के एक अंश में सम्यक् प्रतिग्रहीता आश्चर्यकारक शक्ति से सम्पन्न (अद्भुतक्रत्), स्नेही दाताओं द्वारा निवेदित दान के किसी भी स्वरूप को अपने शरीर के लिए अभोग्य (तनूभिः माभुजेम्) बतलाता है।[१] सम्भवतः इसके द्वारा दान विधान के क्षेत्र में एक विशिष्ट आदर्श की उद्भावना ही अभिप्रेत थी। किन्तु ऋक्संहिता युगी समाज का सारा युगबोध दान के निमित्त अनेक ऐश्वर्यों की अपेक्षा करता हुआ दीखता है।[२] ऐश्वर्यवानों द्वारा संचित ऐश्वर्य को खुली नहरों के समान मुक्त कर देने की व्यग्रता[३] तथा दानशील के विशाल कोषों की स्थिति उन्मुक्त दान के लिए ही बतायी गयी है।[४] इस संदर्भ में यह कथन कि ग्रहीता के लिए दान अयोग्य है, निश्चय ही बड़ा विचारणीय हो जाता है।

इस विषय की विवेचना के लिए हमें अथर्ववेद के तृतीय सूक्त का एक मंत्र[५] देखना होगा। यहाँ प्रतिग्रहीत द्रव्य को धारण करने की शक्ति एक मात्र अंतरिक्ष और भूमि में ही निहित बतायी गयी है। भौतिक शरीर से इसके ग्रहण की कोई भी स्थिति प्रतिग्रहीता के पक्ष में अपनी परम्परा (प्रजया) के प्रति किया गया एक ऐसा अपराध होता जिसकी हर सम्भावित स्थिति के प्रति समर्थ प्रतिग्रहीता अत्यन्त सतर्क दीखता है। पूर्वोल्लेख[६] का 'तनूभिः मा भुजेम्' यहाँ आकर अपनी व्याख्या की पूर्णता प्राप्त कर लेता है। बौद्धिकों के 'व्रत' की विशाल धारणाशक्ति में अंतरिक्ष तक व्याप्त समस्त लोकों की प्रतिष्ठा थी। व्रतबद्ध साधना की पूर्णता के क्रम में लोक द्वारा निवेदित भौतिक (जीविका का) साधन (या 'दान') सामाजिक सहायता का एक रूप मात्र था। दूसरी ओर इस साधना द्वारा अर्जित की गयी दिव्य सिद्धि की समूची पूर्णता के साथ इसी लोक के पक्ष में पुनः समर्पित होना था।[७] उत्कर्षपरक साधना के अनवरत निर्वाह में स्थूल शरीर की भौतिक सत्ता स्वतः तिरोहित हो जाती थी।[८] ज्ञान के दिव्य तेज से आदीप्त (बौद्धिकों का) वैयक्तिक तेज

---

१ ऋग्वेद, ५।७०।४।
२ ऋग्वेद, ७।३७।८।
३ वही, ६।३६।४।
४ वही, ३।३०।१५।
५ अथर्व०, ३।२९।८।
६ ऋग्वेद, ५।७०।४।
७ यजु० ८।२।
८ छान्दोग्य उप० २।२३।१।

सूक्ष्म शरीर का प्रतीकात्मक अभिधान बनकर रह गया था। इस तेजोदीप्त सूक्ष्म और दिव्य शरीर की उपलब्धियाँ समाज के पक्ष में ही समर्पित थीं। अतः लोक द्वारा निवेदित भौतिक दान के अधिकारी होकर भी बौद्धिकों के व्यक्तित्व सामान्य रूप से समाज को ही समर्पित थे। यदि सहज शब्दों में कहना चाहें तो कह सकते हैं कि प्रतिग्रहीता के पक्ष में निवेदित दान भौतिक आजीव का वह साधन था जिसके सम्यक् उपभोग के बदले प्रतिग्रहीता लोक के पक्ष में अपनी उपलब्धियों को पूरी ईमानदारी के साथ (कर्त्तव्यत:) लौटाता था।[१]

इस प्रकार वेदसूक्तों के विवेचन में समर्थ विद्वानों का यह रूप वर्गगत कर्त्तव्यों के प्रति आस्थावान था। शिष्यों का वरण करता हुआ गुरु पितावत् उनके लोकोत्तर पोषण के दायित्व का संवहन करता था।[२] समाज द्वारा निवेदित दान की पात्रता का वह एक-मात्र अधिकारी था। अपने इस स्वरूप से हविपूत लौकिकआजीव (दान) को वह प्रज्वल्यमान शिशुसाधकों में पुरोडास के रूप में वितरित करता हुआ दीखता है।[३] समाज के प्रति कर्त्तव्य के इस सामान्य और गौरवमय निर्वाह से लोककल्याण की भी स्वतः साधना हो जाती थी।[४] इस काल में पुरोहित के स्वरूप की संकल्पना इस ज्ञानयज्ञ के रूप में ही थी। राष्ट्रीय स्तर पर बौद्धिककर्मों का दायित्व संवहन करता हुआ वह लोकनियंत्रण का अधिकारी बन गया था।

निष्कर्ष

इस प्रकार वैदिक दान में सामाजिक अनुबन्ध की एक विशिष्ट स्थिति छिपी हुई दीखती है। अन्ततः यजुर्वेद के मंत्रकार की भावना[५] के अनुरूप इस युग में दान संस्था एक सामाजिक समझौते के रूप में दिखायी देती है, जिसमें समाज से प्राप्त होने वाले भौतिक साधनों के बदले प्रतिग्रहीता अपनी सांस्कृतिक उपलब्धियों को प्रतिकारतः समष्टि के पक्ष में उत्सर्ग करने को विवश था।

---

१ अथर्व०, २०।१३५।१३
२ ऋग्वेद, १०।१५।९
३ वही, ३।२८।१
४ वही, १०।३५।८
५ यजु०, २१।६१



सातवीं सदी में मनोरंजन के साधन

पारस नाथ सिंह

मनोरंजन के साधन सभ्यता के विकास के मापदण्ड हैं। मनोरंजन की आवश्यकता सभी को होती है किन्तु उनका परिष्कार सभ्यता के विकास की स्थिति का परिचायक होता है। मनोरंजन के दो प्रमुख उद्देश्य होते हैं—एक ओर तो वह उबाने वाले कार्य से कुछ काल के लिए मुक्ति दिलाकर शरीर और मन को स्वच्छ बनाकर आगे के कार्य के लिए क्षमता में वृद्धि करता है, दूसरी ओर वह समाज की सांस्कृतिक परंपरा के अनुरूप होकर उसके संचय और संवर्धन में भी योगदान देता है। सफल मनोरजन के साधन इन दोनों ही उद्देश्यों के समुचित समन्वय में सक्षम होते हैं। मनोरंजन के साधनों का सम्बन्ध केवल शरीर से ही नहीं मन से भी होता है। यही कारण है कि मनोरंजन के साधनों में शारीरिक प्रयास से सम्बन्धित खेलकूद ही नहीं आते, इनमें ऐसे कार्यों का भी समावेश होता हैं जिनमें शैक्षणिक और सांस्कृतिक उपलब्धियों का भी यथोचित समावेश रहता है।

प्रस्तुत निबन्ध के लिए सातवीं शताब्दी का चयन सोद्देश्य है। यह काल भारतीय इतिहास में अनेक अर्थों से महत्वपूर्ण है। यह संक्रान्ति का काल था। प्राचीन काल समाप्त हो रहा था और मध्यकाल के आरम्भ की पृष्ठभूमि बन रही थी। इस काल की सांस्कृतिक अवस्था का ज्ञान प्राचीन काल की अवस्था के विकसित रूप का दर्शन कराता है और मध्यकाल के ज्ञान की भूमिका प्रस्तुत करता है।

सातवीं सदी में मनोरंजन के अनेक साधन थे। अनेक प्रकार के खेल-कूद, वाद्य, नृत्य, गान, आखेट, पाशा-जुआ, जादू, नाटक आदि मनोरंजन के प्रमुख साधन थे। हम मनोरंजन के प्रमुख साधनों का नीचे वर्णन कर रहे हैं—

चिड़ियाँ—

बच्चे खेल-कूद पसन्द करते थे। वे पालतू चिड़ियों के साथ आनन्द लेते थे। कादम्बरी में कालिनी नामक एक सारिका की शादी परिहास नाम के एक शुक से की गई है। यह कहानी बहुत ही रोचक हैं। वे दोनों कादम्बरी के द्वारा एक दूसरे को प्यार करते थे। उसने कालिनी को शादी में परिहास को सौंप दिया।[1]

राजकीय अतिथि भवन में जहाँ चन्द्रापीड़ ठहरा था बहुत से मनबहलाव के साधनों का वर्णन किया गया है।[2] चिड़ियों, पौधों तथा जीवों का विवाह करना बच्चों को खुश करने का बहुत ही सामान्य साधन था। कादम्बरी ने जो मरने के समीप थी माधवी

---

[1] रिडिंग: काद०, पृ० १५०-१५१।

[2] वही, पृ० १५२।

नाम के रेंगने वाले लता को जवान आम से शादी करने के लिए कहा।[१] चिड़ियों को पकड़कर सुन्दर पिंजड़ों में रखा जाता था और बच्चे उसके साथ तब तक खेलते थे जब तक कि बड़े न हो जाय। कादम्बरी ने अपनी सखी महाश्वेता से मैना, तोता तथा बन्दरों को स्वतंत्र करके तारालिका के द्वारा एक मृगशावक के आश्रम में भेजने के लिए कहा और उसने हंस तथा अन्य जीवों के बारे में पूछा।[२]

जादू (इन्द्रजाल)

उन दिनों उत्तर भारत में जादू अत्यधिक प्रचलित था। श्वान्-च्वांग थानेश्वर के लोगों के बारे में कहता है कि वे लोग इन्द्रजाल में अत्यधिक निपुण थे और अन्य स्थानों की तुलना में बहुमूल्य पुरस्कारों को प्राप्त करते थे।[३] बाण के मित्रों में एक प्रसिद्ध मन्त्रसाधक जादूगर था जिसका नाम कराल था। एक दूसरा चक्राक्ष नाम का एक बाजीगर या ऐन्द्रजालिक था।[४] इन्द्रजाल इतना अधिक विकसित था कि रत्नावली के चौथे सर्ग का नाम 'ऐन्द्रजालिक' रखा गया है।[५]

रत्नावली में उल्लिखित सम्बरसिद्धि नामक जादूगर उज्जयिनी का प्रसिद्ध ऐन्द्रजालिक था। कांचनमाला ने उसका राजा से परिचय कराया। जादू में राजा की बहुत रुचि थी और वह जादूगर को हमेशा बुलवाता रहता था। जादूगर अपने साथ मोर के पंख (पिनिच्छकाम्) रखते थे। राजा का चरणस्पर्श करने के बाद जादूगर अपनी जादूगरी दिखाने के लिये राजा से प्रार्थना करता था। इसके बाद जादूगर जितनी जादूगरी दिखा सकता था, सब दिखाता था। जादूगर राजा से पृथ्वी पर चन्द्रमा या आकाश में पर्वत या जल में अग्नि अथवा दोपहर में सन्ध्या दिखलाने की अनुमति माँगता था।[६] राजा पुनः ऐन्द्रजालिक से कहता था कि अपने गुरू के मंत्र के बल से दिखलाओ की मेरे हृदय में कौन सा उद्गार है[७]। इससे यह स्पष्ट होता है कि इन्द्रजाल की शिक्षा दी जाती थी। जो शिष्य अपने गुरु के प्रति जितना ही भक्ति प्रदर्शित करता था उतना ही उसके इन्द्रजाल मे उसे सफलता प्राप्त होती थी। अपने जादू को दिखलाने के पूर्व इन्द्रजालिक राजा की इच्छाओं की पूर्ति करता था। वह ब्रह्मा, विष्णु, महेश, इन्द्र, सिद्धिगण और नाचती हुई उनकी ललनाओं को आकाश में दिखाता था।[८] राजा अपनी रानी से कहता था कि हे देवि!

---

[१] उपरोक्त, पृ० १९४। [२] वही, पृ० ९४-९५।

[३] वाटर्स, जि० १, पृ० ३१४।

[४] हर्ष० का० टा०, पृ० ३३, कॉणे सर्ग १ पृ० १९।

[५] ऐन्द्रजालिकानां अंकः। रत्ना०, पृ० ३५८।

[६] किं धरणिये मिअंको अआसे महिहरौ जले जलणों।
मज्झणहंम्हि पओसो दा बिज्जइ देहि आणतिम्॥
रत्ना०, पृ० ३०३, अंक ४, श्लोक ८।

[७] वही, ४-९ :

[८] हरिहरवह्मणमुहे देवे दंसेभि देवराअं च।
धगणम्भि सिद्धचारणसुरबहुसत्यं च णच्चन्तम्॥ उपरोक्त, ४-१०।

देखो यह कमल में ब्रह्मा, यह चन्द्रशेखर शंकर, धनुप, खड्ग, गदा, चक्र अपने चारों हाथों में लिये हुये यह भगवान विष्णु, यह ऐरावतारुढ़ देवताओं के राजा और यह अन्य देवगण दिखायी पड़ रहे हैं। इधर देवांगनायें नूपुर झंकारती हुयी नृत्य कर रही हैं।[१] जादू की यह प्रदर्शनी वसुन्धरा के अचानक दर्शन के कारण अवरुद्ध हो गया जो लंका के राजा विक्रमवाहु के प्रधानमंत्री वसुभूति के पहुँचने का संदेश लायी थी। ऐन्द्रजालिक अपनी कृतियों से प्रसन्न नहीं था क्योंकि उसने जिस जादू को राजा को दिखाने के लिये प्रतिज्ञा की थी, वह अभी तक नहीं दिखा पाया था। 'रत्नावली' का चौथा अंक इन्द्रजाल से भरा है। उसमें जादूगर महल के भीतर तथा वाहर आग लगाता है।

जुआ

प्राचीन काल से ही भारतीय समाज में जुये का प्रचलन रहा है। आज भी भारत के मुख्य-मुख्य स्थानों में त्योहारों के अवसर पर जुआ खेला जाता है। ऋग्वेद में इन्द्र की तुलना एक जुआड़ी से की गई है जो अपनी कला में निपुण था।[२] इस प्रकार हम देखते हैं कि पूर्व वैदिक युग में भी जुए का प्रचलन था जो आज भी चला आ रहा है। जुए के लिये कौटिल्य का कहना है कि स्त्रियों को जुआ खेलना पाप है तथा यह कर्तव्य का उल्लंघन तथा राजनीति को समझाने में असमर्थता उत्पन्न करता है।[३] कामंदक भी जुये की कटु आलोचना करता है। उसके कथनानुसार जुआ से मुद्रा का ह्रास, अच्छे उत्सवों का वहिष्कार, अच्छे दोस्तों से अलगाव, शत्रुता मे वृद्धि, आवश्यक कर्तव्यों का वहिष्कार तथा आत्मसम्मान में कमी आती है।[४] हर्ष के समय के विद्वानों का भी यही विचार था। 'कादम्बरी' में तारापीड़ का प्रधानमंत्री शुकनास जुये की निन्दा करता है और वह चन्द्रापीड़ को जुआ न खेलने की सलाह देता है।[५] लेकिन उस समय के लोग खूब जुआ खेलते थे।

अन्य विषयों के साथ-साथ चन्द्रापीड़ ने जुआ भी सीखा था।[६] इससे यह साबित होता है कि राजघरानों तथा अच्छे परिवारों के लड़के जुआ खेलने में निपुण होते थे। वाण के दोस्तों में भीमक नाम का एक जुआड़ी भी था।[७] वाण से हमें ज्ञात होता है कि चारणों द्वारा थानेश्वर एक जुआ घर के समान दिखाई पड़ रहा था।[८] लेकिन जुआ में वे वड़ी कठिनाई से इमानदारी वर्तते थे।

---

[१] एवं ब्रह्मा सरोजे····· दिव्यनार्थः। वही ४-११।

[२] एज आफ मन्त्राज, पृ० ५६।

[३] शामशास्त्रीः कौटिल्य अर्थशास्त्र, अनुवाद, पृ० ३५६।

[४] कामंदकीय नीतिसार, पृ० २१२।

[५] रिडिंग : काद०, पृ० ८१।

[६] वही, पृ० ६०, सर्वासु द्यूतकलासु। परवः काद०, पृ० १६८।

[७] हर्ष० का० टा०, पृ० ३३।

[८] उपरोक्त, पृ० ८२, द्यूतस्थानमिति वन्दिभिः। कॉणे, सर्ग ३, पृ० ४४।

[९] हर्ष का० टा०, पृ० १७१-७२, कितवः कृतज्ञः······जाति दुलर्भः। कॉणे, सर्ग ६, पृ० ४०।

शतरंज

संभवतः शतरंज के खेल का प्रारम्भ सातवीं शताब्दी में हुआ। वाण ने 'हर्षचरित' में शतरंज के खेल का वर्णन किया है।[१] एच० जी० पुरालिंसन के अनुसार यह खेल अरब के रास्ते योरप से भारत में प्रचलित हुआ। संस्कृत में शतरंज को चतुरंग तथा फारसी भाषा में इसे शतरंज कहा गया है। प्रत्येक पंक्ति में आठ घरों वाला शतरंज का खेल वाण के समय में चल चुका था और उसके खाने काले या सफेद रंग के होते थे।[२] पहलवी भाषा की "मार्दागान-ए-शतरंज" नामक पुस्तक में आरम्भ में ही इस बात का उल्लेख है कि दीवसारम् नाम के भारतीय राजा ने खुसरू नौशेरवां की सभा के विद्वानों की परीक्षा के लिये वत्तीस मुहरों वाला शतरंज का खेल ईरान भेजा था। खुसरु परवेज या नौशेरवां हर्ष का समकालीन था।[३] उस खेल के बहुत से शब्द इस प्रकार हैं जिनकी उत्पत्ति फारस से हुई है, जैसे 'चेकमत' (शाहमत, राजा मर गया है), रुक (रुख)।[४]

आखेट

राजा तथा राजकुमारों को शिकार से बड़ी रुचि थी। वे अपना मनवहलाव शिकार से ही करते थे। यह एक प्रकार का राजकीय मनबहलाव का साधन था जो प्राचीन काल से व्यवहार में था। बाण के हर्षचरित से यह पता लगता है कि हर्ष अपने भाई राज्यवर्द्धन के साथ हूणों के विरुद्ध युद्ध करने के लिये पीछे-पीछे गया, पर आगे उसकी रुचि शिकार खेलने की हुई। अतः हर्ष हिमांचल स्थित शिविर से दूर आखेट का आनन्द उठाता रहा तथा कुछ ही दिनों में उसने अपनी बाण-वर्षा से जंगल को-वन्य पशुओं से विहीन कर दिया।[५] बाण आखेट का दूसरा उदाहरण प्रस्तुत करता है। राजकुमार चन्द्रापीड़ मृगया का शिकार अत्यधिक पसन्द करता था। एक दिन वह पिता से आज्ञा लेकर सूर्योदय से पहले ही अपने साथ दौड़ने वाले हाथियों तथा घोड़ों को लेकर जंगल की ओर चला गया। उसने हजारों की संख्या में जंगली भालू, चित्ता, सुरागाय (चमर) और विभिन्न प्रकार के भेड़ों को जंगल में घूमते हुये देखा। उसने अपने को बचाकर खूब आखेट खेला। उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि प्राचीन काल के राजा तथा राजकुमारों द्वारा विस्तृत रुप में आखेट खेले जाते थे। शिकार का शिविर काफी सुरक्षित तथा आरामदायक बनाया जाता था। चन्द्रापीड़ के साथ वहुत बड़ी सेना थी। ये लोग हमेशा चारों तरफ की निगरानी करते थे। वहाँ पर वे स्नान, पूजा तथा व्यायाम आदि सभी दैनिक क्रियाओं में दक्ष थे। आखेट शिविर में हम वड़े-वड़े प्रबन्धकों द्वारा नियुक्त किये हुये दरबारी लोगों को भी पाते हैं। चन्द्रापीड़ का पिता इसके लिये स्वयं सोचता था। वस्त्र, आभूषण आदि ढोने के लिये वह स्वयं एक-एक सेवकों को नियुक्त कर देता था। उसके शिविर में ताम्वूलकरंकवाहिनी

---

[१] हर्ष० का० टा०, पृ० ६, अंधकारितललाटपट्टाष्पदा। कॉणे, पृ० ३।
[२] अग्रवाल: ह० ए० सां० अ०, पृ० १४।
[३] वही, पृ० १४।
[४] वही, ।
[५] हर्ष० का० टा०, पृ० १३२।

भी मौजूद थी।[१] कुछ समय में राजा अपने मनपसन्द तथा प्रिय हाथियों या घोड़ों को शिकार में ले जाते थे। हर्ष के हाथी दर्शपात को लड़ाई तथा क्रीड़ा में उसका मित्र कहा गया है। यहाँ पर क्रीड़ा का मतलब आखेट से है।[२] जिस प्रकार हर्ष का दोस्त दर्शपात नामक हाथी था, उसी प्रकार चन्द्रापीड़ का इन्द्रायुध नामक घोड़ा था।

यह सत्य है कि उन दिनों राजाओं तथा राजकुमारों के आनन्द का साधन प्रधान रुप से आखेट ही था। कौटिल्य के पहले, आखेट एक चौकोर शिकंजा के समान था[३] लेकिन कौटिल्य आखेट को प्राचीन काल का एक राजसी (शानदार) कार्य बतलाता है। उसका कहना है कि 'आखेट' के लिये शिकारी को व्यायाम, कफ, पित, मोटाई से रहित, लेखन सामग्री की चतुराई तथा शरीर के लोच तथा चौड़ी छाती का होना आवश्यक था[४]। हर्ष के समय में ब्राह्मणों के समक्ष से आखेट खेलना पाप था। कादम्बरी में अभिषेक समारोह के अवसर पर हम देखते हैं कि शुकनास राजा चन्द्रापीड़ के आखेट में दिलचस्पी न लेने को कहता है।[५] लेकिन हर्ष का आखेट में भाग लेना और इसके लिये एक विशेष हाथी का चयन करना और चन्द्रापीड़ का आखेट के प्रति उत्साह यही प्रदर्शित करता है कि राजा, राजकुमार तथा उच्च वग के लोग आखेट में विशेष रुचि लेते थे।

नाटक :—

नागरिकों के मनोरंजन के लिए नाटक खेला जाता था। अभिनय का वास्तविक कार्य नाट्यशालाओं में किया जाता था। अभिनय का उद्देश्य सभ्यों का श्रुतिप्रसाधन था। 'शाकुन्तलम्' में सूत्रधार कहता है कि दर्शकों को प्रसन्न करना अभिनेता का वास्तविक कार्य है।[६] यही कारण है कि प्रयोग विज्ञान की सफलता का निर्धारण परिषद् के परितोष द्वारा निर्धारित किया जाता था।[७] प्रेक्षागृह में नागरिक अत्यन्त शान्तिपूर्वक बैठते थे। शाकुन्तलम् में कहा गया है कि जिस समय इस नाटक का अभिनय हो रहा था, उस समय दर्शक चित्रलिखित के समान बैठे हुए थे।[८]

हर्ष के समय में भी नाटक मनबहलाव का प्रधान साधन था। हर्ष के तीनों नाटक उसी समय के समाज पर लिखे गए थे तथा उनका अभिनय भी उसी समय किया गया जिसमें बहुत से माननीय अतिथि तथा सामन्त आमंत्रित किए गए थे। बहुत से नागरिक गाँवों से नाटक देखने राजधानी आये थे। सर्वप्रथम अभिनय कर्ताओं को सूत्रधार द्वारा

---

१ रिडिंग : काद०, पृ० ७३-७५।
२ हर्ष० का० टा०, पृ० ५१।
३ कौटिल्य अर्थशास्त्र, पृ० ३५५-५६।
४ वही, पृ० ३५६।
५ रिडिंग : काद०, पृ० ८१।
६ किमन्यदस्याः परिषद् : श्रुतिप्रसादनतः। शाकुन्तल, प्रस्तावना।
७ आ परितोषाब्दिदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्। उपरोक्त।
८ अहो रागबद्धचित्तवृत्तिर लिखित इव सर्वतोरंगः। वही।

शिक्षा दी जाती थी। जब वे अपना पूर्ण पाठ तैयार कर लेते थे तब नाटक खेला जाता था। सूत्रधार पीछे से भी बताता रहता था। उस दिन थानेश्वर जनपद अभिनेताओं के कारण एक प्रेक्षागृह की तरह लग रहा था।[१] अभिनेताओं के विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि नाटक खेले जाते थे। शिखंडक नामक अभिनेता का बाण ने उल्लेख किया है।[२] स्त्रियाँ भी नाटक में भाग लेती थीं। दरबार में एक सूत्रधार भी नौकर के रूप में रखा जाता था। इस कार्य को अधिकतर स्त्रियाँ ही करती थीं। हम मुक्तिका नाम की एक सूत्रधारी को देखते हैं जो विन्ध्य जंगल में राज्यश्री के साथ रो रही थी।[३]

———

[१] हर्ष० का० टा०, पृ० ८२—संगीतशालेति लासकै:। कॉणे, सर्ग ३, पृ० ४३।
[२] हर्ष० का० टा०, पृ० ३३, कॉणे, सर्ग १, पृ० १९।
[३] हर्ष० का० टा०, पृ० २४८, कॉणे, सर्ग ८, पृ० ८०।

महाभारत काल में मद्यपान

डॉ० श्याम विहारी राय
इतिहास विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

सामाजिक सांस्कृतिक एवं धार्मिक इतिहास की दृष्टि से वेदों के पश्चात् महाभारत का महत्त्व प्राचीन भारतीय इतिहास को समझने के लिये सर्वाधिक है। महाभारत भारतीय चिन्तन का विशाल विश्वकोष है। ग्रंथ का विषय इतना विस्तृत है कि कृष्ण द्वैपायन व्यास का यह कथन पूरी तरह चरितार्थ है कि धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष का वर्णन इसमें हुआ है तथा जो इसमें है वह सर्वत्र है, जो इसमें नहीं हैं वह कहीं नहीं है। प्रकारान्तर से कहा जा सकता है कि महाभारत भारतीय जनजीवन का समाजशास्त्र है।

कई प्रकार की समाज व्यवस्था का वर्णन महाभारत में एक साथ पाया जाता है। इसका कारण यह है कि यह ग्रन्थ विकासवादी है। विभिन्न कालों में विभिन्न व्यक्तियों द्वारा रचित होने के कारण अनेक श्रेणी एवं समाज के वर्णन एक साथ मिल जाते हैं। पण्डितों में जल्पना-कल्पना चलती रहती है कि इसका कौन सा अंश पुराना है तथा कौन सा अंश नवीन। परन्तु महाभारत को खण्डों म विभाजित कर अध्ययन करने पर कोई भी निश्चित तथ्य सिद्ध नहीं किया जा सकता। इसीलिए विष्णु स० सुक्थंकर ने महाभारत के अध्ययन को सार्वकालिक माना है।[१] नवीन, प्रक्षिप्त एवं मूल इस प्रकार के खण्डित अध्ययन से कुछ मिल नहीं सकता। अतः महाभारत का सर्वांगीण अध्ययन ही श्रेयस्कर है।

ज्ञान, विश्वास धर्म, कला, शिक्षा एवं खान-पान का वर्णन महाभारत में प्रचुर मात्रा में प्राप्त होता है। भोजन एवं पेय का महत्व मानव जीवन में सर्वाधिक है। मनुष्य के आचार विचार में खान-पान का स्थान इसलिये प्रमुख है कि विचारों एवं आस्वादन में कार्य-कारण सम्बन्ध होता है। मांस, मदिरा एवं रक्त पान का वर्णन महाभारत में प्रचुर मात्रा में प्राप्त होता है। इन वस्तुओं को खाने-पीने वाले लोगों के आचरण की निन्दा महाभारत में सर्वत्र की गयी ह।

ऊपर कहा जा चुका है कि महाभारत विकासवादी ग्रन्थ है। इसकी रचना ईसा की चतुर्थशती तक आते-आते पूर्ण हुई है। क्योंकि महाभारत में जहाँ एक ओर अत्यन्त प्राचीन समाज का वर्णन है, वहीं पर शकों, यवनों, ऋषिकों, तुषारों एवं हूणों की चर्चा है। इस प्रकार इन विदेशी जातियों के आस्तित्व से लगता है कि महाभारत का शतसाहस्री रूप तब तैयार हुआ जब इन सभी जातियों का आस्तित्व भारत में हो चुका था तथा अन्तिम संस्करणकर्त्ता को इनके विषय में भली प्रकार ज्ञान प्राप्त हो चुका था। इसीलिये हॉपकिन्स जैसे विद्वान ने महाभारत का निर्माण चौथी शती ईसवी तक आते-आते माना है।[२] क्योंकि हूण आक्रमण एवं उनका अस्तित्व चौथी शती तक भारतीय परिवेश में प्राप्त हो जाता है। अतः विचार करने पर ज्ञात होता है कि महाभारत में जिस समाज व्यवस्था का वर्णन प्राप्त होता है उसकी अस्तित्व चौथी शती ईसवी तक वर्तमान है।

महाभारत में मद्यपान

अब विचार करता हूँ कि महाभारत काल मे मद्यपान का स्वरूप क्या था ? उसके विषय में क्या विधि एवं आचार था ? विस्तृत महाभारत के शतसाहस्री संहिता वाले कलेवर में मांस-मद्य को असेव्य एवं निन्दनीय माना गया है तथा इसे अनार्य जातियों द्वारा सेवनीय माना गया है जिसका वर्णन अनुशासन पर्व में प्राप्त होता है।[३] वहीं पर मांस मद्य समाज की नीची जातियों द्वारा सेवनीय बताया गया है।

आभिजात्य लोगों द्वारा मद्यपान

परन्तु महाभारत के सम्पूर्ण अध्ययन से लगता है कि मद्यपान समाज के उच्च वर्ग के लोग भी करते थे। ब्राह्मण, राजन्य एवं वैश्य सभी उच्च आभिजात्य श्रेणी के जन सुरापान करते थे। ब्राह्मण आचार्य शुक्र मद्यपान के अभ्यस्त थे:[४] असुरों ने उनके शिष्य वृहस्पति पुत्र कच को जलाकर एवं उसकी भस्म शुक्राचार्य की मदिरा में मिला दिया था। देबयानी के अतिशय प्रेम के कारण बाद में पता लगने पर शुक्र ने संजीवनी विद्या द्वारा कच को पुनर्जीवित किया एवं मद्य के सम्बन्ध में नियम बनाया कि जो ब्राह्मण मद्यपान करेगा, वह इस लोक एवं परलोक में भ्रष्ट हो जायेगा।[५] उद्योगपर्व में एक स्थान पर कृष्ण एवं अर्जुन को मद सेवी कहा गया है। ऐसा वर्णन प्राप्त होता है कि धृतराष्ट्र ने संजय को उनके निकट दूत बना कर भेजा था। संजय से हुए वार्तालाप में दोनों को मदान्ध कहा गया है। वे दोनों (कृष्ण एवं अर्जुन) इतना मद्यपान किये थे कि सम्पूर्ण वार्ताक्रम उल्टा था तथा कर्कशता पूर्ण अहंकार की बातें हुई थी। कारण यह कि दोनों महाभारती बीर अत्यधिक मद्यपान किये हुए थे।[६] कुरु सम्राट धृतराष्ट्र भी मद सेवी थे।[७]

स्त्रियों द्वारा मद्यपान

उच्च गृह की कुल वधुओं एवं ललनाओं के द्वारा भी मद्यपान किया जाता था। आदि पर्व में वर्णित है कि कृष्ण एवं अर्जुन जव जल क्रीड़ा के लिये यमुना तट पर गये थे तो उनके साथ द्रौपदी एवं सुभद्रा आदि कुल वधुयें भी गयी थीं। कोई प्रसन्नता में नृत्य कर रही थीं तो कोई विनोद कर रही थीं तो कोई उत्कृष्ट सुरा का पान कर रही थीं।[८]

मत्स्यराज विराट की अग्रमहिषी सुदेषणा प्यास बुझाने के लिए मद्यपान किया करती थी। सुरा लाने के वहाने उसने द्रौपदी को कीचक के यहाँ भेजा था।[९] कामुक कीचक ने द्रौपदी से कहा था कि द्रौपदी ! आओ मेरे साथ मधुक पुष्पज मदिरा का पान करो।[१०] अभिमन्यु के शव से लिपटी शोकसंतप्त उत्तरा को देख कर गांधारी ने विलखते हुए कहा था 'माध्वीक सुरा के नशे में मोहित होकर भी जो उत्तरा पति का स्पर्श नहीं करती थी, वही आज सबके सामने पति से लिपटी है।[११] इस विलाप से ज्ञात होता है कि उच्च श्रेणी की महिलायें भी मद्यपान करती थीं। यह सुरापान उत्कृष्ट विलासिता एवं तत्कालीन सामन्तशाही का द्योतक है।

साधारण समाज की महिलायें भी सुरापान करती थीं। सामाज के नीची जाति के निषाद एवं उनकी स्त्रियाँ मद्यपान करती थीं। आदिपर्व के लक्षागृह विनाश के प्रसंग में वर्णित है कि निषादी अपने पाँच पुत्रों के साथ इतना अधिक मद्यपान किये थी कि आग लग गयी, परन्तु उसे ज्ञात ही नहीं हुआ और वह पुत्रों सहित मृत्यु को प्राप्त हो गयी।[१२]

कर्णपर्व में पचंनद प्रदेश में निवास करने वाले लोगों को शीलवर्जित एवं अनार्य कहा गया है। यहाँ के निवासी गुड़ से बनी मदिरा पीकर एवं मांस लहसुन खाकर नाचते थे।[१३] इन लोगों को असंस्कृत एवं दुराचारी कहा गया है। पचंनद प्रदेश की स्त्रियाँ तक मद्यपान करती थीं। पचंनद प्रदेश की निन्दा एवं असंस्कृत आचरण के विषय में विचार करने पर लगता है कि वैदिक संस्कृति की प्रतिष्ठा भूमि में विदेशी जातियों के आक्रमण बार-बार होते रहे जिससे आचार-विचार परिवर्तित हो चुके थे। ब्राह्मण विहित संस्कार भी नष्ट हो चुके थे। अतः खान-पान एवं विचार के ढंग बदल चुके थे। निरन्तर यवनों, शकों, हूणों के आक्रमण के फलस्वरूप स्थानीय संस्कृति विनष्ट हो चुकी थी। इसी सन्दर्भ में पंजाब की निन्दा की गयी है।

राजसूय यज्ञ एवं उत्सव में मद्यपान

बड़े-बड़े उत्सवों एवं राजसूय यज्ञों में भी अत्यधिक मद्यपान के वर्णन प्राप्त होते हैं। महाराज युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में खाद्य एवं पेय की सूची में मद्य का स्थान ऊँचा था। इस यज्ञ में इतनी अधिक मदिरा पी गयी थी कि मद की नदी बह गयी।[१४] द्रोणपर्व के षोडशराजीय आख्यान में सुरापान का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। ये सभी मद्यपान राजसूय यज्ञ एवं उत्सवों में ही किये गये थे। तत्कालीन समाज के महान् उत्सवों के अवसर पर भी मद्यपान के उल्लेख मिलते हैं। प्रभास क्षेत्र में अंधक वृणि एवं कुकुर जाति के यादवों ने उत्सव में इतना अधिक मद्यपान किया कि परस्पर के द्वन्द्व युद्ध में नष्ट हो गये।[१५]

युद्ध यात्रा के समय मद्यपान

युद्ध के लिये प्रस्थान करते समय भी उत्साह वर्धन के लिए लोग मद्यपान करते थे। द्रोणपर्व में एक स्थान पर उल्लिखित है कि युद्ध में प्रस्थान करते समय भीम ने शांति हेतु स्वस्तिस्तवन् करने के पश्चात् कैरातक मधु का पान किया था तथा दूने उत्साह के साथ रणक्षेत्र में प्रवेश किया था।[१६] भीम एवं कीचक के युद्ध के प्रसंग में भी मद्यपान का उल्लेख प्राप्त होता है। प्रतीत होता है कि ऐसे मद्यपान उत्साह सम्बर्द्धन के लिए ही किये जाते थे। शारीरिक स्फूर्ति एवं द्विगुणित उत्साह के लिए मद्यपान तत्कालीन लोग करते थे।

मदिरा के प्रकार

महाभारत में मद्य के कई प्रकार बताये गये हैं। माधवी सुरा एवं गौड़ी सुरा के उल्लेख महाभारत में प्राप्त होते हैं। मधूक (महुआ) के पुष्प की सुरा का वर्णन कीचक एवं द्रौपदी के सन्दर्भ में देखा जा सकता है। जहाँ पर कीचक मधूक पुष्प से उत्पन्न मद्य पीकर उन्मत्त था।[१७] गौड़ी सुरा (गुड़ की सुरा) पचंनद की स्त्रियाँ पीकर उन्मत्त होती थीं।[१८] सभापर्व के उपायन पर्व में कहा गया है कि वैराम, पारद, आभीर, कितव आदि पर्वतीय अभ्यागत राजसूय यज्ञ में उपहार (उपायन) स्वरुप जो वस्तु लाये थे उनमें फलों से निर्मित मधु ही प्रधान था। फलों के नाम और निर्माण की विधि महाभारत में कहीं नहीं वर्णित है। वृक्षों के रस से बनी सुरा को मैरेय कहा जाता था।[१९] हिमालय की तलहटी से आये लोग पुष्प मद्य लाये थे। आज कल भी सन्तरे आदि के रस से मद्य बनता है। ऐसे मद्य को महाभारत में फलज मद्य कहा गया है।[२०] इस प्रकार महाभारत में देखने पर ज्ञात होता है कि मद्य कितने प्रकार का होता था, उसका वर्णन पर्याप्त मात्रा में है।

सोमपान का वर्णन

इतना निश्चित है कि भारती-काल (महाभारत-युद्धकाल) में लोग मद्यपान करते थे। वैदिक युग में भी लोग सुरा पेयी थे। ऋग्वेद में सोम एवं सुरा में भेद किया गया है।[21] सुरापान सभी लोग कर सकते थे परन्तु वह देवताओं को अर्पित नहीं किया जा सकता था। ऋग्वेद में सोम मिश्रित सुरा को सुराम कहा गया है जो सोम देवता को अर्पित किया जाता था।[22] वाजसनेयी संहिता में सुरा एवं सोम में अन्तर बताया गया है।[23] काठक संहिता में क्षत्रियों के लिए सुरापान विहित बताया गया है तथा ब्राह्मणों को सुरा से विरत रहने के लिए कहा गया है।[24] लगता है कि इस काल में ब्राह्मण सुरापान करना छोड़ चुके थे। मनुस्मृति एवं याज्ञवल्क्य स्मृति में सुरापान को गर्हित एवं निन्दनीय कहा गया है तथा ब्राह्मण क्षत्रिय एवं वैश्य सभी को इससे विरत रहने को कहा गया है।[25] इससे ज्ञात होता है कि कालान्तर में सुरापान के प्रति घृणा का भाव व्याप्त हो चुका था।

सोमरसपान का कोई प्रमाण महाभारत में नहीं प्राप्त होता है। शांतिपर्व में एक स्थान पर सोमपान के अधिकारी का वर्णन किया गया है। तथा कहा गया है कि जिसके घर में तीन वर्ष के लिये प्रचुर खाद्यान्न हो, वही एक मात्र सोमरसपान का अधिकारी है।[26] प्रतीत होता है कि समाज के सम्पन्न व्यक्तियों को छोड़ कर सब लोग सोमपान नहीं कर सकते थे।

महाभारत के सन्दर्भ में मद्यपान की उपयोगिता एवं अनुपयोगिता

महाभारत में मद्यपान के जितने वर्णन प्राप्त होते हैं, उनका समय शतसाहस्र संहिता (वर्तमान महाभारत) के पहले का लगता है। यह इसलिये कि शांतिपर्व में एक स्थान पर मद्यपान पंचपातकों में माना गया है। महाभारत के बढ़ते हुए कलेवर के साथ-साथ ज्यों-ज्यों समय बीतता गया एवं सामाजिक सुसंस्कार बढ़ता गया, सुरापान गर्हित माना जाने लगा। कच-देवयानी के आख्यान से लगता है कि यद्यपि शुक्राचार्य मद्यपान करते थे परन्तु उसकी अनुपयोगिता के कारण ब्राह्मणों के लिये तिरस्कृत किया। क्योंकि मद्यपान करने से बुद्धि का विनाश हो जाता है। स्वयं मद्य पीकर कच को ही पी गये थे। ऐसे वर्णन सुरापान के प्रति क्रमशः बढ़ते हुए त्याग के भाव के द्योतक हैं। उत्सवों के अवसर पर तो मद्यपान स्वीकार्य था परन्तु अन्य साधारण अवसरों पर मद्यपान निंद्य माना जाता था।

मद्यपान राष्ट्रीय जीवन के लिये घातक

निष्कर्ष यह है कि भोजन एवं पेय के सम्वन्ध में महाभारत काल में विचार बदल रहे थे। मांस भक्षण एवं मदिरापान आर्यजनों द्वारा गर्हित माना जाने लगा। वैष्णवधर्म एवं ब्राह्मण संस्कृति के व्यापक प्रचार के कारण मद्यपान गर्हित हो गया।

मद्यपान के कारण ही महाभारत काल के राष्ट्रीय जीवन में शिथिलता आ गयी थी। सम्पूर्ण का सम्पूर्ण यादव वंश प्रभास क्षेत्र में मद्य पीकर परस्पर कलहयुक्त होकर नष्ट हो गया। मद्यपान एवं यादव वंश के विनाश का सन्दर्भ आज के राष्ट्रीय जीवन में देखा जा सकता है। अतीत के उदाहरणों द्वारा वर्तमान को समझकर राष्ट्रीय जीवन का भविष्य निर्धारण किया जाता है। इतिहास की इतनी ही शिक्षा पर्याप्त है किसी भी जागरूक

राष्ट्र एवं जाति के लिए आज के राष्ट्रीय जीवन एवं उसके उत्थान के लिये मद्यपान गर्हित है। सशक्त राष्ट्र एवं सवल नागरिक जीवन व्यतीत करनें के लिए महाभारत की इतनी ही शिक्षा पर्याप्त है अपने समय के महापुरुष कृष्ण का वंश मद्यपान करके ही नष्ट हो गया अतः अतीत के प्रबल ऐतिहासिक उदाहरणों के द्वारा राष्ट्रीय जीवन को आगे बढ़ाया जा सकता है: तभी हम कह सकते हैं—

राष्ट्रे वयम् जागृयामः।

आधार—

१ विष्णु स० सुक्थंकर, ऑन् दि मीनिंग ऑफ् दि महाभारत, पृष्ठ २४
२ हॉपकिन्स ई० डब्ल्यू, दि ग्रेट एपिक ऑफ् इण्डिया, पृष्ठ ३९७
३ महा०, अनुशासन०, ४८।२४
४ महा०, आदि ७१।३३
५ महा०, आदि० ७१।३३-३८
६ महा०, उद्योग० ५८।५६
७ महा०, आश्रमवासिक, १।२।
८ महा०, आदि०, २२२.२४
९ महा०, विराट०, १६-४
१० महा०, विराट०, १६।४-१०
११ महा०, स्त्री०, २०।७-८१
१२ महा०, आदि०, १३७।६-८१
१३ महा०, वर्ण०, ३०।१५
१४ महा०, आश्वमेधिक०, ८९।३९
१५ महा०, मौसल,३।८-३२
१६ महा०, द्रोण०, १२५।१३
१७ महा०, विराट०, १६।३
१८ महा०, कर्ण, ३०।१५
१९ विराट०, ७२।२८
२० महा०, सभा०, ५१।१३
२१ ऋ०, अष्टम०, २।१२
२२ पाण्डुरंग वामन काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृष्ठ ४२८
२३ वाजसनेयी संहिता, १९।७१
२४ काठक संहिता, १२।१२
२५ मनुस्मृति, ११।९३-९४, याज्ञवल्क्य०, ३।२५६
२६ महा०, शांति०, १६४।५

पल्लव राजशक्ति का चरम विकास

कामता प्रसाद मिश्र (शोध छात्र)

प्राचीन भारतीय इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्त्व

पल्लवों के मूल के विषय में विद्वानों की अनेक धारणायें हैं, तथा इन का मूल स्थान भी अनिश्चित ही है। इनकी उत्पत्ति एवं मूल निवास स्थान के विषय में दो मान्यताएँ प्रचलित हैं : १—विदेशीय उत्पत्ति या पार्शियन उत्पत्ति की मान्यता, २—देशीय उत्पत्ति की मान्यता।

डा० विन्सेन्ट स्मिथ ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ प्राचीन भारतीय इतिहास के प्रथम संस्करण में सुझाव दिया हैं कि पल्लव लोग पार्थियन या पार्शियन मूल के थे। श्री वेंकटया ने इस मत का समर्थन विस्तार के साथ किया है। जिन्होंने लिखा है कि जब तक पल्लवों के मूल का प्रश्न विवाद शून्य तर्कों से सन्तोषजनकरूप से स्थिर नहीं हो जाता तब तक इनका समीकरण पुराणों में उल्लिखित पह्लव पल्लवों और पह्लवों के साथ किया जाना चाहिए। डा० राइस की धारणा है कि पह्लव शब्द पार्थव शब्द का प्राकृत रूप है। जिसका अभिप्राय पार्थियन विशेषतया एरसीडियन पार्थियनों से है। परन्तु यह धारणा निराधार है। डा० विन्सेन्ट स्मिथ ने अपने प्राचीन भारतीय इतिहास के तृतीय संस्करण में पल्लवों के विदेशी मूल की इस धारणा का खण्डन करते हुए कहा कि पल्लव किसी स्वदेशोत्पन्न कबीले वंश या जाति के थे। श्री गोपालन पह्लव एवं पल्लव में कोई भेद नहीं माने फिर पल्लव अभिलेखों द्वारा उनके किसी भी प्रकार के स्थानान्तरण का उल्लेख नहीं मिलता।

पल्लवों और पह्लवों के समीकरण का प्रत्यक्ष अन्य प्रमाणों को ध्यान में रखने से निराधार प्रतीत होता है। डा० कृष्ण स्वामी अयंगर ने इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध कवि राजशेखर का मत उद्धृत किया है, जो गुर्जर प्रतिहार नरेश महेन्द्रपाल या महीपाल की राजसभा में नवीं शताब्दी के अन्त में रहा करता था। राजशेखर के अनुसार पल्लव और पहलव दो विभिन्न जातियाँ थीं। पल्लव दक्षिण में रहते थे और पहलव सिन्धु नदी के दूसरी ओर सीमा प्रदेश में रहते थे। पल्लवों के पार्थियन मूल की पुष्टि इस तथ्य से होती है कि काँची के वैकुण्ठपेरुमल्ल मन्दिर में एक प्रस्तर प्रतिमा मिली है, जिसके सिर पर हाथी का स्कार्प है, जो यूनानी राजा डेमेट्रियस के सिक्कों पर मिलता है। इस समता के कारण उन्हें पार्थियन मूल का माना जाता है, लेकिन उसी स्थान पर स्मारकों में से एक स्केथियन कोर की प्रतिमा मिली है। उसे नागार्जुनीकोण्ड स्केथियन से भी सम्बन्धित किया जा सकता है। ड्यूब्रील का मत है कि गिरिनार अभिलेख से ज्ञात होता है कि सुविशाख रुद्रदामन प्रथम का मंत्री तथा काँची के पल्लवों का पूर्वज था। वह भी पल्लव था।

श्रीयुत् रसयानागम का मत है कि पल्लव मणिपल्लवम के रहने वाले थे। चोल राजा किल्लिवलवन ने मणिपल्लवम के नागराज की कन्या से विवाह किया था। इन्हीं का पुत्र

इलमति रैंयन था। एक बार नाव डूबने पर बह गया, जब वह पाया गया तब तोण्डईक्ता की शाखा से बंधा मिला। इसी से उसका नाम तोण्डमान इलमतिरैंयन पड़ा। यह प्रथम पल्लव नरेश था। इसके वंश का नाम उसकी माँ के मूल निवास मणिपल्लवम के आधार पर पल्लव वंश पड़ा। इस प्रकार पल्लवों की उत्पत्ति चोलों नागों के सम्मिश्रण से मानी जाती है।

रसनायगन के उपरोक्त मत का खण्डन श्री आर० गोपालन ने प्रत्ययोत्पादक तर्कों द्वारा किया है। पहले तो अभिलेख में उपयुक्त घटना का विवरण मिलता है। इसमें तोण्डमान इलमतिरैंयन का नाम ही नहीं है, फिर आरम्भ के पल्लव नरेश अपने को भारद्वाज गोत्रीय तथा अश्वमेध आदि यज्ञों के आहर्ता बताये हैं। इनके लेख भी प्राकृत तथा संस्कृत में लिखे मिले हैं, तमिल भाषा में नहीं। तीसरे इन लेखों में चोल इतिहास तथा मणिपल्लवम का कोई उल्लेख नहीं है। चौथे तोण्डमान चोलों के अधीन एकतिरैंयन शासक मात्र था। श्री आयंगर का कहना है कि आरम्भ के पल्लव केवल तिरैंयन कहलाते थे।

संथियानाथैयर एवं कृष्ण स्वामी आयंगर पल्लव शब्द को तमिल तोण्डैयर का रूपान्तर मानते हैं। अतः ये तोण्डमण्डलम सातवाहनों के अधीन था। पर पल्लवों ने उनको हराकर २२५ ई० में अपनी स्वतंत्रता घोषित कर दी।

डा० जायसवाल के मतानुसार पल्लव न तो विदेशी थे न द्रविण वरन् शुद्ध अभिजात ब्राह्मण थे जिन्होंने सैनिक-वृत्ति अपना ली थी। ये वकाटकों की एक शाखा के थे। डा० आर० गोपालन भी इस मत का समर्थन करते हैं। समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति में कांची के विष्णु गोप का उल्लेख मिलता है। पर यहाँ पल्लवों का प्रत्यक्षतः उल्लेख न होने के कारण उनके बारे में कुछ निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता।

कुछ तमिल कवियों के अनुसार पल्लव क्षत्रिय थे। मेकेन्जी के अनुसार तोण्डमण्डल में आरम्भ में निवास करने वाले को कुरुम्ब कहते हैं। पर पल्लवों के अभिलेखों में कुरुम्बों का कोई उल्लेख नहीं है। प्रो० नील कंठ शास्त्री की यह धारणा है कि अपने समकालीन कदम्ब राजवंशों की भांति पल्लव शासक भी मूलतः उत्तर भारत के ही थे। जिन्होंने अपने लिए दक्षिण में एक नया स्थान खोज निकाला था और वहाँ की स्थानीय परम्पराओं को प्रयोग में लाने के लिए ग्रहण कर लिया था, लेकिन पल्लवों को कदम्बों तथा वाकाटकों की तरह ब्राह्मण मानना असंगत लगता है। डा० रमाशंकर त्रिपाठी की यह धारणा है कि इसमें सन्देह नहीं कि पल्लवों के उत्तरी सम्बन्ध की बात कुछ सीमा तक सही ही है, क्योंकि उनके प्राचीन अभिलेख प्राकृत में है, और वे संस्कृत विद्या तथा संस्कृति के संरक्षक भी रहे हैं।

श्री आर० सथिया नाथैयर ने इनको देशीय मूल का माना है, तथा निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किये हैं :—

(१) पल्लव शब्द सम्भवत; पलद शब्द का प्रारूप या बदला हुआ रूप हो सकता जोकि अशोक के अभिलेख के पुलिन्द का संस्करण है।

(२) इनके विचारानुसार दूसरी शताब्दी में करिकाल चोल के आक्रमण ने मौर्य शासन को अस्त व्यस्त कर दिया, और उस क्षेत्र पर प्रारम्भिक सातवाहनों का अधिकार हो गया था। और यही प्रारम्भिक सातवाहन पल्लव थे। इनके अतिरिक्त पुरा-कथाओं से पता चलता है कि पल्लव ब्रह्मा के द्वारा भारद्वाज के माध्यम से उत्पन्न हुए थे। इस तर्क पर भी विश्वास नहीं किया जा सकता। फिर भी उन अभिलेखों जिसमें पल्लवों ने स्वयं को अश्वमेध आहर्ता बताया है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि ये भारतीय क्षत्रिय थे, तथा सुदूर दक्षिण में राज्य करते थे।

उपरोक्त विवरण के आधार पर निष्कर्ष रूप में कहा जा सका है कि पल्लव विदेशीय न होकर स्वदेशीय ही थे। उनके कृत्यों से हम उन्हें कभी भी विदेशी नहीं कह सकते हैं। अश्वमेध वाजपेय यज्ञ आदि निश्चित रूप से भारतीय चिन्ह ह, अतः ये विदेशी नहीं थे।

"पल्लव राजवंश"

दक्षिण भारत में पल्लवों के इतिहास एवं उत्थान को जानने के लिए जो तथ्य हमें उपलब्ध हैं, वे अल्प हैं। जो थोड़े वहुत स्रोत प्राप्त हैं, वे अभिलेख या साहित्य मात्र हैं। अभिलेख तीन भाषाओं में मिलते हैं—प्राकृत, संस्कृत और संस्कृत तथा तमिलमिश्रित। ये अभिलेख या ताम्र पत्र, पत्थरों पर खुदे हुये हैं, वहुत से विद्वानों का मत है कि इन ताम्र-पत्रों से राजनीतिक इतिहास की अपेक्षा उनकी वंशावली का ही अधिक अच्छीं तरह से अंकन किया जा सकता है। इनके तीन प्रकार के ताम्रपत्रों का अलग-अलग विवेचन करने से पल्लवों के उत्थान पर कुछ प्रकाश पड़ता है। दक्षिण भारत में पल्लव शक्ति के आरम्भ और विकास का कोई सूत्रवद्ध इतिहास प्रस्तुत करना कठिन है, हम एक से अधिक पल्लव राजवंशों की जानकारी ऊपर बताये गये अभिलेखों से होती है, जिसका पारस्परिक सम्बन्ध स्थिर करना भी कठिन है। ऐसी परिस्थिति में इस राजबंश के अभ्युदय और उत्थान का इतिहास हम कई खण्डों में रखकर विचार करेंगे।

प्राकृत भाषा में प्राप्त राजपत्रों पर किसी भी ज्ञात सम्वत् की तिथि न होने के कारण इनके समय का ठीक-ठीक अन्दाजा नहीं लगाया जा सकता; लेकिन लिपिशास्त्र के आधार पर प्राकृत में लिखित अभिलेख की तिथि २५० ई० से लेकर ३५० ई० तक निश्चित की जाती है। पल्लवों के तीन अत्यन्त महत्वपूर्ण राजपत्र हैं, जो उनका नाम मैंडवोलुपत्र हीरण्डगल्ली और ब्रिटिश म्यूजियम पत्र हैं। इनमें पल्लवों की वंशावली है, जिसके द्वारा इनके इतिहास के वारे में जाना जाता है।

मैंडबोलु ताम्रपत्र में एक ऐसे आदेश का अंकन किया गया है, जो धान्यकटक में रहने वाले अन्य पथ के गवंनर के नाम शिवस्कन्द पिता के शासन काल के १० वे वर्ष में कांचीपुर से प्रसारित किया गया था। इस ताम्रपत्र से ज्ञात होता है कि शिवस्कन्द के पिता का साम्राज्य आन्धपथ एवं तोंण्डमण्डलम तक विस्तृत था। और धान्पकटक आन्ध्र प्रदेश की राजधानी प्रतीत होती है। शिवस्कन्द वर्मन ने अपने शासन काल के आठवें वर्ष में कांची से हीरण्डगल्ली ताम्रपत्र प्रसारित किया था।

हीरण्डगल्ली पत्र से ज्ञात होता है कि शिवस्कन्द वर्मन ने अपने शासन के आठवें वर्ष में धर्म्म महाराज की पदवी धारण की थी। उसने अश्वमेघ वाजपेय और अग्निष्टोम यज्ञों का अनुष्ठान किया था। उसकी राजधानी कांची थी। उसका राज्य उत्तर में कृष्णा नदी से पश्चिम में अरब सागर तक फैला हुआ था। शिवस्कन्द वर्मन के अभिलेख से ज्ञात होता है कि उसके राज्य का संगठन अशोक के राज्य के संगठन के अनुसार किया गया था। सम्पूर्ण राज्यविषयक रट्ठ (राष्ट्र) और ग्राम में विभाजित था। इन विभिन्न भागों में नियुक्त कर्मचारी क्रमशः विर्षायक रट्ठिक (राष्ट्रिक) और देशादिकट (देशाधिकृत) कहलाते थे। ये राजकर्मचारी मुख्यतया राजपरिवार और सैनिक उच्चाधिकारियों में से चुने जाते थे, जो अधिकारी राजा को राजकीय कार्यों में सहायता देते थे। वे प्रधान मंत्री और अमात्य तथा रहस्पातिकत कहलाते थे। यह सम्भव प्रतीत होता है कि पल्लव नरेशों ने अपने प्रशासनिक स्वरुप को अशोक की तरह बनाने में धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र का सहारा लिया था।

हीरण्डगल्ली ताम्रपत्र में शिवस्कन्द वर्मन ने अपने पिता के लिए "वप्य सामीहि वाडक" शब्द का प्रयोग किया है। वप्य शब्द को प्राकृति शब्द मानना चाहिए, जिसका अर्थ पिता होता है न कि किसी व्यक्ति विशेष का नाम। विभिन्न राजकीय घोषणा पत्रों में इसका प्रयोग पिता के अर्थ में किया गया है। इसके अतिरिक्त उत्तर कालीन अनेक पल्लव वंशीय नामों में न तो इस प्रकार का नाम मिलता है, और न इसका कोई अर्थ प्रगट होता है। अतः वप्य शबद पिता का प्राकृत रुप है। आर० गोपालन इसे व्यक्ति विशेष का नाम बताते हैं तथा इनका विचार है कि शिवस्कन्द वर्मन का पिता वप्य ही रहा होगा। लेकिन इनका यह मत मान्य नहीं है क्योंकि पल्लवों की वंशावली म कहीं भी इसका नामोल्लेख नहीं है। कुछ ही समय पहले गुन्टूर जिले के पालनार तालुका में सिंह वर्मन् का एक पाषाण अभिलेख प्राप्त हुआ है, जिसकी भाषा प्राकृत है, और लिपि वहुत कुछ प्राकृत अभिलेख से मिलती है। यह अभिलेख शिवस्कन्द वर्मन् के दानपत्रों से प्राचीन है। यह माननीय मत है कि सिंह वर्मन ही शिवस्कन्द वर्मन का पिता था। जिसका शासन काल तीसरी शताब्दी का अन्तिम समय था। शिवस्कन्द वर्मन् का शासन काल चौथी शताब्दी आरम्भिक काल था।

स्कन्दवर्मन् शिवस्कन्द वर्मन का उत्तराधिकारी प्रतीत होता है, जिसे कि ब्रिटिश म्यूजियम प्लेट में श्री विजय स्कन्द वर्मन् कहा गया है। आर० गोपालन का मत है कि श्री विजय ही शिवस्कन्द वर्मन का पुत्र था। कुछ विद्वानों का मत है कि शिवस्कन्द वर्मन का शिव सम्मान सूचक शब्द है, जैसे श्री विजय स्कन्द वर्मन् के नाम के पहले जोड़ दिया गया है; अर्थात् श्री विजय उसकी उपाधि थी।

स्कन्दवर्मन के अतिरिक्त ब्रिटिश संग्रहालय पत्र में बुद्ध वर्मन् और बुद्धयांकर दो और नाम मिलते हैं ऐसा विदित होता है कि ये दोनों युवराज थे। किन्तु यह विवादास्पद है कि ये कभी सिंहासनारुढ़ हुये अथवा नहीं।

इस वंश का अगला नरेश विष्णुगोप है, जिसका उल्लेख समुन्द्रगुप्त की प्रयाग प्रसस्ति में है, जिसे समुन्द्रगुप्त ने पराजित किया था। लेकिन प्राकृत पत्रों में जिन नरेशों का नाम उपलब्ध होता है, उनसे इसका सम्वन्ध निश्चित करना कठिन है।

प्राकृत भाषा में लिखे हुये ताम्रपत्रों में पल्लव राजाओं की वंशावली निम्नलिखित प्रकार से थी :—१–सिंह वर्मन् २–शिवस्कन्द वर्मन् ३–स्कन्द वर्मन् ४–वुद्ध वर्मन् और बुद्धयांकुर ५–विष्णुगोप। लेकिन आर० गोपालन ने इसी वंशावली को कुछ निम्नरुप से प्रस्तुत किया है। इनके अनुसार वप्यदेव जो कभी भी शासक नहीं वना। शिवस्कन्द वर्मन ३–वुद्धयंकुर ४–वीर वर्मन् ५–विष्णुगोप।

यह निश्चित रुप से नहीं कहा जा सकता कि प्राकृत अभिलेखों में उल्लिखित पल्लवों और संस्कृत अभिलेखों में उल्लिखित पल्लवों में कोई सम्बन्ध था अथवा नहीं क्योंकि अनेक अभिलेखों में विष्णुगोप का उल्लेख किया गया है। अनेक विद्वानों का मत है कि विष्णुगोप प्राकृत और संस्कृत पल्लवों के मध्य की कड़ी है। डुब्रोल आदि विद्वानों के अनुसार ताम्रपत्र और प्रस्तर अभिलेख चाहे वे प्राकृत में लिखे गये हों, चाहे संस्कृत में या दोनों मिश्रित भाषा में, सवके लेखक राजा एक राजवंश से सम्बन्धित थे। जिसके प्राचीनतम या सर्व प्रथम नरेश वप्य देव थे। वहाँ केवल इतना ही कहा जा सकता है कि भविष्य के शोध ही इनके वीच के सम्वन्ध तथा शासन काल का सही मूल्यांकन कर सकते हैं।

संस्कृत भाषा में लिखित ताम्रपत्र भी कुछ वंशावली प्रदान करते हैं। इनके अनुसार राजवंश का समय लगभग ३५० ई० से लेकर ६०० ई० तक माना जा सकता है। इन ताम्रपत्रों में पल्लवद में मातुर, दशनपुर, पीकिर, ओङ्गोडु, दरशी, रायकोट चन्द्रलूर उदयेन्दिरम्, उरुवपल्ली, वापलूर और अमरावती के अभिलेख उल्लेखनीय हैं। ये सभी अभिलेख संस्कृत में लिखे गये हैं। जिनसे पल्लवों के इतिहास की जानकारी हो सकती है जिनकी लिपि प्रारम्भिक ग्रन्थ पल्लव लिपि है, और इस प्रकार लिपिशास्त्र के अनुसार इनका समय ५वीं या छठीं शती ई० रखा जा सकता है। इन अभिलेखों में भिन्न-भिन्न वंशावली दी है।

कुमार विष्णु द्वितीय के चन्दलूर ताम्रपत्र के अनुसार स्कन्दवर्मन प्रथम, कुमारविष्णु प्रथम, वुद्धवर्मन और अन्तिम राजा कुमार विष्णु द्वितीय था।

यह विवादास्पद है कि चन्दलूर अभिलेख में उल्लिखित स्कन्दवर्मन वही व्यक्ति है, जिसका उल्लेख ब्रिटिश संग्रहालय ताम्रपत्र में है, चन्दलूर में उल्लिखित कुमार विष्णु प्रथम और वुद्धवर्मन का तादात्म्य कांची के विजेता कुमार विष्णु और बुद्धवर्मन से किया जा सकता है, जिसका नाम पल्लव परिवार के एक उत्तर कालीन पत्र में चोल सेना के लिये वडवाग्नि के रुप में आया है।

नन्दिवर्मन प्रथम के द्वारा उद्पेन्दिरम् अभिलेख प्रशस्ति किया गया था। जिसमें एक अलग वंशावली का उल्लेख किया गया है। इस अभिलेख के अनुसार स्कन्दवर्मन द्वितीय

सिंह वर्मन प्रथम स्कन्दवर्मन तृतीय और नन्दिवर्मन प्रथम का स्कन्दवर्मन तृतीय पुत्र और सिंह वर्मन प्रथम का पौत्र और स्कन्दवर्मन द्वितीय का प्रपौत्र था। सिंहवर्मन प्रथम और स्कन्दवर्मन तृतीय का नाम गंग पत्रों में भी आया है। जैनग्रन्थ लोक विभाग जिसकी रचना ३८० शक सम्वत् अर्थात् ३८०+७८=४५८ ई० में हुयी थी। कांची के एक पल्लव राजा सिंह वर्मन का उल्लेख हैं। इस ग्रन्थ की रचना सिंहवर्मन वर्मन के शासन के २२वें वर्ष में हुयी थी। इस प्रकार सिंह वर्मन का शासनकाल ४३६ से ४५८ ई० तक था। उदयेन्दिरम ताम्रपत्र में पल्लव नरेशों की कांची शाखा की चार पीढ़ियों तक नामों का उल्लेख है जिनका शासनकाल ५वीं शती ई० तक मानना चाहिये।

कांची के राजा चण्डदण्ड ने ६ठीं शताब्दी के आरम्भिक वर्षों में कदम्ब नरेश रविवर्मन के साथ युद्ध में भाग लिया था। यह ज्ञात नहीं है कि चण्डदण्ड उदयन्दिरम पत्र नन्दिवर्मन का विरुद्ध था अथवा उसका कोई उतराधिकारी। लेकिन एक शान्तिवर्मन नामक अन्य पल्लव नरेश का नाम ज्ञात होता है, जो कदम्ब विष्णु वर्मन का राजाधिराज था, जिसे रविवर्मन ने मार डाला था अर्थात् सम्भावना यही है कि चण्डदण्ड राजा शान्तिवर्मन का विरोधी था।

कांची ने पल्लव नरेश के साथ ही साथ इन पल्लव समूहों के राज्य के उत्तरी भाग में एक अन्य समकालीन पल्लव परिवार की शाखा राज्य कर रही थी। इस शाखा के राजाओं के बारे में इन्हीं के द्वारा उत्कीर्ण कराये गये संस्कृत दानपत्रों से पता चलता है। इनका समय लगभग ३७५ ई० और ५७५ ई० के मध्य था।

इस शाखा के राजवंश की वंशावली भी विवादास्पद हैं। अपूर्णदर्शी पत्र को एक पल्लव नरेश ने अपने निवास स्थान दशनपुर से प्रसारित किया था। इस राजा के बारे में दूसरा ज्ञात तथ्य यह है कि उसका प्रपितामह वीर कूर्चवर्मन के वंश के किसी अन्य सदस्य का उल्लेख नहीं किया गया है। ओङ्गोडु ताम्रपत्र नम्बर १ में पल्लवों की वंशावली उल्लिखित है। यह ताम्रपत्र स्कन्दवर्मन द्वितीय के शासन काल के ३३वें वर्ष में ताम्रपत्र प्रसारित किया गया था। इसमें निम्न प्रकार से वंशावली दी गई है :—

१—वीरकूर्च वर्मन २—कुमार विष्णु द्वितीय ३—स्कन्दवर्मन प्रथम ४—वीरवर्मन और विजयस्कन्दवर्मन द्वितीय। कुमार विष्णु ने अश्वमेध यज्ञ किया था। विद्वानों का विचार है कि पल्लवों के इस वंश की स्थापना किसी वाइसराय द्वारा की गई थी।

उरुपवल्ली पीकिर और मंगलूर में प्राप्त ताम्रपत्रों में ७वीं पीढ़ी तक की वंशावली दी है। उरुपवल्ली प्लेट पलक्कड से विष्णुगोप के पुत्र द्वारा सिंह वर्मन के शासनकाल के ११वीं वर्ष में उत्कीर्ण करवायी गई थी। विष्णुगोपकन्दवर्मन द्वितीय का पुत्र था। इस ताम्रपत्र में विष्णुगोप का युवमहाराज की संज्ञा दी गई है। इस अभिलेख में निम्नलिखित वंशावली दी है :—१—स्कन्द वर्मन प्रथम २—वीरवर्मन ३—स्कन्द वर्मन द्वितीय ४—युवराज महाराज विष्णु गोप।

इस शाखा का अन्तिम राजा विष्णु गोप वर्मन द्वितीय था। जो सिंहवर्मन द्वितीय का पुत्र था, तथा इसने पलक्कड सेन्दूर पत्र प्रसारित किया था।

सम्भवतः इस शाखा पर महान पल्लव राजा सिंहविष्णु के ६ठीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में अधिकार कर लिया और इसके शासन को समाप्त कर दिया। इस प्रकार इस नवीन शाखा का अन्त सिंहविष्णु के द्वारा होता है। यहीं से महान् पल्लव राजाओं की वंशावली आरम्भ होती है। सिंह विष्णु का शासन काल ५७५ से ६०० ई० तक माना जा सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि दक्षिण में पल्लव शक्ति तीन छोटे राजवंशों के रूप में उदय होकर ६ठीं शताब्दी के अन्त में एक महान राजवंश बन जाती है।



प्राचीन भारत में शूद्रों की सामाजिक स्थिति

रामप्रसाद शुक्ल

शूद्रों की वर्तमान स्थिति को लेकर यह प्रश्न उठता है कि इस स्थिति की शुरुआत के लिए साहित्यिक साक्ष्य किस सीमा तक उत्तरदायी रहे हैं। प्राचीन भारत में शूद्रों की सामाजिक स्थिति क्या रही होगी? ऋग्वैदिक समाज में दासों के रूप में स्त्री व पुरुष दोनों समांन रूप से गृहस्थ सेवक थे पर उनमें उतना महत्व नहीं आ पाया था जिसके कारण उन्हें सेवक के एक वर्ण के रूप में देखा जाए। अपने आप में एक ही ऐसा उद्धरण, जो शूद्रों को एक सामाजिक वर्ग मानता है, ऋग्वेद के प्रथम सूक्त में पाया जाता है और जिसकी पुनरावृत्ति अथर्ववेद के उन्नीसवें भाग में होती है। अथर्ववेद के इसी भाग में दो उद्धरण और मिलते हैं जो सम्भवतः चतुर्वर्ण के अस्तित्व को प्रस्थापित करते हैं। इनमें से एक में पुजारी ब्राह्मण, क्षत्रिय शूद्र और आर्य का प्रिय बनने का यत्न करता है [आर्य सम्भवतः वैश्य के लिए प्रयुक्त हुआ है]। दूसरे अवतरण में भी ईश्वर, राजा शूद्र और आर्य का प्रिय बनने की इच्छा व्यक्त की गई है। यहाँ ईश्वर, ब्राह्मण और आर्य वैश्य के लिए हैं। ये अवतरण जो अथर्ववेद के १९वें भाग में परिलक्षित होते हैं— मुख्य भाग के पूरक हैं। अन्य अवतरण जिसमें ब्राह्मण राजा और वश्य का वर्णन है तथा जिसे तिथिक्रम के अनुसार निश्चित करने का यत्न हुआ है। व्हाइट[१] ने इन्हें अथर्ववेद के प्रारम्भिक काल का माना है। इसमें शूद्रों को छोड़ दिया गया है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि एक सामाजिक वर्ग के रूप में शूद्रों का अवतरण अथर्ववेद के अंतिम काल में होता है जब कि शूद्रों की व्युत्पत्ति वाला पुरुष सूक्त ऋग्वेद के दसवें मण्डल में प्रक्षिप्त कर दिया गया है।।[२]

स्वाभाविक रूप से एक प्रश्न उठ खड़ा होता है कि क्यों चौथे वर्ण को शूद्र नाम दिया गया? सम्भवतः जिस प्रकार यूरोपीय शब्द दास (Slave) एवं संस्कृत 'दास' विजित जातियों के नामों के ऊपर रखे गये थे उसी प्रकार शूद्र शब्द भी किसी विजित जनजाति का नाम रहा होगा। प्रो० ए० यल० बाशम[३] का यह मत है कि आर्यो में भी ऊँच नीच का व्यवहार वर्तमान रहा होगा—उनमें भी शारीरिक, मानसिक व अन्य विकृतियों ने इस विभेद को और भी चौड़ा किया होगा। तत्पर न रहे होंगे। जैमिनीय ब्राहमण[४] में

---

[१] ह्वाइट—हार्वर्ड ओरिएंटल सिरीज VII, पृ० CXLI, VII, 895–898

[२] शर्मा, आर० एस०—शूद्राज इन एंशिएंट इंडिया ऋग्वेद इंडिया ×, 90.12

[३] बाशम, ए० एल०-अद्भुत भारत पृ० 197

[४] जैमिनीय ब्राहमण 1.68.79 उत्थावा सूदो दक्षः कर्मकर्त्ता

उल्लेख हैं कि शूद्र प्रजापति के चरणों से ईश्वर विहीन पैदा हुआ। इस प्रकार घर का मालिक ही उसका ईश्वर है और वह उनके चरण धोकर ही अपनी जीविका अर्जित करेगा। इसी श्रोत से यह भी पता चलता है कि अश्वमेध यज्ञ के अवसर पर शूद्र दीक्ष कर्मकार बन जाता था। बृहदारण्यक उपनिषद में शूद्र को पूषन कहा गया[1] जब कि जैमिनीय ब्राह्मण में वैश्य को यह नाम मिला[2]। इससे यह पता चलता है कि शूद्रों के उत्पादनों से समाज का भरण-पोषण होता था। वैदिककालीन शूद्र दासवत था या नहीं निश्चित तौर पर नहीं कहा जा सकता। यद्यपि मजदूर वर्ग के रूप में इनका वर्णन है। ये दास के रूप में एक व्यक्ति की सम्पत्ति न थे। शूद्र वर्ग ने राजनैतिक क्रियाकलापों में भी भाग लिया क्योंकि रथवार व नसन शूद्र वर्ण के शिल्पी थे। ये राजसूय यज्ञ में पासे के खेल में तीन वर्णों के साथ भाग लेते थे[3]। राजसूय यज्ञ में यज्ञकर्त्ता शूद्रों को सोमपात्र देकर दीर्घ-जीवन क्रय करता था[4]। कुछ मान्य शूद्रों को युधिष्ठर के राज्यारोहण के समय भी आमंत्रित किया गया था[5] और उस समय यज्ञ करने वाला कोई भी शूद्र उपस्थित नहीं था[6]। इससे यह स्पष्ट होता है कि बाद में इन्हें राजनैतिक अधिकारों से च्युत करने का प्रयत्न किया गया। इस स्थिति का दूसरा प्रश्न भी था कि इस काल में शूद्रों को सामुदायिक जीवन से निकालने का प्रयास भी प्रारम्भ हो गया था। ऐतरेय ब्राह्मण में तीनों उच्च वर्ग के लोग राजसूय यज्ञ के अवसर पर काना से ईश्वर की पूजा के लिए स्थान का अनुरोध करते हुए चित्रित किए गए हैं। यद्यपि यहाँ यह भावना कार्यरत थी कि शूद्र भगवान रहित जन्म लेता है। यह तथ्य उसकी गिरती हुई राजनैतिक स्थिति का ही एक दृष्टांत है।

परवर्ती वैदिक काल में ब्राह्मण व क्षत्रिय अपनी सामाजिक स्थिति को ऊंचा उठा रहे थे, वैश्य व शूद्रों की समाज में उपेक्षा प्रारम्भ हो गयी थी। स्मृतियों व ब्राह्मणों में इन दो वर्गों की रक्षा सम्बन्धी प्रार्थनाएँ मिलती हैं[7]। शतपथ ब्राह्मण में भी कहा गया है कि जो न क्षत्रिय है और न पुरोहित वह अपूर्ण है।[8] इस प्रकार हम देखते हैं कि यदि किन्हीं संस्कारों में शूद्र भाग लेता था तो किन्हीं विशिष्ठ धार्मिक अनुष्ठानों और वैदिक यज्ञों में वह उपेक्षित भी था, इस प्रकार संहिताओं और ब्राह्मणों में शूद्रों की स्थिति संदिग्ध है।[9]

---

[1] बृहदारण्यक उपनिषद 1.4.13

[2] जैमिनीय ब्राह्मण II.266

[3] ब्लैक यजुज़ टेक्स्ट सेरीज III 3.3.24
तत्र पष्ठउहीं विदीव्यन्ते ब्राह्मणो राज्यन्नो विभासूद्रः

[4] कुला संहिता XXXVIII.I.

[5] महाभारत II.30.41

[6] महाभारत II.33.9

[7] वाजसनेयी संहिता xviii. ३८-४४ कण्ठ xx. २

[8] शतपथ ब्राह्मण vi ६, ३, १२-१३

[9] कीथ-इंडियन कल्चर, xii· १८३

पूर्ववर्ती मौर्यकाल में जब वर्ण व्यवस्था पूर्णरूपेण स्थापित हो गयी वैदिक युगीन अधिकार (संस्कार) और आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक व धार्मिक असमर्थताएँ शूद्रों के जीवन में घुस आयी थी। ऐतिहासिक घटना है कि निम्न आर्यों ने अपनी स्वतंत्र सत्ता हेतु आवाज उठायी पर वे नष्ट कर दिए गए या दलित वन कर रह गए।

ऐसा लगता है कि आर्यो और अनार्यों के वीच संघर्ष में पराजित एवं निष्कासित लोग शूद्र वना लिए गए और विजेताओं के सामूहिक धन के रूप में इनका प्रादुर्भाव हुआ क्योंकि शूद्र आर्य समुदाय के एक महत्वपूर्ण भाग रहे, इन्हें जनजाति अधिकार विशेषकर धार्मिक परवर्ती समाज म मिले। साहित्यिक एवं अन्य साक्ष्य यह सिद्ध करते हैं कि भारत में दास प्रथा का प्रादुर्भाव वैदिक काल में ही हो गया था आर्य जब सप्त सैन्धव पर आकर रहे तो उनका युद्ध अनार्यो से हुआ और उसमें बड़ी संख्या में अनार्य आर्यों द्वारा दास बना लिए गए। ऋग्वेद में १०० दासों के उपहार का उल्लेख आता है[१]। ऐतरेय ब्राह्मण में भी १०००० दास-दासियों का वर्णन है जहाँ राजा उन्हें अपने पुरोहित को सौंपता है।[२] इसी प्रकार वृहदारण्यक उपनिषद में भी वर्णन आता है कि किस प्रकार राजा जनक ने अपनी समस्त प्रजा सहित अपने को ऋषि याज्ञवल्क्य के दास के रूप में प्रस्तुत किया। एक सम्भावना के रूप में यह स्वीकारा जा सकता है कि शूद्रों का भारत में प्रादुर्भाव ई० पू० दो हजार वर्ष हुआ होगा जब वे वैदिक आर्यो द्वारा पराजित हुए और धीर-धीरे उत्तर वैदिक समाज में चतुर्थ वर्ण के रूप में सम्मिलित कर लिए गए।

परवर्ती वैदिक साहित्य (c. 1000–c. 600 B. c.) से ज्ञात तोता है कि शूद्रों के पास पशुधन था जो यज्ञों के समय उच्च वर्ग द्वारा लिया जा सकता था[३]। एकं प्रारम्भिक ब्राह्मण[४] में आपस्तम्ब के अनुसार शूद्र करों से मुक्त रहते थे[५]। पर वास्तव में शूद्रों के पाठ भूमि ही नहीं थी जिस पर वे कर दे सकते। वे तो दूसरों की भूमि पर ही कार्य करते थे। इस बात की पुष्टि मज्झिम निकाय के उस अवतरण से हो जाती है जिसमें कहा गया है कि ब्राह्मणों की जीविका दान पर, क्षत्रियों की धनुष और बाण पर, वैश्य की कृषि और पशुपालन पर एवं शूद्रों की हँसुआ एवं कंधे पर लदी फसल के ढोने पर आश्रित है।[६]

शूद्र वर्ण के सदस्यों की अवस्था पर थोड़ा प्रकाश धर्मसूत्रों द्वारा पड़ता दिखाई देता है। गौतम[७] के अनुसार शूद्रों-दासों को चाहिए कि वे उच्च वर्गों द्वारा फेंके गए जूतों,

---

[१] ऋग्वेद viii, ५६, ३

[२] ऐतरेय ब्राह्मण xxxix, ८

[३] मैत्रायणी संहिता iv, २, ७ और १०

[४] पंचविंश ब्राह्मण vi, १, ११

[५] आपस्तम्ब धर्म सू० ११, ११, २८, १ विथ दी कमेंट्री ऑव हरदत्त

[६] मज्झिम निकाय ii, १८०

[७] गौतम x, ५८

छातों, कपड़ों और चटाइयों का प्रयोग करें। ऐसा ही चित्रण हमें एक जातक कथा में भी देखने को मिलता है जहाँ यह दर्शाया गया है कि दासों एवं कर्मकारों को चूहों द्वारा कुतरे गए कपड़े धारण करने होंगे।[१] बचा हुआ भोजन शूद्र-दासों द्वारा ग्रहण करने का उल्लेख भी मिलता है।[२] आपस्तम्ब ने लिखा है कि यदि खेत का मजदूर अपना कार्य छोड़ देता है तो उसे शारीरिक दंड देना चाहिए।[३] यदि पशुपालक पशुओं से अपना सम्बन्ध तोड़ देता है तो उसके लिए भी यही विधान है।[४] इस समय निम्नवर्ग के प्रति उच्च वर्गों का कोई दायित्व न था इस प्रकार अपने स्वामी की तुलना में यह वर्ग असुविधाजनक स्थिति का सामना कर रहा था। धर्मसूत्रों ने तो इनकी आर्थिक स्थिति को और भी गिरा दिया। बौधायन के अनुसार ब्राह्मण के पुत्र को चार भाग, क्षत्रिय को तीन, वैश्य को दो व शूद्र के पुत्र को एक ही भाग मिलेगा[५], वशिष्ठ तो शूद्र के पुत्र का भाग स्वीकारते ही नहीं।[६]

मजदूर वर्ग के एक सदस्य के रूप में शूद्रों ने प्रारम्भिक उत्पादकों की भूमिका अदा की और इस प्रकार समाज की उन्नति के लिए भौतिक आधार दिया। कौटिल्य ने भी नवीन भूमि पर शूद्र श्रम के प्रयोग की बात की, लेकिन शूद्रों का जीवन अपेक्षाकृत हीन ही रहा। अंगुत्तर निकाय में प्रथम तीनों वर्णों को 'महामान्य' कहा गया है[७]। मज्झिम निकाय में कहा गया है कि यदि शूद्र धनवान होता है तो वह केवल शूद्र को ही नहीं क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य को भी अपना सेवक नियुक्त करेगा। इस प्रकार शूद्रों की अच्छी स्थिति समाज में आदरणीय न थी, राजनैतिक अधिकारों से भी इन्हें वंचित कर दिया गया। आपस्तम्व के अनुसार राजा प्रथम तीन वर्गों के लोगों में से ही गांवों व शहरों में राजकीय पदाधिकारी नियुक्त कर सकता था।[८] राजाओं का दरवार शुद्ध और सच्चे आर्यों से विभूषित होना चाहिए।[९] एक जैन विधि के समक्ष इनका कोई मूल्य न था। गौतम धर्मसूत्र के अनुसार यदि ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य को अपशब्द कहता है तो उसे कुछ अर्थदण्ड देना पड़ेगा पर शूद्रों के लिए प्रयुक्त अपशब्द के लिए दंड की आवश्यकता नहीं[१०], इस समय शूद्रों से सामाजिक सम्पर्क हेय दृष्टि से देखा जाता था। बोधायन एक स्नातक को शूद्र के साथ यात्रा करने को निषिद्ध घोषित

---

१ जातक १, ३७२
२ आपस्तम्ब धर्मसूत्र १, १, ३, ४०
३ आपस्तम्ब धर्मसूत्र ii, ११, २८, २
४ वही
५ बौधायन ध० सू० II. २. ३.१०
६ वशिष्ठ ध० सू० X. VIII. ४७-५०
७ अंगुत्तर निकाय IV. २३९
८ आपस्तम्ब II. १०. २६.४
९ वही II १०. २५. १२-१३
१० गौतम ध० सू० XII. ११-१३

करते हैं। बौधायन[1] और आपस्तम्ब[2] तो शूद्र की हत्या को उसी प्रकार नगण्य समझते हैं या शूद्र की हत्या का प्रायश्चित मोह, हंसावर कौवे, उल्लू या मेढ़क के बराबर ही समझते हैं, यद्यपि शूद्र की हत्या के लिए ये ही विधि प्रणेता दस गायों एवं एक बैल का विधान रखते हैं। तथापि यह तो स्पष्ट है कि प्रारम्भिक ब्राह्मण विधियां शूद्रों के जीवन का मूल्य कम आंकती हैं। यह धारणा कि शूद्रों द्वारा छुआ गया भोजन दूषित है, सर्व प्रथम धर्म शास्त्रों में ही वर्णित पाया जाता है। आपस्तम्ब के अनुसार यद्यपि एक अपवित्र ब्राह्मण अथवा उच्च वर्ग द्वारा छुआ गया भोजन दूषित हो जाता है फिर भी वह न खाने योग्य नहीं रहता।[3] लेकिन अगर वही अपवित्रता शूद्र द्वारा हो जाती है तो उसे ग्रहण नहीं किया जा सकता।[4] वशिष्ठ के अनुसार योग्यतम ब्राह्मण वह हैं जिसके उदर में शूद्र का भोजन नहीं है।[5] यदि ब्राह्मण पेट में शूद्र का भोजन लिए ही मर जाता है तो उसका जन्म या तो गांव में सुअर के रूप में होगा या फिर उसी शूद्र परिवार में।[6] बोधायन के अनुसार आठ प्रकार के वर्णित विवाहों में से गांधर्व व पिशाच विवाह ही शूद्रों के लिए वैधानिक थे।[7]

---

[1] बौधायन I. १०. १९.६

[2] आपस्तम्ब I. ९. २५-१३

[3] वही I. ५. १६.२१

[4] वही I. ५. १६.२२

[5] वशिष्ठ VI. २६

[6] वही VI, २७-२९

[7] बौधायन I. ११. २० १३

१८५७ का जन विद्रोह और बाँदा

महेन्द्र प्रताप सिंह चंदेल

राजनीति विज्ञान विभाग, काशी हि० वि० वि०

१० मई १८५७ को महारानी विक्टोरिया के ३८वें जन्मदिन से १४ दिन पूर्व मेरठ शहर में एक ऐसी महत्वपूर्ण घटना घटी जो कि कम्पनी के शासन को उखाड़ फेंकने वाली साबित हुई। मेरठ की घटना के वाद सारे भारत में हुई भारी परिवर्तनकारी घटनाओं के क्रम ने तत्कालीन तमाम देशी-विदेशी चिन्तकों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया। युगचिन्तक मार्क्स ने परिस्थितियों का पैना एवं खरा सैद्धान्तिक विवेचन करते हुए कहा कि "भारतीय जनता की गुलामी का आधार देशी सेना की स्वामिभक्ति है परन्तु देशी सेना का गठन कर अंग्रेजों ने प्रतिरोध का एक ऐसा केन्द्र गठित कर दिया है जो इसके पूर्व भारतीयों के हाथों में नहीं था। पहली बार देशी फौजों ने अपने यूरोपीय अफसरों को मौत के घाट उतारा है एवं हिन्दू तथा मुसलमान प्राचीन विरोधों को भुला कर एक साथ अपने मालिकों के विरोध में खड़े हो गए हैं। यह बगावत सिर्फ कुछ स्थानों तक ही सीमित नहीं है तथा विद्रोह ऐसे समय में हुआ है जब कि अंग्रेजों के प्रभुत्व के खिलाफ महान् एशियाई राष्ट्र आम असतोष प्रकट कर रहे हैं; बंगाल की सेना के विद्रोह का गहरा सम्बन्ध फारस और चीन के युद्धों से ह। शीघ्र ही दूसरे ऐसे तथ्य प्रकाश में आएँगे जो खुद जानबुल को भी विश्वास दिला देंगे कि यह विद्रोह मात्र, फौजी बगावत नहीं है।[१]

विद्रोह का नैतिक आधार एवं चरित्र इतना स्पष्ट, एवं उच्चकोटि का था कि विद्रोह के वारे में कहा गया : "हिन्दुस्तान के विद्रोह के बारे में सारे यूरोप में सिर्फ एक ही राय होनी चाहिए। विश्व के इतिहास में जितने भी विद्रोहों की चेष्टा की गई है, यह सबसे ज्यादा न्यायपूर्ण, भद्र और आवश्यक विद्रोह है।"[२] इतिहासकार जस्टिन मैकार्थी का मत था, "सच्चाई यह थी कि भारत के उत्तरी व उत्तरी पश्चिमी प्रदेशों में अंग्रेजों की सत्ता के विरुद्ध भारतवासियों ने जो विद्रोह किया था वह सिर्फ सिपाहियों ने अकेले ही नहीं किया था।......मेरठ में सिपाहियों ने क्षणभर में एक नेता, एक झंडा एवं एक उद्देश्य प्राप्त कर लिया था......जब वे दिल्ली पहुँचे तब तक उन्होंने अनजाने ही इतिहास का एक संकट-जनक क्षण हस्तगत कर; सिपाही विद्रोह को राष्ट्रीय एवं धार्मिक युद्ध में बदल दिया था।"[३]

लेकिन लेखकों का एक वर्ग १८५७ के आन्दोलन को मात्र सिपाही विद्रोह मानता है। 'सिपाही विद्रोह' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग तत्कालीन भारत मन्त्री अर्ल स्टेनले ने किया था। परन्तु स्टेनले के बाद तो अग्रेज लेखकों ने साम्राज्यवाद पोषण के पूर्वाग्रह हेतु इस शब्दावली 'सैनिक विद्रोह' को सार्थक करने का पूर्ण समर्पित भाव से प्रयास किया। चार्ल्स बुल, फारेस्ट, होम्स, काए, लो, इन्नेस, मालेसन, मान मौरिस, हैरिस, कोलियर, नार्टन आदि लेखकों ने इसी धारणा को पोषित किया। कुछ भारतीय इतिहासविद् एवं लेखकों ने भी अंग्रेजों के विचारों का समर्थन किया। लेखकों का यह वर्ग क्रान्तिकारियों के प्रति हेय एवं घृणा

भाव का प्रतिपादन करता है। उनके लिए अपशब्दों का प्रयोग भी बेहिचक करता है। इनका पूर्वाग्रह तो तब स्पष्ट होता है जब ये आन्दोलन की प्रगति एवं जनसमर्थन को झुठलाने में असमर्थ एवं असहाय पड़ जाते हैं।[4] यथा काए कहते हैं "गंगा एवं जमुना के मध्य स्थित दोआब में शायद ही कोई व्यक्ति ऐसा बचा होगा जिसने हमारे खिलाफ विद्रोह में भाग न लिया हो।"[4] या फिर यह, "चार प्रान्तों—उत्तरी प्रान्त अवध, रूहेलखण्ड, बुन्देलखण्ड एवं सागर-नर्वदा—आदि में ब्रिटिश साम्राज्य के विरोध में जनसामान्य की भारी भीड़ विद्रोह में सक्रिय भाग ले रही थी।"[5] चार्ल्सबुल ने प्रत्यक्षतः देखा था, "अवध में नजारा यह था कि क्रान्तिकारी अपने लिए बिना भोजन-पानी की परवाह के जिधर भी जाते थे वहाँ अपार स्नेह के साथ जनता उनकी सभी आवश्यकताएँ पूरी करती थी। उन्हें अपने बहुमूल्य व आवश्यक सामान को खुलेआम छोड़ कर अन्यत्र जाने पर भी उसके लिए चिन्ता की जरूरत नहीं होती थी क्योंकि जनसामान्य उसकी रक्षा करता था। सैनिकों को बहुमूल्य जानकारियाँ एवं अफवाहों का निदान जनता स्वयं सेवा की भावना से अपने आप उपलब्ध कराती थी।"[6] मेलियोड इन्नेस ने देखकर कहा था कि "कम से कम अवध प्रान्त में उस समय राष्ट्रीयता की पवित्र भावना अपने चरम रूप में विद्यमान थी।"[7]

इतने प्रकट सत्य को ठुकराकर जब अंग्रेज लेखक यह कहते हैं कि यह मात्र सिपाही विद्रोह था तो इनका पूर्वाग्रह पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है। उस समय अंग्रेज लेखकों का उद्देश्य शायद यह रहा हो कि आने वाली भारतीय संतति इस जन आंदोलन से घृणा करे तथा घृणित समझ कर इस रास्ते को कभी भी न अपनाए। परिणामतः साम्राज्यवाद सदैव सुरक्षित रहकर भारतीयों का नित नया शोषण जारी रखने में सफल रहे।

साथ ही वी० डी० सावरकर द्वारा इसे "भारत का प्रथम राष्ट्रीय स्वतंत्रता आन्दोलन" कहना भी शायद अतिशयोक्ति का परिचायक होगा। क्योंकि, उस समय के छिन्न-भिन्न विभाजित भारत की बात तो बहुत दूर की है, जागृत इटली एवं यूरोप के कुछ अन्य देशों में भी राष्ट्रीयता की भावना अभी परिपक्व होना शेष थी। परन्तु यह आन्दोलन एक जन आन्दोलन था, इसमें सन्देह नहीं क्योंकि उसमें सभी तरह के लोग शामिल थे। एक लेखक ने अपने चित्रण में व्यंग्यात्मक ढंग से कहा है : "स्वभावतः रूढ़िवादी व ढोंगी ब्राह्मणों के साथ अल्लाह को मात्र ईश्वर व मुहम्मद साहब को एकमात्र पैगम्बर मानने वाले मुसलमान, स्वसंतानघाती राजपूत, विलासी जीवन के आदी मराठे, गोरक्षक एवं गोभक्षक, सुअर से घृणा तथा सुअर का मांस खाने वाले, शोषक जमीदार व सामन्त तथा शोषित कृषक व मजदूर, काजी तथा मुल्ला और रामनामी ओढ़नी ओढ़ने वाले पंडित पुरोहित सभी एक साथ क्रान्ति की भयानक विभीपिका में सम्पूर्ण एकता के साथ कूद पड़े थे।"[8] अर्थात् स्थिति यह थी :

चमक उठी सन सत्तावन में, वह तलवार पुरानी थी।
दूर फिरंगी को करने की, सबने मन में ठानी थी।।

कवि यित्री सुभद्राकुमारी चौहान की उपरियुक्त पंक्तियाँ परिस्थिति की सार्थक विवेचना के साथ ही जन भावनाओं का भी प्रतिनिधित्व करती हैं।

आन्दोलन की विशद व्यापकता को देखकर मन में सहसा ही प्रश्न अंकुरित होना स्वाभाविक है कि आन्दोलन बड़े पैमाने पर इतने लम्बे समय तक कैसे चला होगा ? निश्चित रूप से पूर्व नियोजन तथा समुचित संगठन विधि को व्यवहार में लाए बिना आन्दोलन शीघ्र ही छिन्न-भिन्न होकर टूट जाता। ट्रिवेलियन के अनुसार "शान्ति और सदिच्छा के प्रभुईशु के सन्देशों का प्रचार करने में लगे धनी और सम्य ईसाइयों की किसी भी मिशनरी-सोसायटी ने संगठन की इतनी पूर्ण एवं सशक्त व्यवस्था नहीं अपनाई थी जितनी कि इन बदमाशों ने अपनाई थी जिनका उद्देश्य राजद्रोह तथा कत्लेआम के सन्देश का प्रचार करना था"।[९] सूक्ष्म विश्लेषण करने पर यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि आन्दोलन के नेतृत्व वर्ग ने देशव्यापी गुप्तस्तर के विचार विमर्श के बाद आन्दोलन प्रारम्भ करने की तिथि रविवार ३१ मई १८५७ निश्चित की थी। कारण कि मई माह की भीषण गर्मी से अंग्रेज युद्ध में काहिल एवं नाकारा साबित होते तथा अंग्रेज सेना का एक बड़ा भाग चीन तथा फारस के युद्धों में फँसा हुआ था। फिर ३१ मई को रविवार के दिन अंग्रेजों को गिरजा घरों में आसानी से घेरा जा सकता था। जन-सामान्य एवं सैनिकों को संगठित करके एक साथ लाने के लिए गुप्त रूप परन्तु प्रकट उद्देश्य से कमल के पुष्प तथा चपातियाँ घुमाई गईं। वस्तुतः भारतीय सैनिकों को संगठित कर एकता के सूत्र में बाँधने का कार्य कमल के पुष्प ने सम्भव बनाया था।

आन्दोलन में सैनिकों तथा जनसामान्य का सहयोग देखकर डिजरैली ने संसद के समक्ष स्वीकार किया : "यह मात्र सिपाही विद्रोह नहीं है क्योंकि यदि केवल फौज का विद्रोह होता तो हमारी फौज ही नष्ट कर देती परन्तु यह तो राष्ट्रीय विद्रोह है"।[१०]

इस व्यापक विरोध को संगठित करने की जरूरत क्यों महसूस हुई ? भारतीयों की तत्कालीन दयनीय दशा का पता कुछ घोषणा पत्रों से लगता है। दिल्ली से २५ अगस्त १८५७ को बहादुर शाह ने एक प्रपत्र निकाला था जिसमें स्थिति की दुरूहता प्रगट की गई थी। पत्र का सारांश कुछ इस तरह है : "अंग्रेज शासन हिन्दू एवं मुसलमानों को भ्रष्ट कर रहा है। जमींदारों पर अतिशय ज्यादा लगान लगाकर तथा जमीन छीन कर निम्न स्तर पर पहुँचा दिया गया है। कानून की शरण न लेने देने के लिए कोर्ट फीस, स्टाम्प फीस आदि बढ़ाकर सरकार घातक नीति अपना रही है। लोक कर्मचारियों को अपना आत्म-सम्मान तथा धार्मिक भावना की रक्षा करना मुश्किल हो रहा है। लाभ के व्यापार अंग्रेजों ने हथिया कर छोटे-मोटे तुच्छ व्यापार भारतीयों के लिए छोड़ दिए हैं। ब्रिटिश माल भारतीय बाजार में लाद देने तथा भारतीयों द्वारा निर्मित माल न बिकने देने से बुनकर तथा दस्तकार भूखों मरने को बाध्य किए जा रहे हैं। भारतीयों को उनके सम्माननीय धर्म से च्युत किया जा रहा है। अतः पंडित व मौलवियों को अपने धर्म एवं संस्कृति पर किये जाने वाले हमले से समाज की रक्षा करने में आगे आना चाहिए। अंग्रेजों के विरुद्ध लड़े जा रहे इस धर्मयुद्ध में सभी को तन-मन-धन से पवित्र उद्देश्य की प्राप्ति में शामिल होकर इसमें सहायक बनना चाहिए। सभी भारतीय एक हैं।

५ जुलाई १८५७ को अवध के कम-उम्र नवाब बिरजिस कादिर ने जो घोषणा पत्र ज़ारी किया, उसमें कहा गया ; हिन्दू एवं मुसलमान सभी को चार चीजें सर्वाधिक प्रिय

होती हैं; धार्मिक भावना एवं विश्वास, व्यक्तिगत विचार एवं उनका सम्मान, जीवन एवं सम्बन्ध तथा सम्पत्ति आदि। परन्तु सरकार इन सर्वप्रिय सिद्धान्तों का अतिक्रमण कर रही है…कत्ले आम, सम्पत्ति छीनना, भारतीयों को शारीरिक दंड देना, उसके लिए साधारण चीज बन गई है। भारतीयों का स्वाभिमान असुरक्षित होकर रह गया है। सभी जगह तबाही फैली हुई है।

विठूर के पेशवा नाना जी ने देश-विदेश के सभी सम्भव क्षेत्रों को पत्र लिखकर, स्वयं घूम-घूम कर तथा अपने विशेष सलाहकार की सहायता से जन सामान्य के कष्टों को दूर करने में सहयोग के लिए कहा। नाना जी ने फ्रांस के नेपोलियन को २५ अप्रैल तथा ३१ मई १८५८ के मध्य तीन पत्र भेजे, जिनमें भारतीयों के कष्टों की ओर नेपोलियन का ध्यान खींचने का प्रयास किया गया था : अंग्रेज भारतीयों की धार्मिक भावनाओं पर कुठाराघात कर रहे हैं। यथा, राजा दिलीप सिंह को मजबूरन ईसाई बनकर देश से निष्कासन की सी दशा में इंग्लैण्ड में रहना पड़ रहा है। सतारा, नागपुर, अवध एवं झांसी आदि कई जागीरें नवाबों-राजाओं से छीन ली गई हैं। उन्हें प्राप्त पेंशन तथा अन्य सुविधाएं खतम कर दी गई हैं। सामान्य जनता को किसी प्रकार का हित नहीं पहुंचाया जा रहा। सम्पूर्ण भारत में कम्पनी का कानून विहीन एवं पक्षपात पूर्ण शासन एक क्षत्र राज्य कर रहा है"।[११]

भारतीय सैनिकों में असंतोष का एक तात्कालिक कारण निश्चित रूप से चर्बी युक्त कारतूस था। पर इसके पूर्व, सैनिक कम्पनी के प्रति अच्छे विचार रखते हों ऐसी बात नहीं थी। कई छिट-पुट विद्रोहों का सामना कम्पनी ने किया था। कुछ महत्वपूर्ण विद्रोह भी हुए थे, यथा १८०६ में वेल्लोर में कम्पनी द्वारा सैनिक वेश भूषा में परिवर्तन किया गया। परिवर्तन शरारतपूर्ण एवं धर्म व व्यक्तित्व पर हमला करते थे। परिवर्तन पर सैनिकों ने बगावत कर दी थी। १८२४ में कम्पनी ने भारतीय सेनाओं को उनकी धार्मिक मान्यताओं के विरुद्ध बर्मा युद्ध में भेजना चाहा था। सैनिकों द्वारा उग्र विरोध करने पर पैगेट महोदय ने उनपर गोली चलवाई थी। उसका कहना था कि मैं किसी भी तर्कहीन बात को स्वीकार नहीं करता। वह भूल गया कि धार्मिक आस्था तर्कों पर नहीं विश्वास तथा भावना पर आधारित होती है। १८४४ में पुनः बर्मा भेजने के प्रस्ताव पर विरोध का रुख जानते ही डलहौजी ने बहुत समझदारी से मामला सुलझाया था। बैरकपुर की घटना में मंगल पांडे ने शहीद होकर, सेना को आगे आने वाले विद्रोह के लिए उकसाया था। यह घटना १८५७ के विद्रोह का पूर्व अभ्यास थी। इसको विशाल पैमाने पर प्रचार का माध्यम व आधार बनाकर क्रान्ति के लिए भारतीयों को एक स्थान पर लाया गया था।

भारत का प्राचीन इतिहास इस बात का साक्षी था कि युद्ध में सैनिक जब विजय प्राप्त करते थे तो शासक उनको स्वयं वीरोचित सम्मान देते थे। सैनिकों की प्रसन्नता का ध्यान रखा जाता था। वेतन वृद्धि, पदोन्नति, जागीर, नजराने आदि अनेक प्रकार के पुरस्कार दिए जाते थे। कम्पनी की सेना में भी यह सुविधा प्राप्त थी। पर उसमें मात्र अंग्रेज सैनिकों को हिस्सा प्राप्त था भारतीयों को इनसे पूर्णतया वंचित रखा जाता था।

प्रसंशा के दो शब्द भी इनके लिए नहीं होते थे। वास्तव में अंग्रेज अफसरों को हिन्दी भाषा में सिर्फ गालियां ही आती थीं। जिनका इस्तेमाल करने में वे कभी भी संकोच नहीं करते थे। कलकत्ता से पेशावर तक अनेकों युद्धों में भारतीय सैनिकों ने वीरतापूर्वक लड़कर विजय प्राप्त की थी। अपनी इस प्रतिष्ठा को विदेशी मैदानों में भी उन्होंने साकार किया था। बदले में उन्हें क्या मिलता था यह अफगान युद्ध में भाग लेने वाले सैनिक सीताराम तथा हिदायत अली के यें शब्द बताते हैं, : "अफगान युद्ध ने हमें सिखा दिया कि अंग्रेजों के प्रति स्वामिभक्ति रखने से हमें कुछ भी नहीं मिलने वाला है, सिवाय घृणा और नफरत के जो अंग्रेज व भारतीय दोनों से प्राप्त होती थी। युद्ध से लौटने पर हमें जलील होना पड़ा था, अपने ही साथी हमारे साथ छुआछूत अपनाने लगे थे। हमें सैन्य समाज ने समाज वहिष्कृत कर दिया था।"[१२] इस अपमानजनक स्थिति के साथ अन्य परेशानियाँ वेतन, सेवा शर्तों, पदोन्नति एवं पेंशन आदि की थीं। यथा जमादार सीताराम को ६५ वर्ष की उम्र में ४८ वर्ष की सेवा के बाद सूबेदार बनाया गया। जब कि पदोन्नति का यह हक उन्हें ३० पर्ष पूर्व मिल जाना चाहिए था। जब कि अयोग्य, अकुशल अंग्रेज के लिए यह पदोन्नति तथा कमीशन प्राप्त करना बहुत आसान था। वेतन में भारी असमानता थी। एक भारतीय सैनिक को मिलने वाला ७ रुपए प्रतिमाह का वेतन, समानपदीय अंग्रेज के वेतन के लगभग ⅓ भाग के बराबर था। एक घुड़सवार सैनिक को घोड़े का खर्च मिलाकर देने पर भी वेतन मात्र २४ रुपये प्रतिमाह ही मिलता था। एक विश्लेषण के अनुसार "सैनिक सात रुपये में से ३·८ भोजन पर, २·८ भाग जीवनोपयोगी आवश्यकताओं पर खर्च कर देता था उसकी मासिक बचत शून्य थी। तंगी का जीवन बिताना सैनिकों की आदत बन गई थी। परिवार के लिए कुछ भी न बचा पाना उनके हृदय को वड़ी पीड़ा पहुँचाता था।"[१३]

वेतन के साथ ही रहन-सहन पर आने वाले खर्च में भी भारतीय सैनिकों के साथ पक्षपात पूर्ण व्यवस्था थी। एक उच्च पदासीन सेना के अंग्रेज अफसर के अनुसार "उस कम्पनी की सेना में कुल ३१५,५२० सैनिक थें जिनपर ९,८०२,२३५ पौंड खर्च किया जाना था। इस धनराशि में से ५,६६८,११० पौंड की रकम केवल ५१,३१६ अंग्रेजों पर व्यय कर दी जाती थी।"[१४] शेष धन तथा सेना की संख्या को देखते हुए सहज ही भारी असमानता का बोध होता है।

पेंशन की व्यवस्था भी निरंकुश एवं पक्षपातपूर्ण आधारों पर निर्भर थी। सेवा की शर्तों को देखकर तो विश्वास नहीं होता कि एक भारतीय कैसे कम्पनी की सेना में इतनी एकपक्षीय बातों के होते हुए सेवा में बना रहता था। धार्मिक भावनाओं पर व्यंग्य पूर्ण कटाक्ष करना अंग्रेजों का स्वभाव बन गया था। वे भारत की प्राचीन समय से चली आ रही पवित्र सैनिक परम्पराओं को तोड़कर भारतीय सिपाहियों का नख-शिख आंग्लीकरण करना चाहते थे। इन्हीं कारणों से सैनिकों ने अंग्रेजों के व्यवहार का पूरा बदला विद्रोह के समय चुकाया। इस आन्दोलन के पूर्व अंग्रेजों ने अनेक सैनिक विद्रोहों को कुचला था। इस बार भारतीय सैनिक के हृदय में ऐसी आग जल रही थी 'जो बुझाए न बुझे और दबाए न दबे' की हालत चरितार्थ करती थी।

कम्पनी की बंगाल सेना का गठन अवध प्रान्त के नवाब की सेना के भूतपूर्व सैनिकों तथा इसी क्षेत्र के अन्य नययुवकों को भर्ती करके किया गया था। सैनिकों में से अधिकांशतः भारतीय समाज के सम्मानित तथा उच्च जाति वर्ग के थे। सम्मानित तथा अच्छे समुदायों के होने के कारण यह ज्यादतियों के प्रति या अपने अधिकारों के प्रति सदैव सजग रहते थे। जब भी कम्पनी कोई आघात सैनिक-हितों पर करना चाहती तो इनकी ओर से विरोध का प्रस्फुटन निश्चय ही होता है। इसी से बंगाल सेना में विद्रोह हुआ था। विद्रोह के बाद (बंगाल सेना में) कम्पनी ने इसकी डिवीजनें तोड़ दी तथा सैनिकों को जबरन सेवा निवृत्त कर दिया। सैनिक जब अपने घर-गाँव को लौटे तो अपने साथ असंतोष भाव भी लाए। इस असंतोष से इन्होंने जन सामान्य की भावनाओं को उकसाकर जनसामान्य को भी उग्र विरोध के लिए तैयार किया। यही कारण है कि जब एक बार आन्दोलन प्रारम्भ हुआ तो कम्पनी के विरोध में गांवों के नागरिक, कृषक, मजदूर सभी उठ खड़े हुए। अवध में तिलोवी, वशीरतगंज, मगरवारा तथा महराजपुर आदि स्थानों के ग्रामीणों ने उग्र तथा लम्बे समय तक चलने वाली कार्यवाहियों ने कम्पनी ने परेशान करके रख दिया। वैसे भी सैनिक कृषक वर्ग की ही सन्तानें थीं। वो एक-दूसरे के असन्तोषों से कब तक निरपेक्ष रह सकते थे।

अंग्रेजों ने कभी भी भारतीय गाँवों तथा ग्रामीण समस्याओं को समझने का प्रयास नहीं किया था। बल्कि प्राचीन काल से चले आ रहे जमीन पर किसानों के स्वामित्व के अधिकार को समाप्त कर दिया था। अंग्रेजों ने लगान की रकम निश्चित कर उनकी वसूली अनिवार्य बना दी जब कि इससे पूर्व खराब समय में लगान माफ कर राज्य किसानों को सहायता देता था। परन्तु अंग्रेजों ने वसूली बहुत ही कड़ाई व क्रूरता के साथ की, छूट की कहीं कोई गुंजाइश नहीं रखी। इतना ही नहीं लगान में बढ़ोत्तरी भी जारी रखी, यथा बंगाल में मुगल साम्राज्य के अन्तिम वर्ष १७६४-६५ में मात्र ८१८,००० पौंड की वसूली हुई, अगले वर्ष कम्पनी ने शासन सम्भालते ही यह राशि बढ़ाकर १,४७०,००० पौंड कर दी। किसानों पर नाना प्रकार के नए कर लगा दिए गए यथा किसान को अपनी बैलगाड़ी राजमार्ग से निकालने के लिए कर चुकाना होता था। अंग्रेजों ने वसूली का काम अपने क्रूर हरकारों तथा सामन्त वर्ग को सौंप रखा था। जो मनमानी वसूली कर अंग्रेजों को समय से रकम सौंपकर प्रसंशा प्राप्त करते थे। इनकी मनमानी कार्यवाही व ज्यादती के लिए किसान को कोई शरण देने वाला न था। क्योंकि, "तत्कालीन न्याय व्यवस्था में घूसखोरी तथा भ्रष्टाचार व्याप्त था। न्यायालय गरीब-शोषित-साधारण व्यक्ति के लिए कोई स्थान नहीं रखता था।"[१५] कृषक समाज को चारो तरफ शोषक ही शोषक नजर आ रहे थे। बनिया-साहूकार वर्ग ऋण के एवज में महंगे कानून द्वारा उसकी जमीन छीनने में सफल था। सरकार कर लाद कर उसे अपंग बना रही थी। कम्पनी की सरकार सामाजिक तोड़फोड़ के कार्य तो जानती थी पर निर्माण कार्य से उसे कोई वास्ता नहीं था। यथा उसने चौकीदारी की पैतृक सेवा को तो समाप्त कर दिया था। पर बेकार पासी जाति का यह व्यक्ति अब क्या करे इसकी व्यवस्था करना वह नहीं जानती थी।

सरकार के इन तोड़-फोड़ तथा अनुचित हस्तक्षेप से समाज में एक विशेष प्रकार की खामोशी-उदासी छा गई थी। व्यक्ति किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया था क्योंकि उसकी प्राचीन दुनिया उससे विछुड़ गई थी और नई दुनिया का उसे कहीं पता नहीं था। उसका जीवन भिखारियों से भी बदतर हो गया था। फ्रांस की क्रान्ति के अवसर पर कार्लाइल ने दयनीय कृषक दशा पर लिखा था : "विधवा अपने बच्चों का पेट भरने के लिए जंगल में जड़ें चुन रही हैं। और होटल के बरामदे में भद्र पुरुष नजाकत के साथ लेटा है, चिकने चुपड़े भद्र पुरुष के पास एक ऐसा जादू है जिससे वह बुढ़िया की हर तीसरी जड़ छीन लेगा और कहेगा यह कानून और लगान का जादू है। भारत में कृषकों की दशा बदतर थी। अंग्रेजी राज्य में भारत ने इससे भी बड़ा जादू देखा, यहाँ किसान के पास एक जड़ बचती थी बाकी दो भद्र पुरुष पर न्योछावर हो जाती थीं।"[१६]

कम्पनी की सरकार शोषण खूब जमकर करती थी और बेहिसाब लाभ कमाती थी। पर लोक कल्याण की ओर जरा भी दिलचस्पी नही थीं। १८५०-५१ में ने अपने विशुद्ध लाभ का केवल, °८ प्रतिशत ही उसने लोक कल्याण पर खर्च करने के लिए सोचा था। वास्तव में देखा जाय तो उस समय जेल के एक कैदी पर किया जाने वाला व्यय एक नागरिक पर किए जाने वाले खर्च से कई गुना था। कम्पनी सदैव व्यापारिक लाभ के लिए चिन्तित रहती थी। तभी तो १८४९ में अकाल के समय जब डेढ़ लाख व्यक्ति पीड़ित थे तब उसने ८५८००० पौंड कीमत का खाद्यान निर्यात किया। १८५८ में जब विद्रोह से फसल नष्ट हो गयी थी तब ३२ लाख पौंड कीमत का खाद्यान्न बाहर भेजा इतना ही नहीं कम्पनी के अधिकारी अलग से कमाई करते थ। "क्लाइव लाइड ने १७६५ के पत्र में डायरेक्टरों को बनिये के बहीखाते की तरह पन्द्रह लाख पौंड का शुद्ध नफा दिया था। स्वयं क्लाईव जो यहाँ खाली हाथ आया था ढाई लाख पौंड की रकम लेकर गया साथ ही २७ हजार पौंड वार्षिक आय देने वाली जागीर भी यहाँ बना गया। उसने स्वयं स्वीकार किया कि अंग्रेज अफसरों ने भारत से दो-दो वर्ष के अल्प समय म एक लाख पौंड से अधिक तक की रकम कमाई थी।"[१७] इस तरह से शोषण के इस क्रम में अंग्रेज व उनका देश भारत से भारी मात्रा में धन ले गया। जब यह पूंजी ब्रिटेन पहुँची तभी वहाँ की औद्योगिक क्रान्ति प्रारम्भ हुई। औद्योगिक क्रान्ति का आधार भारत में की गई लूट ही थी।

पूंजी की प्राप्ति ने इंगलैण्ड में औद्योगिक क्रान्ति ला दी। तब इसको आगे बढ़ाने के लिए कच्चे माल तथा तैयार माल को खरीदने वालों को ढूढ़ना जरूरी था। अन्यत्र कहाँ जाते गुलाम भारत जो था। ये दोनों आवश्यकताएँ उन्होंने यहीं से पूरी की।

"पहले भी अंग्रेज भारत में अपना माल भेजते थे परन्तु १८१३ के बाद इसमें तीव्र गति से बढ़ोत्तरी हुई, यथा सन् १७८० में कुल ३८६,१५२ पौंड कीमत का माल भारत के बाजारों में आता था। १८५० तक यह कई गुना बढ़कर ८,०२४,००० पौंड तक पहुँच गया। अर्थात् १७८० में ब्रिटेन अपने कुल निर्यात् का १/३२ भाग भारत भेजता था जब कि १८५० में यह १/८ हो गया।

भारत का व्यापार सन्तुलन उसके पक्ष में था। अंग्रेजों ने उसे असतुलित कर दिया। १८१४-१८३५ के मध्य भारत में ब्रिटिश निमित कपड़े की खपत १० लाख गज से कुछ कम से बढ़कर ५१० लाख हो गई थी। जब कि इसी आलोच्य समय में भारतीय सूती कटपीस टुकड़ों की खपत १२ लाख गज से गिरकर मात्र ३ लाख ६ हजार रह गई। सन् १८५० आते आंते तो भारत सूती कपड़े के लिए पराश्रित हो विदेश से आयात करने लगा। क्योंकि सन् १८४४ में मात्र ६३००० सूती कपड़े के टुकड़े इग्लैण्ड भेज सका था। जो १८५० में विल्कुल ही भेजना समाप्त हो गया था। हालात इतने वदले कि ब्रिटेन से विदेश भेजे जाने वाले सूती कपड़े का १/४ भाग भारत आने लगा। सन् १८०० व १८३६ के मध्य भारत में इसकी खपत में ५२०० गुनी वृद्धि हुई थी।"१८

अंग्रेजों के इस व्यापार से ढाका जो विश्व प्रसिद्ध कपड़ा उत्पादक शहर था उसकी आवादी घट कर केवल १/२० रह गई। अंग्रेजों ने कर्घे और चर्खे को नष्ट कर दिया। बुनकर रोजगार छोड़कर गाँवों की ओर भगने को विवश हो गया। इससे वुरा असर यह हुआ कि पहले से ही नष्ट प्राय खेती पर जनसंख्या का अधिक भार वढ़ा और भोजन की कमी रहने लगी। तब असंतोष उग्र होना स्वाभाविक था क्योंकि भूखे आदमी से सन्तोष की चिकनी चुपड़ी अपेक्षा नहीं की जा सकती।

अंग्रेज अपना माल भारतीय बाजारों में लाकर ही चुप नहीं बैठे बल्कि उसे भारतीय माल से होने वाली प्रतिस्पर्धा से तो पूर्णतया बचाया ही साथ में विदेशी माल जो अन्य देशों से आता था उससे भी सुरक्षित रखा। इसके लिए उन्होंने एकपक्षीय कर लगाए। १८२४ में भारतीय सूत उद्योग पर ३०% से ७०% तक का कर था। कभी-कभी यह वस्तुओं के मूल्य का तीन गुना से अधिक हो जाता था। यह कर इंग्लैण्ड से वनी उन्हीं वस्तुओं के मुकावले करीब ४००% तक की ऊँचाई तक पहुँचाया जाता था। यह सव इसलिए किया जाता कि भारतीय वाजारों में भारतीय भी भारत में बना माल न खरीदें। जव अंग्रेज यह भारतीय माल खरीदते तो यह कर समाप्त तक कर दिए जाते था। अंग्रेजों की औद्यौगिक क्राति भारतीय पूँजी पर खड़ी हुई थी, इसने भारतीय उद्योग पर ही केवल हमला नहीं बोला था। बल्कि भारत को कच्चे माल के स्रोत के रूप में प्रतिस्थापित कर दिया था। कच्चे माल का निर्यात जेट गति से वढ़ाया गया। १८१३ में कपास निर्यात केवल ९० लाख पाउण्ड भार था। १८३३ में यह ३२० लाख पाउण्ड तथा १८५० में यह बढ़कर ८८० लाख पाउण्ड तक पहुँच गया। इसी प्रकार १८३३ में केवल ३३०० पाउण्ड भेड़ का ऊन विदेश भेजा गया था। वर्ष १८४४ तक के दस वर्ष के मध्य यह बढ़कर २७ लाख पाउण्ड हो गया। इसी दस वर्ष के अल्प समय में तिलहन २१०० बुशल से बढ़कर २,३७००० बुशल की सीमा पार कर गया।

उस समय अंग्रेज जोर दे-दे कर कहते थे कि भारत के विदेश व्यापार में वढ़ोत्तरी हुई। निश्चित आँकड़े भी उपलब्ध कराते थे जो सहसा किसी को भी भ्रम में डाल सकते थे। पर व्यापार की वढ़ोत्तरी तैयार माल में नहीं हुई थी यह तो ऊपर दिए गए आँकड़े बताते हैं वढ़ोत्तरी कच्चे माल के निर्यात से हुई थी। अंग्रेज भारतीयों से मनमानी

सस्ते दामों पर कच्चा माल जबर्दस्ती खरीदकर उनका पेट तथा पीठ दोनों मार रहे थे। उस माल पर भारतीय नहीं अंग्रेज बोली लगाते थे। भारतीयों की दयनीय दशा से उन्हें चिन्ता नहीं थी। वह तो यह सोचते थे कि भारत की विशाल आबादी में हमारा सारा माल खपत तो हो जायेगा पर क्या भारतीय उसकी कीमत अपनी धरती की पैदावार देकर चुका सकते हैं या नहीं। पर कृषि के लिए उन्हें कभी यह चिन्ता नहीं रही कि खेतों से पैदावार देकर चुका सकते हैं या नहीं। पर कृषि के लिए उन्हें कभी यह चिन्ता नहीं रही कि खेतों से पैदावार बिना खाद-पानी के नहीं ली जा सकती। अतः खाद-पानी की व्यवस्था करें। इस अनावश्यक खर्च को कम्पनी नहीं कर सकती थी। उसे लाभ का व्यापार आता था वह उसमें पूर्ण दक्षता से व्यस्त थी। भारतीय कृषक, मजदूर, व्यापारी सभी कम्पनी की चौतरफा मारक शक्ति से हताहत हो गए थे। उस समय शोषण के क्रम को देखकर यह कहावत पूर्णत; चरितार्थ होती थी, 'जब रोम जल रहा था, नीरो बाँसुरी बजा रहा था'।

भारतीयों में अपने धर्म में अटूट विश्वास होते हुए भी सदैव से ही सर्वधर्म सहिष्णुता का श्रेष्ठ गुण रहा है। उनका धर्म उन्हें सहिष्णुता सिखाता था। भारतीयों में 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का अद्वितीय गुणं होने के कारण ही यहाँ पर अनेक विदेशी जातियाँ बस गई थी। उनसे भारतीयों को कोई द्वेष नहीं था। वे न तो दूसरों के धर्म पर हस्तक्षेप करते थे न अपने प्रति ऐसा चाहते थे। परन्तु महान ईशु के तथा कथित घृणित अंग्रेज भक्त शायद दूसरों का धर्म नष्ट करके ही ईशु को प्रसन्न करना चाहते थे। अंग्रेजों की तो विवेचना यह थी, 'विश्व के सभी धर्मों में ईसाई धर्म ही ऐसा है जो सच्चे पारलौकिक सत्य की उपासना करता है।' अतएव बाकी सारे अन्य धर्म मतावलम्बियों को ईसाई धर्म स्वीकार कर, उसी के अनुसार आचरण करना चाहिए। इस मत के प्रसार में मिशनरियों को कम्पनी की सरकार का भी पूरा सहयोग प्राप्त होता था। यथा बनारस के जयनारायण कालेज में बाइबिल की शिक्षाएँ दी जाती थी। जेलों में पादरी होते थे। फतेहपुर के पटवारियों को प्रशिक्षण के समय ईसाई धर्म की शिक्षा दी जाती थी। ऐसे अनेक उदाहरण हैं फौज में भी पादरी उपलब्ध थे। पादरी सरकार से इतनी छूट रखते थे कि किसी भी धर्म की खुली आलोचना मंदिरों में जाकर भी कर सकते थे। यही कारण है कि भारतीयों ने समझा कि सरकार मिशनरी द्वारा तथा सीधे प्रहार कर उनके धर्म को नष्ट करने पर तुली हुई।

धार्मिक हस्तक्षेपों का भारतीय जनमानस पर अत्यन्त तीक्ष्ण असर पड़ा था। इसी से आन्दोलन को भारतीय जन धर्म युद्ध या जेहाद कहकर पुकारते थे। वे परधर्म मानने, स्वीकार करने को तैयार नहीं थे। इसके स्थान पर अपने प्रिय धर्म के लिए मरमिटना उनके लिए गौरव की बात थी। समय आने पर उन्होंने इसी गौरवमय आदर्श का चयन भी किया।

कम्पनी की विस्तारवादी नीति से राजा, नवाब तथा सामन्त वर्ग पीड़ित था। जब इस वर्ग ने जनसाधारण से सहयोग का निश्चय लिया तो आन्दोलन की नई दिशा दी जा

सकी। रानी झाँसी, तात्या, नाना, बाबू कुँवर सिंह, बेगम हजरत महल, नवाब फर्रुखाबाद, नवाब बाँदा, मौलवी इलाहाबाद के चतुर, योग्य नेतृत्व ने जनता की भारी भीड़ को संगठित कर आन्दोलन में हिस्सा लेने की प्रेरणा प्रदान की।

परन्तु आन्दोलन की विफलता का आधार भी इन्हीं की कमी थी कि ये सभी एक साथ संगठित होकर नहीं लड़ सके। पर इसके लिए यह अत्यधिक आलोचना के पात्र नहीं बनाए जा सकते क्योंकि इन्हीं के नेतृत्व वे आन्दोलन इतने लम्बे समय तक खींचा था वरना वह फौरन कुचल दिया जाता तथा नए परिवर्तनों के लिए ब्रिटिश सरकार को सोचना भी न पड़ता।

मेरठ में अपने ८५ साथियों द्वारा कारतूस न स्वीकार किये जाने पर १० वर्ष की सजा दिए जाने पर वेश्या बाजार में सैनिकों को जलील किए जाने से उकसाकर सैनिकों ने विद्रोह का प्रारम्भ किया। वास्तव में सन् १८५७ के विद्रोह के शुभारम्भ करने का श्रेय २० वीं देशी डिवीजन के किसी सिपाही की उस दनदनाती गोली को जाता है जिस गोली ने कर्नल जान फिनिस (११ वीं डिवीजन) को चिरनिद्रा में सुला दिया। सैनिक विद्रोह को जनता ने पूर्ण सहयोग देकर इसे जन आन्दोलन में बदल दिया था। अगले दिन ११ मई को सुप्रभात में दिल्ली में प्रवेश कर दोपहर को दिल्ली के किले में मुगल साम्राज्य का शाही परचम लहरा दिया गया। सम्राट बहादुर शाह को इन्होंने दिल्ली की गद्दी पर बैठाया। उसे ही सारे भारत का साम्राज्य सौंप दिया। इस जबंदस्त एकता तथा सफलता के बाद भी निश्चित तारीख के पूर्व घटना होने के कारण अल्प समय तक खामोशी रही। फिर जब प्रारम्भ हुआ तो सूखे जंगल में लगने वाली आग के समान २० मई आजमगढ़, ३१ बरेली, ४ जून बनारस, ७ फैजाबाद, ८ सीतापुर, ५ जून गोंडा, ६ जून को लार्ड कैनिंग का घोषणा पत्र पढ़े जाने के ४½ घंटे बाद सैनिकों ने इलाहाबाद में विद्रोह किया, ६ जून कानपुर, जून के अन्त तक लखनऊ, बिहार, बंगाल, उड़ीसा, मध्याभारत तथा पूरे उत्तर प्रदेश आदि में तथा इनसे लगे क्षेत्रों में पूरी तरह फैल गई। इसके अलावा भारत के अनेकों क्षेत्रों से विद्रोह की आवाजें बुलन्द की गई।

कानपुर में २१ दिन लड़ने के बाद फिरंगियों को नाना ने भागने का अवसर दिया, २३ जून १८५७ के दिन कानपुर में पलासी युद्ध की १०० वर्ष गांठ तोपों से गोले छोड़कर मनाई गई। २७ जून को जब दुष्ट अंग्रेज नाना के सहयोग से भागे जा रहे थे तो सती-चौरा घाट में उन पर गोली वर्षा दी गई। नावों में लदे अधिकांश अंग्रेज खेत रहे। बाकी को लाकर बीबी घर में निवास दिया गया। कानपुर की वेश्या के अजीजन बाई ने सहयोग देकर जन आन्दोलन के नाम को सार्थक बनाया। सैनिकों की चहेती अजीजन की कार्य-वाहियों का याद ताजा करा देने वाला कुआ आज भी कानपुर, माल रोड पर है। जिसको उसने अंग्रेजों की लाशों से भरा दिया था। अंग्रेजों ने निश्चित रूप से भारतीयों के साथ नीचता का व्यवहार किया था तभी तो उन्हें इतने सुन्दर-भयानक प्रतिकार का सामना करना पड़ा था।

लखनऊ में जुलाई के प्रथम सप्ताह में युद्ध शुरू हुआ। ९ माह से ऊपर के समय तक लड़ा गया। रेजी डेंसी, आलमबाग, केशर बाग, आलम बाग, दिल खुश बाग, हजरत गंज, मोती महल, शाह नजफ़ मस्जिद आदि स्थानों को जीतने के अंग्रेजों को लाशों से गुज-रना पड़ा था। मार्च के अन्त में जब अंग्रेजी सेना ने लखनऊ पर कब्जा तो जमाया। पर आन्दोलन के नेताओं को सेना न पकड़ सकी। मृत ह्वलाक के पुत्र ने रोते हुए कहा था "हमारी मजबूत सेना सभी कुछ नष्ट करने तथा कब्जा जमाना तो जानती है परन्तु विद्रो-हियों को न पकड़ पाने में इसकी असफलता प्रकट है।"[१९]

बाँदा जनपद के उत्तर पूर्वी सिरे पर यमुना नदी बहती है जो इसे इलाहाबद से अलग करती है। जनपद के उत्तर (पश्चिमी) भाग की सीमा का निर्धारण केन नदी करती है जो इसे जनपद हमीर पुर अलग करती है। दक्षिण में मध्यप्रदेश प्रान्त के रीवा पन्ना स्थित है। तथा दक्षिण पूर्व में मध्यप्रदेश प्रान्त का सतना जिला इससे जुड़ा हुआ है।

जनपद के पूर्वी भाग में स्थित मऊ तथा कर्वी तहहीलें हैं। इन तहसीलों के क्षेत्र के काफी बड़े भाग में विन्याचल की पहाड़ियां फेली हुई। वैसे पूरे जनपद में पहाड़ियाँ देखी जा सकती है। परन्तु कुछ भाग मैदानी है। बाँदा शहर में भी विन्व्याचल श्रेणी की पहाड़ियाँ विद्यमान हैं।

जनपद की कर्वी तहसील में बाँदा से ३५ कि० मी० की दूरी पर पवित्र तीर्थ स्थान चित्रकूट है जिसका सम्बन्ध रामायण की राम कथा के राम वन प्रवास से जुड़ा। नगर राजापुर दूसरा पवित्र तीर्थ स्थान है। जहाँ कि महाकवि तुलसी दास जी का जन्म हुआ था। हर माह अमावस्या के रोज लाखों की भीढ़ का चित्रकूट में मेला लगता है। चित्रकूट में पाषाण काल के अवशेष अन्यधिक मात्र में देखे जा सकते हैं।

१८५७ की क्रान्ति के समय बाँदा जनपद, बुन्देलखण्ड का पूर्वी हिस्सा था। प्रशास-निक दृष्टि से वुन्देबखण्ड जिले के पूर्वी-उत्तरी क्षेत्र बाँदा-हमीरपुर को मिलाकर एक कलक्टर के अधीन कर दिया गया था। कम्पनी ने नबाबहिम्मतबहादुर को १८०३-०४ में परास्त कर बाँदा जनपद का अधिकांश भाग अपने कब्जे में कर लिया। बाद में बचा हुआ बाँदा का खंडेह क्षेत्र १८१८ में जालौन के राजा को हराकर कम्पनी ने प्राप्त कर लिया। सन् १८०४ में कम्पनी ने यहाँ पर प्रशासन सभालते ही कृषि कर को १२१० तथा १२११ फसली व्यवस्था लागू की और अगले वर्ष यहाँ पर १२१२ फसली लागू कर दी।

इस नई व्यवस्था के अन्तर्गत किसानों को अब अधिक लगान (१.८०रु०) देनी थी। गरीब किसानों में इससे असन्तोष फैला। तथा कम्पनी के प्रति जन सामान्य की भावनाएं दूषित रहने लगी। गरीवी का अनुमान तो उस समय की मजदूरी व्यवस्था से लगता है। सरकारी दर के अनुसार जब मजदूरी में ३०% की वृद्धि की गई तब १८५० में यह कुल २ आने प्रति दिन थी। यह मज़दूरी कुशल मजदूरों की थी अकुशल मजदूरों की दशा अत्यन्त दयनीय थी। व्यापारी वर्ग भी मुख्य धन्धों में जहाँ ज्यादा लाभ की सम्भावना थी अंग्रेजों द्वारा एकाधिकार कर लिए जाने से असन्तुष्ट था। सजरी पत्थर का निर्यात व्यापार अंग्रेजों ने अपने हाथ ले लिया था। सजरी पत्थर आजकल लुप्त प्राय हो गया है।

सन् १८०४ में कम्पनी ने जीत कर जब अपना प्रशासन चालू किया। तो उसने पहले की रियासतों को छोटी-छोटी जागीरें तथा पेंशन देकर जीवित रखा। बाँदा, करवी, बदौसा, चित्रकूट अजयगढ़ आदि प्रमुख रियासतें कायम रही। "बांदा में १८०२ में समसुर बहादुर का शासन था, इनकी मृत्यु के बाद इनके छोटे भाई (सन् १८२३ में) नवाब जुल्फिकार अली शासन पर बैठे। नवाब जुल्फिकार अली की मृत्यु के बाद इनके पुत्र अली बहादुर केवल १७ वर्ष की उम्र में नवाब के पद पर १८४९ में बैठे थे। १८०२ से चलने वाले शासकों के इस परिवर्तन के साथ कम्पनी ने पहले तो हस्तक्षेप नहीं किया। पहले वह ४लाख रुपये वार्षिक की पेंशन, दीवानी न्यायालयों के क्षेत्राधिकार से मुक्ति, एक अच्छी नफरी की सेना, ११ तोपों की सलामी आदि की व्यवस्था करती थी। परन्तु नवाब अलीबहादुर ने जब शासन सम्भाला तो कम्पनी ने इन विशेषाधिकारों में कटौती थी। २ मई १८५५ को कोर्ट आफ डायरेक्टर ने एक आदेश जारी किया। जिसके अनुसार हिज हाइनेस नवाब आफ बाँदा का रुतबा हटा दिया तथा नवाब बांदा भर प्रयोग करने को कहा गया। खिलौत का खर्च १२०० रुपए से अधिक न करने, सलामी बन्द करने, तथा दीवानी की छूट केवल नवाब बाँदा के परिवार के पहले २६ के स्थान पर केवल ४ व्यक्तियों तक सीमित कर दी गई। नवाब की अपनी कोई प्रभुसत्ता नहीं स्वीकार की गई। सेना में केवल १ कम्पनी पैदल तथा २५ सवार की सीमा लगा दी गई। कुल ५०० लोगों की पहले सेना थी उसे हटा दिया गया था।

नवाब बाँदा ने गवर्नर-जनरल के नाम २५ मार्च १८५६ को पत्र भेज कर कहा कि मुझे मेरे परम्परागत पुश्तैनी अधिकारों को पुनः वापस दिलाया जाय। क्योंकि कम्पनी से हुए समझौते के अनुसार ४ लाख रुपए की पेंशन पीढ़ी दर पीढ़ी मिलती रहती थी। अतः उसे बन्द नहीं किया जाय।

परन्तु उनके पत्र पर जो गवर्नर-जनरल को १५ अप्रैल १८५६ को मिला। कोई विचार नहीं किया गया। इस कार्यवाही पर नवाब बहुत निराश हुआ।"[२०]

नवाब बाँदा के साथ किए गए दुर्व्यवहार को कम्पनी ने अन्य रियासतों के साथ भी दोहराया। कर्वी के पेशवा नारायण राव तथा माधो राव भी अपने प्रति कम्पनी के व्यवहार से असन्तुष्ट हुए। उनके कानूनी संरक्षक इलाहाबाद के बाबू राधे गोविन्द का पेशवा बन्धुओं पर बहुत अच्छा प्रभाव था। बाबू ने जब इन बन्धुओं को विद्रोह के समय इनको सलाह दी तो ये शीघ्र ही विद्रोह में शामिल हो गए थे।

इलाहाबाद में ६ जून १८५६ को क्रान्ति सैनिक विद्रोह के रूप में भड़की थी। सैनिकों ने जेल के कैदी भी छोड़ दिए थे। इन कैदियों में से काफी संख्या में कैदी बाँदा क्षेत्र के थे। जब ये कैदी बाहर निकले तो इन्होंने सैनिकों के साथ सहयोग किया तथा उनके असन्तोषों के बारे में जाना। अतः जब कैदी बाँदा की ओर आए तो जनता में असन्तोष की भावनाएं भड़काने में पूर्णतः सफल हुए। बाँदा के पूर्वी सिरे पर इलाहाबाद से लगे क्षेत्र मऊ के पास आकर कैदियों ने नागरिकों को अपनी भावनाओं की ओर मिलाने के बाद इन्होंने पहले मऊ की तहसीली पर अक्रमण किया। खजाने में रखी १२०० रू० की रकम लूट ली तथा

सारे सरकारी कागज फाड़कर फेंक दिए या जला दिए। इसके वाद इन आन्दोलनकारियों ने मऊ स्थित थाने पर धावा वोला यहाँ भी इनकी विजय हुई तथा मऊ से कम्पनी का प्रशासन हटाकर क्षेत्र को स्वतन्त्र करा दिया। मऊ के वाद पैलानी तहसील में भी नागरिकों की इस फौजे ने विजय पाई। इन सफलताओं को देखकर सिमरी तथा वसीलपुर के ग्रामीणों ने अन्य गांवों को मिला कर काफी वड़ा संगठन वनाया तथा इस सारे क्षेत्र से कम्पनी शासन के अवशेष चिह्नों के मिटाने में यह सफल रहा। वाद में यह संगठन नवाव बाँदा के लिए वहुत उपयोगी सावित हुआ। मऊ, ववेरू, पैलानी आदि सरकारी प्रशासनिक क्षेत्रों में कब्जा जमाने के वाद ग्रामीण आगे वाँदा को ओर वढ़े। "ग्रामीण क्षेत्रों में मुस्लिम वस्ती युक्त यमुना नदी के किनारे पर बसा चिल्ला गाँव उस समय वहुत खतरनाक हो गया था। इलाहावाद तथा वाँदा को मिलाने वाली यमुना नदी के किनारों पर स्थित घाटों में से यह मुख्य घाट था।"२१ आवागमन पर निगरानी रखता था।

उधर वावू राधे गोविन्द नें कर्वी में आन्दोलन को दिशा प्रदान की। कर्वी से कम्पनी शासन समाप्त कर ४० गनों तथा १५०० सैनिकों से सज्जित सेना के वल पर माधो राव तथा नारायण राव को यहाँ का पेशवा नियुक्त किया तथा दोनों के सम्मिलित नाम से प्रशासन चलने लगा।

उधर जव मऊ, पैलानी, ववेरू तथा ग्रामीण क्षेत्रों पर कब्जा जमाने के वाद क्रान्तिकारी सेना वाँदा के नजदीक आने की हुई तो नए जोश के साथ वाँदा खास तथा आसपास के ग्रामीण इलाकों के लोगों ने मिलकर वाँदा में भारी उत्पात मचाकर अंग्रेजों को नवाव के महल में संरक्षण लेने पर विवश कर दिया। अंग्रेज १२ जून के उत्पात को देखकर नवाव को बाँदा का प्रशासन सौंपकर १३ जून को इलाहावाद की ओर नवाब की मदद से भागने में सफल रहे।

नवाव पर उसकी अंग्रेजों के प्रति स्वामि भक्ति देखकर जनमत ने नवाव के महल पर जाकर उसे वुरा भला कहा। नवाब के सैनिक भी उसके साथ नहीं थे। नवाब का सलाहकार पहले से ही ऐसे मौके की तलाश में था। और इसने नवाव को सलाह दी कि क्रान्तिशारियों के साथ सहयोग करो। इस सलाह पर १४ जून को 'खुलुक खुदा, मुल्क वादशा, हुकुम नवाव अली बहादुर' की विधिवत घोषणा के साथ वाँदा के नवाव का पदारोहण किया गया। इस घोषणा में जो अर्थ निहित है कि खुदा की दुआ से, मुल्क के बादशाह वहादुरशाह (दिल्ली) के नाम पर अली बहादुर नवाव बाँदा का हुकुम चलेगा। देश की एकता की शक्ति का परिचायक है। सत्ता सभालने के बाद नई व्यवस्था में नवाब ने कम्पनी की सेवा के अनुभव प्राप्त विद्रोही उपजिलाधीश को बाँदा का निजाम नियुक्त किया। राजकाज ठीक से चलाने के लिए एक प्रशासनिक सलाहकार समिति नियुक्त की। समिति के सम्माननीय सदस्यों में मिर्जा विलायत खान, मिर्जा इमदाद खान, मीरइंशा अल्ला, मुहम्मद सरदार खान, मीर फरहत अली तथा सेठ उदय चन्द आदि थे। सेठ उदय चन्द की राज्य की रियासत का खजांची भी नियुक्त गया था।

१५ जून को सारे विद्रोही आन्दोलनकारी अपने-अपने क्षेत्रों की ओर भेज दिए गए। उनमें से कुछ को नवाव ने अंग्रेजों से सावधान करने हेतु मऊ, चिल्ला, घाटों में निगरानी के लिए लगा दिया।

इसके साथ लगभग सम्पूर्ण बाँदा में कम्पनी के शासन का अन्त हो गया था। क्योंकि केवल बदौसा तथा कलींजर के किलों में थोड़े से अंग्रेज रह गए। दोनों स्थानों पर अत्यन्त मजबूत किले हैं इनको तोड़ना साधारण फौज के बस की बात नहीं थी।

नवाब अली बहादुर बुन्देल खण्ड के पेशवा के जो कि १८०२ में मर गए थे के अवैधानिक पोते थे। इस प्रकार इनकी पारिवारिक रिश्तेदारी में नाना साहब (बिठूर) भी आते थे। नवाब की माँ कालपी के पेशवा की परिवारिक सदस्य थीं। अतः जब कानपुर में नाना को सहायता की जरूरत पड़ी तो नवाब ने हमीर पुर के रास्ते से काफी बड़ी सेना मदद के लिए भेजी। नवाब की सेना फतेहपुर के क्षेत्रों में भी लगातार लड़ने जाती रही।

मार्च १८५८ में जब टात्याटोपे चरखारी के देशद्रोही गद्दार राजा राव से लड़ने के लिए कालपी से आया तब नवाब ने ४०० सैनिक, १९ तोपें मझोली किस्म की तथा ३ लाख रूपये की मदद नवाब ने तात्या को भेजी। नवाब की नागरिक फौज की अद्भुत दिलेरी के कारण ही चरखारी के राजा को हराया जा सका था। यद्ध काल में राजा की मृत्यु हो गई।

चरखारी जीतने के बाद जब तात्या झाँसी में रानी की मदद के लिए चला तब भी नवाब ने सहायता के लिए सेना तथा रकम तात्या को भेजी।

मार्च के पूर्व तक नवाब को किसी तरफ से कोई खतरा नहीं था। क्योंकि हमीरपुर जनपद से मौदहा, सुरौली, विदोखर, जलालपुर, सुमेरपुर, मुस्करा, राठ, महोबा, जैतपुर और चरखारी आदि से क्रान्तिकारियों की भारी भीड़ ने अंग्रेजों को बाहर कर दिया था। इलाहाबाद तथा फतेहपुर में भी कम्पनी का शासन समाप्त था। रीवा, पन्ना से लगे बाँदा के क्षेत्र पर भी इस ओर से कोई खतरा नहीं था। फिर भी नाना के आदेश पर मध्यभारत की ओर से आने वाली अंग्रेज फौज का मुकाबला करने हेतु नवाब ने मऊ, राजापुर, अलिजापुर, तिसहां आदि में सेनाओं की चौकियाँ नियुक्त कर दी थीं।

ह्विटलाक को माह अप्रैल १८५८ में बाँदा मुक्ति के लिए कम्पनी ने इस क्षेत्र की ओर भेजा। हिवटलाक को स्थान-स्थान, गाँव-गाँव में विरोध का सामना करना पड़ा। क्योंकि नवाब ने सारे क्षेत्र में सैनिक चौकियाँ बिछा रखी थी। यह नवाब की भूल थी। इस वजह से नवाब की सेनाओं के संगठित विरोध का सामना हिवटलाक को नहीं करना पड़ा।

बाँदा में नवाब स्वयं, शहजादा वजीरखान तथा अन्य योग्य सैनिक मोर्चा सम्भाले हुए थे। परन्तु तात्या को काफी मात्रा में सेना की सहायता भेजते रहने तथा सारे क्षेत्र में सैनिकों का जाल फैला रखने के कारण, नवाब के पास सेना की कमी थी। अतः जब १९ अप्रैल को हिवटलाक ने बाँदा पर आक्रमण किया तो नवाब उसके खिलाफ पूरी बहादुरी के बावजूद ठीक से लड़ न सका। शीघ्र ही उसे मैदान छोड़ देने को बाध्य होना पड़ा। नवाब रातोंरात २००० सैनिक तथा अपने परिवार के सदस्यों को लेकर कालपी की ओर भाग निकला। २० अप्रैल १८५८ को बाँदा पुनः कम्पनी की परतंत्र जंजीरों में जकड़ लिया गया।

इसके बाद ६ जून को हिवटलाक ने कर्वी पर आक्रमण किया पेशवा बन्धु तथा बाबूराधे गोविन्द भाग निकले। जून के अन्त तक सम्पूर्ण बाँदा में पुनः एक बार कम्पनी का शासन कायम हो गया। हिवटलाक ने कर्वी में अस्त्र-शस्त्र बनाने का बड़ा कारखाना भी देखा था। जिसका संचालन बाबू राधे गोबिन्द करते थे। सम्पूर्ण बाँदा क्षेत्र में कम्पनी की सेना ने जीत तो हासिल कर ली, पर विद्रोह की कार्यवाहियाँ नहीं रोकी जा सकीं। बाबू राधे गोविन्द, पजाब सिंह, डेर सिंह आदि के नेतृत्व में करीब एक वर्ष तक छापामार गतिविधियाँ विद्रोहियों ने जारी रखीं। ये नेता चूंकि क्षेत्र की बहुत अच्छी जानकारी रखते थे। अतः आक्रमण करके क्षेत्र में फैली विंध्याचल की पहाड़ियों में छिप जाते थे। इनके आक्रमण तभी रोके जा सके जब इनको पहाड़ियों में घेर कर भूखों मरने के लिए विवश किया गया। परन्तु इनको पकड़ा नहीं जा सका था।

इनके अलावा मार्तण्ड राव टांडा, जनार्दन राव, मिहरेन बेग, शमशेर खान, मुहम्मद ईरक मीर आदि इस क्षेत्र के प्रमुख विद्रोही नेता थे जो आज के इतिहास में बड़े त्याग एवं वीरता के बावजूद गुमनामियों के शिकार हैं।

बाँदा की २००० सैनिकों की फौज लेकर जब नवाब कालपी पहुँचे तो वहाँ पर झाँसी में ४ अप्रैल की पराजय के बाद रानी तथा तात्या, मामा, भाऊराव पेशवा आदि जमा थ। इन सभी ने एक बड़ी सेना संगठित की। तथा कालपी में २२ मई को बहुत ही भीषण युद्ध लड़ा गया। (तात्या ने इस युद्ध में भाग नहीं लिया था) एक समय तो स्थिति यहाँ आ गई कि अंग्रेज सेना करीब-करीब भागने लगी। परन्तु तोपों की सहायता से (जो कि ऊँटों पर लदी थी) अंग्रेज सेना ने आन्दोलनकारी सेना के सुसंगठित नेतृत्व तथा पराक्रमी सेना को हरा दिया तथा २४ मई को रानी के ३९वें जन्म दिन पर कालपी में यूनियन जैक लहराया गया।

सभी विद्रोही भाग कर ग्वालियर पहुँचे। यहाँ पर एक जून को इन्होंने राजा को परास्त किया। नवाब तथा बाँदा के नागरिकों ने यहाँ भी दिलेरी से युद्ध क्षेत्र में अपना कर्तव्य निभाया। जीवाजी राव को हराने के बाद पुनः सेना संगठित कर आन्दोलनकारी अंग्रेजों का मुकाबला करने को तैयार होने लगे। जून में ग्वालियर शहर में भीषणतम् युद्ध लड़ा गया। यहीं पर कोटा की सराय में भारतीय इतिहास वीरागंना रानी की १७ जून को मृत्यु हो गई। अंग्रेजों की जीत हुई।

नवाब अपने सैनिकों सहित तात्या के साथ नवम्बर तक रहे। नवम्बर के तीसरे सप्ताह में नवाब ने भागते-भागते थक कर आत्म समर्पण कर दिया। बाद में पेंशन पर जीवन व्यतीत किया। इसी तरह से बाँदा मे अन्य विद्रोह भी १८६० तक शान्त कर दिये गए।

भारत में और उसके साथ-साथ बाँदा में विद्रोह की आग बुझा दी गई थी, लेकिन यह आग क्या बुझी रह सकती थी ? १८८५ से प्रारम्भ होकर १९४७ तक भारत में जो राष्ट्रीय मुक्ति-संग्राम अनवरत गति से चलता रहा था, वह इस प्रश्न का उत्तर था।

अन्त में केवल इतना कि जन आन्दोलन के लाँखों अनाम शहीद जो देश पर मिट गए, परन्तु इतिहास आज भी उनके बलिदानों के प्रति मूक है, उनकी आहुति को जन-जन तक पहुचाना ही उनके प्रति हमारी सच्ची श्रद्धांजलि होगी।

सन्दर्भ सूची

[1] मार्क्स एवं एंजेल्स, भारत का "प्रथम स्वतंत्रता आन्दोलन १८५७-५९ (तृतीय संस्करण)"; प्राग्रेस पब्लिसर्स मास्को, १९६८, पृष्ठ ३७-३८-६३

[2] "दि रिवोल्ट आफ हिन्दुस्तान", ईस्टर्न इंडिया कम्पनी, कलकत्ता, पृष्ठ ५१

[3] जस्टिन मैकार्थी, "ए हिस्ट्री आफ अवर ओन टाइम्स", भाग–२; लंदन एडीशन १९०५, पृष्ठ ६९-७२

[4] काए' "ए हिस्ट्री आफ द सिपाय वार इन इंडिया, भाग–२ (चतुर्थ संस्करण)" १८७८, पृष्ठ १९५

[5] मालेसन, "हिस्ट्री आफ द इंडियन म्यूटिनी,", भाग–३ (१८८०) पृष्ठ ४८७

[6] चार्ल्स वुल, "द हिस्ट्री आफ इंडियन म्यूटिनी", भाग २, लंदन, पृष्ठ ५७२

[7] वी० डी० सावरकर, "इंडियाज वार आफ इंडिपेडेंस", १९४६, पृष्ठ ३५७

[8] थामस लो, "सेन्ट्रल इंडिया ड्यूरिंग दि रिबेलियन आफ", १८५७-५८, १८६०, पृष्ठ ३२४

[9] सर ट्रेवेलियन, "कानपुर (चतुर्थ संस्करण)" पृष्ठ ३०

[10] तारा चांद, "हिस्ट्री आफ दि फ्रीडम मूवमेंट इन इंडिया", भाग–२, प्रथम संस्करण, दिल्ली, १९६७, पृष्ठ ४०

[11] तारा चांद, पूर्वोक्त पुस्तक, पृष्ठ ४५-४६

[12] एस० एन० सेर, "एट्टीन फिफ्टी सेवन", दिल्ली, १९५७, पृष्ठ ६

[13] तारा चांद, पूर्वोक्त पुस्तक, पृष्ठ ६८

[14] एस० एन० सेन, पूर्वोक्त पुस्तक, पृष्ठ १३

[15] प्रिचार्ड रसेल, "माई डायरी इन इंडिया भाग–१" पृष्ठ २७८

[16] रजनी पाम दत्त, "आज का भारत", प्रथम संस्करण (हिन्दी) दिल्ली १९७७, पृष्ठ २७२

[17] रजनी पाम दत्त, पूर्वोक्त पुस्तक, पृष्ठ १२९-३०

[18] रजनी पाम दत्त, पूर्वोक्त पुस्तक, पृष्ठ १४२-१४९

[19] जान हैरिस, "द इंडियन म्यूटिनी", लंदन १९७३, पृष्ठ १२६

[20] एस० ए० रिजवी सम्पादक, "फ्रीडम स्ट्रगल इन यू० पी० भाग–१", लखनऊ १९५७, पृष्ठ ६७-७३

[21] एस० बी० चौधरी, "सिविल रिबेलियन इन द इंडियन म्यूटिनीज" (१८५७-५९), कलकत्ता, १९५७, पृष्ठ २०७-२१२

———

कच्छप की जनन-प्रक्रिया तथा उस पर बाह्य परिस्थितियों के प्रभावों का विवेचनात्मक अध्ययन

डा० देवेन्द्र प्रताप सिंह

पत्तियों तथा स्तनधारियों की जनन-क्रिया के सम्वन्ध में पर्याप्त अध्ययन हुआ है, किन्तु जहाँ तक सरी सूप अर्थात् जमीन पर रेंगकर चलनेवाले वर्ग का सम्बन्ध है, अभी तक बहुत कम अध्ययन हुआ है। इनमें भी छिपकलियों तथा सर्पों के बारे में यथेष्ठ साहित्य उपलब्ध है किन्तु कच्छप समुदाय (Chelonia) के बारे में अपेक्षाकृत बहुत कम। इस वर्ग के सदस्यों को साधारणतया टरटल (Turtle), टारट्वायस (Tortoise) तथा टेरापिन (Terrapin) नाम से पुकारते हैं। ये सम्पूर्ण विश्व में पाये जाते हैं। इंगलैंड में (Turtle) टरट्ल समुद्र में पाये जाने वाले कच्छप को कहते हैं तथा टारट्वायस (Tortoise) थलीय कच्छप को। परन्तु अमेरिकन वैज्ञानिकों के अनुसार टरटल (Turtle) का बोध विशेष रूप से मीठे जल में प्राप्त होने वाले कछुए से होता है। थलीय कच्छप को टरट्वायण (Tortoise) तथा समुद्री कछुओं को टेरापिन कहते हैं। तालाब में पाये जाने वाले कच्छप की भी भिन्न-भिन्न जातियाँ होती हैं। कछुआ (Kachuga) नामक कच्छप उत्तरी भारत में गंगा नदी में अधिक प्राप्त होते हैं। लिसेमिस (Lissemys) नामक कच्छप तालाबों में पाये जाते हैं। सबसे बड़े और भारी कच्छप समुद्र में पाये जाते हैं जिसमें कुछ (Galpagos island) गालपेगोस द्वीप समूह में कई सौ पाउण्ड वजन के तथा कुछ तो आधे टन वजन के भी होते हैं। ठंढे देशों में पाये जाने वाले कच्छप स्टरनोथेरस तथा टेरापिन के प्रजनन चक्रों का अध्ययन क्रमशः रिसले तथा एटलैंड आदि ने किया है। यहां पर सर्वप्रथम गर्म देशों में पाये जाने वाले तालाबीय कच्छप लिसेमिस पंकटेटा (Lissemys punctata) के बारे में अध्ययन किया गया है।

कच्छप दीर्घजीवी होते हैं। कुछ जातियां तो एक सौ वर्षों से अधिक भी जीवित रहती हैं। भारत में पाये जानेवाले कच्छपों के जीवन की अवधि के विषय में निश्चत जानकारी नहीं है क्योंकि कुछ ही को जलागारों में रखकर निरीक्षण किया गया है। ठंढे देशों में तालाबीय कच्छप एमिस आरविकुलोरिस की आयु ६० वर्ष है, तथा टेस्टूडो ग्रेसिया एक सौ वर्षों से भी अधिक जीवित रहता है। कच्छप का उपयोग हमारे तथा अन्य देशों में भोजन के रूप में किया जाता है।

वाराणसी २५°१८′ Latitude उत्तर में तथा Longitude ८३°१′ पूरब में स्थित है। मौसम के सभी तत्व उदाहरणार्थ तापक्रम, वर्षा तथा आर्द्रता में बहुत स्पष्ट उतार चढ़ाव दिखाई देता है। यहाँ की अपेक्षित आर्द्रता लगभग ७० प्रतिशत है तथा वार्षिक वर्षा लगभग ४० इंच है। कुल मिलाकर यहाँ का मौसम गर्म तथा नम है। इसलिए मौसम के हिसाब से सुरास्टप के प्रजनन-क्रम के अध्ययन हेतु यह उपयुक्त माना गया है। उक्त सभी वाह्य परिस्थितियों की उपस्थिति में उन कछुओं (लिसेमिस) के

जो यहाँ के तालाबों में निवास करते हैं उनके प्रजन-क्रिया-क्रम के अध्ययन को विशेष महत्वपूर्ण एवं रुचिकर होने की आशा निश्चित रूप से की जाती है। इन्हीं बातों को ध्यान में रखकर लेखक ने इस कछुए (लिसेमिस पंकटेटा ग्रेनोसा) के नर तथा मादा प्रजनन-क्रिया-क्रम तथा उस पर वाह्य परिस्थितियों जैसे, ताप, प्रकाश, वर्षा एवं आर्द्रता आदि के प्रभाव का अध्ययन किया है।

लिसेमिस नामक कछुआ असमतापी जन्तु है, इसलिए यह जन्तु अपने शरीर के ताप को प्रत्येक मौसम में समान नहीं रख सकता और इसके शरीर का ताप मौसम के अनुसार घटता बढ़ता रहता है। अपने इस गुण के कारण कछुआ न तो अधिक सर्दी सहन कर सकता है और न तो अधिक गर्मी। ऐसे मौसमों में यह भूमि के अन्दर नम स्थानों में चला जाता है वहाँ यह निष्क्रिय हो जाता है, और अपने शरीर से किसी प्रकार की गति नही होने देता। शरदऋतु में इस प्रकार निश्चेष्ट तन्द्रावस्था को शीत-निष्क्रियता (Hibernation) तथा गर्मी की तन्द्रावस्था को ग्रीष्म निष्क्रियता (Aestivation) कहते हैं। अनुकूल वातावरण आने पर सचेष्ट होकर अपने छिपने के स्थानों से वाहर आकर सक्रिय जीवन व्यतीत करने लगता है।

कछुए मांसाहारी होते हैं, और बड़ी मछलियों, मेढ़क, सीपी, घोंघा आदि इनके आहार हैं तथा जीवित एवं मरे हुए दोनों प्रकार के शिकार को समान रूप से ग्रहण करते हैं। बहुत से मन्दिरों में इन्हें पालकर रखा जाता है तथा उसे शाकाहारी भोजन का अभ्यस्त वनाया जाता है। प्रायः सभी कछुए अंडा देनेवाले जन्तु होते है। नर तथा मादा कछुए का अन्तर जानने हेतु उनकी पूँछ का अवलोकन करना होगा नर कछुए की पूँछ बड़ी होती है तथा मादा की छोटी। कुछ जातियों में गिरगिट की भांति रंग भी बदलता हुआ नजर आता है, जैसे नर कछुआ **बाटागुर बासका** में बहुत से विशेष रंग प्रजनन के अवसर पर दिखाई देते हैं। नर तथा मादा दोनों कछुओं में सुगंधित ग्रन्थियाँ पायी जाती हैं जिनका स्राव सम्भवतः एक दूसरे को आकर्षित करने में सहायक होता है। यह एक लम्बी पक्ति में सुगंधित पदार्थ पानी में जहाँ वह निवास करते हैं बिखेर देते हैं, थलीय कच्छप में यह बात नहीं पायी जाती। अमेरिकन कच्छपों में यह पदार्थ अत्यधिक सुगंधित होता है। एशिया में पाई जाने वाली जाति **जीओमाइडा त्रिजुगा** नामक कच्छप बहुत ही सुगंधित पदार्थ छोड़ता है। लिसेमिस के बारे में ऐसे किसी विशेष पदार्थ का पता नहीं लगाया जा सका है। स्तनधारी जीवों एवं पक्षियों में मैथुनकाल निश्चित सा रहता है। उसी प्रकार लिसेमिस में भी यह प्रक्रिया निश्चित सी होती है जो जून तथा जुलाई के महीनों में हुआ करती है। अगस्त तथा सितम्बर के महीने में यह अण्डा देता है। ये अपना अण्डा अपने पिछले पैर के नाखून से रेतीली जमीन को खोद कर उसी बनाये हुए छोटे गड्ढे में देते हैं, तदुपरांत उसे रेत से ढक देते हैं। मादा कछुआ कभी-कभी उक्त गड्ढे को पत्तियों से भी ढक देती है। यह गड्ढा ३० से लेकर ३५ से० मि० व्यास का होता है।

नर कछुए (लिसेमिस) में एक जोड़ा वृक्क, एक जोड़ा वृषक, एक जोड़ी शुक्र वाहिकाएँ तथा एक जोड़ा मूत्र वाहनियाँ तथा एक मैथुन लिंग होता है। प्रत्येक वृषण वृक्क

के अग्रछोर के पार्श्व में अधर तल पर स्थित होता है। यह पीले रंग का लम्बवत होता है। प्रत्येक वृषण से दो महीन वाहिकाऐं निकलती हैं जिनको शुक्र वाहिकाऐं कहते हैं। ये शुक्र वाहिकाऐं सर्पिल होती हैं अन्ततोगत्वा अवस्कर छिद्र में जाकर खुल जाती हैं। वृक्कों से भी एक जोड़ा अलग-अलग मूत्रवाहनियाँ चलती हैं, जो अन्त में अवस्कर छिद्र में ही खुल जाती हैं। अवस्कर में ही मैथुन लिंग (Penis) स्थित होता है। नर कछुए (लिसेमिस) के प्रजनन-क्रिया-क्रम को चार भागों में बाँटा गया है :—

(१) Preparatery phase दिसम्बर से फरवरी तक।
(२) Progressive phase मार्च से मई तक।
(३) Reproductive phase जून से अगस्त तक।
(४) Regressive phase सितम्वर से नवम्वर तक।

लिसेमिस के वृषण (Testis) के भार तथा आयतन के वर्ष भर की औसत तालिका को देखने से ज्ञात होता है कि दिसम्बर से फरवरी तक वृषण छोटे होते हैं। इनका न्यूनतम आयतन जनवरी में तथा न्यूनतम भार दिसम्वर में होता है, जबकि औसत आयतन १०·१६६ घन मि० मि० तथा औसत भार १·७५ ग्राम होता है। यही स्थिति फरवरी तक रहती है। फरवरी के पश्चात् वृषण के भार तथा आयतन दोनों में वृद्धि होने लगती है और अपनी चरम सीमा पर जुलाई-अगस्त महीनों में पहुँच जाती है जब कि औसत आयतन ८०·२५ घन मि० मि० तथा औसत भार ६·१ ग्राम होता है। जनन-काल के अन्त में वृषण तथा भार दोनों में ही कमी आने लगती है, और इस प्रकार सितम्वर से ही घटना प्रारम्भ हो जाता है और दिसम्वर तथा जनवरी में न्यूनतम भार तथा आयतन देखा जाता है।

मादा कछुआ (लिसेमिस) में प्रमुख जननांग दो होते हैं :—अँडाशय तथा अण्डवाहनियाँ, ये दोनों एक-एक जोड़ा होती हैं।

अँण्डाशय अनियमित आकार के थैले के समान विशाल अंग होते हैं जो वृक्कों के सन्निकट देह के पृष्ठतल पर जुड़े रहते हैं। जनन काल में ये काफी वड़े हो जाते हैं। अण्डाशय में वहुत सारे गोल और पीले मट मैले रंग के भिन्न-भिन्न आकार के अण्डे भरे रहते हैं। इनमें पतिक (yolk) भरा रहता है। अण्डे जब पक कर तैयार हो जाते हैं तो अण्डाशय की दीवाल फट जाती है और ये अण्डवाहिनी के प्रथम अग्रभाग आस्टियम (ostium) जिसकी कीप सदृश रचना होती है उसमें गिर पड़ते हैं। अस्टियम में अल्बूमिन वनता है जो अंडे को घेर लेता है तथा गर्भाशय में जब अण्डा पहुँचता है तो उसकी दीवाल से निकला हुआ पदार्थ अण्डे के सबसे बाहरी परतों (कवच तथा कवचझिल्ली) का सृजन करता है जो अण्डे को पूरी तरह घेर लेती हैं। मादा लिसेमिस एक वार में दो से छः अंडे तक देती है। यह तथ्य लेखक द्वारा किए गये अन्वेषण से ज्ञात हुआ है। उसके अन्डे पिंगयांग के छोटे-छोटे गेंद के आकार के गोले तथा सफेद रंग के होते हैं। ये अंडे मादा कच्छप द्वारा रेत के गड्ढे में ढक दिये जाते हैं तथा कुछ समय के बाद छोटे-छोटे बच्चे अपने थुथुन के सम्मुख वाले दाँत (Eggtooth) से कवच को फोड़ कर बाहर निकलते हुए दृष्टिगोचर होने लगते हैं और इनका आकार प्रकार प्रौढ़ कछुए के समान होता है। इस

कछुये के अण्डाशय के औसत भार तथा आयतन के अध्ययन से पता चलता है कि इसका प्रजनन-क्रिया-क्रम भी नर कछुए के जनन-क्रिया-क्रम की ही भाँति चार भागों में विभाजित किया जा सकता है। Preparatory period जो दिसम्बर से फरवरी तक चलता है। तथा अण्डाशय छोटे होते हैं। उनका औसत आयतन २०० से ३००·५ घन मि० मि० तथा औसत भार ४·४ ग्राम से ५·५ ग्राम होता है। Progressive period में मार्च से अण्डाशय बढ़ना प्रारम्भ हो जाता है और Reproductive period जुलाई-अगस्त में उसकी पराकाष्ठा पहुँच जाती है जबकि उसका औसत भार १४ ग्राम तथा औसत आयतन ९०० घन मि० मि० हो जाता है। Regressive period सितम्बर से यह घटना शुरू हो जाता है और घटते-घटते अक्तूबर नवम्बर से होता हुआ दिसम्बर में न्यूनतम स्थिति में पहुँच जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि नर तथा मादा कछुए (लिसेमिस) में प्रजनन-क्रिया-क्रम की चार उपरोक्त भिन्न अवस्थाएँ होती हैं जिनके साथ-साथ शुक्राणुजनन (Spermatogenesis) तथा अंडजनन (oogenesis) की क्रियाएँ भी होती रहती हैं। पहले जनन-क्रम का अन्त नवम्बर माह में होता है और नया जनन-क्रम जनवरी तथा फरवरी के महीनों में हो जाता है। मार्च तथा अप्रैल में अधिक गतिशीलता आ जाती है। मार्च के अन्त तक शुक्राणु प्रगट होने लगते हैं। और मई के अन्त में शुक्रगण शुक्रजनन नलिकाओं में पूर्ण परिपक्व अवस्था में भरे हुए पाये जाते हैं। जुलाई तथा अगस्त में इनकी उत्पत्ति चरमसीमा पर रहती है और इन्हीं महीनों में मैथुन क्रिया भी होती है तथा मादा कच्छप अंडे भी देती है। इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि नर तथा मादा कच्छप, दोनों का जननकाल जुलाई-अगस्त में साथ ही होता है जबकि प्रकाश, ताप, वर्षा तथा आर्द्रता भी अधिकतम होती है। यह क्रियाशीलता प्रमुख रूप से वाह्य परिस्थितियों एवं अन्तः परिस्थितियों द्वारा प्रभावित होती रहती है। वाह्य परिस्थितियों में मुख्य रूप से तापक्रम, प्रकाश, वर्षा आर्द्रता एवं दिन की अवधि की न्यूनाधिकता का प्रभाव पड़ता रहता है। इस कच्छप की जननक्रियाशीलता का आरम्भ मार्च में होता है जब दिन बड़े होने लगते हैं तथा तापक्रम भी बढ़ने लगता है। यह क्रियाशीलता जुलाई अगस्त में अपनी चरमसीमा पर पहुँच जाती है जब दिन सर्वश्रेष्ठ होते हैं तथा तापक्रम भी ऊँचा होता है और आर्द्रता तथा वर्षा भी अधिक होती है एवं भोजन भी सर्वाधिक मात्रा में उपलब्ध होने लगता है। तत्पश्चात यह क्रियाशीलता घटनी आरम्भ हो जाती है और दिसम्बर तक न्यूनतम हो जाती है जब दिन सबसे छोटे होने लगते हैं और तापक्रम भी न्यूनतम हो जाता है। इसका निष्कर्ष यह हुआ कि कच्छप जाति की प्रजनन-क्रिया-क्रम में प्रकाश, ताप तथा आर्द्रता का विशेष महत्व है। प्रकाश तथा ताप जीवन के स्रोत हैं और आर्द्रता इसके जीवन निर्वाह में सहायक है। यह विशेषता सार्वभौम है, क्योंकि ठंढे देशों में भी ऐसी बात पायी जाती है। इस प्रकार इस क्रियाशीलता का वाह्य परिस्थितियों के साथ सामंजस्य स्थापित किया गया है जो कच्छप के जीवन-चक्र की विवेचना में बहुत महत्वपूर्ण सिद्ध हुई है।

प्रदूषित वायु के परिशोधन में वृक्षों का योगदान

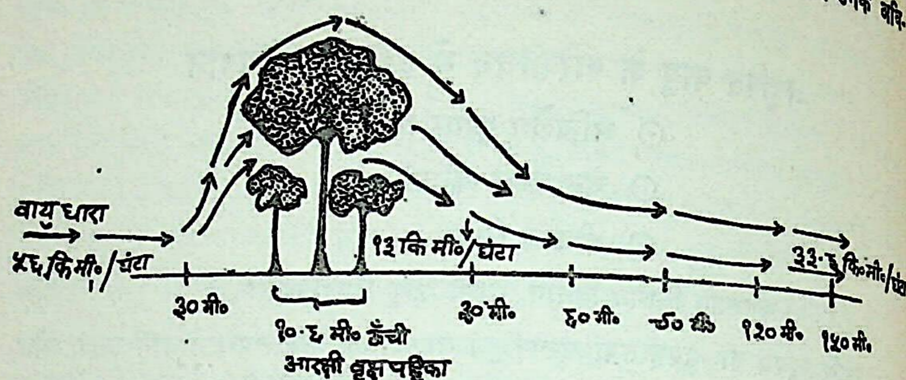
⊙ अखिलेश कुमार सिंह
⊙ चन्द्रशेखर चौधरी
⊙ श्रीनाथ सिंह
[वनस्पति विज्ञान विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय]

यद्यपि प्रदूषण की दुरूह तथा चुनौतीपूर्ण समस्या का सर्वोत्तम समाधान उसके स्रोत पर ही नियंत्रण स्थापित करना है और इस उद्देश्य की प्राप्ति हेतु विशिष्ट यंत्रों तथा यांत्रिक-प्रविधियों का विकास और उनका कुशल उपयोग अपरिहार्य है। तथापि मानव जाति की युगों पुरानी सहयोगी वनस्पतियाँ भी प्रदूषण-विरोधी युद्ध में अतिशय प्रभावशाली शस्त्र के रूप में सामने आती हैं।[१] महानगरीय विकास की योजनाओं में 'हरित क्षेत्रों' (Green-belts) के निर्माण तथा उनके संरक्षण की योजना वह महत्वपूर्ण साधन है जिसके माध्यम से नगर-नियोजक प्रदूषण रोकने तथा महानगरीय वातावरण को स्वस्थ बनाये रखने में प्रभावशाली भूमिका अदा कर सकते हैं। ये 'हरित क्षेत्र' कई रूपों में हो सकते हैं, यथा–सार्वजनिक पार्कों, व्यक्तिगत उद्यानों अथवा औद्योगिक प्रतिष्ठानों के चारों ओर विकसित की गयी 'आरक्षी रोपवनी' (Protective plantations) के रूप में।

वृक्ष क्या करते हैं—

प्रदूषक प्रायः गैसीय अथवा ठोस कणिकीय रूप में होते हैं। वायुमण्डल में विद्यमान सूक्ष्म कणों का वायु से विलोपन (deletion), निक्षेपण, निक्षालन अथवा किसी अवरोध से टकराने की प्रक्रिया द्वारा होता है। वृक्ष इस प्रकार के अवरोध निर्माण के सर्वोपयुक्त एवं सर्वसुलभ साधन हैं। वायुमण्डल से सूक्ष्म कणों के विलोपन में, कणों का वृक्षों तथा झाड़ियों से होने वाला टकराव (जो उनको आगे बढ़ने से रोक देता है) निक्षालन तथा निक्षेपण की प्रक्रिया से अधिक प्रभावशाली है। विशिष्टतया वे सूक्ष्मातिसूक्ष्म कण जो स्वतः निक्षेपित नहीं हो पाते (अपनी सूक्ष्मता के कारण) अथवा वे कण जो वर्षा-जल में अविलेय होने के कारण निक्षालित नहीं हो पाते, वृक्षों द्वारा प्रभावशाली ढंग से अधिशोषित कर लिए जाते हैं। वायुमण्डल से कणों के विलोपन की दक्षता उनके व्यास के अतिरिक्त एक बड़ी सीमा तक वृक्षों की ऊँचाई, उनके छत्रक-विस्तार तथा सतह और कणों के टकराव की आपेक्षिक गति पर निर्भर करती है। यदि ५६·३ कि० मी० प्रति घंटे के वेग से बहती हुई हवा १०·६ मीटर की ऊँचाई वाले वृक्षों से निर्मित आरक्षी पट्टी (Protection belt) से टकराती है तो वृक्षों से लगभग ३०·५ मीटर की दूरी पर वायु-वेग मात्र १३·६ कि० मी०/घंटा रह जाता है और अधिकांश कण और आगे बढ़ने में असमर्थ हो जहाँ के तहाँ अधिशोषित तथा निक्षेपित हो जाते हैं।[२] (चित्र १)

वायु से गैसीय प्रदूषकों का हरण उनकी अन्य गैसों से अभिक्रिया, वर्षा-जल अथवा किसी सतह पर उपस्थित नमी में उनके अवशोषण तथा वायु में तैरते ठोस कणों पर उनके अधि-



चित्र १— वायु की गति पर वृक्षों का प्रभाव

शोषण द्वारा होता है। गैसीय प्रदूषकों के हरण में सहायक रासायनिक अभिक्रिया-शृंखला में 'आक्सीकरण, (Oxidation) एक महत्वपूर्ण पद है। वातावरण में विद्यमान आक्सीजन की विशाल मात्रा (जिसके निर्माण में पादप जगत—विशिष्टतया हरे पौधों—का महत्वपूर्ण योगदान है) इसके लिए वरदान सिद्ध होती है। विलेय गैसें वर्षा-जल के अतिरिक्त वृक्षों, झाड़ियों, तथा अन्य सतहों पर उपस्थित नमीं में आसानी से अवशोषित हो जाती हैं। विषाक्त गैसों का अवशोषणात्मक हरण वातावरणीय परिस्थितियों के अतिरिक्त उनकी विलेयता तथा अवशोषक सतह के क्षेत्रफल पर भी निर्भर करता है। वृक्षों की पत्तियों पर उपस्थित वातरंध्र अवशोषण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। क्योंकि एक तो वे गैसों को प्रवेश का सीधा मार्ग उपलब्ध कर देते हैं, दूसरे उनकी उपस्थिति अवशोषक सतह का कई गुना विस्तार कर देती है। इस प्रकार जीवित पौधों में अनवरत चलते रहने वाले सामान्य गैस विनिमय के साथ विषाक्त गैसें भी पत्तियों में प्रवेश कर जाती हैं। विवश पौधों द्वारा होने वाला यह विषपान उनके लिए तो घातक ही होता है पर देवाधिदेव शिव की भाँति सारी धूल अपने शरीर पर धारण कर और गैसीय विष का मौन पान कर वे मानव जाति का महत् कल्याण करते हैं।

यद्यपि केवल वृक्षारोपण तथा रोपित वृक्षों का संरक्षण ही वातावरण प्रदूषण की जटिल समस्या के निराकरण हेतु काफी नहीं हो सकता तथापि 'आरक्षी रोपवनियाँ' समस्या के समाधान में प्रभावशाली भूमिका अदा कर सकती हैं, यदि—

(१) वृक्षों का चयन उपयुक्त हो।

(२) वृक्षारोपण उचित स्थान पर तथा उचित ढंग से किये जायँ। तथा

(३) वृक्षारोपण में वातावरणीय, मौसमी तथा भू आकृतिकीय कारकों पर भी सूक्ष्म विचार किया जाय।

उपयुक्त प्रजातियों का चयन—

औद्योगिक संयंत्रों से आवासीय क्षेत्रों की ओर जाने वाली धूल तथा विषाक्त गैसों के निस्यन्दन हेतु 'हरित पट्टिकाओं' (Green belts) के विकास में उपयुक्त वृक्ष-प्रजातियों का चयन बहुत ही महत्वपूर्ण है। सभी पंक्तियों के वृक्ष एक ही जाति के नहीं होने चाहिए। क्योंकि एक ही जाति के वृक्षों के छत्रक प्रौढ़ावस्था में लगभग एक ही स्तर पर होंगे जो प्रदूषकों के निस्यंदन में बहुत प्रभावशाली नहीं हो पायेंगे। भिन्न-भिन्न जातियों के वृक्षों का चयन करने से उनके कई स्तरों पर फैले पर्ण-छत्र निस्यंदन में अधिक प्रभावशाली हो उठेंगे। वृक्षों की जातियों का चयन जितना महत्वपूर्ण है व्यावहारिक दृष्टि से उतना ही जटिल भी। सिद्धान्त रूप में यह कहा जा सकता है कि उन्हीं जातियों का चयन करना चाहिए—

(१) जो प्रदूषण प्रतिरोधी हों।

(२) जिनकी वृद्धि गति बहुत तीव्र हो।

(३) जो सम्बन्धित स्थान के वातावरण में अपना अस्तित्व बनाये रख सकें।

(४) जिनके पर्णछत्र विस्तृत और सघन हों।

तथा

(५) जो पूरे वर्ष हरे रहते हों अर्थात् पतझर न होता हो।

शीत कटिबन्धीय देशों में चीड़ के वृक्ष इस कार्य हेतु बहुत उपयोगी प्रतीत हुए थे। उनकी निस्यंदन क्षमता पतझर वाले वृक्षों की अपेक्षा बहुत अधिक होती है। परन्तु चीड़ के वृक्षों की एक कमजोरी यह है कि वे प्रदूषण के प्रति अत्यधिक संवेदनशील होते हैं। इस तथ्य का पता लगाने हेतु कि कौन-कौन सी वृक्ष-प्रजातियाँ सर्वाधिक प्रभावशाली निस्यंदक के रूप में कार्य कर सकती हैं, सोवियत रूस में एक रुचिकर प्रयोग किया गया। इस प्रयोग में प्रायोगिक वृक्षों की प्रति इकाई क्षेत्रफल पर्ण-सतह पर एकत्रित धूल की मात्रा ज्ञात कर ली गयी। निस्यंदन की घटती हुई क्षमता के अनुक्रम में कुछ प्रमुख निस्यंदक जातियाँ निम्नलिखित हैं[३]—

पौधों की जाति	धूल की मात्रा (ग्रा०/वर्ग मी० पर्णसतह)
लाइलैक (Lilac)	२.३३
मैपिल (Maple)	१.११
लिंडेन (Linden)	०.६१
पापलर (Poplar)	०.२६

ऐसा आकलित किया गया है कि २.५ एकड़ में फैले पापलर के ४०० वृक्ष (जो कि निम्नतम निस्यंदन क्षमता दर्शाते हैं) पर्ण धारण के पूरे मौसम में ०.३७५ टन धूल का निस्यंदन करते हैं।

जहाँ तक प्रदूषण प्रतिरोध का प्रश्न है, कोई भी वृक्ष एक साथ सभी प्रदूषकों के लिए प्रतिरोध नहीं दर्शाता। इस लिए विभिन्न प्रकार की परिस्थितियों में आरक्षी वृक्षारोपण के लिए भिन्न-भिन्न जातियों का चयन आवश्यक हो जाता है। कोयले के जलाने से उत्पन्न धुएँ के प्रति प्रतिरोध दर्शाने वाली आरक्षी वृक्षारोपण हेतु उपयुक्त कुछ जातियाँ निम्नलिखित हैं[४]—

क्विन्स, ओलिएस्टर, गार्डेन वुडवाइन, सफेद शहतूत, खुबानी, बाक्स एल्डर इत्यादि।

शीत कटिबन्धीय क्षेत्रों में स्थित औद्योगिक प्रतिष्ठानों की खुली भूमि पर तथा प्रतिष्ठानों के चतुर्दिक पापलर, लिन्डेन, सेव, रसभरी, चीड़, पर्वतीय बॉज, लाल बाँज, बीच इत्यादि के मिश्रित और सघन समूहों का रोपण प्रदूषण रोकने में प्रभावशाली भूमिका अदा कर सकता है।

इस प्रकार के वृक्ष-समहों के रोपण से वातावरण का गैसीय संगठन परिवर्तित हो जाता है और दूषित वातावरण को स्वस्थ होने में सहायता मिलती है।[५]

खेद की बात है कि भारत में इस सम्बन्ध में हुए अध्ययन नगण्य ही हैं। सामान्य प्रेक्षणों से आम के वृक्ष आरक्षी वृक्षारोपण हेतु बहुत उपयोगी प्रतीत होते हैं, क्योंकि—

(१) वे सदा हरे रहते हैं।

(२) उनका पर्ण-छत्र सघन और विस्तृत होता है।

(३) वे दीर्घजीवी होते हैं। साथ-ही-साथ

(४) वे फलोत्पादक भी हैं।

इस प्रकार प्रदूषण रोकने के अतिरिक्त वे सीधा आर्थिक लाभ भी प्रदान कर सकते हैं। परन्तु एक कठिनाई यह है कि आम के वृक्ष प्रदूषण के प्रति बहुत अधिक संवेदनशील होने के कारण दूषित वातावरण में शीघ्र ही मृत्यु की ओर अग्रसर होने लगते हैं।

वाराणसी स्थित डीजल रेल इंजन निर्माण कारखाने के समीस्थ गुरुत्वीय कोयला स्थानान्तरण यार्ड के निकटवर्ती क्षेत्रों में पर्यावरण प्रदूषण से होने वाली व्यापक क्षति का सविस्तर अध्ययन करने के पश्चात डा० ध्रुवनारायण राव ने प्रदूषण रोकने हेतु आवासीय तथा कृषि क्षेत्रों और प्रदूषण-स्रोत के मध्य जंगल जलेबी (Pithecolobium dulce) के पौधों के सघन रोपण का सुझाव दिया था[६]। यह कुल माइमोसाइडी (Mimosoideae) का एक बड़ा, काष्ठिल, कंटकी, झाड़ीनुमा प्रदूषण प्रतिरोधी वृक्ष है जो मैक्सिको से फिलीपाइन होते हुए भारत आया है। यह तीव्रता से बढ़ने और फैलने वाला, सदा हरा रहने वाला वृक्ष है जो बहुत कम पानी की आवश्यकता रखता है। पशु चारण के प्रति प्रतिरोधी होने के कारण इसके नवोद्भिदों की विशेष सुरक्षा व्यवस्था भी नहीं करनी पड़ती है।

महानगरों में प्रदूषण न्यूनीकृत करने हेतु महानगर के चतुर्दिक तथा औद्योगिक क्षेत्रों और आवासीय भागों के मध्य जंगल जलेबी के सघन समूहों का रोपण बहुत लाभप्रद सिद्ध होगा। लेखक का अनुभव है कि ४–५ वर्ष की अल्प अवधि में ही यह वृक्ष

१८ से २० मीटर की ऊँचाई प्राप्त कर लेता है। जंगल जलेवी के अतिरिक्त आरक्षी वृक्षारोपण हेतु उपयुक्त कुछ अन्य वृक्ष प्रजातियाँ निम्नलिखित हैं[७]—

शीशम (Dalbergia sissoo)
पीपल (Ficus religiosa)
अशोक (Polyalthia longifolia)
नींबू (Citrus sp.)
बबूल (Acacia arabica)
बेर (Ziziphus sp.)
नीम (Azadirachta indica)
जामुन (Syzygium jambolana)
गुड़हल (Hibiscus sp.)
बरगद (Ficus bengalensis)
इमली (Tamarindus indica)
अरण्ड (Ricinus communis)

लघु स्तर पर, विशिष्टतया घरों के सामने इस कार्य के लिए मोटे अधिचर्म तथा एक पतली मोमी पर्त से युक्त चिकनी पत्तियों वाली मौसमी या बहुवर्षी लताओं तथा मोरपंखी जैसी सघन झाड़ीनुमा प्रजातियों का उपयोग किया जा सकता है।

प्रदूषण संवेदनशील अथवा अल्प प्रतिरोधी प्रजातियों की प्रतिरोध क्षमता में वृद्धि करने हेतु संकरण के आश्रय का विचार भी चिकर है। 'स्प्रूस' पर किये गये इस प्रकार के प्रयोगों में उल्लेखनीय सफलता प्राप्त हुई है।[८] आरक्षी वृक्षारोपण में प्रयुक्त प्रजातियों का प्रदूषण-प्रतिरोध बढ़ाने हेतु उर्वरकों का उपयोग भी लाभप्रद पाया गया है।[९]

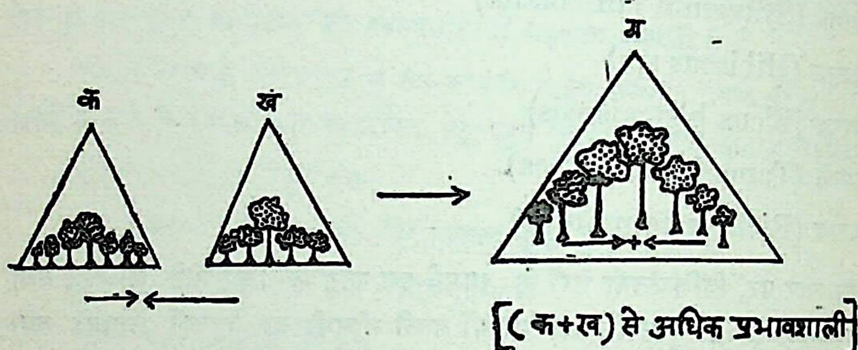
आरक्षी वृक्षारोपण : कुछ वैज्ञानिक सुझाव—

वृक्षारोपण द्वारा विकसित की जाने वाली आरक्षी पट्टिका (Protective belt) की लम्ब अक्ष (axis) वायु-प्रवाह की दिशा के लम्बवत (Perpendicular) होनी चाहिए। अर्थात् वृक्षारोपण इस ढंग से करना चाहिए कि हवा को वृक्षों द्वारा निर्मित वाड़ से सीधे टकराना पड़े। यदि किसी स्थान पर वायु-प्रवाह की कोई प्रमुख निश्चित दिशा न हो और वायु प्रायः कई दिशाओं में प्रवाहित होती हो तो प्राथमिक पट्टी के साथ साथ वृक्षों की द्वितीयक पट्टिकाओं का भी विकास करना चाहिए। अनेक छोटी-छोटी आरक्षी वृक्ष पट्टिकाओं के विकास के बजाय अविच्छिन्न लम्बी पट्टिकाओं का विकास करना अधिक लाभप्रद है। क्योंकि एक निश्चित सीमा तक हरित पट्टिकाओं की आरक्षी क्षमता उनकी लम्बाई में वृद्धि के वर्ग के अनुपात में बढ़ती है।[२] अर्थात् यदि किसी आरक्षी पट्टिका की लम्बाई पहले से दो गुनी कर दी जाय तो उसकी आरक्षी क्षमता पहले से चार गुनी हो जायेगी। (तालिका १)।

तालिका—१

आरक्षी पट्टिका की लम्बाई तथा आरक्षण क्षमता में वृद्धि का पारस्परिक अनुपात

वृक्षों की ऊँचाई (मी०)	आरक्षी पट्टी की लम्बाई—(मी०)	लम्बाई में वृद्धि—	आरक्षित क्षेत्रफल (वर्ग मी०)	आरक्षी क्षमता में वृद्धि—
१५.२५ मी०	३०.५	—	१३.९५	—
” ”	६१.०	२	५५.८	४
” ”	३६६.०	६	२००८.८०	३६



चित्र - २ लम्बी वृक्ष पट्टिकाओं की आरक्षी क्षमता अपेक्षाकृत अधिक होती है।

आरक्षी वृक्षारोपण में स्थान वितरण इस प्रकार होना चाहिए कि दूसरी पंक्ति उस स्थान से आरम्भ हो जहाँ प्रथम पंक्ति की आरक्षी क्षमता समाप्त हो जाती हो। सामान्यतया 'पवनाभिमुख' (Windward) दिशा में वायु–गति वृक्षों की ऊँचाई की ५ गुना कम हो जाती है जब कि 'पवनापमुख' (Leeward) दिशा में इस वेग में १५-२० गुना तक कमी हो जाती है। प्रदूषकों के प्रभावशाली निस्यंदन हेतु आवश्यक है कि 'पवनापमुख' दिशा में आरक्षी पट्टी की चौड़ाई वृक्षों की ऊँचाई की लगभग २५ गुनी हो और 'पवनाभिमुख' दिशा में लगभग ५ गुनी हो।

भविष्य के आदर्श नगर—

प्रदूषण की दिन-प्रतिदिन जटिल होती जा रही समस्या तथा उसके भावी दुष्परिणामों की कल्पना कर नगर निर्माण-अभियंताओं ने भविष्य में निर्मित होने वाले नगरों की कुछ रूप रेखायें तैयार की हैं, जिससे इस जटिल समस्या से त्राण पाया जा सके। एक सुझाव के अनुसार किसी महानगर की सम्पूर्ण भूमि का विविध कार्यों हेतु आनुपातिक उपयोग निम्न तालिका के आधार पर होना चाहिए[१०]—

तालिका—२

एक आदर्श नगर में विविध कार्यों हेतु भूमि का आनुपातिक वितरण—

कुल भूमि का अंश (%में)	
≃ ३०%	आवास हेतु।
≃ २७%	खुले मैदानों तथा हरित क्षेत्रों के निर्माण हेतु।
≃ २३%	सड़कों तथा गलियों के निर्माण हेतु।
≃ २०%	औद्योगिक, व्यावसायिक तथा सार्वजनिक प्रतिष्ठानों के निर्माण हेतु।

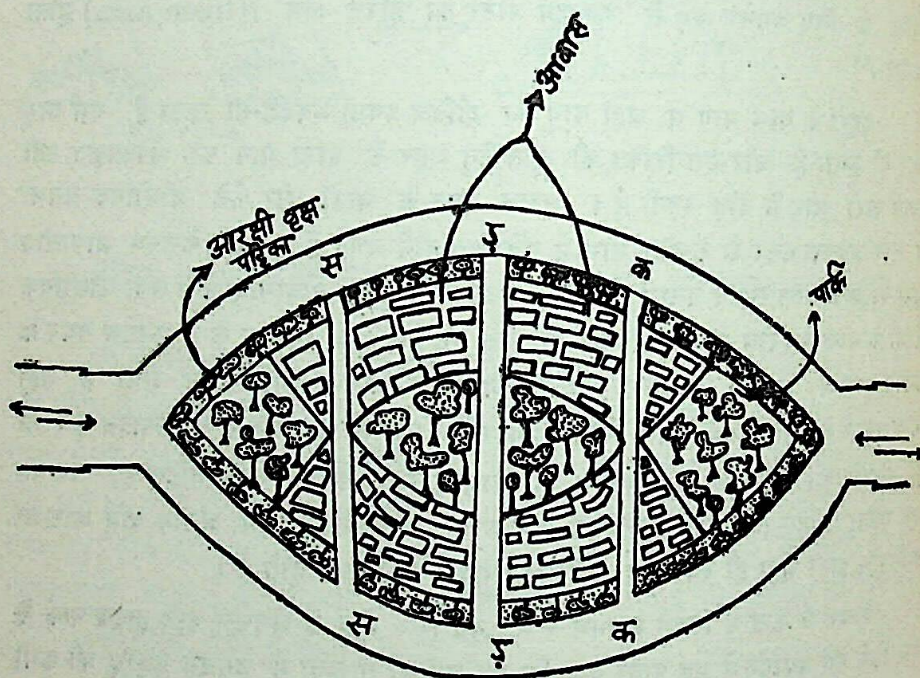
पौधों द्वारा प्रकाश संश्लेषण में उपभुक्त कार्बन डाई आक्साइड तथा मुक्त की गयी आक्सीजन की मात्रा और मानवीय श्वसन-क्रिया में उपभुक्त आक्सीजन तथा उत्पन्न कार्बन-डाई आक्साइड की मात्राओं के आकलन के आधार पर यह कहा गया है कि प्रत्येक प्रौढ़ व्यक्ति के लिए लगभग ३० से ४० वर्ग मीटर का 'हरित क्षेत्र' (Green area) होना चाहिए।[११]

शहरों के मध्य भाग में, जहाँ वायु का क्षैतिज प्रवाह अवरुद्ध-सा रहता है, गर्म वायु ऊपर को उठती है और इस रिक्ति की पूर्ति हेतु शहर के वाह्य भाग की अपेक्षाकृत ठंढी हवायें चारों ओर से दौड़ पड़ती हैं। फलतः नगर के चारों ओर फैले औद्योगिक संयंत्रों से उत्पन्न प्रदूषक नगर के केन्द्रीय भाग में संकेन्द्रित होने लगते हैं। यदि केन्द्रस्थ आवासीय क्षेत्रों का वातावरण स्वस्थ बनाये रखना है तो आवश्यक है कि आवासीय क्षेत्रों तथा औद्योगिक संयंत्रों के मध्य अवरोध के रूप में आरक्षी वृक्ष पट्टिकाओं के विकास के साथ-साथ नगर के केन्द्रीय भाग में विशाल पार्कों का भी निर्माण किया जाय। यद्यपि उन क्षेत्रों में, जहाँ नाना प्रकार के औद्योगिक संयंत्र विविध प्रकार के प्रदूषकों का एक साथ उत्पादन कर रहे हों, आरक्षी वृक्ष पट्टिकाओं के विकास की योजना तैयार करना बहुत जटिल है, पर यह याद रखना चाहिए कि वृक्ष-समूह ताप न्यूनीकरण, आर्द्रतावर्धन तथा क्षेत्रीय वायु धाराओं के निर्माण द्वारा सदा ही स्वस्थ वातावरण के सृजन में सहायक होते हैं।

लन्दन के केन्द्र में स्थित लगभग २·५९ वर्ग कि० मी० के क्षेत्रफल वाले हाइड पार्क के ऊपर किये गये प्रयोगों में यह पाया गया कि यह धुएँ की सान्द्रता में लगभग २७% की कमी करता है।[११] सिनसिनाटी की एक औद्योगिक घाटी में देखा गया है कि पार्क कणिकीय प्रदूषण के न्यूनीकरण मे महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।[१०] १८३ मी० से भी कम दूरी पर वनस्पतियाँ निलम्बित कणों की मात्रा में १२० माइक्रो ग्राम/घन मीटर तक की कमी करने में समर्थ पायी गयी हैं। सोवियत रूस में किये गये एक प्रयोग के अनुसार—लेनिनग्राद स्थित एक पार्क सल्फर डाई आक्साइड की सांद्रता में ५०% तक की कमी करने में समर्थ पाया गया।[३] संयुक्त राज्य अमरीका में किये गये एक अध्ययन के अनुसार सघन शंकु-

धारी वन 'राग वीड' (ragweed) के पराग कणों की सांद्रता ८०% तक घटा देते हैं।[१२] (यद्यपि शंकुधारी वृक्षों की निस्यंदन क्षमता पतझड़ वाले वृक्षों से अधिक होती है तथापि इनमें एक बड़ी कमजोरी यह है कि ये प्रदूषकों के प्रति अत्यधिक संवेदनशील होते हैं।)

जनसंख्या तथा भौतिक समृद्धि में वृद्धि के साथ-साथ जीवाश्म ईंधन-चालित सड़क-वाहनों की संख्या भी दिनों दिन बढ़ती ही जा रही है। आज सड़क-वाहन प्रदूषण के सर्वाधिक प्रमुख स्रोतों में से एक हैं। एक आदर्श, प्रदूषणमुक्त, स्वस्थ वातावरण वाले नगर के आवासीय क्षेत्रों को व्यस्त राजमार्गों से आने वाली धूल और गैसीय प्रदूषकों से बचाने के लिए प्राविधिज्ञों ने पौधों के उपयोग का रुचिकर सुझाव दिया है। ऐसा देखा गया है कि सड़कों और मकानों के बीच यदि १० मीटर चौड़े तथा ६ मीटर ऊँचे 'हरित क्षेत्र' का विकास किया जाय तो सड़क से २२ मीटर दूर पद यात्रा हेतु बनी पटरी पर राजमार्गों से आने वाली कार्बन मोनोक्साइड की मात्रा में ४४% तक की कमी हो जाती है। ३० मीटर दूर स्थित भवनों की बालकनी पर मात्रा में यह कमी ५४% तक पायी गयी है।[३]



चित्र ३ – वरेशी के आदर्शनगर का परिष्कृत प्रारूप

वरेशी (१९५३) ने यूरोपीय तथा बेनेजुएलियन शोधों से प्राप्त परिणामों के आधार पर एक प्रदूषण-रहित, आदर्श नगर की रूपरेखा तैयार की है। पार्कों की एक अविच्छिन्न श्रेणी के उपयोग के आधार पर निर्मित यह प्रारूप जैविकीय तथा वायु गतिकीय दृष्टि से समस्या का सर्वोत्तम समाधान प्रस्तुत करता है।

संदर्भ

१ सिंह, अखिलेश कुमार १९७७; 'वे वातावरण को स्वच्छ रखने के लिए विष पीते हैं!' विज्ञान प्रगति अंक ५, पूर्णांक २८९, ज्येष्ठ १८९९ (मई-जून १९७७), [पृष्ठ—२०१-२०४]

२ ओलिवर एस० ओवेन १९७१; 'नेचुरल रिसोर्स कंजर्वेशन : एन इकॉलॉजिकल एप्रोच, द मैकमिलन कम्पनी, न्यूयार्क। कोलियर मैकमिलन लिमिटेड, लंदन। [पृष्ठ—९३-९५]

३ विल्फ्रिड वॉख १९७२; 'एटमॉस्फियरिक पोल्यूशन' मैग्राहिल बुक कम्पनी, न्यूयार्क, सेंट लुइस, सैनफ्रांसिस्को. डुसेलडोर्फ, जोहान्सबर्ग, क्वालालम्पुर, लन्दन, मैक्सिको, मांट्रियल, नई दिल्ली, पनामा, रिओ डि जेनिरो, सिंगापुर, सिडनी, टोरन्टो। [पृष्ठ—११६-११७]

४ बोलोबिन, एम० पी० १९६२; 'ट्रीज एण्ड स्रब्स फार मेकिंग द डानेट्स कोल बेसिन वरडान्ट, इन : अमेरिकन इन्स्टीट्यूट आफ क्राप इकॉलॉजी सर्वे आफ यू एस एस आर एअर पोल्यूशन लिटरेचर। इफेक्ट्स एन्ड सिम्प्टम्स आफ एयर पोल्यूटेंट्स आन वेजिटेशन; रेजिस्टेन्स एण्ड स्युसेप्टिबिलिटी आफ डिफरेंट प्लांट स्पीशीज इन वैरियस हैबिटाट्स, इन रिलेशन टु प्लान्ट यूटिलाइजेशन फार शेल्टर वेल्ट्स एण्ड ऐज वायोलोजिकल इण्डिकेटर्स। एम० वाई० नटॉन्सन (एडीटर), वाल्यूम २, सिल्वर स्प्रिग, एम० डी०; अमेरिकन इन्स्टीच्यूट आफ क्राप इकॉलाजी १९६९। [पृष्ठ—८५-८९]

५ कुचेरोव, इ० वी० तथा बी० ई० फेडोरेको (१९६४); 'इफेक्ट आफ इन्डस्ट्रियल पोल्यूटेंट्स आन द वेजिटेशन आफ बाश्किर, ए० एस० एस० आर०। वही। [पृष्ठ १९-२३]

६ राव, डी० एन० १९७०, 'ए स्टडी आफ एयर पोल्यूशन प्राबुलम ड्यू टू कोल अनलोडिंग इन वाराणसी, इंडिया, इन-"प्रोसीडिंग्स आफ द सेकेन्ड इन्टरनेशनल क्लीन एयर कांग्रेस" एडिटेड वाई एच० एम० इङ्गलैंड एन्ड डब्ल्यू० टी० वेरी। एकेडमिक प्रेस, न्यूयार्क। [पृष्ठ २७३–२७६]

७ राव, डी० एन०; १९७७ 'यूज आफ प्लान्ट्स एज इन्डिकेटर्स एन्ड मानीटर्स आफ सल्फर डाई आक्साइड पोल्यूशन'। केमिकल एज आफ इण्डिया २८ (८) अगस्त १९७७। [पृष्ठ ६६५–६७२]

८ वेन्ट्जील, के० एफ० १९६७; 'सिग्नीफिकेंस, प्रास्पेक्ट्स एन्ड लिमिट्स आफ ब्रीडिंग स्मोक रेजिस्टेन्ट ट्री स्पीशीज इन द लाइट आफ सेन्ट्रल यूरोपियन स्टडीज आन द इकॉलॉजिकल इफेक्ट्स आफ फ्यूम्स।' (जर्मन भाषा से अनूदित) { इ० पी० ए० एब्स्ट्रैक्ट [पृष्ठ ८८]

९ मैटर्न, जे०; १९६० 'इनक्रीजिंग द रेजिस्टेन्स आफ फारेस्ट टिम्बर अगेन्स्ट स्मोक पोल्यूशन थ्रो फर्टिलाईजिंग' (चेक भाषा से अनूदित) { इ० पी० ए० [पृष्ठ १२५] एब्स्ट्रैक्ट }

१० डब्ल्यू० बाँख़ (१९७१) "सेवेन स्टेप्स टु वेटर लिविंग आन द अरबन हीट आइसलैण्ड"; लैंडस्केप आर्किटेक्चर, ६१ (२) १३६–१३८, १४१।१९७१।

११ काडोटा, मासाया १९७१; 'एयर पोल्यूशन एण्ड ट्रीज : द क्रिएशन आफ अरबन वूड्स।' जर्नल आफ जॉपॉनीज़ सोसाइटी आफ एयर पोल्यूशन, ६ (१): ३१–३८। १९७१।

१२ ए० आर० मीथान; एट आल; (१९६४) 'एटमास्फियरिक पोल्यूशन, इट्स ओरिजिन्स एन्ड प्रिवेन्शन, थर्ड रिवाइज्ड एडीशन; पर्गमान प्रेस। आई० एन० सी० न्यूयार्क।

१३ एच० न्यूबर्गर, एट आल; १९६७ 'वेजिटेशन ऐज एअरोसोल फिल्टर' वायोमिटिओरोलॉजी २, प्रोसीडिंग्स; थर्ड इन्टरनेशनल कांग्रेस, पर्गमान प्रेस; आई० एन० सी०, न्यूयार्क [पृष्ठ ६९३-७०२]

बौद्ध धर्म और अहिंसा

उदयचन्द्र जैन

प्राध्यापक, प्राच्यविद्या-धर्मविज्ञान संकाय, का० हि० वि०

विश्व के इतिहास में ईसापूर्व छठी शताब्दी चिरस्मरणीय रहेगी। उस समय लोगों के मन में प्रचलित धर्म के प्रति कई तरह की शंकाएँ उठ रही थीं। वह आध्यात्मिक अशान्ति का युग था। मनुष्य जन्म, जरा, मरण आदि के दुःखों से छुटकारा पाने का साधन खोज रहे थे। वे ऐसे पुरुष की प्रतीक्षा में थे जो उन्हें मोक्ष का मार्ग बतलाता, जो सांसारिक दुःखों से उन्हें बचाता और जो धर्म के उच्च आदर्श को उनके सामने रखकर उन्हें कल्याण का पथिक बना देता। ऐसे समय में महात्मा बुद्ध ने इस पवित्र भारत भूमि पर कपिलवस्तु में राजा शुद्धोदन के यहाँ माता महामाया के गर्भ से जन्म लिया। जन्म के समय इनका नाम सिद्धार्थ रक्खा गया। उन्नीस वर्ष की आयु में इनका विवाह राजकुमारी यशोधरा के साथ हो गया। प्रारंभ से ही सांसारिक विषयों में अरुचि होने से तथा विश्व के प्राणियों के उद्धार की तीव्र भावना के कारण २९ वर्ष की आयु में सिद्धार्थ ने गृह त्याग कर दिया। तदनन्तर ६ वर्ष की कठोर साधना के बाद बोधगया (बिहार) में बोधि वृक्ष के नीचे बुद्ध ने बोधि (ज्ञान) की प्राप्ति की। बोधिप्राप्ति के अनन्तर सिद्धार्थ का नाम बुद्ध हो गया। बुद्धत्व प्राप्ति के बाद ४५ वर्ष तक बुद्ध ने जिस धर्म का उपदेश दिया वही बौद्धधर्म के नाम से संसार में विख्यात हुआ। यद्यपि बौद्ध धर्म का प्रादुर्भाव भारत में हुआ किन्तु विश्वजनीन सन्देश के कारण कालान्तर में यह धर्म विश्व के अधिकांश भागों में फैल गया। बुद्ध ने अपने अनुयायियों से कहा था कि हे भिक्षुओ सर्वजनहिताय और सर्वजनसुखाय समस्त संसार में विचरण करो। उन्होंने समस्त विश्व के कल्याण के लिए धर्म प्रचार की आवश्यकता का प्रतिपादन किया था। इस से प्रेरित होकर सम्राट् अशोक ने सर्वप्रथम इसे राजकीय आश्रय देकर इसका व्यापक प्रचार किया तथा अपने पुत्र महेन्द्र और पुत्री संघमित्रा को धर्म प्रचार के लिए लंका भेजा। इस प्रकार यह धर्म क्रमशः लंका, बर्मा, चीन, जापान, तिब्बत, कोरिया, मंगोलिया, आदि देशों में फैल गया और आज यह समस्त संसार में बहुसंख्यक मानवों का धर्म तथा विश्व के धर्मों में मुख्य धर्म है।

बुद्ध ने मानव मात्र के कल्याण के लिए जिन बातों का उपदेश दिया था उनका संग्रह त्रिपिटक में है। विनयपिटक, सूत्रपिटक और अभिधर्म पिटक ये तीन त्रिपिटक कहलाते हैं। बौद्धधर्म में त्रिपिटक का वही स्थान है जो हिन्दुओं में वेदों का, मुसलमानों में कुरान का, ईसाइयों में बाइबिल का और जैनों में द्वादशाङ्ग श्रुत का है। बुद्ध ने अपना उपदेश जनसाधारण की भाषा पालि में दिया था। अतः त्रिपिटक की भाषा पालि है। विनय का अर्थ है नियम। भिक्षु और भिक्षुणिओं के पालन के लिए बुद्ध ने जिन नियमों का उपदेश दिया था उनका संकलन इस पिटक में है। यह आचार प्रधान ग्रन्थ है। बुद्ध ने

भिन्न-भिन्न अवसरों पर अपने धर्म की जिन शिक्षाओं का उपदेश दिया था उनका संग्रह सूत्र-पिटक में है। इसके अन्तर्गत दीर्घनिकाय, मज्झिम निकाय, धम्मपद, उदान, सुत्तनिपात, जातक आदि अनेक ग्रन्थ हैं। अभिधर्म पिटक में बुद्ध के उपदेशों का दार्शनिक दृष्टि से विचार किया गया है। इसके अन्तर्गत भी अनेक ग्रन्थ हैं। अतः बुद्ध के उपदेशों को अच्छी तरह से समझने के लिए त्रिपिटक का अध्ययन आवश्यक है।

बुद्ध का व्यक्तित्व

बुद्ध का व्यक्तित्व मानव प्रेम और करुणा से भरा हुआ था। इसीलिए उन्होंने संसार के प्राणियों के लिए कल्याण का मार्ग बतलाना अपने जीवन का चरम लक्ष्य निर्धारित किया था। अपूर्व त्याग बुद्ध के जीवन का महान गुण था। बुद्ध युक्ति वादी और व्यावहारिक थे। उनका उद्देश्य शुष्क तर्क के द्वारा आध्यात्मिक तत्त्वों की व्याख्या करना नहीं था। किन्तु जिस प्रकार वैद्य रोगी का निदान करके आवश्यकता के अनुसार औषधि बतला देता है उसी प्रकार बुद्ध ने भवरोगग्रस्त प्राणियों के लिए आवश्यक बातें बतला दी थीं और अनावश्यक बातों के विषय में प्रश्न किये जाने पर वे सर्वथा मौन हो जाते थे। बुद्ध ने अपने अनुयायियों से केवल श्रद्धा के बलपर अपने बचन मानने का आग्रह कभी नहीं किया। प्रत्युत यह कहा कि पहले मेरे बचनों की परीक्षा करो और परीक्षा के बाद यदि वे उचित प्रतीत हों तों उन्हें ग्रहण करो और तदनुसार आचरण करो। बुद्ध का व्यक्तित्व महान्, अलौकिक और दिव्य था। त्याग और तपस्या, दमन और शमन, शान्ति और अहिंसा का अपूर्व संयोग बुद्ध में था। उनका हृदय अत्यन्त उदार था। वे पाप से घृणा करते थे किन्तु पापी को अत्यन्त प्यार की दृष्टि से देखते थे। उन्होंने मानवों को विश्वशान्ति और अहिंसा का पाठ पढ़ाया था।

बुद्धकालीन सामाजिक और धार्मिक स्थिति

बुद्ध के समय में समाज की अवस्था विषमता से व्याप्त थी। उस समय जहाँ कुछ लोगों को पेटभर खाना नहीं मिलता था वहाँ कुछ लोग रातदिन भोगविलास में ही लीन रहते थे। समाज आज के ही समान अनेक जातियों में विभाजित था। स्त्रियों की दशा अच्छी नहीं थी। इस प्रकार बुद्ध के समय का समाज आदर्श समाज नहीं था। इसी तरह धार्मिक क्षेत्र में भी नये-नये वादों का प्राबल्य था। नये-नये विचारों की बाढ़ सी आ गयी थी। बाहरी आडम्बरों ने मानवों के हृदयों को आकृष्ट कर लिया था। लोग आत्मविश्वास को भूल कर अन्धविश्वासी हो गये थे। कर्मकाण्ड के अनुष्ठान में ही साधारण जन की विशेष रुचि थी और सदाचार का ह्रास होने लगा था। यज्ञों का प्रचार बढ़ रहा था और यज्ञों में होने वाली हिंसा ने कुछ विवेकी जनों में उक्त कर्मकाण्ड के प्रति विरोध की भावना जागृत कर दी थी। अतः गौतम बुद्ध ने सबसे पहले जनता की दृष्टि सदाचार की ओर फेरी, अन्धविश्वास को हटाकर आत्मविश्वास को जगाया तथा युक्ति और तर्क को अपने धर्म का आश्रय बनाया। इस प्रकार वैदिक धर्म की परम्परा में परिस्थिति वश उत्पन्न होने वाली बुराइयों और त्रुटियों को दूर करने के लिए सुधारक के रूप में महात्मा बुद्ध के द्वारा बौद्ध धर्म का उदय हुआ। उन्होंने एक ऐसे धर्म को प्रतिष्ठित

किया जिसके परिपालन से प्राणिमात्र अन्य किसी ईश्वर आदि की सहायता के विना स्वयं ही संसार के दुःखों से छूटकर मोक्ष प्राप्त कर सके। संसार के दुःखों से पीड़ित प्राणियों की दुःख से निवृत्ति ही बुद्ध का प्रधान उद्देश्य था। बुद्ध ने देखा कि लोग पारलौकिक जीवन की समस्याओं में उलझ कर ऐहिक जीवन की समस्याओं को भूलते जा रहे हैं। इसीलिए उन्होंने सरल आचार मार्ग का प्रतिपादन करने के लिए अष्टांगमार्ग (मध्यममार्ग) का उपदेश दिया।

बुद्ध की शिक्षा

बुद्ध ने सदा ही पाप कर्मों को छोड़ने का और पुण्य कर्मों के सम्पादन करने का उपदेश दिया था। जितने पाप हैं वे सब हिंसा में गर्भित होते हैं और जितने पुण्य कर्म हैं वे सब अहिंसा के अन्तर्गत हैं। इस दृष्टि से यदि हम बुद्ध के उपदेशों का सार देखना चाहें तो 'धम्मपद' की निम्नलिखित गाथा में देख सकते हैं—

सब्व पापस्स अकरणं कुसलस्स उपसम्पदा।
सचित्त परियोदपनं एतं बुद्धान सासनं॥

सारे पापों का न करना, पुण्यों का संचय करना और अपने चित्त को परिशुद्ध करना, यह बुद्धों की शिक्षा है।

बौद्धधर्म में अहिंसा

विश्व के जितने भी धर्म हैं उन सबने अहिंसा को स्वीकार किया है। यह दूसरी बात है कि उसे किसने किस रूप में स्वीकार किया। हमें यहाँ यह विचार करना है कि बौद्धधर्म में अहिंसा का क्या स्वरूप है। अहिंसा का विचार दो दृष्टियों से किया जा सकता है। अहिंसा का एक पहलू करुणा है जो विध्यात्मक (Positive) है। और दूसरा पहलू हिंसा का त्याग है जो निषेधात्मक (Negative) है। करुणा में प्राणियों के दुःख निवारण करने की शुभ भावना होती है। प्राणियों को दुःख से बचाना, उनके भले के लिए स्वयं कष्ट उठाना, त्याग करना, संयम का पालन करना। ये सब क्रियात्मक बातें करुणारूप अहिंसा के अन्तर्गत हैं। अहिंसा का दूसरा पहलू है हिंसा का त्याग करना। इस दृष्टि से सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य आदि भी अहिंसा ही है। अतः यदि हम अहिंसा के दोनों दृष्टिकोणों से विचार करें तो देखेंगे कि बुद्ध ने दोनों ही दृष्टियों से अहिंसा का प्रतिपादन कियां है।

बोधिसत्त्व ने बुद्धपर्याय के पहले अनेक जन्मों में दान, शील आदि पारमिताओं की भावना तथा अभ्यास के द्वारा ही बुद्ध पर्याय को प्राप्त किया था। बुद्ध होने का एकमात्र प्रयोजन संसार के प्राणियों का कल्याण करना ही था। उनकी भावना थी—'बुद्धो भवेय जगतोहिताय।' बुद्ध होने के बाद अधिक काल तक उस जन्म में स्थिति का कारण भी करुणा ही थी। कहा भी है—'तिष्ठन्त्येव पराधीना येषां तु महती कृपा।' इसके साथ ही बुद्ध ने मैत्री, करुणा, प्रमुदिता और उपेक्षा इन चार भावनाओं का उपदेश दिया था। संसार के प्राणिमात्र के प्रति वैरभाव को छोड़कर मैत्रीभाव रखना, सबको अपना मित्र

समझना और किसी से भी द्वेष नहीं करना, यही मैत्री भावना है। दीन-दुःखियों को देखकर हृदय में दया का भाव उत्पन्न होना, उनके दुःख को दूर करने का उपाय करना आदि करुणा है। बुद्ध ने मैत्री और करुणा को अपने जीवन में तो अपनाया ही था, साथ ही मानवों को भी मैत्री और करुणा का पाठ पढ़ाया था। उन्होंने कहा था—

नहि वेरेन वेरानि सम्मन्तीध कुदाचनं।
अवेरेन हि सम्मन्ति एस धम्मो सनन्तनो ॥

अर्थात् इस संसार में वैर से वैर कभी शान्त नहीं होते। अवैर (वैर का त्याग) से ही वैर शान्त होते हैं। यही सनातन धर्म है।

बुद्ध ने कहा था कि दण्ड से सभी डरते हैं, मृत्यु से सभी भय खाते हैं, और सबको अपना जीवन प्रिय है। अतः सब प्राणियों को अपने समान जानकर न किसी को मारे और न मारने की प्रेरणा करे। जो सुख चाहने वाले प्राणियों को अपने सुख की चाह से मारता है वह मारकर सुख नहीं पाता। प्राणियों की हिंसा करने से कोई आर्य नहीं होता। सभी प्राणियों की हिंसा न करने से ही आर्य कहा जाता है। जो मनुष्य हिंसा से रहित होकर नित्य अपने शरीर में संयत हैं वे उस अच्युत पद को प्राप्त करते हैं जिसे प्राप्त कर शोक नहीं करना पड़ता है। चर-अचर सभी प्राणियों में प्रहार विरत हो जो न मारता है और न मारने की प्रेरणा करता है उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ। प्रत्येक मानव काय, वाणी और मन से संयत रहे। कायिक दुराचार को छोड़ काय से संयत रहे तथा कायिक सदाचार का आचरण करे। वाणी के दुराचार को छोड़ वाणी से संयत रहे तथा वाणी के सदाचार का आचरण करे। मानसिक दुराचार को छोड़ मन से संयत रहे तथा मानसिक सदाचार का आचरण करे। बुद्ध ने क्रोध, राग, द्वेष आदि हिंसारूप भावों को जीतने तथा छोड़ने का भी उपदेश दिया था। उन्होंने कहा था कि जैसे जुही कुम्हलाये हुये फूलों को छोड़ देती है वैसे ही भिक्षुओं को राग और द्वेष को छोड़ देना चाहिए। क्रोध को अक्रोध से जीतना चाहिए, कंजूस को दान से जीतना चाहिए और झूठ बोलने वाले को सत्य से जीतना चाहिए। कहा भी है—

अक्कोधेन जिने कोधं असाधुं साधुना जिने।
जिने कदरियं दानेन सच्चेन अलिकवादिनं ॥

प्राणि हिंसा का निषेध

बुद्ध ने जिन पाँच कर्मों का अनुष्ठान प्रत्येक मानव के लिए अत्यावश्यक बतलाया है उनका नाम पञ्चशील है। उनके नाम ये हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और सुरा आदि मादक द्रव्यों का असेवन। बिना किसी भ्रान्ति के जानबूझ कर दूसरे प्राणी का घात करना हिंसा है। जो पुरुष किसी बात को समझ सकता है उसे अन्य प्रकार से कोई बात कह देना असत्य है। बल से या छल से दूसरे के द्रव्य का ग्रहण करना अदत्तादान (चोरी) है। व्यभिचार करने का नाम काम मिथ्याचार (अब्रह्मचर्य) है। प्रत्येक गृहस्थ का कर्तव्य है कि हिंसा आदि को छोड़कर उक्त पञ्चशील का आचरण करे। उक्त

पंचशील के अतिरिक्त भिक्षुओं के लिए अन्य पंचशील भी वतलाये हैं जो ये हैं—अपराह्न भोजन त्याग, मालाधारणत्याग, संगीतत्याग, सुवर्णत्याग और अमूल्यशय्या का त्याग। इस प्रकार सब मिलाकर १० शील होते हैं। भिक्षुओं के निवृत्ति प्रधान जीवन को आदर्श जीवन बनाने के लिए बुद्ध ने कुछ अन्य कर्त्तव्यों को भी आवश्यक वतलाया है, जिनका विधान विनयपिटक में वतलाया गया है।

विनयपिटक में बतलाया गया है कि जो भिक्षु मनुष्य को मारे या आत्महत्या के लिए शस्त्र खोज लाये या मरने की प्रशंसा करे या मरने के लिए प्रेरित करे वह भिक्षु पाराजिक (भिक्षुओं के साथ सहवास के अयोग्य) होता है। जिन अपराधों के करने से भिक्षु संघ से सदा के लिए निकाल दिया जाता है वे पाराजिक कहे जाते हैं। कुटी निर्माण के विषय में वतलाया गया है कि मकान की जगह ऐसी होनी चाहिए जहाँ मकान के बनाने में जीवों की हिंसा न हो। हिंसायुक्त स्थान में कुटी बनवाने में संघादिसेस दोष होता है। इस दोष के लिए कुछ समय का परिवास आदि दण्ड संघ ही दे सकता है, इसलिए इसे संघादिसेस कहते हैं। तृण, वृक्ष आदि का काटना, गिराना, जीव सहित पानी को पीना, जीव सहित पानी से तृण या मिट्टी का सिंचन करना तथा किसी भी प्राणी के मारने में पाचित्तिय (प्रायश्चित्त) दोष होता है।

बुद्ध ने पहले वर्षावास करने का विधान नहीं किया था। उस समय दूसरे तीर्थवाले वर्षावास करते थे। अतः साधारण जन इस बात से परेशान होते थे कि शाक्य पुत्रीय श्रमण हरे तृणों को मर्दन करते, एक इन्द्रिय वाले जीवों को पीड़ा देते, छोटे छोटे प्राणिसमुदायों को मारते हुए वर्षा ऋतु में कैसे विचरण करते हैं। जब यह बात बुद्ध को मालूम हुई तो उन्होंने वर्षावास का विधान कर दिया। एक समय एक दुराचारी उपासक ने एक दुराचारी भिक्षु के लिए एक तरुण बछड़ा मारकर उसका चमड़ा उस भिक्षु को दे दिया। जब बुद्ध को यह वात मालूम हुई तब उन्होंने उसे डाटा और कहा—'अरे मोघ पुरुष! कैसे तूने प्राणिहिंसा की प्रेरणा की। मैंने तो अनेक प्रकार से प्राणिहिंसा की निन्दा की है और प्राणिहिंसा के त्याग की प्रशंसा की है। उस समय बुद्ध ने भिक्षुओं के लिए यह उपदेश दिया कि प्राणिहिंसा की प्रेरणा नहीं करना चाहिए, जो प्रेरणा करे उसका धर्मानुसार दण्ड करना चाहिए, गाय का चर्म नहीं धारण करना चाहिए। अन्य कोई भी चर्म नहीं धारण करना चाहिए। जो धारण करे उसे दुक्कट (दुष्कृत) का दोष होता है।

बुद्ध ने सदा ही यह उपदेश दिया था कि परस्पर के झगड़ों को शस्त्रबल से नहीं किन्तु सद्भाव और प्रेम से निपटाना चाहिए। रोहिणी नदी के पानी के लिए शाक्य और कोलिय झगड़ते थे। एक बार वे दोनों अपनी सेनाओं को सुसज्जित करके नदी के पास ले गये। जब बुद्ध को यह मालूम हुआ कि पानी के लिए शाक्य और कोलिय दोनों युद्ध के लिए सन्नद्ध हैं, तब बुद्ध ने दोनों सेनाओं के मध्य जाकर उपदेश दिया कि परस्पर के झगड़ों को शान्तिपूर्वक निपटाना चाहिए, न कि शस्त्रबल से। अपने पड़ोसियों पर शस्त्र चलाना कहाँ तक उचित है। क्या शस्त्रों के बिना मित्रता के आधार पर झगड़ों को नहीं निपटाया जा सकता। तब महात्मा बुद्ध के उपदेश के प्रभाव से शाक्य और कोलियों ने शस्त्र

को त्यागकर शान्ति से अपने झगड़ों को निपटा लिया था। वैसा करना ठीक भी था। यदि शाक्यों और कोलियों के झगड़े बलपूर्वक निपटाये जाते तो वे कभी समाप्त न होते। शस्त्रों से जय मिल सकती थी किन्तु शान्ति न मिलती। बुद्ध ने कहा कि इस शस्त्र ग्रहण से क्या लाभ। यही न कि अन्त तक झगड़ते रहो। इस शस्त्रप्रवृत्तिमार्ग से बुद्ध ऊब गये थे। इसीलिए उन्होंने शस्त्रनिवृत्तिमार्ग को स्वीकार किया और तदनुसार उपदेश भी दिया।

अधर्माचरण और धर्माचरण

बुद्ध ने अधर्माचरण के त्याग का और धर्माचरण के पालन का उपदेश दिया था। प्राणिघात, चोरी और व्यभिचार यह तीन प्रकार का कायिक अधर्माचरण है। झूठ बोलना, चुगली करना, कटुवचन बोलना और वृथा बकवास करना यह चार प्रकार का वाचनिक अधर्माचरण है। दूसरे के धन का चिन्तन करना अर्थात् ऐसी इच्छा करना कि दूसरे का धन हमें मिल जाय, पर में द्वेष बुद्धि रखना, अर्थात् ऐसा सोचना कि ये प्राणी मारे जाँय अथवा नष्ट हो जाँय और मिथ्यादृष्टि होना अर्थात् इस प्रकार के नास्तिक विचार रखना कि दान नहीं है, धर्म नहीं है, पुण्य-पाप कर्म का फल नहीं है, इह लोक नहीं है, परलोक नहीं है, इत्यादि। यह तीन प्रकार का मानसिक अधर्माचरण है। किसी प्राणी का घात नहीं करना, दूसरों पर शस्त्र नहीं उठाना, सब प्राणियों के प्रति दयामय आचरण करना, चोरी नहीं करना और व्यभिचार नहीं करना। यह तीन प्रकार का कायिक धर्माचरण है। झूठ नहीं बोलना, चुगली नहीं करना, कटुवचन नहीं बोलना प्रत्युत हित-मित-प्रिय वचन बोलना और वृथा बकवास नहीं करना। यह चार प्रकार का वाचनिक धर्माचरण है। दूसरे के धन का लोभ नहीं करना, द्वेष बुद्धि का त्याग करना, ऐसा संकल्प करना कि ये प्राणी दुःख रहित तथा सुखी हों. सम्यग्दृष्टि होना अर्थात् दान, धर्म, सुकृत-दुष्कृत कर्मों का फल, इह लोक, परलोक आदि का विश्वास करना। यह तीन प्रकार का मानसिक धर्माचरण है। बुद्ध ने बतलाया था कि अधर्माचरण को छोड़कर धर्माचरण का पालन करना प्रत्येक उपासक, उपासिका, भिक्षु और भिक्षुणी का कर्तव्य है।

मज्झिमनिकाय के सल्लेखसुत्त में भगवान् बुद्ध कहते हैं—हे चुन्द ! जहाँ दूसरे लोग हिंसक वृत्ति से आचरण करते हैं वहाँ हम अहिंसक हों, ऐसी स्वच्छता (आत्मशुद्धि) करनी चाहिए। दूसरे प्राणघात करते हों तो हम प्राणघात से निवृत्त हों, ऐसी स्वच्छता करनी चाहिए। दूसरे चोर होते हैं तो हम चोरी से निवृत्त हों, दूसरे अब्रह्मचारी होते हैं तो हम ब्रह्मचारी बनें, दूसरे झूठ बोलते हैं तो हम असत्य भाषण से निवृत्त हों, दूसरे चुगली करते हैं तो हम चुगली से निवृत्त हों, दूसरे अपशब्द कहते हैं तो हम उनसे निवृत्त हों, दूसरे वृथालाप करते हैं तो हम वृथालाप से निवृत्त हों, दूसरे परकीय धन का लोभ करते हैं तो हम परकीय धन के लोभ से निवृत्त हों, दूसरे द्वेष करते हैं तो हम द्वेष से मुक्त हों, दूसरे मिथ्या दृष्टि हैं तो हम सम्यग्दृष्टि बन जांय, ऐसी स्वच्छता करनी चाहिए।

यज्ञ में हिंसा का विरोध

मानव जीवन में अहिंसातत्त्व की प्रतिष्ठापना करने के लिए पहले यज्ञ अन्न, घृत आदि से किये जाते थे। बौद्धों के 'सुत्तनिपात' (ब्राह्मण धम्मक सुत्त) से भी इस वात की पुष्टि होती है कि आदिकाल का मानव अहिंसोपजीवी था। इसी कारण यहाँ सुख-समृद्धि थी। किन्तु जवसे मानव ने अहिंसा को छोड़कर पशुवलि और मांस-मदिरा आदि के सेवन का विधान किया तभी से मानवों की सुख-समृद्धि का ह्रास होने लगा। सुत्तनिपात के ब्राह्मणधम्मक सुत्त में बतलाया गया है कि गोहत्या नहीं करना चाहिए। तथाहि—

यथा माता पिता भाता अञ्जे वापि च ञातका।
गावो नो परमो मित्ता यासु जायन्ति ओसधा॥
अन्नदा बलदा चेता वण्णदा सुखदा तथा।
एतमत्थवसं जत्वा नास्सु गावो हनिंसु ते॥

अर्थात् मां, वाप, भाई और दूसरे नाते-रिश्तेदार की तरह गायें भी हमारी मित्र हैं। क्योंकि खेती उन पर निर्भर करती है। वे अन्न, बल, कान्ति एवं सुख देनेवाली हैं। ऐसा जानकर गायों की हत्या नहीं करनी चाहिए।

महाभारत से भी यह प्रमाणित होता है कि हिंसक यज्ञ पहले नहीं होते थे। वेदों में हिंसात्मक विधान नहीं थे। बाद में कुछ व्यक्तियों द्वारा उनमें हिंसा के विधान कर दिये गये। महाभारत में स्पष्ट लिखा है—

सुरा मत्स्या मधु मांसमासवं कृसरौदनम्।
धूर्तैः प्रवर्तितं ह्येतत् नैतद् वेदेषु कल्पितम्॥

—महाभारत शान्तिपर्व, अध्याय २६५।२३

बुद्ध के समय में कुछ लोग देवी-देवताओं की मनौती मनाने के लिए बकरों, मुर्गों आदि की बलि चढ़ाते थे। दीघनिकाय के उल्लेखों से ज्ञात होता है कि ब्राह्मण लोग साधारण जनता से यह कहकर होम करवाया करते थे कि अमुक प्राणियों के रक्त आदि का होम करने से अमुक कार्य की सिद्धि होती है। यज्ञों में सैकड़ों गायें तथा बैल मारे जाते थे। यज्ञों में हिंसा का प्रावल्य यहाँ तक हो गया था कि उनमें नर बलि भी दी जाने लगी थी। यज्ञ में हिंसा के समर्थकों का कहना था कि यज्ञ की व्यवस्था प्रजापति के द्वारा बतलाई गई है। अतः उसके अनुसार होने वाले कर्म पवित्र हैं। इस हिंसा काण्ड का बुद्ध ने तीव्र प्रतिवाद किया था। बौद्धधर्म श्रमण संस्कृति का अनुयायी है और श्रमण संस्कृति अहिंसानिष्ठ है। इसलिए अन्य श्रमणों की तरह बुद्ध को भी यज्ञों में होने वाली गायों, बैलों तथा अन्य प्राणियों की हिंसा पसन्द न थी। कोसल संयुत्त में हिंसक यज्ञों का निषेध करने वाला जो सुत्त है उसका भाव इस प्रकार है—

एक समय बुद्ध श्रावस्ती में विहार करते थे। उस समय पसेनदि कोसलराजा का यज्ञ प्रारम्भ हुआ। उसमें पाँच सौ बैल, पाँच सौ बछियाँ, पाँच सौ बछड़े, पाँच सौ बकरे और पाँच सौ मेढ़े बलिदान के लिए यूपों में बँधे हुए थे। राजा के सेवक दण्ड के भय से

आँखों में आँसू भरे हुए यज्ञ का काम कर रहे थे। यह सब देखकर भिक्षुओं ने भगवान् को इसे बतलाया। तब भगवान् बोले—अश्वमेध, पुरुषमेध, सम्यक्पाश, वाजपेय और निरर्गल यज्ञ बड़े खर्चीले होते ह, किन्तु वे महाफलदायक नहीं होते। बकरे, मेढ़े और गायों जैसे विविध प्राणी जिसमें मारे जाते हैं उस यज्ञ में सदाचारी महर्षि नहीं जाते। परन्तु जिन यज्ञों में प्राणियों की हिंसा नहीं होती, जिनमें बकरे, मेढ़े और गायें आदि प्राणी नहीं मारे जाते हैं ऐसे यज्ञों में सदाचारी पुरुष उपस्थित रहते हैं। बुद्ध का कहना था कि यज्ञों में प्राणि वध करने से यजमान मन, वचन और काय से अकुशल कर्मों का आचरण करता है। इसलिए ऐसा यज्ञ अमंगल है। ऐसा यज्ञ करने वाला तीन प्रकार के अकुशल शस्त्र उठाता है। जो यज्ञ का प्रारम्भ करता है उसके मन में अनेक प्राणियों के मारने का विचार आता है यह चित्त शस्त्र है। पुनः वह इन प्राणियों की हत्या करने के लिए आज्ञा देता है यह वाचा शस्त्र है। फिर स्वयं ही इन प्राणियों को मारना प्रारम्भ कर देता है यह काय शस्त्र है।

दीघनिकाय के कूटदन्त सुत्त में भगवान् बुद्ध ने बतलाया है कि राजाओं और ब्राह्मणों को यज्ञ कैसे करना चाहिए। एक समय भगवान् मगध के एक ग्राम की आम्र वाटिका में विहार करते थे। उस समय कूटदन्त ब्राह्मण उस ग्राम का स्वामी था। उसके द्वारा यज्ञ के लिए सात सौ बैल, सात सौ बछड़े, सात सौ बछियाँ, सात सौ बकरियाँ और सात सौ मेढ़े यज्ञ के लिए यूपों में बँधे हुए थे। दूसरे ब्राह्मणों को गौतम बुद्ध के दर्शनों के लिए जाते देख कूटदन्त भी उनके साथ वहाँ गया। तब बुद्ध ने अहिंसामय यज्ञ का वर्णन करते हुए यह बतलाया था कि भूतकाल में महाराजा महाविजित ने किस प्रकार से एक आदर्श यज्ञ किया था। सर्वप्रथम ब्राह्मण पुरोहित ने राजा महाविजित को आदेश दिया था कि वह अपने राज्य से निर्धनता समाप्त करे, क्योंकि भ्रष्टाचार, चोरी तथा अन्य बुराइयों से बचने का यही एक निश्चित उपाय है। उस यज्ञ में गाय, बकरा, मुर्गा, सुअर आदि किसी भी प्राणी की बलि नहीं दी गई और न किसी सेवक को परेशान अथवा दण्डित किया गया। उस यज्ञ में यज्ञ स्तम्भ के लिए वृक्ष नहीं काटे गये और न कुश काटे गये। घृत, तेल, मक्खन, दधि, खांड़ आदि से वह यज्ञ किया गया। बुद्ध ने कूटदन्त को ऐसे यज्ञों का उपदेश दिया जिनमें खर्च नहीं के बराबर हो, प्राणियों का बध न हो तथा फल भी अधिक मिले। ऐसे यज्ञों में दान यज्ञ (शीलवान् प्रव्रजितों के लिए नित्य दान देना), त्रिशरण यज्ञ (बुद्ध, धर्म और संघ की शरण जाना), शिक्षाप्रद यज्ञ (यम और नियमों का ग्रहण करना), शील यज्ञ (पञ्चशील या दस शीलों का पालन करना), प्रज्ञायज्ञ (अज्ञान का नाश करना) और समाधियज्ञ (ध्यान के द्वारा चित्त की एकाग्रता से चित्त शुद्धि करना) आदि अहिंसक यज्ञों का समावेश होता है।

बौद्ध धर्म और मांसाहार

कहा जाता है कि भगवान् बुद्ध ने परिनिर्वाण के दिन चुन्द लुहार के घर सूकरमद्दव खाया था। सूकरमद्दव क्या है इस विषय में विवाद है। आचार्य बुद्ध घोष ने लिखा है कि सूकरमद्दव ऐसे सुअर का मांस है जो न बहुत तरुण है, न वृद्ध, और न छोटे बच्चे से उम्र में

बड़ा है। वह मृदु एवं स्निग्ध होता है। कुछ लोग कहते हैं कि पंच गोरस से बनाये हुए मृदु अन्न का नाम सूकरमद्दव है। जैसे गवपान एक विशेष पकवान का नाम है। कोई कहते हैं सूकरमद्दव एक रसायन था और रसायन के अर्थ में उस शब्द का प्रयोग किया भी जाता है। चुन्द ने भगवान् बुद्ध को वह इसलिए दिया था कि जिससे भगवान् का परिनिर्वाण न होने पाये। सूकरमद्दव के उक्त तीन अर्थ आचार्य बुद्धघोष ने बतलाये हैं। इनके अतिरिक्त और दो भिन्न अर्थ उदान तथा अट्ठकथा में पाये जाते हैं जो इस प्रकार हैं—कुछ लोगों के अनुसार सूकरमद्दव सुअर का मांस नहीं है, वह तो सुअरों द्वारा कुचला गया बाँस का अंकुर है। दूसरे लोगों के अनुसार तो वह सुअरों द्वारा कुचले गये स्थान पर उगा हुआ कुकुरमुत्ता है। इस प्रकर सूकरमद्दव शब्द के कई अर्थ किये गये हैं। फिर भी अंगुत्तर निकाय के पंचक निपात से यह ज्ञात होता है कि बुद्ध सुअर का मांस खाते थे। एक गृह-पति भगवान से कहता है—भदन्त बढ़िया सुअर का यह मांस उत्कृष्ट ढंग से पकाकर तैयार किया गया है। मुझ पर कृपा करके आप उसे ग्रहण करें। और भगवान् ने कृपा करके वह मांस ग्रहण किया। इससे यह सुनिश्चित है कि बुद्ध मांसाहार करते थे। आज भी उनके अनुयायी बौद्ध भिक्षु न्यूनाधिक मात्रा में मांसाहार करते हैं। तब प्रश्न हो सकता है कि अहिंसा को परम धर्म मानने वाले बुद्ध और उनके अनुयायियों का यह व्यवहार कहाँ तक उचित है। इस प्रश्न का समाधान पूर्णरूप से तो नहीं किन्तु आंशिक रूप से किया जा सकता है। अर्थात् मांसाहार का विधान करने के कारण पूर्ण अहिंसा की रक्षा संभव न होने पर भी किस अवस्था में मांस लिया जा सकता है वह बतलाकर बुद्ध ने एक प्रकार से अहिंसा की कुछ रक्षा कर ली। इसका अभिप्राय यह है कि बुद्ध ने त्रिकोटि परिशुद्ध मांस खाने की अनुज्ञा दी थी। यह प्राणी मेरे लिए मारा गया है ऐसा न देखा हो और न सुना और न ऐसी शंका भी हो तो अदृष्ट, अश्रुत और अशंकित इन तीन कोटियों वाले मांस के ग्रहण करने में कोई दोष नहीं है।

एक दिन भगवान् राजगृह में जीवक कौमारभृत्य के आम्रवन में निवास करते थे। उस समय जीवक कौमारभृत्य भगवान् के पास गया और बोला—भदन्त! आप पर यह आरोप लगाया जाता है कि आप प्राणी मारकर तैयार किया हुआ मांस खाते हैं। क्या यह सच है? तब भगवान् ने उत्तर दिया कि यह आरोप सर्वथा झूठा है। जब मैं अपने लिए प्राणि वध किया हुआ देखता हूँ या सुनता हूँ या मुझे वैसी शंका होती है तब मैं कहता हूँ कि यह मांस निषिद्ध है। विनयपिटक में बुद्धने भिक्षुओं के लिए बतलाया है कि मछली तीन अवस्थाओं में ग्राह्य है। पहले यदि तुम उसे इस रूप में न देखो, दूसरे यदि तुम उसे इस रूप में न सुनो और तीसरे यदि तुम्हारे चित्त में इस प्रकार का संदेह ही उत्पन्न न हो कि यह तुम्हारे लिए ही पकड़ी गई है। इसके अतिरिक्त बुद्ध ने जहाँ त्रिकोटि परिशुद्ध मांसाहार का विधान किया है वहाँ कुछ विशेष मासों का निषेध भी किया है। महावग्ग में भगवान् ने भिक्षुओं को उपदेश दिया कि मनुष्य का मांस नहीं खाना चाहिए। जो खाये उसे थुल्लच्चय का दोष होता है। इसी तरह हाथी, घोड़ा, कुत्ता, सर्प, सिंह, बाघ, चीता, भालू आदि प्राणियों के मांस का भी निषेध किया है और इनके मांस को खाने में दुक्कड (दुष्कृत) का दोष बतलाया है।

अतः बौद्धधर्म में मांसाहार के विधान से जहाँ अहिंसा का महत्त्व कुछ घट गया है वहाँ त्रिकोटि परिशुद्ध मांस का विधान करके अहिंसा की कुछ रक्षा भी कर ली गई है। अर्थात् मांसाहार के विधान से जहाँ अहिंसा की आत्मा का हनन हुआ है वहाँ अन्य उपायों से उसके शरीर की रक्षा करने का प्रयत्न किया गया है। फिर भी हम इतना तो कह सकते हैं कि मांसाहार के दोष के अतिरिक्त सामाजिक तथा व्यावहारिक जीवन में बुद्ध ने स्वयं अहिंसा का व्यवहार किया और संसार को भी वैसा करने का उपदेश दिया।

उपसंहार

पहले बतलाया गया है कि महात्मा बुद्ध के उपदेश त्रिपिटक में संगृहीत हैं और त्रिपिटक के अध्ययन से बुद्ध की शिक्षाओं का हमें ज्ञान प्राप्त होता है। हम देखते हैं कि बुद्ध ने अपने जीवन में सदा ही कुशल कर्मों के सम्पादन और अकुशल कर्मों के त्याग का उपदेश दिया। कुशल कर्मों के मूल में अहिंसा और अकुशल कर्मों के मूल में हिंसा ही काम करती है। इस दृष्टि से हम यह भी कह सकते हैं कि बुद्ध के उपदेशों में अहिंसा की ही प्रधानता है। बुद्ध ने सदा ही विश्व कल्याण की भावना से प्रेरित होकर हिंसा से विरत रहने का उपदेश दिया। अहिंसा धर्म का उन्होंने केवल प्रचार ही नहीं किया किन्तु उसे अपने जीवन में अपनाया भी और दूसरों को भी वैसा करने के लिए कहा। क्योंकि विश्व में सुख तथा शान्ति की प्राप्ति अहिंसा से ही हो सकती है।

कुछ लोगों की ऐसी धारणा है कि महावीर और बुद्ध के द्वारा बतलाई गई अहिंसा के कारण भारतीय समाज कायर हो गया है। ऐसी धारणा अहिंसा के स्वरूप को ठीक तरह से न समझने के कारण ही हो सकती है। अहिंसा कायरों का नहीं किन्तु वीरों का धर्म है और शान्ति का अमोघ अस्त्र है। हिंसा के बल पर संसार में कभी भी स्थायी शान्ति स्थापित नहीं हो सकती है। अतः आज इस वैज्ञानिक किन्तु संघर्षमय युग में अहिंसा की पहले की अपेक्षा कहीं अधिक आवश्यकता है। अन्य विज्ञानों की तरह अहिंसा भी एक बड़ा विज्ञान है और इसके अध्ययन के लिए भगवान् महावीर, महात्मा बुद्ध, ईसामसीह, महात्मागांधी आदि महापुरुषों के विचारों का तुलनात्मक अध्ययन आवश्यक है। फ्रांस के विश्वविख्यात विद्वान् रोम्यां रोला ने अहिंसा के विषय में कितना अच्छा कहा है—

'जिन सन्तों ने हिंसा के मध्य अहिंसा सिद्धान्त की खोज की वे न्यूटन से अधिक बुद्धिमान थे तथा विलिंगटन से बड़े योद्धा थे। जिस प्रकार हिंसा पशुओं का धर्म है उसी प्रकार अहिंसा मनुष्यों का धर्म है।

अहिंसा परमो धर्मः यतो धर्मस्ततो जयः।

सांख्ये मोक्षविमर्शः

पं० केदारनाथत्रिपाठी, विभागाध्यक्ष
प्राच्यविद्या-धर्मविज्ञानसंकायः, का० हि० वि० वि०

धर्मार्थकाममोक्षाख्यपुरुषार्थचतुष्टये मोक्ष एव परमपुरुषार्थ इत्यत्र सर्वेषामेवास्त्यैकमत्यं दर्शनानाम्। तथापि मोक्षस्वरूपे तत्साधनेषु च तेषां यत् किञ्चिद् वैमत्यमस्त्येवेति नात्र विप्रतिपद्यते कश्चित्। अतोऽत्र सांख्याभिमतमोक्षस्वरूपतत्साधनविवेको निरूप्यते।

यथा हि चिकित्साशास्त्रं चतुर्व्यूहम्—रोगो रोगहेतुरारोग्यं भैषज्यमिति, एवमिदमपि शास्त्रं चतुर्व्यूहमेव—संसारः, संसारहेतुः, मोक्षो, मोक्षोपायश्चेति। इदमेव चतुर्व्यूहं हेय, हेय-हेतु, हान, हानोपायशब्दैरप्यभिधीयते। तत्र दुःखबहुलः संसारो हेयः, प्रधानपुरुषयोः संयोगो हेयहेतुः, संयोगस्यात्यन्तिको निवृत्तिः प्रकृतिपुरुषसंयोगहेतुकस्य दुःखत्रयस्य वाऽऽत्यन्तिकी निवृत्तिर्हानं मोक्षः, सम्यग् दर्शनञ्च हानोपाय इति। अस्मिन्नेव हि चतुर्व्यूहे सांख्यशास्त्रं परिसमाप्यते।

यद्यपि संसारे दुःखस्येव सुखस्यापि विद्यमानत्वात् न संसारः सर्वथैव हेयकोटिमाश्रयते, तथापि दुःखबहुलतया क्षुद्रसुखमपि तद् दुःखमेवेति विवेकिनो मन्यन्ते। एवं भवतु नाम संसारे दुःखराशिरिव सुखजातमपि किञ्चित्, तथापि यथा दुःखे प्राणिनां बलवत्तरो द्वेषः, नैवं सुखं प्रत्यभिलाषो बलवत्तरः। अतो दुःखद्वेषापेक्षया सुखाभिलाषो दुर्बलः। अतएव दृश्यते लोके सुखाभिलाषं बाधित्वापि दुःखद्वेषो दुःखनिवृत्तिविषयिणीमिच्छां जनयतीति न सुखदुःखयोस्तुल्या-यव्ययत्वमस्तीति। अत एव च "अभ्यर्थनाभङ्गभयेन साधुर्माध्यस्थ्यमिष्टेऽप्यवलम्बतेऽर्थे" इति महाकविवचनमप्येतदुपोद्वलयति।

तच्च दुःखमनागतमेव हेयकोटावायातीति सांख्यसमानतन्त्रे पातञ्जले सूत्रितम्—हेयं दुःखमनागतमिति। विवृतं च व्यासभाष्ये—"दुःखमतीतमुपभोगेनातिवाहितं न हेयपक्षे वर्तते। वर्तमानञ्च स्वक्षणे भोगारूढमिति न तत्क्षणान्तरे हेयतामापद्यते। तस्माद् यदेवानागतं दुःखं तदेवाक्षिपात्रकल्पं योगिनं क्लिश्नाति, नेतरं प्रतिपत्तारम्। तदेव हेयतामापद्यते" इति।

तस्य चात्यन्तहेयस्य दुःखस्य आध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकभेदेन त्रैविध्यं सूचयति महर्षिकपिलः—"अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः" इति सूत्रेण। ईश्वरकृष्णोऽपि "दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ" इति कारिकयाऽपि सामान्यतस्तत् त्रैविध्यमाह। एवं सत्यपि यो हि दुःखविशेषः पुरुषमाञ्जस्येन क्लिश्नाति समुद्वेजयति, तं दुःखविशेषं स्वय-मुद्धरति कारिकायामीश्वरकृष्णः। यथा—

> तत्र जरामरणकृतं दुःखं प्राप्नोति चेतनः पुरुषः।
> लिङ्गस्याविनिवृत्तेस्तस्माद् दुःखं स्वभावेन॥ इति।

कारिकायामनुक्तस्यापि जन्मन उपसंख्यानं विधाय वैशद्येन व्याख्यायते व्याख्यातृभिः। तदिहाशयतो जिज्ञासूनां स्फीतावगत्यर्थमुपस्थाप्यते। अयमाशयः—जन्मकृतं जराकृतं मरण-

कृतं च दुःखं स्वभावेन प्राणिनां भवति । जराकृतं दुःखं यथा—बलीतरङ्गितगात्रत्वं, दण्डमन्तरेण चङ्क्रमणासंभवः, सर्वेन्द्रियाणां विषयोपभोगेष्वसामर्थ्यम्, प्रबलकासश्वासता, सान्द्रविलेक्षणता, दन्तानामस्थिरत्वं, वर्णविकृतिः, शैथिल्यं, मन्दा स्मृतिरित्येवमादि ।

मरणकृतं यथा—वातादिवैषम्यात् समुपजनितानेकप्रकारव्याधिः, प्रभ्रश्यमानसकलेन्द्रियवृत्तिः, स्रस्ताङ्गस्ताम्रपीतास्राविलेक्षणो, भ्रमदाहश्वासादिपरिगतान्तर्मर्मसन्धिः, जलार्थं निश्चोलोकयन् सब्रम्हलोकेष्वपि लोकेषु त्रातारमविन्दन् रागादनेककालात् पक्वेनात्मग्रहेण आत्मकार्यकरणोपसंह्रियमाणबुद्धिः मन्दमन्देष्वपि स्मृतिप्रलम्भेषु दयितजनस्यात्मनश्चानुस्मरन् दशविधात् कुटुम्बाद् यः प्रभ्रश्यते, सोऽवश्यंभावी सर्वसत्त्वानां प्रकृष्टोद्वेगकारी चाव्युत्पन्नश्चापरिहार्यश्चानियतकालश्च महात्मभिः परमर्ष्यादिभिरन्धतामिस्रशब्देनापदिष्टो भवति, तन्मरणकृतं दुःखम् ।

जन्मकृतमपि दुःखं यथा—अयं मातुरुदरे जरायुपरिवेष्टितशरीरोऽमेध्यपरिस्नुतो व्रणमात्रायां गर्भधान्यां यथासुखमसंभवात् परिपीडितगात्रो मातुरशनादिभिः पीड्यमानो गर्भावासे दुःखमनुभूय पश्चात् संवृतेनास्थिद्वयविवरेण निःसृतो मूत्ररुधिरकलिलैः परिषिक्तगात्रो वाह्येन वायुना सूर्यकरैश्च संस्पर्शादिभिरिव तुद्यमानः स्वसंवेद्यं दुःखमात्मनि वर्तमानमाख्यातुमसमर्थो जन्मदुःखमनुभवति जन्तुः ।

तच्चेदं दुःखं प्रधानमहदङ्कारतन्मात्रेन्द्रियभूतविशेषलक्षणस्य तत्त्वपर्वणः चैतन्यासंभवात् पुरुष एव चैतन्यशक्तियोगादुपलभ्यते । अतो जन्मजरामरणकृतं दुःखं चेतनः पुरुष एव प्राप्नोति न प्रधानादिरिति सांख्याभिप्रायः । प्राप्तिरप्यत्र न संसर्गरूपा, पुरुषस्यासङ्गत्वश्रवणात्, किन्तु भोगरूपैवेति न सिद्धान्तविरोधः ।

उक्तकारिकायां जन्मकृतदुःखोल्लेखो न कृतस्तत्रेदं कारणम्—यतो मानुषतिरश्चामेव जन्मकृतं दुःखं भवति न देवानाम् । यतो हि तडिद्विलसितमिव क्षणमात्रेण देवानां भवति शरीरप्रादुर्भावो नो गर्भवास इति । जरामरणकृतं तु दुःखं देवानामपि नैव निवर्तते । तस्माज्जन्मकृतस्य दुःखस्य सर्वव्यापित्वाभावात् प्राधान्येन जरामरणकृतमेव दुःखमुपदिष्टं मुनिना न जन्मकृतमिति ।

न च जरामरणयोरपि दुःखं न सर्वं व्याप्नोति, देवस्थानेषु जरामरणयोरश्रवणादिति वाच्यम्, स्मृतिवचनप्रामाण्याद् देवेष्वपि जरामरणदुःखसद्भावात् । जीर्यतेऽनयेति जरा क्षय इत्युक्तं भवति । क्षयश्च देवभूमावप्यस्ति । तथा च स्मर्यते—

रजोविषक्तिरङ्गेषु वैवर्ण्यं म्लानपुष्पता ।
पतिष्यतां देवलोकात् प्राणिनामुपजायते ।। इति ।

शक्रादीनां व्याधिश्रवणात् शरीरक्षयः । तथा प्रजापतेर्वायुरक्षीयत । दक्षाभिशापाच्च सोमस्य क्षयः । तस्माद् देवभूमावपि जराकृतं दुःखमस्त्येव । एवं मरणकृतमपि दुःखं तेषामस्ति, भूम्यन्तरगमनात् तत्रोत्पन्नानाम् । तत्र च ययातिरुदाहरणम् । तथा च सांख्यसूत्रम्—"समानं जरामरणजादिदुःखम्" (अ० ३ सू० ५३) इति । तथा गोपथब्राह्मणे उक्तम्—"देवानां ह वा पञ्चदशशतान्यासंस्तानि ब्रह्मकिल्विषादक्षीयन्त, ततस्त्रयस्त्रिंशदेवासत" इति । अतो

युक्तमेवेदं मुनेर्यत् जन्मकृतं दुःखमनुल्लिख्य जरामरणदुःख मुल्लेखः कृत इति। एवं सर्वेषां दुःखानामास्पदं हि जरामरणकृतं दुःखं सर्वसाधारणम्। यतो हि तद्धि न केवलं स्वस्यैव दुःखं भवति, अपितु बन्धुमित्राणामपि उद्वेगकारकं भवति। जन्मकृतं तु दुःखं न तथा, स्वस्य जन्मदुःखपीडितत्वेऽपि सम्बन्धिनां प्रहर्षनिमित्तत्वात्। तस्माद् वैशेष्यात् जरामरणदुःखो-दाहरणमुपयुक्ततरमिति।

दुःखं हि सामान्यतो ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तमेव भवति। यथा; प्रजापतेरक्षिरोगश्रवणात्, इन्द्रस्य कामोपतापात्, नागानां सर्पसत्रायासात्, वैश्रवणस्याभिशापात् हस्तिभावोपपत्तेः, जरत्कारोः पितॄणां च गर्तेऽवलम्बनात्, पिशाचानाञ्च मन्त्रौषधिमङ्गलप्रयोगैरुद्वासनात् इति। मानुषतिरश्चान्तु प्रत्यक्षत एव प्रायेण दुःखास्पदत्वम्। तस्मान्नास्ति संसारे कश्चित् प्रदेशो यं लिङ्गदेहाविनाभूतं दुःखं न व्याप्नुयात् इति।

सर्वमपि दुःखं सामान्यतस्त्रिविधदुःखेष्वन्तर्भूतमिति निवेदितपूर्वम्। इत्थञ्च त्रिविध-दुःखात्यन्तनिवृत्तिरेव मोक्षापरपर्यायोऽत्यन्तपुरुषार्थ इति सांख्यमतम्। यद्यपि दुःखानां बुद्धि-धर्मतया तन्निवृत्तिरूपो मोक्षोऽपि बुद्धेरेव धर्मो न तु चितिशक्तेर्नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावायास्त-थापि वुद्ध्यविवेकाद् बुद्धिधर्मानात्मन्यभिमन्यमानस्य पुंसो दुखाद्यभिमानो भवतीति। अतो बुद्धिविवेकेनात्मतत्त्वज्ञानमेव तदभिमाननिवृत्तिहेतुः। यत्रापि दुःखाभिसम्बन्धो बन्धस्तन्नि-वृतिरेव मोक्ष इति प्रतिपादितं तत्रापि प्रकृतिबुद्ध्याद्यविवेकाज्जायमानो दुःखाभिसंबन्धो निर्दुःखस्य पुंसो दुःखाद्यभिमान एव न तु तस्य वस्तुतो दुःखसम्बन्ध इति। अतः प्रकृति-वुद्ध्यादितो बिवेकेनात्मतत्त्वज्ञानात् अविबेको निवर्तते, तन्निवृत्तेश्च दुःखाभिसम्बन्धो निवर्तते। तदानीं च नित्यमुक्तोऽपि पुरुषो मोक्षं प्राप्त इव सन् स्वरूपेऽवतिष्ठते। स्वरूपेऽवस्थानञ्च सच्चिदात्मके स्वस्वरूपेऽवस्थानं न तु आनन्दात्मकत्वमपि तस्य स्वरूपं यथा वेदान्तिनामान-न्दमयत्वमात्मनः स्वरूपमस्तीति। सांख्यानुसारेण सुखाभिन्नस्यानन्दस्य त्रिगुणान्तर्गतस्य सत्त्वधर्मतया निर्गुणपुरुषे आनन्दानङ्गीकारात् इति।

एतन्मतानुसारेण सामान्यतः तत्त्वज्ञानस्य द्वौ भेदौ स्तः, उच्चकोटिकं निम्नकोटि-कञ्चेति। अव्यक्ततत्त्वस्य विस्तृतस्वरूपात्मकस्यापेक्षया व्यक्ततत्त्वस्य ज्ञानं निम्नकोटिकं भवति। उच्चकोटिकं ज्ञानन्तु अव्यक्तस्य ज्ञानमस्ति। परन्तु चिच्छक्तिज्ञानन्तु उच्चतम-कोटिकं ज्ञानमिष्यते। सांख्यदर्शनेनेदमेव ज्ञानं प्राप्यतया प्रस्तूयते। तत्र पूर्वं व्यक्ततत्त्वज्ञानम-नन्तरमव्यक्तस्य तयोस्तुलनात्मकञ्च ज्ञानम्। एतदुभयज्ञानानन्तरं चिच्छक्तेर्ज्ञानं, तथा चितेरपि न केवलं स्वरूपत एव ज्ञानं, किन्तर्हि, तस्या व्यक्ताव्यक्तजगद्भ्यां सह तुलनात्मकं विवेचनात्मकं च ज्ञानं करणीयं भवति। इदमेव च वास्तविकं पूर्णं च ज्ञानं मोक्षोपयोगि भवतीति।

अद्यतनं विज्ञानं तु प्रकृतेर्वैभवज्ञान एव संलग्नमस्ति, तदपि च प्रकृतेरनन्तशक्तित्व-कारणात् असंभवि। प्रकृतेरन्तज्ञानं न कथमपि संभाव्यते। विज्ञानं यत्र शून्यात्मकमिवास्ति तत्राध्यात्मज्ञानमेकादिसंख्यात्मकमस्ति। काञ्चित् संख्यां विहाय सहस्रमपि शून्यानि मूल्यशून्यान्येव भवन्ति। संसारस्य सेवकरूपेण वर्तमानं विज्ञानं साधु वर्तिष्यते, परन्तु संसारस्वामिरूपेण वर्तमानन्तु तद्विज्ञानं जडरूपमेवास्ति। तेन च जड़भावेन सम्भाव्यमानः परिणामः स्पष्टं एव।

आत्मतत्त्वम्

वेदान्ते "अयमात्मा ब्रह्म, अहं ब्रह्मास्मि, तत्त्वमसि" इत्यादिश्रुत्यनुसारेण आत्मा ब्रह्मैवास्ति, ब्रह्म च नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावमित्यात्मा नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव एवेति सुप्रसिद्धम्। सांख्यपुरुषोऽपि आत्मापरपर्यायो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव एवेति सांख्यप्रवचनसूत्रादावुक्तम्। एवं साम्ये सत्यपि वर्तते कश्चिद् भेदः सांख्यवेदान्तयोरात्मनि। नित्यशुद्धत्वेनात्मनो नित्यसद्रूपत्वमपरिणामित्वञ्च सूच्यते। बुद्धपदेन च नित्यचिद्रूपत्वं सांख्यवेदान्तोभयमतेऽप्यात्मनोऽभ्युपगतम्। मुक्तत्वमुभयमते स्वाभाविकमपि किञ्चिद् भिन्नमिव वर्तते। वेदान्ते मुक्तत्वमानन्दात्मकत्वम्, ब्रह्मण आनन्दरूपत्वात्। सांख्ये तु त्रिविधदुःखात्यन्तिकनिवृत्तिरूपत्वम्, तथा च सांख्यसूत्राणि—"मुक्तिरन्तरायध्वस्तेर्न परः" (अ० ६ सू० २०) इति, "नैकस्यानन्दचिद्रूपत्वे द्वयोर्भेदात्" (अ० ५ सू० ६६) इति, "नानन्दाभिव्यक्तिर्मुक्तिर्निर्धर्मत्वात्" (अ० ५ सू० ७४) इति चेति।

वेदान्ते मायाश्रयेणात्मनो जगत्कर्तृत्वमभिमतम्, "एतस्मादात्मनः आकाशः सम्भूतः" इत्यादिश्रुत्यनुसारेण। सांख्ये तु "प्रकृतेर्महान् ततोऽहङ्कारः" इत्यादिकारिकानुसारेण प्रकृतिरेव जगन्निर्मात्री, पुरुषस्तु "न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः" इत्युक्त्या पुष्करपलाशवन्निर्लेपः सर्वथाऽसंस्पृष्ट एव जगद्रचनयेति। "तस्माच्च विपर्यासात् सिद्धम्" इत्यादिकारिकानुसारं सांख्यपुरुषः साक्षी केवलो मध्यस्थो द्रष्टा अकर्ता च सिध्यति। कैवल्यमत्रासङ्गत्वम्। कर्तृत्वञ्च गुणानामेव, न पुरुषस्योदासीनस्येति पुरुषो वस्तुतोऽकर्तैव। वेदान्ते तु मायावीव कर्ता भवन्नेव परमात्मा ब्रह्मेति सिद्धान्तितम्।

मोक्षप्रकारः

सांख्यपुरुषो हि भोग्येन प्रधानेन सर्वकारणेन महत्तत्त्वादिस्वरूपेण संभिन्नोऽसंसर्गाग्रहनिबन्धनाहङ्कर्तेति तादात्म्याभिमानवान् तद्गतं दुःखत्रयं स्वात्मन्यभिमन्यमानः सदा दुःखावसंसृष्टत्वेऽपि स्वात्मनि विपर्यस्तो तन्निवृत्त्यर्थं प्रधानमपेक्षते। तदुक्तं सांख्यकारिकायाम्—"कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य" इति। तथा च स्वभावतो दुःखसम्बन्धाद् वियुक्तस्यापि पुरुषस्य प्रतिबिम्बरूपदुःखनिवृत्त्यर्थं प्रतिबिम्बसम्बन्धेन दुःखविमोक्षार्थं वा प्रार्थना सम्भवति। एवं विज्ञानभिक्ष्वनुसारी विमर्शः। वाचस्पतिरीत्या तु बुद्धिवृत्तिप्रतिबिम्बितः पुरुषो बुद्धिगतदुःखादिमानिव भवति, यथा दर्पणे प्रतिबिम्बितमाननं दर्पणगतमालिन्यादिमदिव भवतीति।

वस्तुतस्तु प्रधानमेव स्वदर्शनार्थमर्थात् स्वभोग्यत्वचारितार्थ्याय यथा पुरुषमपेक्षते तथा प्रधानमेव स्वकैवल्यार्थमपि पुरुषमपेक्षते, न तु कदापि पुरुषस्य प्रधानापेक्षास्तीत्येवाभ्युपगमोऽस्ति। अत एवोक्तकारिकाऽपि एतद्रीत्यैव व्याख्यायते। तथाहि—यथा काचन स्त्री स्वभोगार्थं यतमाना पुनः दुखिता सती स्वकैवल्यार्थं यतते, तथेयं प्रकृतिरपि। पङ्ग्वन्धवदिति दृष्टान्तोऽपि तथाविध एव। तत्रान्धकर्तृक एव पङ्गुबन्धस्तत्त्यागश्च। अत एव—

"तस्मान्न बध्यतेऽद्धा न मुच्यते नापि संसरति कश्चित्।
संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः॥" इति कारिकाऽपि संगच्छते। पुरुषकैवल्यपक्षेऽपि इदमेव समाधानम्। अन्यथा कर्तृत्वभोक्तृत्वादिपरिणामरूपबन्धस्य अपरिणामिनि पुरुषेऽसंभवात् बन्धसमानाधिकरणो मोक्षोऽपि पुरुषे न सम्भाव्येत,

"पुरुषविमोक्षार्थम्" इति वचनं च रिक्तं भवेत् । अतो राज्ञि जयपराजयाविव बन्धमोक्षवादा अपि पुरुषे उपचर्यन्ते । तत्र राज्ञा सह भृत्यसम्बन्धे धनदानादिको हेतुः, पुरुषेण सह प्रकृतिसम्बन्धे तु विवेकाग्रह एव हेतुरिति ।

ननु भोगप्रयोजकानादिसंयोगपरम्परायां सत्यां कैवल्यार्थं पुनस्तद्विरोधिसंयोगोत्पत्तिः कथमुपपद्येतेति चेन्न, "भोगाय संयुक्तोऽपि कैवल्याय पुनः संयुज्यते" इति तत्त्वकौमुदीवचनप्रामाण्यात् तथा स्वीकारेऽनुपपत्त्यभावात् । न च पूर्वसंयोगादेव सृष्टिद्वारा कवल्यं भवत्विति वाच्यम्, एकस्य संयोगस्य भोगकैवल्यरूपविरोधिप्रयोकत्वासंभवात्, संयोगद्वयस्वीकारेऽनुपपत्त्यभावात् इति स्पष्टीकृतं तत्त्वविभाकरे ।

कैवल्यापरपर्यायो मोक्षोऽत्र त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरेव "अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः" इति सांख्यप्रवचनसूत्रात् । त्रिविधदुःखानामाभिमानिकसम्बन्ध एव बन्धः, तन्निवृत्तिश्च मोक्ष इति तात्पर्यम् । निवृत्तेरधिकरणात्मकत्वेन सा पुरुषस्वरूपान्नातिरिच्यते । अतएव समाधाविव मुक्तावपि द्रष्टुः स्वरूपावस्थानसूत्रं पातञ्जलं सङ्गच्छते । बन्धनिवृत्तिश्च तत्त्वज्ञानादेव भवति । तत्त्वज्ञानञ्च सांख्ये प्रकृतिविवेकेन पुरुषतत्त्वज्ञानमेवोच्यते ।

वेदान्तेऽपि आविद्यकधर्मधर्म्यध्यास एव बन्धः, तत्त्वज्ञानेनाविद्यानिवृत्तिरेव मोक्ष इति मन्यते । तत्रापि "परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" इति श्रुतिप्रामाण्यात् केवलेनात्मस्वरूपेणाविर्भाव एव मोक्षः, न तु तदवस्थायां केनापि धर्मान्तरेण आत्माऽऽविर्भवति । अर्थात् सर्वबन्धविनिर्मुक्तः शुद्धेनैवात्मनाऽवतिष्ठते । तत्त्वज्ञानञ्च वेदान्तमते ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानमेव नान्यत् ।

मुक्तिं प्रति ज्ञानकर्मसमुच्चयस्य हेतुत्वं वेदान्तेनेव सांख्येनापि प्रतिषिध्यते । वेदान्त इह शाङ्करोऽभिप्रेतः ।

इत्थं हि सांख्यमद्वैतवेदान्तेन सहात्मसम्बन्धे मुक्तिसम्बन्धे च बहुधा साम्यं बिभ्रदपि कतिपयांशे मौलिकं भेदमाचामति । अद्वैतवेदान्ते हि न केवलः पुंबन्ध एवाज्ञाननिबन्धन आविद्यकः, किन्तु सर्वमेव पदार्थजातमाविद्यकम् । एवं सांख्यमते न केवलं पुरुष एवैकं तत्त्वमस्ति किन्तु तदतिरिक्तान्यपि सन्ति चतुर्विंशतिस्तत्त्वानि प्रधानादीनि वास्तविकानि । न हि भ्रमात् पुरुषप्रवृत्तिनिवृत्तिप्रयोजका रजतसर्पादिपदार्था न भवन्ति पारमार्थिकाः हट्टारण्यादौ । ते पारमार्थिकाः सन्तोऽपि न स्वरूपतो भवन्ति बन्धप्रयोजकाः, तथात्वे प्रकृतेर्व्यापितया साधारणतया नित्यतया च मोक्षनियमानुपपत्तेः । तस्मात् सांख्ये तेषां प्रकृत्यादितत्त्वानां पारमार्थिकत्वेऽपि ततो विवेकाज्ञाननिमित्त एव बन्धस्तद्विवेकज्ञानाच्च बन्धनिवृत्तिरूपो मोक्ष इति ।

एवं वेदान्ते स्वरूपावबोध एव ब्रह्मात्मत्वसाक्षात्कारात्मकस्तत्त्वज्ञानं येनाविद्यायां स्वरूपाज्ञानात्मिकायां निवृत्तायां पुरुषो मुक्त इव भवति । सांख्ये तु प्रकृत्यादितो विवेकेनात्मस्वरूपज्ञानमेव तत्त्वज्ञानं ततश्चाविद्या विवेकाज्ञानात्मिका निवर्तते, तथा स्वरूपतो नित्यमुक्तोऽपि पुरुषो मुक्त इव भवति । सोऽयमुभयोर्मतयोर्बन्धस्याविद्यकत्वे पुरुषस्य स्वभावमुक्तत्वे समानेऽपि प्राग्वर्णितो वर्तते मौलिको भेद इति शम् ।

सम्बुद्धियोग

चक्रवर्ती रामाधीन चतुर्वेदी

व्याकरणाध्यापक, प्रा० वि० धर्म विज्ञान संकाय का० हि० वि० वि०

महर्षि पतञ्जलि ने व्याकरणाध्ययन के प्रयोजनों का उल्लेख करते हुए कहा है—"महता देवेन नः साम्यं यथा स्यादित्यध्येयं व्याकरणम्[1]" अर्थात् महान् देव परब्रह्म के साथ मेरी एकता हो जाय, इसके लिए व्याकरण पढ़ना चाहिए। अतः व्याकरण के अध्ययन से न केवल साधुत्व प्रक्रिया का ही ज्ञान होता है, अपितु साधु शब्द के तात्त्विक ज्ञान और प्रयोग से अज्ञान नष्ट होने पर ब्रह्मसायुज्य भी सिद्ध हो जाता है। तभी तो शब्दशास्त्र के प्रमाणभूत आचार्य पाणिनि के लिए प्रयुक्त—

> येन धौता गिरः पुंसां विमलैः शब्दवारिभिः।
> तमश्चाज्ञानजं भिन्नं तस्मै पाणिनये नमः[2] ।।

इस नमस्कारात्मक श्लोक में शब्दरूप निर्मल जल से वाणी की शुद्धता के साथ अज्ञानजन्य अन्धकार के छेदनरूप उनके कार्य का भी स्मरण किया गया है।

वस्तुतः पाणिनीय व्याकरण के ज्ञान से अज्ञान नष्ट होने पर ब्रह्म की भी प्राप्ति होती है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं, क्योंकि इस व्याकरणशास्त्र की आधारभूमि ही दिव्य तथा अपौरुषेय है, जो सनकसनन्दन सनत्कुमारादि सिद्धों के उद्धार की कामना से नटराज भगवान् शिव के डमरु से चौदह सूत्रों के रूप में प्रादुर्भूत हुई है। जिसे नन्दिकेश्वर ने अपनी काशिका के प्रारंभ में कहा है—

> नृत्तावसाने नटराजराजो ननाद ढक्कां नवपञ्चवारम्।
> उद्धर्त्तुकामः सनकादिसिद्धानेतद्विमर्शे शिवसूत्रजालम् ।।

इसलिए पाणिनि के सूत्रों द्वारा शब्दसाधुत्व प्रक्रिया के साथ यदि दार्शनिक तत्त्व का भी बोध हो तो भूषण ही है दूषण नहीं। जैसा कि—

एकवचनं सम्बुद्धिः (पा० सू० २।३।४९)।

एकः पूर्वपरयोः (पा० सू० ६।१।८४)।

एकं बहुव्रीहिवत् (पा० सू० ८।१।९)।

इत्यादि कतिपय योगों से स्पष्ट होता है। अस्तु! यहाँ केवल 'सम्बुद्धियोग' के सम्बन्ध में कुछ विचार प्रस्तुत है। महर्षि पाणिनि ने अपने व्याकरणागम में 'सम्बोधन' और 'सम्बुद्धि' इन दो पदों का प्रयोग किया है। 'सम्बोधन' पद का शाब्दिक अर्थ है—सम्यग् बोधन, अर्थात् जिस शब्द के प्रयोग से व्यक्ति, वक्ता के अभिमुख हो, वह सम्बोधन

---

[1] महाभाष्य पस्पशाह्निक।

[2] पाणिनीयशिक्षा श्लोक ५८।

पद है। जिसके अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए प्रथमा विभक्ति का प्रयोग होता है, जिसका निर्देश 'सम्बोधने च[1]' इस सूत्र से हुआ है, और प्रथमा विभक्ति में भी एकव्यक्ति का ही जहाँ सम्यग् बोधन हो, उसे 'सम्बुद्धि' कहा जाता है। इसके लिए पाणिनि का पूर्वोक्त संज्ञासूत्र है "एकवचनं सम्बुद्धिः," जैसे 'आगच्छ कृष्ण ? अत्र गौश्चरति' इस वाक्य में कृष्णपद "सम्बोधन" होते हुए 'सम्बुद्धि' भी है। तात्पर्य यह है कि सम्बोधन में सामान्यतः प्रथमा विभक्ति के तीनों वचनों की उपस्थिति होती है किन्तु 'सम्बुद्धि से केवल एक का ही कथन होता है अन्य वचनों का नहीं। वस्तुतः यहीं सम्बुद्धि का सम्बुद्धित्व है, जिसमें अन्य बातें छूट जायँ, केवल कृष्ण एकतत्त्व का ही भान होता रहे, क्योंकि 'सम्बुद्धि' यह संज्ञा है।

महाभाष्यकार पतञ्जलि ने "एकश्रुति दूरात्सम्बुद्धौ[2]" इस सूत्र के भाष्य में सम्बुद्धि पदपर प्रश्न उठाया है कि क्या यहाँ का सम्बुद्धि पद पारिभाषिक है ? या अन्वर्थक ? यदि पारिभाषिक एकवचन का ही बोधक सम्बुद्धिपद माना जाय तो "देवा ब्रह्माणः" इस बहुवचनान्त पदसंयुक्त वाक्य में एकश्रुति की प्राप्ति नहीं होगी। अतः यहाँ "सम्बोधनं सम्बुद्धिः" इस अन्वर्थ का ही ग्रहण इष्ट[3] है, किन्तु इसके अतिरिक्त सर्वत्र "एङ् ह्रस्वात्सम्बुद्धौ[4]" "सम्बुद्धौ च[5]" इत्यादि सूत्रों का सम्बुद्धिपद पारिभाषिक रूढ़ अर्थ का बोधक होते हुए भी अपने योगज अर्थ का परित्याग नहीं करता, क्यों कि "सम्बुद्धि" यह बड़ी संज्ञा है। संज्ञा तो सबसे छोटी होनी चाहिए, जैसे—टि, घु, भ आदि संज्ञाएं हैं। यदि बड़ी संज्ञा है तो उसका व्युत्पत्तिजन्य अर्थ भी उस संज्ञा से आचार्य को अभीष्ट होता है। इसके उदाहरण में—सर्वनाम, संख्या आदि संज्ञाएँ अपने अन्वर्थबोधन में प्रसिद्ध हैं। यहाँ यदि व्युत्पत्तिजन्य अर्थ अभिप्रेत न होता तो "एकवचनं सम्" यही पढ़ देते, किन्तु ऐसा नहीं कहा। इससे ज्ञात होता है कि एकवचन के लिए 'सम्बुद्धि' यह संज्ञा ही सार्थक है, क्योंकि साधारण बुद्धि तो लौकिक नानाविषयों से सम्बद्ध है, किन्तु एकतत्त्व के लिए श्रुति का उद्घोष है---

यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः।
तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः[6] ॥

---

[1] पा० सू० २।४।४७।

[2] पा० सू० १।२।३३।

[3] किमिदं पारिभाषिक्याः सम्बुद्धेर्ग्रहणम्, एकवचनं सम्बुद्धिरिति, आहोस्विदन्वर्थग्रहणं सम्बोधनं सम्बुद्धिरिति ? किञ्चातः ? यदि पारिभाषिक्याः सम्बुद्धेर्ग्रहणम् 'देवा ब्रह्माणः" अत्र न प्राप्नोति। अथान्वर्थग्रहणं, न दोषो भवति ! "यथा न दोषस्तथास्तु।"

[4] पा० सू० ६।१।५९।

[5] पा० सू० ७।३।१०६।

[6] मुण्डकोपनिषद् २।२।५।

अर्थात् स्वर्ग पृथिवी और अन्तरिक्ष तथा सब प्राणों के साथ मन जिस तत्त्व में प्रविष्ट है, तुमलोग उसी एक तत्त्व को जानो, अन्य बातों को छोड़ो, क्योंकि वही एक भवसागर से पार उतारने वाला अमृत का पुल है। किन्तु उस सजातीय विजातीय स्वगत भेद शून्य एकतत्त्वरूप आत्मा का बोध असम्भव न होते हुए भी सर्वसुलभ नहीं है। करोड़ों मनुष्यों में किसी एक को वास्तविक बोध होता है। जिसे आत्मबोध होता है, उसकी दृष्टि में सम्पूर्ण संसार आत्मस्वरूप एक ही हो जाता है। अतः शोक-मोह के लिए उनके चित्त में कोई स्थान ही नहीं, वहाँ तो सदा "एकमेवाद्वितीयम्" का ही भान होता रहता है। जिसके लिए श्रुति स्पष्ट कहती है—

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः[१] ॥

महर्षि पतञ्जलि ने भी "तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः" सूत्र से स्पष्ट कह दिया है कि चित्त-वृत्तियों के निरोधरूपयोग में जो आधि-व्याधि-दुःख-दौर्मनस्य आदि विघ्न उपस्थित हो जाते हैं, उनको दूर करने के लिए एकतत्त्व का अभ्यास अत्यन्त आवश्यक है। एकतत्त्व का बार-बार चिन्तन करने से ही द्रष्टा की अपनी स्वरूप में दृढ़स्थिति होती है, जिसे कैवल्य अर्थात् पुरुष का अकेलापन कहा जाता है। उस अकेलेपन का भान जिस बुद्धि में हो वही "सम्बुद्धि" है।

श्रीमद्भगवद्गीता में "बुद्धियोग का" विशेष महत्त्व बताया गया है। भगवान कहते हैं कि जो निरन्तर प्रीतिपूर्वक मेरा भजन करते हैं, उन्हें मैं उस "बुद्धियोग" को देता हूँ, जिससे वे मुझे प्राप्त कर लेते हैं।

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते[३] ॥

भाव यह है कि जिस बुद्धि से मेरे पूर्णतत्त्व एकत्व का परिज्ञान होता है, उस बुद्धि के साथ मैं भक्तों का योग करा देता हूँ। "बुद्धियोग" मे एक ही प्रतीति होती है, इस बात को "व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ![४]" के द्वारा भगवान् ने स्पष्ट कह दिया है। अतः एकतत्त्व को पकड़ने वाली निश्चयात्मकबुद्धि ही "बुद्धियोग" है। आगे भी उन्होंने कहा है—

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चितः सततं भव[५] ॥

---

[१] ईशा वा० उपनिषद् ७।
[२] यो० सू० १।३२।
[३] भगवद्गीता, अ० १०। श्लो० १०।
[४] भगवद्गीतां, अ० २। श्लो० ४१।
[५] भगवद्गीता, अ० १८। श्लो० ५०।

अर्थात् लौकिक और पारलौकिक फल देनेवाले सभी कर्मों को मन से मुझे समर्पण कर तथा मेरे परायण हो निश्चयात्मक 'बुद्धियोग' को प्राप्तकर सदा मेरा ही चिन्तन करो। तात्पर्य यह है कि "बुद्धियोग" में एकतत्त्व का ही चिन्तन होता है। इसीलिए भगवान् ने अर्जुन को अपना प्रिय समझकर गीता के उपसंहार में अत्यन्त रहस्यभूत "मामेकं शरणं व्रज[१]" का उपदेश दिया। जो भगवत्कृपा से बुद्धियोग प्राप्त होने पर ही सम्भव है। वही "बुद्धियोग" यहाँ "एकवचनं सम्बुद्धिः" के सम्बुद्धि शब्द से अभिव्यक्त होता है।

कुछ लाघवप्रिय व्याख्याकारों ने "एकवचनं सम्बुद्धिः" के स्थान पर "सुः सम्बुद्धिः[२]" को ही उचित माना है, क्योंकि लौकिक पदों की सिद्धि "सुः सम्बुद्धिः" से भी संभव है। अतः सूत्र में एकवचन पद की आवश्यकता वे केवल वेदाङ्ग के पारायण से पुण्य ही मानते हैं। किन्तु जिस समरसता की प्रतीति एकवचन के साथ सम्बद्धि से होती है, वह "सुः सम्बुद्धिः" से कभी भी संभव नहीं। इसीलिए महर्षि पतञ्जलि का यह घण्टाघोष है कि—

"प्रमाणभूत आचार्यो दर्भपवित्रपाणिः शुचाववकाशे प्राङ्मुख उपविश्य महता प्रयत्नेन सूत्राणि प्रणयतिस्म। तत्राऽशक्यं वर्णेनाऽप्यनर्थकेन भवितुम्, किं पुनः इयता सूत्रेण।[३]" अतः महर्षिपाणिनि के सूत्रों का पर्यालोचन तात्त्विकदृष्टि से भी होना चाहिए। तभी उनके सूत्रों के प्रत्येक पद और वर्णो का वास्तविक रहस्य भी अवगत होगा।

अन्त में निष्कर्ष यह है कि जिस प्रकार योगियों की ऋतम्भरा प्रज्ञा में केवल सत्य पदार्थ ही भासित होता है, उसी प्रकार पाणिनीय सम्बुद्धि में भी केवल एक की ही अनुभूति होती है।

———

१ भगवद्गीता, अ० २८। श्लो० ६८।
२ लघुशब्देन्दुशेखर।
३ महाभाष्य (१।१।१)।

याज्ञवल्क्यस्मृतिः—शरीरतन्त्र एक दृष्टि

सुरेश्वर द्विवेदी

शोधछात्र, प्राच्यविद्या-धर्मविज्ञानसंकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

भारतीय धर्म एवं चिकित्साशास्त्र के प्रणेता-प्राचीन ऋषि-महर्षियों ने अपने चिरकालिक एवं सत्यनिष्ठ तपस्या के द्वारा संपूर्ण मानव के कल्याण के लिए शास्त्रों का निर्माण किया था। जिनके द्वारा मानव अपने जीवन पथ पर बढ़ते हुए पुरुषार्थचतुष्टय को प्राप्त करता है। उन महर्षियों की परम्परा की ही देन है कि आज भी यह भारतदेश विश्व में मूर्धन्य माना जाता है। ऋषि-महर्षियों का उद्देश्य मानव उत्थान की ओर उन्मुख रहा है। मानवसमाज जब सत्यनिष्ठा के साथ महर्षिपरम्परा द्वारा निर्दिष्टपथ पर अग्रसर होगा, तभी वह व्यक्ति ठीक ढंग से जीवन निर्वाह कर सकेगा। धर्म मनुष्य के जीवन को अनुप्राणित करता है। पतन के रास्तों से उसकी रक्षा करता है। धर्म ही एक ऐसा विषय है जो समाज को सभ्य कहलाने में सहायक है। अन्यथा मनुष्य समाज एक पशुसमूह[१] की तरह है। हमारे ऋषिमहर्षि त्रिकालद्रष्टा थे। वे भूत-भविष्य को वर्तमान की भाँति प्रत्यक्ष कर अपनी पूत भावना को लोककल्याण के लिए सिद्धान्तरूप में शारीरिक आवश्यकताओं से जोड़ देते थे। उनकी सर्वज्ञता का परिचय हमें अनेक स्थलों पर प्राप्त होता है। आधुनिक इतिहासकारों के अनुसार ईसा की तीसरी चौथी शताब्दी में याज्ञवल्क्य ऋषि हुए थे जिनकी श्रेष्ठ कृति याज्ञवल्क्यस्मृति विश्व में प्रसिद्ध है। जो मानवमात्र के सम्पूर्ण धर्मों का विधान करती है। उसी स्मृति के प्रायश्चित्ताध्याय के यतिप्रकरण में यति के लिए शरीरसम्वन्धी वर्णन किया गया है। जिससे उनके शरीर सम्वन्धी ज्ञान का बोध होता है। उनकी बहुज्ञता इसी से सिद्ध होती है।

जीवात्मा का शरीरधारणविषयक वर्णन :—

स्त्रीपुंसयोस्तु संयोगे विशुद्धे शुक्रशोणिते।
पञ्चधातून् स्वयं षष्ठ आदत्ते युगपत्प्रभुः॥ (याज्ञ० प्राय०-७२)

ऋतुस्नाता स्त्री में पुरुष का नियोग होने पर शुद्धशुक्र एवं रज के सम्यक् योग से पञ्च तत्त्वों के अतिरिक्त एक छठा आत्मा इन तत्त्वों के संयोग से स्थूल रूप ग्रहण करता है। विशुद्धशुक्र स्फटिक मणि के सदृश थोड़ी नीलिमा युक्त श्वेत और तरल, थोड़ा चिकना मधुर तथा मधु के समान गन्ध वाला होता है। शुद्धार्तव-खरगोश के रक्त के समान वर्णवाला और गाढ़ा होता है। अथवा लाख के पानी के रङ्ग का होता है। यह वस्त्र पर सूख जाने के बाद वस्त्र धोने पर साफ-साफ छूट जाता है। इससे वस्त्र पर दाग नहीं पड़ता। उपर्युक्त ऐसे ही शुक्र और आर्तव सन्तानोत्पत्ति में समर्थ होते हैं।

---

[१] आहारनिद्रा भयमैथुनं च सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः॥ (हितोपदेश)

शुक्र शोणित से युक्त शरीर का क्रमशः विकास वर्णन :—

प्रथमे मासि संक्लेदभूतो धातुविमूर्च्छितः।
मास्यर्बुदं द्वितीये तु तृतीयेऽङ्गेन्द्रियैर्युतः॥ (याज्ञ० प्रा० ७५)

पञ्चभूतों से युक्त वह छठा जीवात्मा क्रमशः तत्वों के प्रभाव से प्रथम मास में गर्भाशय में द्रव रूप में विद्यमान रहता है। दूसरे मास में अर्बुदसदृश (कुछ कठिन) रूप धारण करता है। तृतीय मास के प्रारम्भ होने पर वह पिण्ड अंगों एवं इन्द्रियों से संयुक्त होता है। तृतीय मास में ही वह आकाशीय अंश के कारण शब्द ग्रहण तथा कुछ इधर उधर हिलना डोलना प्रारम्भ करता है। इसी प्रकार जल से रसनेन्द्रिय अंगों की शीतलता आदि, तेज से दृष्टिशक्ति, पाचन, उष्णता आदि; वायु से स्पार्शेन्द्रिय की चेष्टा आदि, पृथिवी से घ्राणेन्द्रिय एवं गन्धग्रहण गुरुता आदि प्राप्त होता है। परन्तु यह सर्वसम्मत है कि तृतीय मास के पूर्व गर्भधारण के समय से ही पञ्चतत्त्वों के कार्य जीवात्मा के संयोग से प्रारम्भ हो जाते हैं। एवं शनैः-शनै कार्य करते हुए तृतीय मास में स्पष्ट हो जाते हैं।

क्रमशः चौथे, पाँचवे एवं छठे मास की अवस्था का वर्णन :—

स्थैर्यं चतुर्थे त्वङ्गानां पञ्चमे शोणितोद्भवः।
षष्ठे बलस्य वर्णस्य नखरोम्णां च सम्भवः॥ (याज्ञ० प्रा० ८०)

चतुर्थ मास मे गर्भस्थ शिशु के अंगों मे स्थिरता आती है। पाँचवें में मांस, रक्त उत्पन्न होता है। छठे में बल-वर्ण तथा रोम उत्पन्न हो जाते है। महर्षि सुश्रुत ने भी चौथे मास में अंग-प्रत्यंग का विभाग तथा चेतना की अभिव्यक्ति मानी है। पाँचवे मास में रक्त एवं माँस की वृद्धि के कारण गर्भिणी इस मास में दुर्बल हो जाती है। छठे में शिशु के बल वर्ण की वृद्धि के कारण ही गर्भिणी के बल-वर्ण की हानि होती है जो अवसर प्रतीत होते हैं।

दोहद की इच्छा न पूर्ति होने पर हानि :—

दौहृदस्याप्रदानेन गर्भो दोषमवाप्नुयात्।
वैरूप्यं मरणं वापि तस्मात् कार्यं प्रियं स्त्रियाः॥ (यज्ञ० प्रा० ७९)

गर्भिणी दौहृद की अवस्था चौथे मास में धारण करती है। क्योंकि चेतना का स्थान हृदय ही होता है। इस लिए चौथे मास में गर्भ इन्द्रियों के विषयों की चाह या इच्छा करने लगता है। स्त्री को दो हृदय वाली होने से दौहृद कहते हैं। दौहृद की इच्छाओं की पूर्ति न होने से संन्तान कुरूप, लूली, लंगड़ी, कुबड़ी उत्पन्न होती है। जो व्यक्ति सुन्दर संन्तान की कामना करता हो उसे गर्भिणी के समस्त इच्छाओं की पूर्ति अवश्य करनी चाहिए। इससे सन्तान प्रभावशाली और दीर्घजीवी होती है।

सातवें तथा आठवें मास का वर्णन :—

मनश्चैतन्ययुक्तोऽसौ नाड़ीस्नायुशिरायुतः।
सप्तमे चाष्टमे चैवत्वङ्मांसस्मृतिमानपि॥ (याज्ञ० प्रा० ८१)

सातवाँ मास पूर्ण होने पर यह गर्भ सब प्रकार से पूर्ण शरीर वाला होता है। गर्भ पुष्टि से इस मास में गर्भिणी पूर्व की अपेक्षा कृश होते हुए उदास रहती है। गर्भस्थ शिशु सप्तम मास में मन एवं चेतना को प्राप्त करता है। वह उसी समय नाड़ी तथा शिराओं से युक्त या परिपूर्ण होता है। आठवें मास के प्राप्त होने पर यह शिशु त्वचा मांस के साथ ही स्मृतिशक्ति को धारण करता है।

समय से पूर्व (अर्थात् आठवें मास में) जन्म लेने पर उसकी मृत्यु का कारण एवं उसकी वैज्ञानिकता :—

पुनर्धात्रीं पुनर्गर्भमोजस्तस्य प्रधावति।
अष्टमे मास्यतो गर्भो जातः प्राणैर्वियुज्यते ॥ (याज्ञ० प्रा० ८२)

आठवें मास में रस वाहिनी के द्वारा ओज गर्भिणी से गर्भ के हृदय में और गर्भ से गर्भिणी के हृदय में बार-बार आता जाता रहता है। इस अवस्था में गर्भ पूर्ण रूप से पुष्ट नहीं रहता है। इस ओज के आने जाने का प्रभाव है कि आठवें मास में गर्भिणी उदास एवं प्रसन्न हुआ करती है। इस मास में यदि बालक का जन्म होता है तो वह संकट पूर्ण रहता है। ओज की अस्थिरता के नाते भी यह स्थिति उत्पन्न होती है। आधुनिक दृष्टि से भी यह समय बालक के लिए घातक होता है। इस समय में प्राणशक्ति की न्यूनता रहती है। बालक की वृषण-ग्रन्थियाँ कभी-कभी एक ही कोष में चली जाती हैं। इन सब व्यवधानों से ही बालक की उत्पत्ति के लिए आठवाँ मास निषिद्ध कहा गया है। यह गर्भिणी ओर गर्भ के लिए प्राणंघातक माना जाता है।

शिशु की उत्पति के लिए उत्तम समय :—

नवमे दशमे वापि प्रबलैः सूतिमारुतैः।
निःसार्यते बाण इव यन्त्रच्छिद्रेण सज्वरः ॥ (याज्ञ० प्रा० ८३)

आठवाँ मास समाप्त होने पर नवें मास से लेकर दशवें मास तक का काल प्रसव के लिए उत्तम माना गया है। इन्हीं मासों में शिशु वायु के वेग के कारण छोड़े गये बाण के समान तीव्र वेग से गर्भाशय से बाहर आता है।

त्वचा-अस्थिसम्बन्धी विवेचन :—

तस्य षोढा शरीराणि षट् त्वचो धारयन्ति च।
षडङ्गानि तथाऽस्थ्नां च सह षष्ठ्या शतत्रयम् ॥ (याज्ञ० प्रा० ८४)

उस गर्भस्थ शिशु में ६ प्रकार की त्वचाएँ होती हैं। ये त्वचाएँ ही शरीर को संतुलित रूप में धारण करती हैं। ये इस प्रकार की हैं :—

१—शरीर के ऊपरी भाग की त्वचा जलीयांश को धारण करती है। दूसरी त्वचा शरीर के रक्त को धारण करती है। इस त्वचा के कारण शरीर से बाहर रक्त बह नहीं पाता है। तृतीय त्वचा में बाहरी चर्मरोग उत्पन्न होते हैं। चौथी त्वचा में सभी प्रकार के कुष्ठ उत्पन्न होते हैं। पाँचवीं त्वचा में विद्रधि उत्पन्न होती है। छठी

त्वचा वह है जिसके कट जाने पर मनुष्य अपने को अंधकार में प्रविष्ट समझता है। ये छः प्रकार की त्वचायें षडङ्ग शरीर को व्याप्त किये रहती हैं।

शरीर की अस्थियों का वर्णन :—

स्थालैः सह चतुःषष्ठिर्दन्ता वै विंशतिर्नखाः।
पाणिपादशलाकाश्च तेषां स्थानचतुष्टयम्॥
षष्ठचङ्गुलीनां द्वे पाष्ण्योर्गुल्फेषु च चतुष्टयम्।
चत्वार्यरत्निकास्थीनि जङ्घयोस्तावदेव तु॥
द्वे द्वे जानू कपोलौरुफलकांससमुद्भवे।
अक्षतालूषके श्रोणीफलके च विनिर्दिशेत॥
भगास्थ्येकं तथा पृष्ठे चत्वारिंशच्च पञ्च च।
ग्रीवा पञ्च दशास्थिः स्याज्जत्र्वेकैकं तथा हनुः॥
तन्मूले द्वे ललाटाक्षिगण्डे नासा घनास्थिका।
पार्श्वकाः स्थालकैः सार्धमर्बुदैश्च द्विसप्ततिः॥
द्वौ शङ्खकौ कपालानि चत्वारि शिरस्तथा।
उरः सप्तदशास्थीनि पुरुषस्यास्थिसंग्रहः॥ (याज्ञ० प्रा० ८५-९०)

दन्त, दन्त के गड्ढे और नख के साथ ही तीन सौ साठ अस्थियाँ मानव शरीर में होती हैं। इनका विवरण इस प्रकार है :—दाँत ३२, दन्तोलूखल ३२, नख २०, हाथ पैर की अस्थियाँ ६०, पैर की शलाकास्थियाँ २०, हाथ-पैर के अँगुलियों के आश्रयभूत ४, एड़ी की अस्थियाँ २, अरत्नि की ४, पैर में गुल्फ की अस्थियाँ ४, जंघास्थियाँ ४, जान्वस्थियाँ २, बाहू की नलीकास्थियाँ २, जानुपाल की २, उर्वस्थि (नलकास्थियां) २, अंश की अस्थियाँ २, अंशफलक २, अक्षकास्थि २, जत्रु की अस्थि १, तालु की २, श्रोणीफलक २, भगास्थि १, पृष्ठवंश की अस्थियाँ ४५, गरदन की अस्थियाँ १५, छाती की १४, दोनों पार्श्वों में पर्शुकास्थियाँ २४, पर्शुकाओं में लगे हुए स्थालक २४, स्थालकार्बुद २४ हन्वस्थि १, हनुमूल को बाँधने वाली २, नासिकास्थ १, गण्ड कूटस्थि १, ललाटास्थि १, शंखास्थियाँ २, शिर की कपालास्थियाँ ४, इस प्रकार पूरे शरीर की सारभूत अस्थियाँ ३६० हैं।

दशेन्द्रिय वर्णन :—

गन्धरूपरसस्पर्शशब्दाश्च विषयाः स्मृताः।
नासिका लोचने जिह्वात्वक् श्रोत्रं चेन्द्रियाणि च॥
हस्तौ पायुरुपस्थं च जिह्वा पादौ तु पञ्च वै।
कर्मेन्द्रियाणि जानीयान्मनश्चैवोभयात्मकम्॥ (याज्ञ० प्रा० ९२-९३)

इन्द्रियों के स्थान दस हैं। त्वचा, जिह्वा, नासिका, नेत्र और कर्ण इन्हें बुद्धीन्द्रियाँ कहते हैं। स्पर्शेन्द्रिय (त्वचा), रसेन्द्रिय (जिह्वा), गन्धेन्द्रिय (नाक), दर्शनेन्द्रिय (नेत्र), श्रोत्रेन्द्रिय (कर्ण)—ये ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। इन इन्द्रियों के विषयों में आसक्ति ही पुरुष के लिए

बन्धन कहा गया है। कर्मेन्द्रियाँ भी पाँच होती हैं। हाथ, पैर, गुदा, मूत्रेन्द्रिय, वाक्, ११वीं इन्द्रिय मन को कहते हैं। यह मन ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों है। (उभयात्मकंमनः पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि कर्मेन्द्रियाणि च) मन के संयोग के बिना कोई भी इन्द्रिय अपने विषय का ज्ञान नहीं कर सकती है। विषय ज्ञान के लिए इन्द्रियों का दोष रहित होना आवश्यक है। जैसे बधिर ध्यान देने पर भी शब्द नहीं सुन पाता है।

शरीर में प्राण का स्थान—

नाभिरोजो गुदं शुक्रं शोणितं शङ्खकौ तथा।
मूर्धांसकण्ठहृदयं प्राणस्यायतनानि तु ।। (याज्ञ० प्रा० ९३)

प्राण प्रधान रूप से शरीर के कुछ विशिष्ट स्थानों में ही रहता है। ये स्थान—नाभि, ओज, गुदा, शुक्र, रुधिर, दोनों शङ्खक (अंडकोश), मूर्धा, कण्ठ, और हृदय हैं। वैसे तो सम्पूर्ण शरीर में प्राण व्याप्त रहता है। पर हृदय में प्राण पूर्णतया निवास करता है। प्राण के निवास स्थान को ही मर्म कहा जाता है। जहाँ आघात होने पर शरीर का शीघ्र विनाश हो जाता है। ये दस स्थान ही प्राण के मुख्यतः आश्रय स्थल हैं।

शिरास्नायु धमनियों, एवं पेशियों का वर्णन :—

शिराः शतानि सप्तैव नव स्नायुशतानि च।
धमनीनां शते द्वे तु पञ्च पेशी शतानि च।
एकोनत्रिंशल्लक्षाणि तथा नव शतानि च।
षट्पञ्चाशच्च जानीत शिरा धमनिसंज्ञिताः ।।
त्रयो लक्षास्तु विज्ञेयाः श्मश्रुकेशाः शरीरिणाम्।
सप्तोत्तरं मर्मशतं द्वे च संधिशते तथा ।। (याज्ञ० प्रा० १००, १-२)

शिरायें सात सौ हैं। इन शिराओं के द्वारा शरीर में रक्त आवश्यकतानुसार बहा करता है। अंगों-प्रत्यंगों और जोड़ों को बाँधने वाली स्नायुओं की संख्या नव सौ है। धमनियाँ शाखा भेद से दो सौ है। पेशियाँ पाँच सौ हैं। शिरा और धमनियाँ मिलकर सम्पूर्ण शरीर में शाखा-प्रशाखा भेद से उन्तीस लाख नौ सौ छप्पन होती हैं। शरीर के सम्पूर्ण बालों की संख्या तीन लाख है। शरीर में मर्मों की संख्या एक सौ सात हैं। एवं अस्थियों के जोड़ दो सौ हैं।

शरीर में रसादि की मात्रा :—

रसस्य नव विज्ञेया जलस्याञ्जलयो दश।
सप्तैव तु पुरीषस्य रक्तस्याष्टौ प्रकीर्तिताः ।।
षट्श्लेष्मा पञ्च पित्तं तु चत्वारो मूत्रमेव च।
वसा त्रयो द्वौ तु मेदो मज्जैकोर्ध्वं तु मस्तके ।।
श्लेष्मौजसस्तावदेव रेतसस्तावदेव तु ।। (याज्ञ० प्रा० १०५-१०७)

शरीर में पचे हुए आहार का रस पूरे शरीर में नव अञ्जलि प्रमाण में रहता है। जल की मात्रा दस अञ्जलि है। मल सात अञ्जलि, रक्त आठ अञ्जलि, श्लेष्मा छः,

पित्त पाँच, मूत्र चार, वसा तीन, मेदस दो और मज्जा एक अञ्जलि होती है। एवं विशेषत: आधी अञ्जलि प्रमाण की मज्जा शिर में रहती है। आधी अञ्जलि, श्लेष्मसार, वीर्य आधी अञ्जलि होता है। यह मात्रा स्वस्थ व्यक्ति में ही होती है। जिसके दोष, धातु, मल, साम्यावस्था में हों वही व्यक्ति स्वस्थ कहलाता है। स्वस्थ का लक्षण आयुर्वेदज्ञों ने लिखा है।[१]

उपसंहार :—

महर्षि याज्ञवल्क्य का शारीर-सम्बन्धी ज्ञान, एक महान् आयुर्वेदज्ञ के समान था। यति प्रकरण के शरीर-वर्णन से स्पष्ट होता है कि याज्ञवल्क्य साक्षात् चरक ऋषि के समान थे। पर याज्ञवल्क्य द्वारा लिखित स्मृति-ग्रन्थ के अतिरिक्त अन्य संदेहास्पद ग्रन्थ भी प्राप्त होते हैं—बृहद् याज्ञवल्क्य, बृहद् याज्ञवल्क्य योग। ये ग्रन्थ तुलनात्मक दृष्टि से याज्ञवल्क्य-स्मृति से बहुत प्राचीन हैं। पर आयुर्वेदशास्त्र पर इनकी कोई कृति नहीं प्राप्त हो सकी है? योगशास्त्र पर तो इनका असाधारण अधिकार था। महर्षि याज्ञवल्क्य योगीश्वर थे। चरक ऋषि एवं योगीश्वर याज्ञवल्क्य ये दोनों वैशम्पायन ऋषि के शिष्य थे। यह विभिन्न प्राचीन ग्रन्थों से प्रमाणित है। याज्ञवल्क्यस्मृति और चरकसंहिता में शारीर-सम्बन्धी वर्णन एक ही सदृश है। इन दोनों ग्रन्थों में अस्थि संख्या तीन सौ साठ ही बतलाई गयी है। पर अन्य स्थलों में भिन्नता पाई जाती है। इतना होने पर भी महर्षि याज्ञवल्क्य, एक मंत्रद्रष्टा एवं स्मृतिकार के रूप में ही जाने जाते हैं। इति।

---

[१] समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते ॥
(त्रिदोषज्योत्सना)

अविद्यानिरूपणम्

रामयत्नशुक्लः वेदान्तव्याख्याता

प्राच्यविद्याधर्मविज्ञानसंकायः, काशी हिन्दू विश्वविद्यालयः

अज्ञो हि लोकः स्वस्वरूपपरिज्ञाने। तदज्ञानादेव सांसारिकसुखाभासमेव सुखमिव मन्यमानः तदर्थं कायतो मनसा वचसा च प्रयतमानो नैकजन्मप्रयासादपि न तुष्यन्, अद्याप्य-शान्त इवोपलक्ष्यते। वास्तविकशान्तिस्तु तत्त्वज्ञानादेवार्जिता भवतीति "ऋते ज्ञानान्न मुक्ति" रित्येवं क्रमेण वेदान्तेषु नैकशोऽवलोक्यते। तत्त्वज्ञानञ्च प्रत्यक्चैतन्यस्य सजातीय-विजातीयस्वगतभेदशून्यस्याद्वयस्य सच्चिदानन्दात्मनोऽनाद्यनिर्वचनीयाचिन्त्यमहामहिमशालिन्या अविद्यारूपमाययाऽऽवृततया न किल सर्वसाधारणसुलभम्। तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति, इत्यादिश्रुतिभिः ब्रह्मणः स्वप्रकाशत्वेपि घनच्छन्नदृष्टेरर्काभानवत् अज्ञस्याविद्यावशात् न तथा तत्प्रतीतिः।

तथा चोक्तम् :—

> घनच्छन्नदृष्टिर्घनच्छन्नमर्कं, यथा मन्यते निष्प्रभं चातिमूढ़ः।
> तथा बद्धवद्भाति यो मूढदृष्टेः, स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽयमात्मा॥

तत्र का नाम अविद्या यया स्वतः प्रकाशमानोप्यात्मा न प्रकाशते। अविद्यामाय-योरस्ति भेदो न वा। कथं तयाऽऽत्मनो ह्यावरणम्। सा भावरूपा अभावरूपा वा। सादिर्वा स्यादनादिर्वा। अनादित्वेपि सान्तत्वमनन्तत्वं वा तस्याः। सान्तत्वेपि एकत्व-मनेकत्वं वा। एकत्वे एकमोक्षे सर्वमोक्षो न वा। अनेकत्वे कथं नाद्वैतभङ्गः? कस् तस्याः प्रभावः। कीदृशी वा तस्याः शक्तिः। कश्च तूलाविद्यामूलाविद्ययोर्विवेकः, इत्येवं नानाकोट्योऽविद्याविषये प्रवर्तन्ते।

'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति' इत्यादिश्रुतिभिः ब्रह्म एव जगत्कारणतयाऽद्वैतसिद्धान्तो स्वीकृतम्। यथा हि नीरस (ऊषर) मृत्तिकायां नान्नोत्पत्तिः, स्निग्धायामेव सा, तथैव शुद्धनिर्गुणचैतन्यरूपात् ब्रह्मणः सकाशात् विचित्ररचनोपेतस्यानेक-कर्तृभोक्तृसंयुक्तस्य प्रतिनियतदेशकालनिमित्तक्रियाफलाश्रयस्य मनसाप्यचित्यरचनास्वरूपस्य जगतो नोत्पत्तिः सम्भवतीति, आरोपे सति निमित्तानुसरणं नहि निमित्तमस्तीत्यारोपः इति नियमेन ब्रह्मणि जगदारोपदर्शनेन आरोपानुगुणा त्रिगुणा भावरूपा काचिच्छक्तिः कल्प्यते।

तथा चोक्तम् पञ्चदश्याम्—

> निस्तत्त्वा कार्यगम्यास्य, शक्तिर्मायाऽग्निशक्तिवत्।
> नहि शक्तिः क्वचित्कैश्चिद् बुध्यते कार्यतः पुरा॥

गीतायामपि—सम्भवाम्यात्ममायया, इत्युक्तम्। अत्रात्ममायापदेनेयमविद्यैवोच्यते। सात्र माया सत्त्वासत्त्वाभ्यामनिर्वाच्या जगदनुरूपा अनिर्वचनीयैव।

जगद्विषये लङ्कावतारे भगवतोक्तम्—

बुद्धया विविच्यमानानां स्वभावो नावधार्यते ।
अतो निरभिलप्यास्ते निस्स्वभावाश्च देशिताः ॥ इति ।

इयञ्च माया शुद्धसत्त्वप्रधाना मलिनसत्त्वप्रधाना च कार्यानुसारेण स्वीक्रियते। इदञ्चोक्तम् पञ्चदश्याम्—

चिदानन्दमयब्रह्मप्रतिबिम्बसमन्विता ।
तमोरजःसत्त्वगुणा प्रकृतिर्द्विविधा हि सा ।
सत्त्वशुद्धयविशुद्धिभ्यां मायाविद्ये च ते मते ॥
मायाबिम्बो वशीकृत्य तां स्यात्सर्वज्ञ ईश्वरः ।
अविद्यावशगस्त्वन्यः तद्वैचित्र्यादनेकधा ॥ त०वि०प्र० १५।१६।१७

ईश्वरस्य स्वच्छत्वसर्वज्ञत्वादिधर्मदर्शनेन तदुपाधेस्तथात्वावगमः । जीवस्याल्पज्ञत्वादिधर्मदर्शनेन तदुपाधिभूतायास्तस्याः मलिनसत्त्वप्राधान्यमवसितम् ।

ईश्वरोपाधेर्न स्वातन्त्र्यम्, अपितु ईश्वरपारतन्त्र्यम् । न चेश्वरस्य स्वोपाधिपारवश्यम्। जीवस्योपाधिर्मलिनसत्त्वप्रधानाऽविद्या जीवं स्ववश्यतया परतन्त्रीकरोति । अतएव जीवः प्रतिहतप्रवृत्तिर्दृश्यते । मायाऽविद्ययोरयमस्ति प्रभेदः सत्त्वशुद्धयशुद्धिभ्यां वश्यत्वावश्यत्वाभ्याम्, ईश्वरोपाधिर्माया जीवोपाधिरविद्या इत्ययमपि वेदान्तेषु प्रवादः । ईश्वरस्यैक्यात् तदुपाधेरैक्यम् जीवस्य नानात्वात् तदुपाधेर्नानात्वम्, इत्ययमपि पक्षः । विशेषतस्तु अग्रे ब्रूमहे ।

सा च द्विविधापि शक्तिः त्रिगुणात्मिका भावरूपा अनादिभूता कापि अनिर्वाच्येति पूर्वमावेदितम् । सा किल माया सत्त्वेनासत्त्वेन वा निर्वक्तुमशक्या, अतोऽनिर्वाच्या।

तथाहि सद्रूपत्वे तत्त्वज्ञानेन बाधो न स्यात् असत्त्वे वन्ध्यापुत्रादिवदलीकतया प्रतीत्यसम्भवेन तद्विलसितं शुक्तिरूप्यादिकं न प्रतिभासेत । अतोऽनिर्वाच्यैव सा । तत्त्वज्ञानबाध्यत्वाच्च मिथ्यात्वसिद्धिः । तथा च ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्येति ब्रह्मसिद्धान्तो राजते।

अविद्यामायासाधारणलक्षणन्तु अनादिभावरूपत्वे सति साक्षाद् ज्ञाननिवर्त्यत्वरूपं बोध्यम् । उत्तरकालिकज्ञाननिवर्त्यस्य पूर्वकालिकज्ञानस्य सादित्वेन न तत्रातिव्याप्तिः। ज्ञानप्रागभावस्य ज्ञाननिवर्त्यत्वेपि भावत्वाभावात् नापि तत्रातिव्याप्तिः। नचाविद्याया भावरूपत्वे अनिर्वचनीयत्वविलोपापत्तिः, भावत्वाभावेपि अभाववैलक्षण्येन भावत्वोपचारात्, परमार्थतोभावत्वास्वीकारात् । आत्मनोऽनादित्वभावत्वयोः सत्त्वेऽपि ज्ञाननिवर्त्यत्वाभावेन नातिव्याप्तिः । ईश्वरत्वजीवत्वादेरविद्यानिवृत्तिद्वारा ज्ञाननिवर्त्यत्वस्वीकारेण साक्षाद् ज्ञाननिवर्त्यत्वाभावेन नापि तत्रातिव्याप्तिः । तूलाज्ञानस्य मूलाज्ञानानतिरिक्ततया न दोषः, अतिरिक्ततायामपि अनादिचैतन्यसम्बन्धितया तस्यापि अनादितया न तत्राव्याप्तिः । सादित्वव्यवहारस्तु अवच्छेदकतया क्लृप्तशुक्त्यादीनाम् सादित्वात् ।

अथाविद्यायाः तदुपादानकस्यास्य जगतो मिथ्यात्वे प्रत्यक्षविरोधः, प्रत्यक्षतो जगत्सत्यत्वानुभवादिति चेदत्रेत्थमुक्तिसम्भवः—

त्रिविधा हि सत्ता स्वीक्रियते पारमार्थिकी, व्यावहारिकी प्रातिभासिकी च। त्रिकाला-बाध्यत्वरूपनित्यत्वस्वरूपा प्रथमा, सा च ब्रह्मणः, तस्य त्रिकालाबाध्यत्वात् एकत्वाच्च तदतिरिक्तस्य ब्रह्मज्ञानबाध्यत्वेन न तथात्वसम्भवः। व्यावहारिकी सत्ता जगतोऽस्य वर्तते, तस्य सकलव्यवहारसाधकतया संसारदशायामबाध्यत्वात्। प्रातिभासिकी च सत्ता शुक्ति-रूप्यादेरस्ति, नहि तत्र रजतसर्पादीनाम् तत्प्रतिभासकालातिरिक्तकाले सत्ता पृथगस्ति। यदैव ते प्रतीयन्ते तदैव ते सन्तः, प्रतीत्यभावकाले तेषामसत्त्वात्। प्रतिभासमात्रशरीरतया तेषां प्रातिभासिकी सत्ता।

ननु व्यावहारिकप्रातिभासिकयोरुभयोरपि ज्ञाननिवर्त्यत्वेन को भेदः इति चेद्, ब्रह्म-ज्ञानान्याबाध्यत्वम् व्यावहारिकत्वम्, ब्रह्मज्ञानान्यबाध्यत्वम् प्रातिभासिकत्वम्, इति किञ्चि-त्परिष्कृत्य समाधेयम्। क्वचिदुपाधौ प्रतीयमानत्वविशेषणेन न ब्रह्मणि न चालीकेऽति-व्याप्तिः। तथा च व्यावहारिकसत्त्वविषयकतया प्रत्यक्षस्य नोक्तविरोधः। प्रत्यक्षेण सत्त्वमात्रं विषयीक्रियते, न तत्र पारमार्थिकत्वमपि विषयः पारमार्थिकत्वं त्रिकालाबाध्य-त्वम्, प्रत्यक्षस्य वर्तमानमात्रग्राहकतया त्रिकालघटितस्योक्तसत्त्वस्य तेनाग्रहात्।

इदं रजतमित्यत्र रजतस्य प्रतिभासकाले सत्त्वस्वीकारात् व्यवहारकाले वियदादि-सत्त्वानुभवाच्च कथञ्च प्रातीतिकरजतस्य व्यावहारिकजगतो वा नेदं रजतमित्यनेन नेह नानास्ति किञ्चनेत्यादिना च त्रिकालनिषेधः, इति शङ्का न कार्या। यतो हि न तत्र रजतत्वेन जगत्साधारणेन वा धर्मेण निषेधः, किन्तु लौकिकपारमार्थिकत्वेन रजतस्य प्रातीतिकस्य, पारमार्थिकत्वेन च जगतो निषेधात् व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभावस्वीकारात्।

नन्वेवं सति जगतः पारमार्थिकत्वेन निषेधेऽपि व्यावहारिकत्वेन तदनिषेधात् व्यावहारिक-जगत्सत्यतया ब्रह्मणि व्यावहारिकजगद्रूपविजातीयभेदस्य विद्यमानतया एकमेवाद्वितीयम् ब्रह्मेत्यादिश्रुतीनाम् तात्पर्यभङ्गापत्तिः, एकमेवाद्वितीयम् इत्यादिश्रुतेस्तु तात्पर्यं त्रिविधभेद-वारणे वर्तते।

लोके हि भेदत्रितयमनुभूयते, तथाचोक्तम्—पञ्चदश्याम् वृक्षस्य स्वगतो भेदः पत्र-पुष्पफलादितः। वृक्षान्तरात्सजातीयो, विजातीयः शिलादितः, प्र० २।२०।

एवम्प्रकारेण ब्रह्मणि त्रिविधभेदप्राप्तिनिराकरणायैव श्रुतौ एकैवाद्वितीयपदानि त्रीण्यासते। एतदपि तत्रैवोक्तम्—

तथा सद्वस्तुनो भेदत्रयं प्राप्तं निवार्यते।
ऐक्यावधारणद्वैतप्रतिषेधैस्त्रिभिः क्रमात्॥ प्र० २।२१।

नन्वस्तु भेदत्रयम् ब्रह्मणि इति चेदाह तत्रैव—

सतो नावयवाः शङ्क्यास्तदंशस्यानिरूपणात्।
नामरूपे न तस्यांशौ तयोरद्याप्यनुद्भवात्॥
सदन्तरं सजातीयं न वैलक्षण्यवर्जनात्।
नामरूपोपाधिभेदं विना नैव सतो भिदा॥

विजातीयमसत्तत्तु न खल्वस्तीति गम्यते ।
नास्यातः प्रतियोगित्वं विजातीयाद्भिदा कुतः ।। २२।२३।२४।

ननु ब्रह्मणि त्रिविधभेदवारणाय प्रवृत्तेयमेकमेवाद्वितीयमिति श्रुतिः पूर्वोक्तरीत्या ब्रह्मज्ञानानन्तरमपि व्यावहारिकजगतोऽनिषेधात् व्याहन्येतेति चेदत्रोच्यते—

ब्रह्मज्ञानेन हि मूलाज्ञानरूपजगदुपादाननिवृत्तिः, तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय इति श्रुतेः । उपादाननिवृत्तौ तदुपादानकस्य जगतो न स्थितिरिति सर्वदर्शनसिद्धान्तः । कथञ्चैवं सति तेन सर्वाद्वैतश्रुतेस्तात्पर्यभङ्गः, मूलाज्ञानरूपोपादाननिवृत्तौ तदुपादानकस्य जगतो नितरां निवृत्तेरिति सर्वमवदातम् ।

सा चेयमविद्या अनादिरूपा सान्तैव नत्वनन्ता । कृतविप्रहाणाकृताभ्यागमप्रसङ्गादनादित्वसिद्धेः, ब्रह्मविदाप्नोति परमिति श्रुतेश्च तस्याः सान्तत्वसाधनात् । मायाया द्वैविध्यम् पूर्वमुक्तम् । इमामेव मायाम् मूलाविद्यातूलाविद्येति रूपेणापि पुनर्व्यवहरन्ति ।

जीव ईशो विशुद्धा चित् तथा जीवेशयोर्भिदा ।
अविद्या तच्चितोर्योगः षडस्माकमनादयः ।। इत्यत्र षण्णामनादिता उक्ता । एतेषु षट्सु विशुद्धा चिदेव अनादिरनन्ता ततोतिरिक्ता अनादयः सान्ताश्च ।

मूलाविद्या व्यावहारिकं जगदुद्भावयति समुद्भासयति च । तूलाविद्या तु जीवनिष्ठा प्रातिभासिकं जगदुद्भावयति प्रतिभासयति च । अस्याश्च मायायाः अनादित्वमपि कल्पितमेव आश्रयस्य कल्पितत्वे आश्रितस्यापि कल्पितत्वात् । ततश्चाद्वैतभङ्गो नास्ति । अस्याश्च त्रिगुणात्मिकायाः परिमाणविशेषेष्वन्तःकरणेषु शुद्धबुद्धमुक्तस्वभावस्यापि चिदानन्दस्वरूपब्रह्मणः प्रतिबिम्बरूपेण भासमानत्वात् जीवत्वव्यपदेशः । अनेन 'जीवो ब्रह्मैव नापरः' एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्, रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव, इत्याद्यद्वैतराद्धान्तोपपादिकाः श्रुतयः समाधीयन्ते ।

एवञ्चान्तःकरणेषु चित्सम्पर्कादेवावभासमानेषु चिदध्यासवत् चित्स्वरूपे ब्रह्मण्यपि अविद्ययैवाहङ्काराध्यासात् अयो दहति इत्यादिव्यवहारवत् परस्पराध्यासवशात् जानेऽहमिति प्रतीतिर्जायते । अनेन च लौहस्य स्वतो दाहकत्वाभावेपि तस्मिन्नग्निप्रवेशे तन्मयत्वेनाग्निधर्मदाहकत्वस्य वह्नेश्च अयसश्चतुष्कोणाद्याकारस्वरूपावधारणेनान्योन्यधर्माध्यासेन अयो दहति इति व्यपदेशो भवति ।

तथैवान्तःकरणविशेषरूपेऽहङ्कारे चिदध्यासात् चित्स्वरूपे चाहङ्काराभासात् परस्पराध्यासात् अविद्याप्रभावादेव अहं जाने इति व्यपदेशोऽनादिकालादेवोपपद्यते । तत्र मायोपाधिरात्मा ईश्वरः, अविद्योपाधिर्जीवः । तयोरभेदे तु तत्परिणामभूतान्तःकरणोपाधिको जीव इति विशेषः । तथा चोक्तम्—

कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः, इति ।

अन्तःकरणानां नानात्वेन तत्त्वज्ञानरूपक्रियया एकस्यान्तःकरणस्य नाशे एकमुक्तौ न सर्वस्य मुक्तिप्रसङ्गः । एतेन विद्यया एकस्या अविद्याया नाशे कथं न सर्वमुक्तितेत्पयास्तम् ।

इयम् माया त्रिगुणात्मिका तदुपादानकं जगदपि त्रिगुणात्मकम्, मायोपाधिक ईश्वरो जगतो निमित्तम्। माया च परिणाम्युपादानभूता। मायोपाधिकस्य ईश्वरस्य जगदधिष्ठानतया विवर्तोपादानतया शक्तिशक्तिमतोरभेदात् लूतातन्तुवद् अभिन्ननिमित्तोपादानकारणत्वव्यवहार ईश्वरे भवति।

तथाहि लूताया देहदेहिनोरभेदाध्यासादेव जालम्प्रति अभिन्ननिमित्तोपादानकारणत्व व्यवहारवदेव मायामायाविनोरभेदाध्यासादेव अभिन्ननिमित्तोपादानहेतुत्वव्यपदेश उपपद्यते तदेवोक्तम्—

विवर्तस्तु प्रपञ्चोऽयम् ब्रह्मणोऽपरिणामिनः।
अनादिवासनोद्भूतः, न सारूप्यमपेक्ष्यते॥

इयञ्चाविद्या शक्तिद्वयवती, ते च शक्ती आवरणशक्तिः, विक्षेपशक्तिश्च। तत्रावरणशक्तिर्द्विविद्या—अभानापादिका, असत्त्वापादिका च। ब्रह्म नास्ति न भासत इति व्यपदेशप्रयोजकम् स्वस्वरूपाच्छादनद्वारा क्रमशोऽसत्त्वापादकमभानापादकम् च तद्द्वयम्। इदञ्च शक्तिद्वयम् अपरोक्षानुभवेन नश्यति। परोक्षानुभवेन च असत्त्वापादिका शक्तिर्निवर्तते। अनया परिपूर्णानन्दांश एवात्मन आव्रियते : सन् घटः, इत्यादिव्यवहारबलात्तु सदंशो नाव्रियते।

कार्योत्पत्त्यनुकूला शक्तिः विक्षेपशक्तिः। सा चेयम् माया आवरणशक्त्या वास्तविकं स्वरूपमावृत्य विक्षेपशक्त्यैव तत्र ब्रह्मणि विवर्तरूपमनिर्वचनीयम् त्रिगुणात्मकम् स्वसदृशमुत्पादयति। तदुक्तम्—

विक्षेपशक्तिर्लिङ्गादि ब्रह्माण्डान्तं जगत्सृजेत्।

मूलाविद्येयम् क्व तिष्ठति इत्यत्र प्रस्थानभेदेन मतद्वयमास्ते। आचार्यश्रीवाचस्पतिमिश्रमते अविद्याया विषयो ब्रह्म आश्रयो जीवः इति। विवरणाचार्यमते तु आश्रयो विषयो ब्रह्मैवेति निर्णयः, तथा चोक्तम्—

आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागचितिरेव केवला।
पूर्वसिद्धतमसो हि पश्चिमो नाश्रयो भवति नापि गोचरः॥

अथैतन्मते कोटिसूर्यसमप्रभे ब्रह्मणि तमःस्वरूपा अविद्या कथं तिष्ठति? कथञ्च सा तदाच्छादयति?—

अत्रोच्यते—सौरालोकः सर्वत्र पटादिषु सामान्यरूपेण वर्तमानोऽपि न किमपि दहति, स एव पुनः सूर्यकान्तमप्यारूढः सन् पटादिषु दाहं जनयति। तथैव शुद्धचैतन्यं न खलु अविद्याविरोधि, प्रत्युत तदेव शुद्धम् चैतन्यमविद्यासाधकम्। अविद्यायाः स्वयमप्रकाशरूपतया असिद्ध्या, तेनैव तत्सिद्धेः। ब्रह्माकारवृत्त्यारूढं सत् तदेवाविद्यानिवर्तकमिति वेदान्तप्रक्रिया। अतएवोक्तम्—ब्रह्मण्यज्ञाननाशाय वृत्तिव्याप्तिरिहेष्यते इति।

द्वितीये तु अज्ञानबाधकसाक्षिचैतन्ये चिदात्मनि अहमज्ञः, मामहं न जानामि, इत्येवं व्यवहारस्य सर्वसाधारणतया सिद्धत्वात् तस्याश्चाविद्यायाः स्वप्रकाशस्याप्यात्मन आच्छादकत्वं सम्भवति। कूटस्थं ब्रह्म नास्ति न भाति, इति प्रतीतेरात्मावरणप्रयोज्यत्वाच्चाज्ञानरूपाविद्यायास्तदाच्छादकत्वसम्भवात्।

नन्वज्ञानस्य ब्रह्मसम्बन्धे 'असङ्गो ह्ययम्पुरुष' इतिश्रुतिविरोधः, इति चेदत्राह, यथा अज्ञानस्य कल्पितत्वेन नाद्वैतभङ्गस्तथैव तत्सम्बन्धस्यापि कल्पिततया नास्त्यसङ्गत्वविलोपापत्तिः। अविद्यामाहात्म्यविषये उक्तम्——

नन्वविद्या स्वयंज्योतिरात्मानं ढौकते कथम्।
सा कूटस्थाद्वितीयञ्च सहस्रांशुं तमो यथा॥
प्रसिद्धत्वादविद्याया स पह्नोतुं न शक्यते।
आत्मनो नहि सा युक्ता, विना नात्मा तया नहि॥
ऋतेऽर्थं यत्प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि।
तां विद्यादात्मनो मायां यथाभासो यथा तमः॥ भा० स्क० २।९।३३

तत्त्वज्ञानात्संसाररूपबन्धतो निवृत्तिर्भवतीति श्रुतितात्पर्यान्यथानुपपत्त्या अज्ञानसिद्धिः। अहमज्ञ इति प्रत्यक्षानुभवसिद्धापि सा।

तथाप्यनुमानरसिकान् प्रति अनुमानप्रयोगः——विवादास्पदं प्रमाणजनितं ज्ञानम् स्वप्रागभावव्यतिरिक्तस्वभास्यविषयावरणस्वनिवर्त्यस्वदेशगतवस्त्वन्तरपूर्वकम्. अप्रकाशितार्थप्रकाशकत्वात्, अन्धकारे प्रथमोत्पन्नप्रदीपप्रकाशवत्।

अत्र साक्षिभास्याज्ञानसुखादेरज्ञानपूर्वकत्वाभावात् तत्र बाधवारणाय प्रमाणजनितमित्युक्तम्। साक्षिभास्याज्ञानसुखादिकञ्च न प्रमाणजनितमिति न तत्र बाधः। इदमित्याकारके प्रमाणजनिते ज्ञाने बाधवारणाय विवादास्पदमिति। तज्ज्ञानजनकादृष्टस्य विषयान्तरज्ञानप्रतिबन्धकस्यावरणरूपतया तस्य कार्यनाश्यस्यादृष्टस्य वारणाय विषयावरणमिति। तज्ज्ञानप्रतिबन्धकादृष्टमादायार्थान्तरवारणाय स्वनिवर्त्य इत्युक्तम्, तादृशस्य कल्प्यमानस्यादृष्टस्य स्वेन निवर्त्यत्वाभावात्, तद्वारणम्। विषयगताज्ञानत्वेनार्थान्तरवारणाय स्वदेशगतेति। तथा च तादृशञ्च वस्त्वन्तरं भावरूपमज्ञानमेवेति प्रमायां तत्पूर्वकत्वञ्च सिद्धयति।

एवं चैत्रप्रमा चैत्रगतप्रागभावातिरिक्तानादिनिर्वर्तिका, प्रमात्वात् मैत्रप्रमावत् इत्याद्यनुमानमपि चित्सुखाचार्यादिसम्मतम् भावरूपत्वे तस्याः प्रमाणम्। भावत्वाभावे चोपादानत्वानुपपत्तिः स्यात्।

अथाविद्याया भावरूपत्वे अभावार्थकनञो गतिः का? अत्रोच्यते——नात्र नञोऽभावार्थकता किन्तु असुराधर्मादिपदेष्विव विरोधार्थकतैव। तथाहि यथा असुर इत्यस्य सुरविरोधी, इति अधर्म इत्यस्य धर्मविरोधी इति चार्थः, तथैव अविद्येत्यस्य विद्याविरोधीत्येवार्थः नत्वभावः। तथाचोक्तम्——

तत्सादृश्यमभावश्च, तदन्यत्वं तदल्पता।
अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्थाः षड्विधाः स्मृताः॥

तदेवमविद्याविषये संक्षिप्योक्त्वा विरम्यते।

————

संस्कृतं भारतीयसंस्कृतिश्च

डा० भक्तिसुधा मुखोपाध्याया

रीडर, महिला महाविद्यालय, का० हि० वि० वि०

'संस्कृतं नाम दैवी वाक्' भारतस्य सर्वासां भाषाणां जननीति विदितमेव सर्वैर्विद्वज्जनैः। न केवलमेषा भाषा भारतस्य मूलभाषा किन्तु विशुद्धत्वादैश्वर्यस्य प्रवृद्धेर्भावघनत्वाद् वैज्ञानिकरीत्या शब्दनिर्माणपाटवाच्च सुसमृद्धातिगौरवमयी च। केल्टिकजर्मनिकादिप्राचीनविश्वभाषाभिर्यत्र तत्र साम्यदर्शनादेषा विश्वभाषास्वपि प्रधाना प्राचीनेति कथितुं शक्यते। भारतवर्षस्य तु समग्रा संस्कृतिः संस्कृतमूलैव।

संस्कृतिरिति शब्दोऽस्माकं देशे न बहुशः प्रयुक्त आसीत्। संस्कारस्यार्थे संस्कृतिशब्दस्य प्रयोगो यदा कदा श्रुतिस्मृत्यादिष्वेवादृश्यत। अधुनैतच्छब्दः आंग्लभाषायाः 'कल्चर' शब्दस्यार्थे प्रयुज्यते। अतोऽद्यत्वे संस्कृतिशब्देन जातिविशेषस्य नरनारीभिर्यत् साहित्यं, यद् विज्ञानं, यद्दर्शनमित्यादीनि परम्परयाधीयन्ते, ये क्रमविकसिता आचारविचारा विधिनियमाश्च सुदीर्घकालं परिपाल्यन्ते, याः सामाजिकप्रथा अनुस्रियन्ते, याभिर्भावनाभिरादर्शैर्वा समाजस्य जना अनुप्राणिता भवन्ति ततसर्वस्य समुच्चय एव बोद्धव्यः। एषा संस्कृती राष्ट्रस्य आभ्यन्तरीणं तत्त्वमत एषा तस्यात्मत्वेन स्वीकर्तव्या। यद्येवं महत्त्वशालिनी संस्कृतिर्नश्येत्तर्हि तद्धारका मानवास्तैरध्युषितं राष्ट्रमपि नश्येत्।

भारतीय संस्कृतिरतिगौरवमयी महिममयी च। सुप्राचीनात् कालाद् भारतीयसंस्कृतेरुदारोन्नतस्वरूपं दृष्टमेव विश्वजनैः। सार्धद्विसहस्राधिकवर्षप्राये प्राचीने काले न केवलं भारतवर्षे सम्यग् विकसितानि साहित्यं, दर्शनं, धनुर्वेद, आयुर्वेदो, ज्योतिषशास्त्रं, वास्तुशास्त्रं, शिल्पशास्त्रं राजनीतिशास्त्रं, नाट्यशास्त्रमित्यादीनि दर्ध्यदृश्यन्त किन्तु संस्कृतेरन्तर्निहितं तत्त्वं—यद् जातेः राष्ट्रस्य वा महिमानं वैशिष्ट्यञ्च सूचयति—तन्मूलकत्वेनोदारतास्वार्थशून्यतामानवताविश्वकल्याणैषणादयोऽपि अत्युज्ज्वलरूपेण प्रदर्शिताः। अतुलना अद्वितीयाद्युदारभावना वैदिकसाहित्ये यासामेकैवमेव—

'भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा।
भद्रं पश्येमाक्षिभिर्यजत्राः॥

न केवलं सिद्धान्ते प्रयोगेऽपि भारतीयजनैरुन्नतोदारभावनाः प्रकाशिताः। एकया महिममय्या भारतीयनार्या ब्रह्मतत्त्वजिज्ञासोः पत्युर्गृहत्यागात् प्राक् तस्माद् गृहे गृहोपकरणे च दायरूपेण प्राप्ते जिज्ञासितः पतिः "यन्मह्यं दीयते तेनाहममृतत्वलाभायालं भविष्यामि न वा"। पत्या "ने"त्युत्तरिते पतिपुत्रवत्या, गृहस्थाश्रमस्थया तया—न तु संन्यासिन्या—मैत्रेय्या पार्थिवसम्पदं निराकृत्योक्तं "येनाहं नामृतास्यां तेनाहं किंकुर्याम्"? अमृतत्वस्यैषणाध्यात्मभावना पतिपुत्रवतीं नारीमपि अनुप्रैरयत्।

'रघूणां'मन्वयवर्णनप्रसङ्गे भारतीयजीवनस्य चतुराश्रमाणां पुरुषार्थस्य च सुन्दरमालेख्यमेकं चित्रितं महाकविकालिदासेन निम्नश्लोके—

शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम् ।
वार्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम् ॥

किम्विधानुपमा विश्वकल्याणभावना वाल्मीकीयरामायणस्यैकस्मिन् श्लोके प्राप्यते—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखभाग् भवेत ॥

आत्मबलसम्पन्ना भारतीया अध्यात्मबलसाधनाद् भुवि विख्याता बभूवुः । 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्य' इति वाक्येनात्मसाक्षात्कारो मोक्षप्राप्तिर्वात्मबलेनैव सम्पद्यत इति उद्घुष्टमेवोपनिषदा ।

कीदृश्युदारता भारतीयदर्शने ! व्यष्ठिचैतन्यं समष्ठिचैतन्यस्य, जीवात्मा परमात्मनोंऽश एव । 'जीवोब्रह्मैव नापरः ।' अद्यत्वे सर्वत्रैव साम्यवादस्य विजयभेरी वाद्यते। पृच्छयतेऽधुना'स्ति किमेतादृशो महानुदारश्च विचारस्तस्मिन् साम्यवादे ?

पातञ्जलयोगेदर्शने चित्तप्रसादनार्थं यानि परिकर्माणि निर्दिष्टानि तन्मध्ये कीदृश्युदारभावना निम्नवाक्ये प्राप्यते—

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यानां वा भावनातश्चित्तप्रसादनम् ।

भारतीयसंस्कृतौ या उदारता, यच्छीलं, या त्यागभावना (न तु भोगोऽस्मिन् देशे सर्वथा तिरस्कृतोंऽगीकृतेऽपि भोगे तस्य मूलमन्त्रस्त्याग एव आसीत् । अतएव उपनिषदोद्गीतं 'त्यक्तेन भुञ्जीथाः') या वृद्धसेवा, परोपकारः, परहितैषणा, मानवतावाद इत्यादयो गुणा प्राचीनभारतीयसंस्कृतौ दृश्यन्ते तैरपरिचयाद् भौतिकवादिजडसभ्यतायाश्च प्रवृद्धेस्तेनैव सततसम्पर्काद्यत्वे भारतीययुवजना दुःशीलाः अपि सञ्जाता इति महान् खेदस्य विषयः। एतदस्माकं सभ्यतायाः संस्कृतेश्च ह्रासमेव सूचयति । यद्यद्याप्यस्य गतिरोधो न क्रियते, युवजनेभ्यः शीलं, विनयः सदाचारः सत्यमन्तर्धीयन्ते, तर्हि भारतवर्षे महद्दुर्दिनमापतिष्यति ।

अद्यत्वे स्वतन्त्रभारते जनानां स्वकीयसंस्कृतेर्ज्ञानं परमपेक्षितमेव । किमुच्यतेऽशिक्षितानां, सन्ति हि बहवः शिक्षितभारतीया येषां भारतीयसभ्यतासंस्कृतिसम्बन्धे ज्ञानलेशोऽपि न विद्यते । पाश्चात्त्यशिक्षया ते तद्देशस्य ज्ञानं विज्ञानं, संस्कृतिं सभ्यतां धर्मञ्चाधीनवन्तः, स्वदेशसंस्कृतिसम्बन्धेतु ते सम्पूर्णरूपेणाज्ञाः ।

संस्कृतभाषाया ज्ञानेन संस्कृतसाहित्यस्य दर्शनस्य चानुशीलनेन वयं देशस्य संस्कृतेः स्वरूपं ज्ञातुं शक्नुमः । भारतीयपुरातत्त्वस्य प्रवेशद्वारं संस्कृतभाषैव । संस्कृतभाषया निबद्धानां शास्त्राणां, साहित्यस्य, वेदवेदांगानां, पुराणेतिहासानाञ्च ज्ञानेनातीतगौरवं विज्ञाय वयं, कीदृशस्य संस्कृतेर्दायाधिकारिण इति बोद्धुं समर्था भवेम । अतः संस्कृतमाध्यमेन धर्मशास्त्राणां परिज्ञानं, पुराणेतिहासादिभ्यो रामयुधिष्ठिरहरिश्चन्द्रकर्णशिविसीतासावित्रीदमयन्त्यनसूयाशैव्यादीनां चरित्रज्ञानं परमावश्यकम् । न केवलं भारतीयानां स्वीयसंस्कृतेर्ज्ञानार्थं किन्तु मतविरोधच्छिन्नभिन्नानां जनानामैक्यबन्धनेन बन्धनार्थं, स्वदेशविभूतेः ज्ञानेन स्वदेशाभिमानस्य जागरणार्थं, भारतीयानां मध्ये अखण्डत्वेन 'वयं भारतीया ऐक्यबन्धबद्धा' इति भावनाया उतपादनविकासाभ्यां च संस्कृतानुशीलनस्य स्वतन्त्रभारत अस्ति महत्तरप्रयोजनम् ।

एतस्योपयोगः केवलं भौतिकजगत्येव सीमितो न। भौतिकतत्त्वानामतिरिक्तमस्ति हि पृथिव्यां किमपि शाश्वतिकं चैतन्यमयं सद्वस्तु इति बोधयित्वा आत्मतत्त्वस्यामृतत्वस्यैषणामपि जागरयितुं प्रभवति संस्कृतसाहित्यदर्शनानामनुशीलनम्। वस्तुतः सर्वतोभावेन योगक्षेमं वितनुते संस्कृतशिक्षा। न विस्मर्तव्यं भारतीयैः—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः।

पराधीनभारते यदि वयं स्वसंस्कृतिं स्वाभिमानं च विस्मृता, न तत्र विस्मयावसरः। स्वतन्त्रभारते त्वस्माभिः संस्कृतभाषायाः प्रचारेण प्रसारेण च संस्कृतग्रन्थानामधिकाधिकप्रकाशनेन, संस्कृतच्छात्राणामुपयुक्तवृत्तिविधानेन, संस्कृतवादविवादस्य भाषणस्य च यथेष्टमवसरप्रदानेन, संस्कृतकार्यक्रमञ्च यस्मिन् कस्मिन्नवसरे विधाय पुनः संस्कृतस्य संस्कृतेश्चाभ्युत्थानार्थं प्रयतितव्यम्। संस्कृतव्याकरणस्याध्यापने पाठशालायाः प्रभृति, सुयोग्याः शिक्षका नियोक्तव्याः।

केषाञ्चिन्मते संस्कृतस्य प्रसारार्थं, प्रयोगस्य सौकर्यार्थं जनप्रियतायै च संस्कृतव्याकरणस्य दृढनियमाः शिथिलीकर्तव्याः। एतत्तु न समीचीनम्। व्याकरणनियमानां सम्यक् परिपालने न कृते या भाषा भवति सा प्राकृतभाषैव। नोच्यत एवमद्यत्वे येनैव संस्कृतमधीयते लिख्यते वा तेनैव दुर्बोध्यसन्धिप्रयोगान् कृत्वा बाणभट्टीयसमस्तपदानां प्रयोगैश्च भाषायाः क्लिष्टत्वं सम्पादितव्यमिति। यतः स्थानविशेषे सन्धिर्विवक्षामपेक्षत अतो दुरुहसन्धिप्रयोगान् यथासम्भवं परिहृत्य दीर्घसमासप्रयोगञ्चाकृत्वा भाषायां यथेष्टं सरलायां सम्पादितायामपि व्याकरणस्य सामान्यनियमा अवश्यमेव पालयितव्याः। जनतायाः कृत एव एतावत् सारल्यं प्रतिपादितव्यं; पण्डितमण्डलीमध्ये तु दीर्घसमासानां व्यवहारं, लुङ्लृङ्लिडादीनां प्रयोगं कारं कारं भाषायां प्रौढ़िरोजस्विता सौन्दर्यं गाम्भीर्यञ्चमापादयितव्यम्।

यदुच्यते संस्कृतव्याकरणस्याध्ययनं स्मरणं वा दुःसाध्यन्तदपि एकदेशिमतदुष्टम्। किमांग्लभाषायास्तद्व्याकरणस्य चाध्ययनायास्माकं छात्रैः श्रमो न कृतः पूर्वस्मिन् काले? हिन्दीभाषायामपि सन्ति वहवः स्वकीया विचित्रनियमा ये ह्यन्यप्रान्तीयजनैर्दुष्कराः बोद्धुम्। तस्यां स्त्रीलिंगस्य यत्र तत्र प्रयोगो (अन्यभाषासु यत्र पुल्लिंगनपुंसकयोः प्रयोगः क्रियते) भवति। एतदन्यप्रान्तभाषाभाषिभिः संस्कृतभाषिभिः आंग्लजनैश्च न क्रियते। अपरा तु विडम्वनात्र यत् कर्मानुगैव क्रिया। यदि स्त्रीलिंगस्य प्रयोगः कर्मणि भवति क्रियापि तर्हि स्त्रीलिंगान्ता भवति, यन्नान्यत्र दृश्यते। तथापि अद्यत्वे आंग्लभाषाया अनिवार्यत्वे निराकृते हिन्द्या अध्ययनमनेकहिन्दीभाषिभिः क्रियत एव, नैपुण्यमपि कैश्चिदवाप्यते। संस्कृतं प्रत्यनादरादेव 'संस्कृतं कठिनमेतस्यानुशीलं दुःसाध्यमि'त्यादिकमुच्यते। आंग्लभाषास्माकं प्रान्तीयभाषाभिः किमपि सादृश्यं नावहति तथापि अनिवार्यरूपेणैवाधीतैषा प्राग् योग्यतांप्यर्जितास्यां वहुभिर्विद्वद्भिः। अस्माकं भाषाणां तत्समाः शब्दा सस्कृतशब्दा एवातः सरलसंस्कृतश्रवणकाले नास्त्यस्माकं किमपि काठिन्यं तस्य बोधे। तद्भवा अपि सौकर्येण मूलशब्देषु परिवर्तयितुं पार्यन्ते, केवलं देशीशब्दानां परिवर्तन एव प्रयासः कर्तव्यः। किमुच्यते तथापि संस्कृताध्ययनं, तस्यां रचना च दुःसाध्ये?

यतः प्रभृति आंग्लभाषाया अनिवार्यत्वं विश्वविद्यालयेभ्यस्तिरोहितं ततः प्रभृति विभिन्नानां प्रान्तीयभाषाणां संस्कृतभाषायाश्च कामपि अनिवार्यत्वेनांगीकृत्य छात्राः परीक्षायामुत्तीर्णा भवन्ति। तत्रानिवार्यसंस्कृतग्रहण आग्रहोदृश्यत एव छात्राणाम्। एतत् किं संस्कृतस्य दुरुहताप्रतिपादकम् ?

अतः संस्कृतं कठिनमिति कृत्वा संस्कृतं न परिहर्तव्यम्, उररीकर्तव्यञ्चैतज् जीवनस्य नानाक्षेत्रेषु। वस्तुतः संस्कृतस्य प्रयोगः संस्कृतज्ञैरसंस्कृतज्ञैर्वा ज्ञानतोऽज्ञानतो वा क्रियते एवास्माकं देशे। तथापि सस्कृताध्ययनसम्पर्के विभीषिका तिष्ठेच्चेन्महदाश्चर्यकरं हि तत्। व्रतादीनां पालने, पूजासु, षोडशसु, दशसु संस्कारेषु वा संस्कृतमन्त्रा एव पठ्यन्ते। परिहृतेष्वप्यन्यसंस्कारेष्वन्नप्राशनोपनयनवि.ाहादिकाः संस्कारा क्रियन्त एव अद्यापि संस्कृतमाध्यमेन। व्रतपूजादिष्वन्यसंस्कारेष्वनास्था चेद्विवाह अन.दरस्तद्वर्जनं वा प्रायेण न दृश्यते। 'रेजिस्टेर्डमैरेज़ एवास्तु' इति चेत्तथापि संस्कृतस्यापलापो न सम्भवति यतः बहुशो रेजिस्टर्ड मैरेजा'-वसरेऽपि विवाहस्य पंजीकरणान्तरं परम्परागतरीत्या पुरोहितेन मन्त्रोच्चारणक्रियान्वितो विवाहसंस्कारः क्रियते, तथाविधं विस्तृततरमुत्सवानुष्ठानं विरचय्य हर्षप्रकर्षोऽनुभूयते। एतत् सर्वं माङ्गलिकदृष्टयैव क्रियते।

दैनन्दिनजीवने पूजास्तोत्रपाठादिकं विनापि अस्ति प्रचुरोऽवकाशो नानालघुसंस्कृतवाक्यानां व्यवहारस्य। अस्माभिः शुभस्य शीघ्रम्' 'येन केन प्रकारेण' 'मौनं सम्मतिलक्षणं' 'यतपरो नास्ति' 'भिक्षायां नैव नैव च' 'शठे शाठ्यं समाचरेत्' 'इतो भ्रष्टस्ततो नष्टः' 'बुभुक्षितः किं न करोति पापं' 'मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना' 'मुनीनाञ्च मतिभ्रमः' 'पञ्चत्वं गतः' सर्वः स्वार्थं समीहत' इत्यादीनि वाक्यानि प्रयुज्यन्त एव। अतः संस्कृतस्योपयोगितास्मिन् युग अपि स्वीकर्तव्या।

प्रशासनेन संस्कृतवाक्यमादर्शवाक्यरूपेण गृहीत्वा, चतुर्दशभाषामध्ये संस्कृताय स्थान दत्वा, संस्कृतदिवसस्य वार्षिकपरिपालनेन च संस्कृतस्य महत्त्वं स्वीकृतमेव। किन्तु केवलमेकस्मिन् दिवसे संस्कृतदिवसपालनेन संस्कृतस्याभ्युदयो न सम्भवति, प्रत्युत, संस्कृतपाठशालानां संस्कारेण, अप्राप्यपुस्तकानां प्रकाशनेन, पाठ्यक्रमे मूलपुस्तकानां टीकामाध्यमेन अध्ययनमुपरि महत्त्वप्रदानेन संस्कृतस्य संस्कृतेश्च पुनरभ्युत्थानं कर्तव्यमिति शम्।

—— ——

अद्वैतवेदान्तशास्त्रे प्रत्यक्षविमर्शः

(Perception in Advaita Vedanta)

डॉ० स्वामी आत्मानन्दपरमहंसः

गणितविभागे, का० हिं० वि० वि०, वाराणस्याम्

अद्वैतिनये प्रत्यक्षप्रमा चैतन्यमेव "[1]यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म"ेतिश्रुतेः। चैतन्यस्यानादित्वे चक्षुरादेः करणत्वानुपपत्तौ प्रमाणत्वानुपपत्तिरिति तु न शंक्यम् तदनादित्वेऽपि तदभिव्यञ्जकान्तःकरणवृत्तेरिन्द्रियसन्निकर्षादिना जायमानत्वस्वीकारेण वृत्तिविशिष्टचैतन्यस्यादिमत्त्वोपपत्तेः। वृत्तावपि ज्ञानत्वोपचारो भवति। स च तस्या ज्ञानावच्छेदकत्वमूलकः।

व्यवहारदशायां ह्येतन्मते त्रिविधं चैतन्यमभ्युपगम्यते प्रमातृप्रमाणविषयभेदात्। तत्रान्तःकरणावच्छिन्नं चैतन्यं प्रमातृचैतन्यम्। अन्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्नं चैतन्यं प्रमाणचैतन्यम्। घटाद्यवच्छिन्नं चैतन्यं विषयचैतन्यम्। प्रमाणचैतन्यस्य विषयावच्छिन्नचैतन्याभेदे सति प्रत्यक्षज्ञानं जायत इति व्यवह्रियते। तथाचोक्तम्—'त[2]त्तदिन्द्रिययोग्यवर्तमानविषयावच्छिन्नचैतन्याभिन्नत्व तत्तद्वृत्त्यवच्छिन्नज्ञानस्य तत्तदंशे प्रत्यक्षत्वम्' इति। प्रपञ्चितञ्चैतल्लक्षणं परिभाषायां विस्तरेण। प्रत्यक्षप्रणाली तु प्रायशः सांख्यशास्त्रसदृश्येव। सापि तत्रैव[3] प्रपञ्चिता। विष[4]येऽपरोक्षत्वव्यवहारनियामकन्तु स्वाकारवृत्त्युपहितप्रमातृचैतन्यसत्तातिरिक्तसत्ताकत्वशून्यत्वे सति योग्यत्वम्।

अत्र लाघवादनुगतरूपेणापरोक्षत्वं निवृत्ताज्ञानत्वात्मकं निर्वक्तुं शक्यते। तच्च चितोऽज्ञानविषयताशून्यत्वे सति चिद्रूपत्वम्। दृश्यानां घटादीनान्त्वज्ञानविषयतानवच्छेदकत्वे सति दृश्यत्वम्। अस्मिन् सिद्धान्ते 'आ[5]श्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागचितिरेव केवला'ेति स्वीकारात् स्वतोऽज्ञानाविषयस्य घटादेः सर्वदाऽपरोक्षत्ववारणायाद्ये चिद्रूपत्वमित्युक्तम्। तत्राज्ञाननाशकवृत्तेः पूर्वमपि साक्षिणोऽपरोक्षव्यवहारवारणायाज्ञानविषयताशून्यत्वे सतीति विशेषणम्। विकल्पोल्लिखिते तुच्छेऽतिव्याप्तिवारणाय द्वितीये (दृश्यापरोक्षलक्षणे) दृश्यत्वमित्युक्तम्: तत्रैव सत्यन्तमाकाशादेः प्रत्यक्षविषयत्ववारणाय।

ज्ञानस्यापरोक्षत्वं तूपर्युक्तापरोक्षत्वयोरन्यतराश्रयविषयकत्वम्। अयमत्र विशेषः—चिदचितोर्द्वयोरपि पूर्वोक्ताज्ञानशून्यत्वं प्रमासामग्र्यैव प्रमाकाले भवति 'तरति[6] शोकमात्मविद्'

---

[1] बृहदारण्यकोपनिषद् ।।३।४।१ ।।

[2] वेदान्तपरिभाषायाः प्रत्यक्षपरिच्छेदे (लक्ष्मणपुरीयाखिलभारतीयसंस्कृतपरिषदा २०२१ तमे विक्रमाब्दे प्रकाशितायाः ५१ पृष्ठे)।

[3] तत्रैव ३५ पृष्ठे।

[4] तत्रैव ६१ पृष्ठे।

[5] संक्षेपशारीरकम् ।।१।३१९।।

[6] छान्दोग्योपनिषद् ।।७।१३।।

'विद्वान्[1] नामरूपाद् विमुक्त' इत्यादिश्रुतिभिर्ज्ञानसमकालं मुक्त इति वृद्धोक्तिभिश्चाज्ञाननाशस्य ज्ञानसमकालिकत्वप्रतिपादनेन प्रमासामग्र्या एवाज्ञाननाशकत्वज्ञापनात्। सा च सामग्री घटादिप्रत्यक्षे इन्द्रियसन्निकर्षादिरूपा । आत्मसाक्षात्कारे तु योग्यत्वंपदार्थाभेदपरशब्दादितात्पर्यनिश्चयरूपा । प्रमया तु प्राकट्यं विषयस्येति न प्रमाया अपि वैयर्थ्यमिति।

तत्त्वमसीत्यादौ वाक्यादप्यपरोक्षानुभवप्रकारः—अयमत्रापरो विशेषः—ज्ञानस्य वस्तुमाहात्म्यकृतमेव परोक्षत्वमपरोक्षत्वं वा न तु प्रमाणस्वभावकृतमित्येवाङ्गीकर्त्तव्यम् अन्यथा श्वैत्याद्यनुमानादिना पीतः शंख इत्यादिभ्रमनिवृत्तेरदर्शनेन परोक्षज्ञानस्य चापरोक्षाध्यासाप्रतिक्षेपकत्वस्यावश्यांगीकर्त्तत्वात् शाब्दसामग्रयाश्च परोक्षजननस्वाभाव्यात् तत्त्वमस्यादितो ब्रह्मैक्यसाक्षात्कारो न स्यात् । अत एवं 'प्रज्ञानं[2] ब्रह्म' 'तत्त्वमसि'[3] 'अयमात्मा'[4] ब्रह्म' इत्यादिवाक्यतो दशमस्त्वमसीत्यादिवाक्यवदपरोक्षमेव ज्ञान जायते तत्प्रतिपाद्यस्य ब्रह्मणो 'यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्मे[5]'ति श्रुतेः स्वतोऽपरोक्षत्वावधारणात् ।

ननु दशमस्त्वमसीत्यादिवाक्यघटकतत्तत्पदार्थोपस्थितौ मानसः संसर्गबोधो वाक्यसहकृतेन चक्षुषैव वा साक्षात्कार इति रीत्याऽपरोक्षबोधसम्भवे वाक्यजन्यसाक्षात्काराभ्युपगमो निरर्थक इति चेन्न । तथा सति आद्यपक्षे सर्वस्मिन्नपि वाक्ये मानससंसर्गबोधस्यैव सम्भवेन शब्दप्रमाणमात्रोच्छेदापत्तिः स्यात् । द्वितीये तु वाक्यसत्त्वे ज्ञानं जायतेऽसत्त्वेतु न जायत इत्यन्वयव्यतिरेकविरोधप्रसङ्गः । न चालोकादेरिवान्वयव्यतिरेकौ न कारणत्वसाधकाविति वाच्यम् तथा सति व्यासंगदशायां सत्यपीन्द्रियसम्बन्धे प्रत्यक्षादर्शनान्मन एव सर्वत्र प्रमाणं चक्षुरादि तु सहकारिकारणमिति कल्पनायाः सम्भवेन मनोभिन्नप्रमाणमात्रोच्छेदापत्तिः स्यात्। अत एव दशमस्त्वमसि, 'तत्त्वम'सीत्यादौ शब्द एव कारणं तज्जन्यं चापरोक्षमेव तदनन्तरं साक्षात्करोमीति प्रतीतेः सर्वजनानुभवसिद्धत्वात् ।

अतएव—इन्द्रियकरणकं ज्ञानं प्रत्यक्षमिति प्रत्यक्षलक्षणानुरोधाद् भावनासहकृतेन मनसैवापरोक्षप्रमेति स्वीकर्त्तव्यम्, वाक्यात्तु प्रथमतः परोक्षप्रमैव भवति करणस्वाभाव्यादित्याक्षेपोऽपि निरस्तः इन्द्रियकरणकमेव ज्ञानं प्रत्यक्षमितिप्रत्यक्षलक्षणानुरोधिनो मनसैव तस्यापरोक्ष्याभ्युपगमे 'यन्मनसा[6] न मनुत' इति श्रुतिविरोधप्रसङ्गाद् भावनाजन्यत्वे तस्य कामशोकभयोन्मादादिजन्यव्यवहितयोषित् पुत्रादिसाक्षात्कारस्येवाप्रामाण्यप्रसंगाच्च ।

ननु भावनाजन्यत्वं न तत्राप्रामाण्यप्रयोजकं किन्तु बाधितविषयत्वम्, शुक्तिरजतादिभ्रमेषु भावनां विनापि जातेषु बाधितविषयत्वेनैवाप्रामाण्यनिश्चयात्, ब्रह्मसाक्षात्कारे

---

[1] मुण्डकोपनिषद् ॥३।२।८॥
[2] ऐतरेयोपनिषद् ॥३॥३॥
[3] छान्दोग्योपनिषद् ॥६।८।७॥
[4] बृहदारण्यकोपनिषद् ॥२।५।१९।
[5] बृहदारण्यकोपनिषद् ॥३।४।१॥
[6] केनोपनिषद् ॥१।५॥

त्वबाधितविषयत्वात्प्रामाण्यं भावनाजन्यत्वेऽपि न व्याहन्यते। नापि भावना सर्वत्र दोषो येन भावनारूपदोषजन्यत्वेनाप्यप्रामाण्यं स्यादिति चेत्। सत्यम्। तथापि परोक्षज्ञानमूलक-भावनाया अपरोक्षधीजनकत्वासामर्थ्यस्य वह्न्यनुमितिमूलकभावनायां दृष्टत्वान्न भावनाशत-कोटिभ्योऽपि साक्षात्कारो भवितुमर्हति किन्तु शब्दादेव, तदर्थस्यापरोक्षत्वादिति।

इदमत्रावधेयम्—योगिनां मते तु श्रुतिभिरेवावगतस्य, भावनासहकृतेन मनसाऽऽपरो-क्ष्यम् 'मनसैवेदमाप्तव्यमि'ति श्रुतिस्वारस्यात्। न च 'यन्मनसा न मनुत' इतिश्रुतिविरोधो, भावनां विना मनोगम्यं न भवतीति तदर्थत्वात्। अन्यथा औपनिषदत्वमपि न स्यात् 'यतो वाचो निवर्तन्त' इतिश्रुतेः। तस्माद्यथा औपनिषदत्ववागगम्यत्वयोर्द्वयोरप्यविरोधाय शक्त्या वाचो निवर्त्तन्त इत्येवार्थो न तु सर्वथा निवर्त्तन्त एवेति तथा प्रकृतेऽपि 'यन्मनसा[2] न मनुते' 'मनसैवानुद्रष्टव्यमि'तिद्वयोरविरोधाय भावनां विना न कदाचिन्मनसा जानाति भावनायान्तु जानात्येवेत्यर्थोऽङ्गीकार्यः। एवमभ्युपगमे परोक्षत्वापरोक्षत्वयोः प्रमाणस्वभाव-कृतत्वेऽपि न हानिः, मनोरूपेन्द्रियजन्यत्वेन ब्रह्मज्ञानस्यापरोक्षत्वाभ्युपगमात्। एवं भावना-जन्यत्वेन व्यवहितयोषित्पुत्रादिसाक्षात्कारवन्नाप्रामाण्यमपि अबाधितार्थकत्वेन प्रामाण्य-सम्भवात्।

अयमत्र निष्कर्ष :—शब्दापरोक्षत्ववादिमते मनसैवेदमाप्तव्यमित्यत्र कर्तृत्वं तृतीयार्थो न करणत्वं 'यन्मनसा न मनुत' इति श्रुतिविरोधादौपनिषदसमाख्याविरोधाच्च। तथा च साधनचतुष्टयसम्पादनानन्तरं श्रुतिकरणकमनःकर्तृकदर्शनविषय आत्मेत्यर्थस्तन्मते। योग-जापरोक्षवादिमते तु शब्दात् परोक्षम्। अपरोक्षं तु भावनासहकृतान्मनस एव, केवलमनसो व्यभिचारित्वेन करणत्वासम्भवेऽपि योगसहकृतस्यायोग्यपरमाण्वादिप्रत्यक्ष इव कारणत्वे बाधकाभावात्—'निदिध्यासितव्य[3]' इत्यादिना भावनायाः कारणत्वप्रतिपादनाच्च। तत्र प्रथममते श्रवणमनननिदिध्यासनानां क्रमेणाप्रामाण्यशंकाऽसम्भावनाविपरीतभावनानां निवृत्तिः फलम्। द्वितीयमते तु ज्ञानं प्रत्येव द्वारद्वारिभावेन हेतुत्वमिति विवेकः।

---

[1] कठोपनिषद् ॥४।११॥
[2] केनोपनिषद् ॥१।५॥
[3] बृहदारण्यकोपनिषद् ॥४।५।६॥

मीमांसादर्शने आख्यातार्थविमर्शः

डा० केशव प्रसाद पाठक

इह जगति धर्मार्थकाममोक्षाख्याः चतुर्विधाः पुरुषार्थाः सन्ति। ते च पुरुषार्थाः 'पुरुषेणार्थ्यंते प्रार्थ्यंते' इति व्युत्पत्त्या संगच्छन्ते। तत्र पुरुषार्थचतुष्टयमध्ये धर्मापेक्षयोत्तरोत्तरं प्रकर्षाधिक्येऽपि तदतिरिक्तानां त्रयाणामर्थादीनां पुरुषार्थत्वं धर्ममूलकमेवेति पुरुषार्थेप्सवो बद्धा जीवाः निसर्गत एव प्रथमतो धर्ममवलम्बन्ते। सच धर्मः विधिबोधितं कर्मैव। यथोक्तं जैमिनिना—'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः'। अतएव ईशावास्योपनिषदि वर्णितम्—'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः'। तच्च कर्मज्ञानं वेदवाक्यार्थज्ञानाधीनं चोदनापूर्वकमेव। यदुक्तम्—

> प्रवृत्तौ वा निवृत्तौ वा या शब्दश्रवणेन धीः।
> सा चोदना................................॥ इति।

तथा च 'यजेत स्वर्गकामः' इत्यस्मिन्विधिवाक्ये—'यजेत' इत्यत्रांशद्वयं, यजिधातुः प्रत्ययश्च। तत्र प्रत्ययेऽप्यंशद्वयम्—आख्यातत्वं लिङ्त्वं च। तत्राख्यातं नाम दशानां लकाराणां स्थाने तिङ्संज्ञकाः तिवाद्यादेशाः। अथ प्रस्तुतनिबन्धे कर्तुराख्यातवाच्यत्वमेव मन्यमाना वैयाकरणाः पूर्वपक्षे भावनामाख्यातार्थञ्च मन्यमाना मीमांसका उत्तरपक्षे प्रत्यवतिष्ठन्ते।

सम्प्रति वैयाकरणानां नयः प्रारभ्यते। यद्यस्मान्नियमतः प्रतीयते तत्तस्य वाच्यमितिनियमेन आख्यातश्रवणे कर्तुरेव नियमतः प्रतीतिः, न च भावनायाः। तथा च भावनाया आक्षेपसम्भवे कथमपि तद्वाचककत्वं न कल्पनीयम्। अपि च भावना क्वचिदाश्रिता गुणत्वात् रसादिवत् इत्यनुमानमेव कर्तुराख्यातवाच्यत्वे प्रमाणम्।

अपि च भावनाया न केवलं कर्त्रैव सम्बन्धः कारकान्तरेणापि सम्बन्धसम्भवात्। अतएव विनिगमनाविरह्यात् सा न झटति कर्तारमेवाक्षिपेत्। परन्तु कर्ता हि भावनयैव सम्बद्धो न तृतीयादिकारकान्तरेण, गुणानां च परार्थत्वादसंबन्धः समत्वात्स्यात् इति जैमिनिसूत्रप्रामाण्यात्।

एवञ्च भावनाया आख्यातार्थत्वे सति तया कर्तुराक्षेप इव करणादीनां कारकान्तराणामपि आक्षेपेणैव लभ्यत्वात्करणादीनां तृतियादिविभक्तिवाच्यत्वं न स्यात्। एवं चाख्यातप्रत्ययगतसंख्या कथमपि कर्त्रा सह नान्वियात्। यदुक्तम्—'न हि शाब्दमशाब्देनान्वेतीति युक्तम्। अन्यथा ऊहादिलोपप्रसंगः[१]।' तत्र शब्दतो वृत्त्या प्रतीयमानं शाब्दम्। 'यजेत' इत्यत्राख्यातप्रत्ययबोध्यत्वात्संख्या शाब्दी। कर्ता तु न शाब्दः। अतस्तयोः संबन्धो न स्यात्। न

---

[१] मीमांसान्यायप्रकाशः, पृ० ३२।

चाख्यातप्रत्ययेन लक्षणया कर्तुर्बोध इति कर्तुः शाब्दत्वं स्यादितिवाच्यम् । लक्षणाङ्गीकारे ऊहादिलोपप्रसंगः स्यात् ।

अपि च आख्यातप्रत्ययस्य भावनामात्रवाचकत्वे सति देवदत्तः पचतीत्यत्र सामानाधिकरण्यं न स्यात् । तच्च सामानाधिकरण्यमेकार्थविशेष्यकबोधजनकत्वम् । एवं सामानाधिकरण्याभावे 'त्वं पठसि' 'अहं पठामि' इत्यत्रापि मध्यमोत्तमादीनां पुरुषाणां व्यवस्था न सम्भवति । परन्तु आख्यातपदस्य कर्तृवाचकत्वे 'युष्मद्युपपदे[१] समानाधिकरणे स्थानिन्यपि मध्यमः' 'अस्मद्युत्तमः[२]' इति सूत्राभ्यां युष्मदस्मत्सामानाधिकरण्ये तयोर्विधानात् । तथाचाख्यातप्रत्ययस्य कर्तृवाचकत्वाभावे सति एकार्थनिष्ठत्वाभावः स्यात् । तथा सति देवदत्तयज्ञदत्तौ गच्छत इत्यादौ द्विवचनं न संगच्छेत ।

कर्तुराख्यातवाच्यत्वे 'लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः'[३] इति पाणिनेः सूत्रमपि प्रमाणं स्यात् । यथाहि—लकाराः सकर्मकेभ्यो धातुभ्यः कर्मणि कर्तरि च स्युरकर्मकेभ्यो धातुभ्यो भावे कर्तरि च स्युरिति तदर्थः ।

यदि आख्यातप्रत्ययेन भावनैवोच्यते न तु कर्तेति मीमांसकमतं स्वीक्रियते तर्हि आख्यातप्रत्ययेन कर्तृरूपोऽर्थः अनभिहितः स्यात् । तथा सति 'कर्तृकरणयोस्तृतीया' इत्यत्र कर्तुरनभिहितत्वात् 'देवदत्तेन पचति' इत्यनिष्टप्रयोगप्रसंगः स्यात् । परन्तु कर्तुराख्यातवाच्यत्वे अभिहिते कर्तरि देवदत्तादौ प्रथमा तु प्राप्नोत्येव । एवं वैयाकरणमतानुसारिणा कर्तुराख्यातवाचकत्वसाधनाय संक्षेपत उपर्युक्तहेतवोऽत्र प्रदर्शिताः ।

सम्प्रति मीमांसकानां नयो विस्तार्यते । तेषाञ्च नये आख्यातस्य भावनायां शक्तिः वक्तव्या न च कर्तरि । 'स एव हि शब्दस्यार्थो यः प्रकारान्तरेण न लभ्यते, अनन्यलभ्यः शब्दार्थ इति न्यायात्[४]' । अन्यलभ्यार्थे तु शक्तिः कल्पनागौरवग्रस्तत्वान्न स्वीक्रियते । तथा च शक्तिलक्षणयोर्मध्ये शक्तिर्मुख्या वृत्तिः, लक्षणा तु गौणी वृत्तिः । अतः सम्भवति मुख्यार्थे न लक्षणा आश्रयितुं युक्ता । अत एव भावनाया आख्यातवाच्यत्वे सति तदाश्रयत्वेनैव कर्तुरपि आक्षेपद्वारा प्रतिपत्तिसम्भवाद् आख्यातस्य कर्तुर्वाचकत्वं न कल्पनीयम् । यदुक्तम्—'एवञ्चाख्यातवाच्यभावना कर्तारं विनानुपपन्ना तमाक्षिपतीत्याक्षेपादेव कर्तुः प्रतिपत्तिसम्भवे किमिति तद्वाचकत्वमाख्यातस्य कल्पनीयम्' ।

यदि वैयाकरणैराख्यातस्य कर्तरि शक्तिरुच्यते, तर्हि कर्तृत्वं शक्यतावच्छेदकं स्यात् । तच्च कर्तृत्वं कृतिरेव । सा च कृतिः प्रतिकर्तृ भिन्नेति शक्यतावच्छेदकस्यानन्त्यापत्त्या गौरवं स्यात् । परन्तु कृतित्वजातेः शक्यतावच्छेदकत्वे लाघवात् सैवाख्यातस्यार्थोऽङ्गी-

---

[१] पा० सू० १।४।१०५

[२] पा० सू० १।४।१०७

[३] पा० सू० ३।४।६९ ।

[४] मीमांसान्यायप्रकाशः, पृ० ३४ ।

करणीयः । सा च कृतिः भावनाया अपरपर्यायभूता 'चैत्रः पचति' इत्यत्र चैत्रादौ प्रकारीभूय भासते ।

अथ च मीमांसकैः वैयाकरणानामपरं हेतुमपलपितुमुच्यते—भावना कर्त्रा सह यथा नियमतः सम्बद्धा न तथा करणादिकारकान्तरेण । कर्ता हि भावनाया आश्रयः । आश्रय एव यदि न स्याद्भावनाया अस्तित्वमेव न भवेत् । अतो भावनायाः स्वरूपलाभ एव कर्त्रधीनः । एवं 'चैत्रः पचति' इत्यस्मिन्वाक्ये भावनया यथा नियमेन कर्ताक्षिप्यते न तथा करणादिकं भावनया नियमेनाक्षिप्यते । अतस्तया कर्तुरेवाक्षेपो न कारकान्तराणाम् । अत एव वैयाकरणानामिदमपि मतं—'तृतीयादिविभक्तीनां करणादिवाचित्वं न स्यात्'—निरस्तं भवति । भावनायाः कारकान्तरैः सह नियतसम्बन्धाभावान्नियमतः कथं तेषामाक्षेपसम्भवः ? यथा हि ययोर्द्वयोः सम्बन्धिनोः येन रूपेण सम्बन्धो नियतस्तयोर्मध्ये एकस्यापि यदि तेन रूपेणोपस्थितिः स्यात्, तर्हि तत्रापरस्यापि सम्बन्धिन आक्षेपो नियमेन भवति । यथा—गुरुशिष्ययोः शिष्य इत्युक्ते कस्येति जिज्ञासायां नियमेन तत्र गुरोराक्षेपो भवतीति ।

अपि च न शाब्दी संख्या कथमशाब्देन कर्त्रान्वेतीति वाच्यम् । कर्तुर्लक्षणाङ्गीकारात् । यथा हि लक्षितं तीरं शाब्देन घोषेणान्वेति, एवं लक्षितः कर्ता एकत्वेनान्वेष्यति । तथा सति देवदत्तः पचतीति सामानाधिकरण्यमप्युपपद्यते । यथा हि 'सिंहो देवदत्तः' इत्यत्र लक्षणया सिंहसदृश इत्यर्थस्य बोधसम्भवे तयोः सामानाधिकरण्यं सम्पद्यते ।

तथा च 'लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः' इत्यनेन व्याकरणस्मृतिबलेनाख्यातवाच्यः कर्तेतीदमपि मतं निराकर्तुं मीमांसकैरुच्यते—'न हि वाच्यवाचकभावो व्याकरणस्मृत्यधीनः । तस्य न्यायसहितान्वयव्यतिरेकगम्यत्वात्'[1] । एवं पाणिनिरपि अपूर्वां शब्दशक्तिमुत्पादयितुं न प्रभवति । अपितु, शक्तिस्तु स्वाभाविक्येव । यदुक्तं व्याकरणमहाभाष्ये भगवता पतंजलिना—'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे' । व्याख्यातञ्च—सिद्धे शब्दे अर्थे सम्बन्धे चेति । तथा च सिद्धशब्दस्याभिप्रायं कैयट आह—नित्यपर्यायवाची सिद्धशब्दः । शब्दश्च अर्थश्च सम्बन्धश्चेति समाहारद्वंद्वः । एवमेतत्त्रितये नित्ये सत्येव व्याकरणशास्त्रं धर्मनियमाय प्रवृत्तमिति । स्मृतिगम्यः कर्तेति मत्वापि सूत्रमिदं कर्तुराख्यातवाच्यत्वे न प्रमाणम् । किन्तु कर्तुरेकत्वे एकवचनात्मको लकारः द्वित्वे द्विवचनात्मकः बहुत्वे बहुवचनात्मक इत्यस्मिन्नर्थे एव प्रमाणम्[3] । तच्च 'द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने' 'बहुषु 'बहुवचनम्' इति सूत्रद्वयानुरोधनैव संगच्छते ।

तथा च कर्तुरनभिधाने देवदत्तेन पचतीति तृतीयाप्रसंग इति वैयाकरणानां दोषमपि उद्धृत्य विस्तरभयादत्रैव मीमांसकैरुपसंह्रियते-तृतीया हि कर्तुः प्रतिपत्त्यर्थं तद्गतसंख्या-

---

[1] मी० न्या० प्र० । पृ० ३६ ।
[2] पात० म० भा० पस्पशाह्निकम् ।
[3] मी० न्या० प्र० पृ० ३६ ।

प्रतिपत्त्यर्थं वा। तत्र कर्ता तु भावनयाक्षेपादेव लभ्यते इति न तत्र तृतीयापेक्षा। तत्संख्या तु आख्यातेनैव प्रतीयते इति न तत्राप्यपेक्षा[१]।' यदुक्तं मीमांसातंत्रवार्तिके—

'संख्यायां कारके वा धीर्विभक्त्या हि प्रवर्तते।
उभयं चात्र तत्सिद्धं भावनातिङ्विभक्तितः ॥'[२]

अत एव यत्राख्यातेनैव तद्गता संख्या प्रतीयते तत्र तृतीया न भवति। यथा हि—देवदत्तः पचतीति। परञ्च यत्राख्यातेन तद्गता संख्या नोच्यते तत्रैव अनभिहिते कर्तरि 'कर्तृकरणयोस्तृतीया'[३] इत्यनेन सूत्रेण 'देवदत्तेन ओदनः पच्यते' इत्यस्मिन् वाक्ये तृतीया भवतीति।

---

[१] मी० न्या० प्र०, पृ० ३७
[२] तंत्र वार्त्तिकम् ३।४।१३
[३] पा० सू० २।३।१८

SHAKESPEARE'S TRAGEDIES : STUDY IN HUMAN PSYCHE

DR. A. M. ISMAIL AND DR. J. B. MISHRA

(The long roll of the great tragedies of Shakespeare opens with *Julius Caesar*. It is a link-play between the histories and the tragedies; in it Shakespeare shows his developing power and his gradual approach to the protagonists of the later tragedies; and in it we see Shakespeare moving towards his final conception of tragedy. Our approach to study the human psyche with reference to Shakespeare's tragic heroes commences, therefore, with *Julius Caesar*).

I

Perhaps for the lack of a more comprehensive definition we usually consider Aristotle's classical conception of tragedy and his tragic hero to contain the artistic criteria necessary for any critical appreciation of this literary genre. In the Aristotelian sense, a tragedy is "an imitation of an action that is serious, complete, and of a certain magnitude; in language embellished with each kind of artistic ornament, the several kinds being found in separate parts of the play; in the form of action not of narrative; through pity and fear effecting the proper purgation (catharsis) of these emotions.[1]" The tragic hero is" a man who is not eminently good and just, yet whose misfortune is brought about not by vice or depravity, but by some error or frailty. He must be one who is highly renowned and prosperous personage like Thyestes or other illustrious men of such families.[2]" In addition to the quality of 'hamartia' which the semi-perfect tragic hero must possess Aristotle spoke of other qualities as 'peripetia' (reversal of fortune) and 'anagnorisis' (recognition of truth) which in his opinion a good tragedy should contain.

Aristotle's definition of tragedy and tragic hero is neither strictly followed by William Shakespeare nor accepted by all literary critics, partly because of the involved obscurity, and partly because of its incompleteness. However, it still constitutes the guide-lights of any literary appreciation of tragedy and tragic heroes.

Generally speaking, two reasons have been given in an attempt to exclude *Julius Caesar* from the realm of Shakespearean tragedy : first, the intention of the playwright was to produce a history of the great Roman statesman, and not the tragedy of Brutus, hence the title of the play ; secondly, the representation on the part of the characters of abstract ideas namely, 'imperialism' as embodied in Caesar, and 'republicanism' as embodied in Brutus. H. C. Goddard has pointed out that to exclude *Julius Caesar* from the world of tragedies "on account of its title is quite unjustifiable. It is to subordinate its spirit and total effect to the demands of mere classification and definition. If the story of Brutus is not a tragedy, it is difficult to find what it is".[3] The characters of Caesar and Brutus are not merely symbols of external abstract conflict ; they are human beings in the full sense of the word. For the sake of convenience we have to limit ourselves to Brutus in an attempt to see whether the qualities of his character are the qualities of a tragic hero or not, and—through the analysis of his psyche and personality—to highlight the element of human nature and mind in Shakespeare's tragedies.

Julius Caesar is the story of the 'noblest Roman of all' who, motivated only by his deep love for Rome and unaware of the intrigues and tricks of corrupt and wicked people, is tempted to join an action with which he has nothing to do. Brutus, from the very beginning to the very end, is taken by everybody—even by his enemies—as the 'noblest Roman of all'. He is honest, brave, noble and prosperous. His story is the story of a great statesman who, owing to his innocence of the corrupt worldly affairs, has to suffer and die. It is the story of a tragic hero, not only in the Aristotelian sense but also in the modern sense. It is perhaps Brutus more than any other tragic hero

who meets the expectation of a modern playwright, like A. Miller, of tragic hero, when he says :

> In them (tragedies), and in them alone, lies the belief—optimistic, if you will, in the perfectibility of man.[4]

The aim of Brutus is the aim of a man who seeks the perfectibility of human nature. Unlike Cassius, Brutus stands up against Caesar, motivated not by personal reasons, but by a pure love for the people of Rome. He is good in the true sense of the term, but he is perhaps too good to join such an action against Caesar. Owing to his such goodness, Brutus misreads the character of Cassius and miscalculates the course of events, hence his sufferings, downfall, and ruin. Brutus decides that Caesar must die, not because he aspires to power, but because he hates power. Brutus is conscious of the inhuman tyrannization of the crushed masses at the hands of a totalitarian dictator. Even under a dictatorial regime Brutus would have been able to lead a good and honourable life because he is a friend of Caesar and most respected and loved by him. But the humane spirit of Brutus obliges him to think of others. Unlike the egoist, self-asserted tragic heroes, as Macbeth and Lear, Brutus willingly put his own safety at stake in an honourable defence of the masses. When Cassius first hints at the plot against imperial Caesar, Brutus' reaction shows what kind of man he is. He without hesitation informs Cassius :

> If it be aught towards the general good,
> Set honour in one eye, and death in the other,
> And I will look on both indifferently ;
> For let the gods so speed me as I love
> The name of honour more than I fear death.
>
> (Act I, Sc. 2)

It is not merely a professing on the part of Brutus because every other character in the play says something to the same effect. Cassius, the villain in the play, asserts :

> I know that virtue to be in you Brutus,
> As well as I do know your outward favour.
> Well, honour is the subject of my story.
>
> (Act I, Sc. 2)

And to defend honour and justice Brutus decides that Caesar must die :

> It must be by his death, and for my part,
> I know no personal cause to spurn at him,
> But for the general.
>
> (Act II, Sc. 1)

Brutus' love for honour, and hatred for power are qualities that constitute an integral part of his character. In his opinion, power threatens honour when it is not connected with kindness and pity :

> The abuse of greatness is when it disjoins
> Remorse from power.
>
> (Act II, Sc. 1)

To stand up against the imperial spirit of Julius Caesar is the main concern of Brutus. He would have liked not to kill Caesar had there been another alternative, but unluckily enough there has been no way out. As a result, Brutus informs Cassius :

> Let us be sacrificers but no butchers, Caius
> We all stand up against the spirit of Caesar,
> And in the spirit of men there is no blood
> O that we could come by Caesar's spirit
> And not dismember Caesar !
>
> (Act II, Sc. 1)

Brutus' love for his wife and kindness for his servant and soldiers are elements which make him break with the conceited, far-fetched aristocratic world of kings, princes, and great statesmen as is the case in other tragedies, and bring him nearer to us in the modern sense of the word. Everybody of us is Brutus in one sense or another. He is the embodiment of the worries of man anywhere and everywhere to lead an honourable and dignified life. Brutus' relationship with his wife and his followers is the perfect example of love and kindness. When he talks to them, his tone is gentle, his words are passionate and impressive. In one place Brutus begs his wife :

> Kneel not, gentle Portia...........
> You are my true and honourable wife,
> As dear to me as the ruddy drops
> That visit my sad heart.
>
> (Act II, Sc. 1)

The treatment of Brutus to his servant, Lucius, is another case in point. Brutus, the great Roman statesman, treats his servant in a way which is quite new to the people of his class :

Brutus : Bear with me good boy ! I am much frightful.
Carest thou hold up thy heavy eyes awhile,
And touch thy instrument a strain or two

Lucius : Ay, my lord, an't please you.

Brutus : It does, my boy :
I trouble thee too much, but thou art willing.

Lucius : It is my duty, sir.

Brutus : I should not urge thy duty past thy might,
I know young bloods look for a time of rest.

And this type of honourable, dignified, kind-hearted man dominates the play from the beginning to the end. He has to suffer and die because of some minor mistake done on his way to achieve the perfectibility of man.

II

Characters in drama, even when they are not puppets, tend to be artificialised and act according to a set law or motive, or according to a kind of some temperamental principle. Even in such a case, they do not move and behave as living being. They are under a control other than that of their own personality. But in Shakespeare, it is not difficult to perceive that his characters are free from this defect. They are remarkably living and behave exactly as we do in our life. They are not rigid automatons reacting to a set device. They are no lifeless puppets behaving in a fixed manner. They are like living organisms growing every minute of their existence and drawing breath out of the atmosphere in which they exist. In the world at large, ups and downs of life, inconsistencies of behaviour, conflicts of motives do form the normal and natural features of human existence ; and they do not excite any wonder in us. But in literature we expect from characters a consistency of actions and uniformity of behaviour. It is at this stage that Shakespeare introduces a change in the concept of personality. Each one of us has a disposi-

tion which inclines us to a set course of life; and unless there is something to the contrary in the existing circumstances, we will act normally in the manner of our disposition. Yet, in changing conditions, and due to causes arising out of them, our actions change their course. Motives may change, and with them behaviour, and this gives to characters a set bias and a kind of actional uniformity. They are supposed to conform to a pattern of human conduct and are involved in actions that are judged from the principle of consistency of behaviour. The result is that they behave in a predetermined manner and hardly cause surprise.

On the other hand, in Shakespeare, we feel, at least in his tragic heroes, *a complexity of conduct that cannot be explained by any single law of human behaviour*. The characters behave not only like natural men in life but in a manner suggestive of personality—complex, exactly as living beings do. In a moment of crisis, man does not behave in any oridinary manner in keeping with his surface personality, but acts in conformity with his inner and hidden self. Only then does he show that man is a bundle of diverse complex selves, each one of which comes into play when called upon by conflict of changing motives or interests. This is what happens to Shakespeare's targic heroes in general. They are hardly simple characters, behaving in an ordinary manner, whether normal or abnormal. They are, on the contrary, very complex beings, and live their lives in a very real sense. Thus, they have a personality of their own, obvious to the view and exposed to the gaze of their friends and acquaintances, till owing to changing interests the sub-conscious or hidden self comes into play; and instead of their familiar and usual self an unsuspected and real phase of their personality comes to the fore. As a matter of fact, *the tragedies begin with the appearance of this unusual phase in their heroes' character*. They are a kind of study of this complex in human character.

Tragic heroes appear to be ivolved in a kind of conflict with themselves. This is due to the emergence of their subconscious or hidden self suddenly gaining control of their entire

life for some reason or other. These men are always in high esteem on account of their merit as much as their position of eminence. They are what are known as god-people, universally held in good esteem, popular in society, and full of achievement and promise. It is only after they have made a mark of themselves that a turn in the wheel of their fortune takes place, and this is preluded by a change in their visible ego. They begin manifesting a change in their character, temperament, and behaviour. It appears that some subtler influence is at work that brings on to the surface their other and till then out-of-the-view qualities of mind and character. Suddenly, a transformation is effected, and the man shows signs of becoming a different man. He is only revealing another aspect of his character, and those who have not noticed that before express surprise. But this change is, generally not readily noticed. And even if it is noticed, the eminence and reputation of the man are so great that it is hardly questioned. But the tragic story starts at the point of this change. This change does involve some kind of moral deficiency or depravity of mind, or some kind of weakness, therefore, the seeds of sorrow and misery are sown only to be reaped in full a little later.

It is true that Shakespeare's tragedies are not based on irrevocable decrees of fate ; they involve the question of moral responsibility, or temperamental aberration leading to misery and ruin. But the tragic guilt is not apparent from the start of the subject's careers. On the other hand, it lies deep below the surface that reveals the attractive side of the hero's personality. This new aspect of the character is presented to us only when circumstances change in a manner to affect the hero reacting subconsciously and exposing the hidden side of his personality. And to reveal this hidden personality of the man is the main business of tragedy. One can say that *tragedy arises out of this subjugation of the entire self of the man by his sub-conscious self.* The main business of the tragedy becomes the presentation of the hero from this point of his sub-conscious self taking control of his nature to the finish, when the full price for such a surrender

to one's baser or weaker self has to be paid by man. Shakespeare's tragedies involve the conflict between these two sides of a man's personality. But this conflict is not visible in the beginning. Only when the baser self has assumed control of the man's mind and his actions, the tragedy begins. As a matter of fact, Shakespearean tragedies start at this point, and they show the gradual preponderance of this element in the hero's psyche which leads to his inevitable fall and ruin. *The most interesting problem in his tragedies then is the analytical study of this subtle change that comes over the hero,* and to understand how the dramatist is concerned to show us the men that but for some fatal flaw which they possess in their character and which they allow to control and determine their action in life, might have otherwise lived well and happily. But since they choose to be governed by their *passion.* though hidden from general view till called forth by some sudden and new provocation, they suffer and die.

Macbeth, as people thought and knew him to be, was a good man to all intents and purposes, doing his duties well, beloved of men and his king, till a sudden and unexpected meeting between him and the witches changes the whole tenor of his life by bringing to the surface his hidden self, so long lying dormant and inactive. Hamlet, greatly loved and admired by those who knew him, the paragon of a young man, a student at the university, and philosopher-lover, is suddenly confronted with the murder of his father, and the usurpation of his father's throne by his uncle, and also by the mortifying spectacle of his mother marrying the suspected murderer. Had he risen to the occasion and acted with vigour and resoluteness, his life might have taken a different course. But the young man who was so well spoken of by the world at large, had also a secret side to his character that was hesitant, oscillating, and indecisive. He was resolute only by fits, from time to time, not regularly. His general nature was, on the whole, more mild than firm, more reflective than resolute, more contemplative than bold in action. In a moment of crisis, the possibility of more than one alternate action paralyses his activity, and he appears only as indecisive.

King Lear, who had become old in reign and must be credited, with some little commonsense to know at least which side his own bread was buttered, succumbs to his inordinate conceit, and makes the fatal decision to divide his kingdom into two halves between his two elder but false daughters. This foolish action is the turning point in his fortune. But this in itself is the result of his own nature, what has been described as the secret or hidden self. It is only when this complex develops and takes up control of the man that the tragic end of his career starts. *Othello* poses the same problem ; only it is more psychological of these four tragedies of character. *Macbeth* and *Othello* are studies of character-conflict arising out of a fatal inclination of mind and nature—ambitious or jealous to an extent that makes man blind to reason. *Hamlet* and *Lear* are attempts to present a man in the grip of an idea that makes him either take an action proving disastrous and fatal, or disable him from taking any decisive action till very late. Macbeth is ambitious, and once events have so conspired as to give a full bias to his ambition, that is, his hidden self, he cares for nothing else but pursuing his master passion of life, come what may. He goes on piling murder upon murder to retain the fruits of his ambition. Jealousy is a deadly poison that saps the inward peace of the victim's mind and makes him its first casualty. It is a dangerous disease for a man to suffer from, and makes him see everything with suspicion. It spoils his happiness and makes him secretive, sneaky, and moody. It maddens man till he is goaded to revenge against his suspected enemy. Othello, who, before he was befooled by Iago, was so romantic and chivalrous a man, suddenly comes in the grip of jealousy that was lurking only under his skin and came all over him as soon as Iago scratched him a little. The passion of which he is a victim deprives him of reason and results in making him take an innocent life. In each case the hero reveals a new facet of his personality, till then hidden from the general view. In Shakespearean tragedy, therefore, the problem raised is the presentation of the hidden side of the hero's character under an emotional strain arising out of deve-

loping circumstances. This hidden side of the hero's character leads him to questionable deeds and brings his ruin and death.

It is a purely psychological problem. In the hands of Shakespeare the underlying psychological interest in any human story is enhanced by the peculiar quality of the moral dilemma presented by the hero's character, who is neither too good to be above punishment nor too depraved to be totally outside our sympathy. *Perhaps, the only tragic hero whom we could condemn outright and without any scruple is Macbeth.* His career from the hour of his first murder is one continuous orgy of cruelty, oppression, and murder. It would be surpirising if these atrocities could fail to excite our severest disgust for the man who could indulge in them. But the aroma of his personality, in spite of his monstrocities, is still about him; and Macbeth continues to weave a kind of spell on us till the end. The reason is that our first report about him is so much to his favour and credit that its impression is never obliterated even by his wickedness and cruelties. Not only is this first impression about the man a kind of protective armour for him against his own subsequent fall, but it induces us to look upon him as upon a patient hit hard by a cruel disease beyond control. Our sympathy with Macbeth to the extent that we can feel for him is due to the excellent account given of him by all and sundry before he reveals his own inner personality after his fateful interview with the witches. It is significant that the witches do not produce the same, or even similar, effect on Banquo who remains much as ever before. But their effect on Macbeth is profound. They have touched at his weakest point and brought out to surface the hidden ambition of which he is full. As a matter of fact, the too many soliloquies in *Macbeth* are only a dramatic device to expose the working of Macbeth's mind, since the problem is to show how a sudden and chance meeting with the weird sisters did all the mischief in Macbeth's life. His meeting with them is a kind of spark dropping on a heap of dry straw, and putting it all to blazes. Macbeth, in spite of his many qualities, is villanously ambitious,

without any kind of moral check to prevent him from going wrong.

Such a man as Macbeth can be hindered from wrong actions only by external checks, or from fear of social consequences of his deeds recoiling on his head. Since he has no moral scruples against wrong-doing, the internal will to cease from evil of its own accord is totally absent. Macbeth never even once questions the sinful enormity of his contemplated deed, though he argues rightly about the dangers and risks involved in wrong doing. He cares for his skin only and if he could sin without burning his fingers he would too willingly do so. To his wife, this aspect of his nature is too well known, and she makes good use of this knowledpe of her husband's moral weakness to goad him into sin. The only external check against sin that could be effective in the case of Macbeth could have come from Lady macbeth. But Shakespease has used her otherwise. By her misguided sense of Macbeth's glory and greatness she only helps to pave the way of his ruin. Macbeth is ambitious and unprincipled. He has no fear of sin as such though he is afraid of harm following any wrong action taken by him. Only a strong persuasive voice such as his wife's against any such prudential fear could induce him to crime. He is, therefore, afraid to kill Duncan till assured that his own safety would not be jeopardised. His fear is really great, so great that in the murder-scene he shows himself weaker than his wife. It is not without its own significance that once Duncan is murdered and the deed done accoding to plan and expectation, Macbeth does not show any trace of his previous hesitancy or fear. On the other hand with the lapse of time he proves to be harder, stronger, and more determined than his wife. In fact Shakespeare uses Lady Macbeth only as an instrument of fate for her husband to show how Macbeth's destiny is the result of his character whose secret is his ambitions to which his wife is prepared to go to any leangth. Rather her purpose in the plan seems to be to remove the initial hesitancy and doubt from the mind of Macbeth and to set him on

the path of sinful ambition. This done she drops out almost without much fuss. And in a way she has been rightly charged with being the evil genius of her husband.

The part played by Lady Macbeth in the life of her husband has been all too openly revealed in the drama. Macbeth even from the field of battle has been maintaining a correspondence with her and keeping her well informed. The news of the unexpected honours conferred upon him by the king, and the prophecy of the great future awaiting him made by the witches has been sent to her. It is Shakespeare's marvellous tactics that he utilizes Lady Macbeth for analysing the character of Macbeth in the light of this new development, and showing the probable course of events. It has to be remembered that the tragedy of Macbeth is based on a deed than which nothing could be more reprehensible and fiendish, viz., cold-blooded murder of a trusting king. Had Macbeth been shown as all too prone to murder and evil-minded without any inner hesitation, the story would have been a mere tale of blood-curdling horror and monstrocity. But as it is, it becomes a moving spectacle of the fall of a human being who was full of promise and achievement. Macbeth meets his fall and tragedy on account of his lack of moral balance and failure to check the evil prompting of his mind all brought about by internal weakness and external instigation. It is this external pressure on him that in the final analysis tilts the natural fear that puts him on the road of ruin. Lady Macbeth's influence is all cast to work, not against this evil inclination of Macbeth, but only to make it more keen and sharp. It is a pity that with all her deep love for her husband she failed to see that he could never be a better and greater man through any wrong action, such as they were contemplating. Macbeth is ambitious, strong-willed, firm and resolute, but he has still a spark of social fear—at least a feeling of dread, something of the fear that accompanies the performance of wickedness, and acts as a check on weak-souled delinquents. On the other hand, Lady Macbeth is immune, entirely immune, from any such sense of fear. Her love for her husband is only

matched by her strong faith in her husband's destiny. And to her it never occurs that murder recoils on the doer in the long run. She is confident that with a little prudence and care, or management of proper appearances, they cannot only commit the murder but also reap its fruit without the least risk. When ordinary persuasion fails, she has no hesitation in taking recourse to taunts and jeers at her husband; and when after the commission of the murder Macbeth shows the cold feet, it is she who not only rebuked him for his fear but also volunteerd to remove all traces of his guilt from existence. By these acts Lady Macbeth lays herself open to severest condemnation. The tragedy of Macbeth thus becomes a study of human psyche in its worst depravity, of ambitious ferocity that once set on the path of evil action recoils at nothing till it perishes. Macbeth dies fighting like a soldier and the contrast between the frst Act wherein he is spoken of in so many high-sounding and complimentary terms and the last Scene when no epithet of opprorbrium is too bad to be hurled at him is striking and completes the picture of tragedy. The man, who was really great as greatness is measured in the world, misses both the glory and life by succumbing to the wicked promptings of his ambitious mind and on account of his pathetic over-confidence in the continuity of good luck.

It is not the story but the man that is the centre of our interest. Macbeth's deeds are too cruel and fiendish to create any favourable impression. But he is the embodiment of passion; his imagination and temper are something of the poet's. It is a strange combinatiin in him—a soldier's fierceness and a poet's sensibility, daring audacity against danger and a keen sensitiveness to the tender atmosphere of loving home and hearth. Such men as he are easily unbalanced unless controlled by any outside agency. And in the tragedy of *Macbeth* it is Lady Macbeth's responsibility more than that of any other single factor that accounts for Macheth's ruin. It does not mean that we can exonerate Macbeth in full or even partially. What it means is that the purpose of this

tragedy is to show how Macbeth's downfall is brought about by his own ambition which his wife only too easily played upon to his ruin.

Thus, we find that Shakespeare, in representing the world through the medium of his tragedies, is primarily concerned with getting a story of full human interest in which man or woman plays a natural part of feeling and sentiment, such as brings out the true bent of his or her nature and personality. The panorama of events involving characters is but a natural sequence of things happening owing to the same law of chance and achievement as obtains in real life. Man pursues a course of action in which he meets with success or failure as much owing to his own efforts as to mere accident or luck. It would be unwise to rule out the element of the unknown factor in life, as it would be an equally gross mistake to make too much of fate in determining the ultimate end of life. The one or the other may and does influence our actions in the world of reality, but man in real life does not reduce himself to the role of a puppet. His efforts are continuously made and he never likes to drift. Men and women have their own individual 'edges' and in the life that they live their actions are determined by what they are and like to be. The story of their lives would be a story of how they are to achieve this end. Shakespeare is interested in allowing his characters to play this natural role. Our thoughts and feelings do make a large part of our own personality and our psyche is the complex of these internal moods and views of our own selves. Feelings and thoughts find a natural outlet through actions. It is the exterior behaviour of man that reveals him. The integrated personality of man would be best understood by coordinating feeling and thought with action—the inner side of man reflected in the outer. Shakespeare's tragic heroes afford the best models in this respect. In them we meet the spectacle of exterior man harmonising with the inner self composed of will, dream, and desire. Shakespeare in the way he unfolds the story of human life in diverse patterns and modes imparts to us a capacity to

look into our own recesses of heart and understand better the many big and small sentiments of sympathy and apathy of which we are bundles. His tragic protagonists become reflexes of our own personalities, and in this way become our guide in the task of understanding *ourselvss*. Consequently, the Greek cult of Fatality pervading in the life of man is refined so as to accommodate the modern demand for *rationalism in human affairs* by Shakespeare linking the disasters and mishaps befalling tragic heroes with their own doings, and in so doing he has imparted to them all the greater human interest. Man, even in suffering and ruin, gets a significance truly human.

REFERENCES :

1 V. Hall, *A Short Hisiory of Literary Criticism* (The Merlin Press, London, 1964), pp. 7-8.

2 Ibid., p. 8.

3 Harold C. Goddard, *The Meaning of Shakespeare* (University of Chicago Press, 1973), p. 822.

4 Sylvan Barnet & others (ed.), *An Introduction to Literature, 5th ed.* (Little, Brown and Company, Boston, 1974), p. 531.

STEPHEN SPENDER : THE DESTINY OF MAN

Dr. R. K. SHUKLA

Deptt. of English, B.H.U.

Of all the English poets who began writing about 1930, it is Spender alone who has remained steadfast to his earlier beliefs. That he is a poet of hope and action may sound a little hackneyed, but this is a truth which cannot be denied. Spender rejected the orthodoxy and pontifical detachment of Eliot and the studied indifference to the problems of the world of the writers of the Bloomsbury group. He also rejected the visionary idealism of Shelley, Rimbaud and Rilke which was apparently a pretext to escape the problems. While most of the poets of the 1930's have retracted their belief in the efficacy of human endeavour to fight injustice and cruelty and have taken refuge in the conservatism which they had once repudiated, Spender still believes that active participation in the task of the reconstruction of society cannot jeopardise the poet's vision, provided he views his relations with society in the right perspective. Intensely aware of the destructive forces threatening not only the structure of society but the personal integrity of the artist as well, Spender has expressed his faith in the ultimate victory of man. But man is not infallible. There arise occasions when he might become brutal. Similarly, there come in his life moments of utter dejection and despondency. But this is only a passing phase. Man has been cast in a world where he has to carve out his path with his own resources. At one time a situation may demand complete annihilation of the self for the sake of a larger end. And when that situation changes, the conflict may shift to his soul. In any case, he is gifted with extraordinary powers and if he uses these carefully he will be definitely victorious.

Spender began writing at one of the most tumultuous periods of European history when the faith of poets and writers in the ultimate victory of man over adverse circumstances had

been shaken. In the 1930's this crisis thickened, as Spender himself has described it:

> ....after the Indian summer of 1920's the full effect of a situation which had surely profoundly altered already in 1914 began to be felt. The individual was no longer.........in the position of a statue set upon a building which supported him, and yet which, with marvellously human lines he did not seem part of........ The building was visibly shaking. So the connection of the statue with the building had become obvious and undeniable.[1]

The writers of the 1930's of whom Spender is one were thus aware of their situation and they thought of participating in social measures in order to reconstruct the society nearer to their heart's desire. The writers of this group turned leftists and the teachings of Marx became their guides. The writers of the previous generation, too, had encountered a world which was fast declining morally and spiritually. As the years passed the impact of that situation became more and more apparent in the social and economic pattern. The difference between these two generations has been nowhere more succintly described than by Spender himself, in his autobiography:

> ....the qualities which distinguished us from the writers of the previous decade lay not in ourselves, but in the events to which we reacted. These were unemployment, economic crisis nascent Fascism, approaching war.......... The older writers were reacting in the twenties to the exhaustion and hopelessness of a Europe in which the old regimes were falling to pieces. We were a 'new generation'. It amounted to meaning that we had begun to write in circumstances strikingly different from those of our immediate predecessors and that a consciousness of this was shown in our writing.[2]

An important thing that has to be kept in view is that these writers were equally horrified by the collapse of moral

and spiritual standards. A new, frightening dimension was, however, added to their horror by the external events of the time. But this intense despair did not disarm them; it filled them with a new audacity to explore the ways in which the things could be set right. By returning to conservative values or shutting themselves up in ivory towers, the writers of the previous generation had betrayed their lack of faith in the efficacy of human action to fight the all-pervading degradation. They had grown prematurely old and had adopted a pontifical attitude of detachment. The new writers were young and they burned with the fire of their youth. They revived faith in man and repudiated the stand taken by the earlier writers. The task before them was tremendous. As Babette Deustsch has remarked, they had to explore "the ache a man feels in amputated hopes as well as in amputated hands and legs."[3] They were struck not only by the emptiness of the soul but the emptiness of the pocket also.

The poets, however, adopted different modes for expressing their reactions to the social conditions. Auden became satirical C. D. Lewis hortatory, MacNeice diffident and Spender "expressed the romantic attitude."[4] Stephen Spender, the son of a Jew, had no faith in the idea of the Original Sin. This helped him cherish a stronger faith in the power of man. It is interesting to note that he has denounced the conservatism of not only Eliot but of his own friend, Auden also. He recognised the human situation as that of suffering and hopelessness but he did not regard this situation as final and irredeemable. He had faith in the potentialities of man to transform this ugly world into a beautiful one. For him, love, sympathy and pity had not become sterile. This does not mean that sometimes Spender was not overwhelmed by a sense of helplessness. Any one who reads his early poetry carefully will find it impossible to ignore the feeling of utter fatigue, a sense of world-weariness, an all-engulfing darkness. He himself has confessed that:

> The peculiarity of the 1930's was not that the subject of a civilization in decline was new but that the hope of saving it, or transforming it had atisen, combined with the positive necessity of withstanding tyrannies.[5]

For Stephen Spender the greatest enemy of man was not the moral and spiritual degradation only but a social order based on exploitation and a political system in which power is concentrated in the hands of an individual. He dreamt of a world in which

> no man
> shall hunger: man shall spend equally
> Our goal which we compel: man shall be man.[6]

In a poem written in the memory of a Spanish poet he expresses the same sentiment concerning a new social order:

> A world of happiness
> And another constellation
> With your voice that still rings
> In the centre of its night
> The stars burn theirs brilliant light.[7]

Spender did not believe in passive suffering. The wrong could be righted by active resistence. And resistence requires the bed-rock of faith. In a world destitute of all traditional beliefs Spender turned to Marx. He was one of the most fervent votaries of the Social Muse in Britain in the 1930's. But his Marxism was shorn of all dogmatism or fanaticism. He, however, did believe at the time that Manxism was the only instrument of averting the tragedy facing man. As he has put it:

> My vaguely distressed consciousness now began to formulate along lines laid down by marxist arguments. The essential ideas which moved me were firstly the inevitable development of social situations resulting from analysable material conditions, secondly, the division of the world into two interests, the bourgeois

and the proletarian, which represented not just political views but also influenced the whole pattern of behaviour and thought and culture of every one who belonged to them[8]

But his belief in the Marxist doctrine was more an expediency than a firm conviction, He soon discoverd that Marxism stifled human freedom and truth and that "philosophic speculation, unpropagandist art and even scientific research which do not serve the interest of workers are labelled idealistic, untruthful, escapist and reactionary"[9] This created a crisis in the mind of Spender :

> When I considered the existing injustices and the future destruction which were involved in the system in which I lived, I longed to be on the side of the accusers, the setters-up of world-socialism. But at this stage, having shifted the centre of struggle from the bourgeois camp to the communist one, I failed to find myself convinced by communism.[10]

But in spite of this crisis, Spender continued to believe in the Marxist theory, although he diluted it to suit his temperament. For the time being he was able to evade the crisis by carrying the conflict between personal life and public causes into the public life itself. As he himself says :

> For our individualistic civilization to be reborn within the order of a new world, people must be complex as individuals, simple as social forces. They must recognize their public duties, accept sacrifices, recognize necessity, but at the same time they must insist on their individuality, their difficulties, their privacy, their irrationality. The simplifying struggle to achieve social justice and pacification of the world preoccupies the men today. But yesterday there was that complexity which made the Renaissance prolific, wonderful, rich, mysterious and tomorrow there must be just civilization which is also capable of the complex folly of building a Venice.[11]

Thus if in one poem he warns that :

> ....if you still bar your pretty bird, remember
> Revenge and despair are prisoned in your bowels.
> Life cannot pardon the ideal without scruple,
> The enemy of flesh, the angel and destroyer,
> Creator of martyrdom serene, but horrible.[12]

In the very next poem he exhorts others to :

> ......step beautifully from the solid wall
> advance to rebuild and sleep with friend on hill
> advance to rebel and remember what you have
> no ghost ever had, immured in his hell.[13]

He is deeply involved in his contemporary disillusionment

> "Banks, cathedrals and thrones, all have failed humanity"

But he is hopeful that time will emerge victorious and

> "will hang its flags, In distant worlds........"[14]

In *The Still Centre* (1939) Spender made further efforts to reconcile the two opposite view points—personal emotion and social preoccupation. The poems in this volume were written during the Spanish Civil War in which he had participated on the side of the Republicans. He entered the struggle fully convinced that the Republicans represented the helpless, exploited humanity. He was also convinced that they would win. He visualized that those representing the sinister forces are desperately clutching "the furred and future gloom of their falling, falling world".[15] The poet wanted to get over his weakness and evoked the spirit of the heroes to deliver him from the fortress of his weaknesses :

> O utter with your tongues
> Of angels, fire your guns—O save and praise
> .... let my words restore
> Their printed, levelled, victoried message.[16]

Meanwhile the gloom went on intensifying and the poet encountered the vision of an uncreating chaos, breeding anxiety, "a grave lecher, a globe-trotter." But who was responsible for this chaos ? Not the proletariate certainly. It is the

bourgeois who had been perpetrating tyrannies in the name of high ideals :

> Your peace bursts into war.
> You're coined into a savage when you flee.
> The sglittinocrystal civilization dangles.
> And when you choose a lover like a mirror
> You see yourself reflected as a gunman[17]

This perverse situation of attaining peace through war made him sceptical about his own actions. He realized that war could not be justified in any event. War is bad not only because it turns man into a brute, but also because it creates economic crisis. While in "The Two Armies" he dwelt upon the psychology of the soldiers who had been compelled to kill each other, in "Ultima Ratio Regum" he expressed his anguish over the wanton extravagance of a war. A young man who was more fit for a kiss than a bullet was killed when he was admiring the spring flowers. The pity of "The Two Armies" changes into anger :

> Consider his life which was valueless
> In terms of employment, hotel ledgers, news files.
> Consider. One bullet in ten thousand kills a man.
> Ask was so much expenditure justified
> On the death of one so young and so silly
> Lying under the olive tree, O world, O death ? [18]

But this disillusionment did not cloud his hopes about the final victory of life over death. This fact is borne out by Spender's juxtaposition of the images of death and destruction with those of life, love and innocence. Birds, small children, fish, light, sun, flowers occur again and again, signifying that death has not been able to defeat life. Further, poems on trains and aeroplanes also testify to this fact. These are the symbols of the possibilities within the reach of man. Modern machinery is the achievement of man and a race which is capable of conquering space and time is not without its heroes.

Spender accepted the whole of life. Darkness and light are the two sides of the same coin. The poet wanted to turn

the night into the lucid day but there was a counter will which prevented him from doing so. The will and the weakness were identified and this identification itself was a source of joy to the poet:

> O strange identify of my will and weakness!
> Terrible wave white with the seething word!
> Terrible flight through the rivolving darkness!
> Dreaded light that hunts my profile!
> Dreaded night covering me in fears!
> My will behind my weakness silhouettes
> My territories of fear, with a great sun.
>
> I grow towards the acceptance of that sun
> Which hews the day from night. The light
> Runs from the dark, the dark from light
> Towards a black and white total emptiness.
> The world, my body, binds the dark and light
> Together, reconciles and separates
> In lucid day the Chaos of my darkness.[19]

The simultaneous experience of the two sides of life made the poet hopeful and he felt that the sun still shone and kept company with him. This sun was his womanly companion, love. This love gave him strength and he grew excited at the prospect of entering "the cold fridgate voyaging on despair", which will carry him across to the world of joy:

> Oh but to ride on
> The whole quivering human machine!
> Less efficient than aeroplane
> Rather, a feathered, artificial bird
> Which hardly flies but holds our lives
> In all its love.
> Oh to be taken by it, and to hold
> My ear against its ever female-heart,
> And to accept its fleas and all its sins,
> To explore all its gifts
> And nothing, nothing to refuse.[20]

This knowledge of the variety and complexity of life is "to walk into a sacred grove." He also realized the value of human sympathy and love. Once this love is attained, all questions and doubts which have been tormenting him would dissolve in the air. In the second sequence of "Variations on My Life", he characteristically says :

> Oh then my body would enter
> Its island its summer
> The questions find their answer
> And my head its resting place
> Where the other heart lies
> Washed by the seas of blood
> Under the trees and clouds
> And the healing sky
> And the breast's breathing space. [21]

With this awareness of the importance of love a new phase of Spender's belief begins. An important feature of his earlier belief was that he had regarded war as something which was imposed upon the world by the dictators and exploiters and it was the result of the class-conflict. So long as the exploited and the oppressed used war to liberate themselves it could be justified. But this assumption was belied when the Spanish Civil War ended with the defeat of the Republicans, and thus the hope that the bourgeois could be dislodged through armed struggle proved futile. With the defeat of the Republicans, those poets and writers who had accepted this war as a symbolic revolt against tyranny and injustice were frustrated. They were forced into a process of self-examination. The extroverts thus became introverts. The Spanish war was a "conflict between a small, ferocious, reactionary, clinging class and an awakening, ignorant, combative proletariate who looked to the Spanish Republic as the realization of their aspirations".[23]

The fall of this idealism meant for Spender and his compatriots the end of an epoch while the Munich settlement and the occupation of Czechoslovakia were the forebodings of a

second world war. These developments in the world politics coupled with the spiritual and economic disintegration which had been under way since the first world war only intensified the sense of dejection caused by the Spanish war. Consequently *The Ruins and Visions* (1942) is a record of Spender's spiritual recovery and his efforts to reconstruct a new faith. This was a time of crisis for him. His firm belief that man could ameliorate his lot through courage and fortitude began to waver. This is evident in his denunciation of war, even if it is used as a means of ending injustice and bringing peace. The problem of reconciling outer reality and inner reality at which he had hinted earlier now-acquired a new urgency. He also realized the value of love and pity with a new poignancy. The poems about war in this volume strike a more pathetic note. The poet feels the pinch of war in his own soul; he can no longer remain objective. The external reality invades his consciousness. The first casualty in war is innocence and sympathy and it bites the earth "with the semen of new hatred."[23] The greatest assets in the fight against cruelty and injustice are the child-like innocence and love which have been lost. To deny the power of love "is to be cold and cruel and blind." Victory after blood-shed is meaningless; the end does not justify the means, but a noble end should be achieved by noble means.

> For the world is the world
> And not the slain
> Nor the slayer, forgive,
> Nor do wild shores
> Of passionate histories
> Close on endless love;
> Though hidden under seas
> Of chaffing despair,
> Love's need does not cease.[24]

The despair born out of war and ensuing emotions is again reinforced when the poet cries out:

> The season of our soul is doom
> Born today from a terrible womb.[25]

The stupidity of the war is borne out by the voice of a dead soldier :

> I lay down dead like a world alone
> In a sky without faith or aim
> And nothing to believe in,
> Yet an endless empty need to atone.[26]

The dreadful spectre of the external reality fills him with nightmare and drives him into his inner sanctuary for relief :

> If I had the key I might return
> To where the lovers lie forgotten on bright grass.
> The prisoners and the homeless make me burn
> With homesickness when I pass.
> Yes ! I could drown in lives of weakness,
> For I pity and understand
> The wishes and fulfilments under the dream-surface
> Of an oblivious and uncharted land.[27]

This, however, means no oblivion of the external world. In "The Fates" Spender describes the brutality of war. A promising youngman, whose father was killed in the first world war, acquired an uneasy conscience when he thought of the emptiness of the life of his father. He had grown up in peace-time but the second world war broke out and the meek cat turned into a fierce tiger. The spirit of revenge overtook him and he went to the battle-field to refurbish the image of his father. But

> Into the dust he falls,
> The virginal face carved from a mother's kisses
> As though from sensitive ivory,
> Staring up at the sun, the eyes at last made open.[28]

This ironic ending of the young man's life is a powerful metaphor which conveys Spender's contempt for war as a tool for solving problems. He was ultimately convinced that mere action divorced from idealism and meditation would not achieve the desired end. Thus while he recognized the importance of human endeavour, he underlined the validity of certain permanent values of human life. The second world war had thrown him into a vortex of nightmare and phantasmagoria. His recovery from this state of

intense despair is symbolic of his faith in the ultimate victory of life over death. This faith which had been almost completely drained out by the ravages of the war was again revived. Acutely aware of poverty, misery, hunger and spiritual loneliness the poet looked into his heart and concluded :

> What you were, you are,
> And what you will be, you are too.
> Born, you are dead, loving are sad.
> The years add, star by star,
> The whole of life consuming you
> In fires of good and bad.[29]

Life is complex, a strange mixture of pleasure and pain and deliverance lies in the realization of this complexity. The war-torn world is like an unreal city in which values of life have become sterile and mechanical. The "iron machines of power" are advancing with newly-acquired energy, but hope is not completely lost :

> Yet there are eyes which float upon the wreckage
> Secretly clinging to a gleaming straw.
> Some acts of kindness wave their handkerchiefs.
> A trickling life runs through clogged veins
> And steams flow backward buried under flesh.
> A wind blows hither
> Rest, rest, you ghoulish masks of life,
> At last the fingers of the sky
> Will lift the hard expressions from your tongues,
> Unlock the mild sigh from your skulls,
> Laugh with laughter clinging tomorrow,
> And knit you, flesh and bone,
> Into life of joy again.[30]

This mood of the poet may be mistaken for surrender and resignation. But this is not so. His earlier faith in the power of human will to counter cruelty and injustice received a new impetus by his newly acquired faith in love and pity. This fact is borne out by his remarks in his autobiography and *The Creative Experiment*, a book of excellent criticism on some of the twentieth

century writers. Even in his earlier years he had affirmed this faith. Stephen Spender was not like those sterile scholars who are always lost in their dreams and shut their eyes to the happenings in the world around themselves. In a world where man has the courage of conviction and the will to carry out his convictions, there is always hope for humanity. The enemies of life are many and the success in life should not be measured by the result of actions but by the this courage and will which prompt them. Change is the law of nature. The old order changes ; sometimes this change is smooth but more often than not it involves blood-shed. But we should "watch the admiring dawn explode like a shell" "through the torn-down portions of the old fabric." Life is like a cog in a "golden and singing hive" which "like spark from fire, its task happily chieved" falls away quietly. To hasten this process of revolution, the 'I' should merge with the "we". The barriers between individuality and collectivity must fall apart.

To sum up, Spender visualized the contemporary predicament of man as gloomy and dark, but he was confident that he would be able to shore up the fragments of a falling world and reconstruct a new abode for himself. From the thirties when Spender was spell-bound by Marxism, or to be exact, liberal socialism he gradually drifted towards Christianity. As his faith in the Marxist ideal was never exclusive, in the same way, he disagreed with many tenets of orthodox Christianity in his later phase. A combination of the two was the thing which he recommended to his fellowmen. We can reproduce here the concluding paragraph of *The Creative Element* as a testament of his belief :

> Probably I shall be accused of writing that Christianity should become political. What I am trying to suggest is the reverse : that politics should be Christian. This, though can only happen if the Christian accepts his responsibility within time and history. Such a responsibility would tell him that Marxism has been more su-

ccessful than most philosophies in stating the problem of social justice within an industrial society, but that it has fallen into a fatal error where it disregards the rights of the individual in ruthlessly......supporting a supposedly just—because 'scientific'—process of history. The answer to Marxism is to accept the challenge of the necessity of world-wide social change, but at the same time to regard the individual with Christian charity and justice.[31]

References

1 *The Creative Element* (London : Hamish Hamilton, 1953), p. 12.
2 *World Within World* (London : Hamish Hamilton, 1951), p. 193.
3 *Poetry in Our Time* (New York : Henry Holt, 1957), p. 352.
4 *Ibid.*, p. 362.
5 *World Within World*, p. 249.
6 *Poems* (Faber, 1933), p. 69.
7 *To a Spanish Poet*, The Still Centre (1939), p. 107.
8 *World Within World*, pp. 133-134.
9 *Ibid.*, p. 133.
10 *Ibid.*, p. 135.
11 *Ibid.*, pp. 191-92.
12 *Poems*, p. 43.
13 *Ibid.*, p. 44.
14 *Ibid.*, p. 67.
15 "Easter Monday," *The Still Centre*, p. 20.
16 "Exiles from Their Land : History Their Domicile, "*The Still Centre*, p. 25.
17 "The Uncreating Chaos, " *The Still Centre*, p. 32.
18 "Ultima Ratio Regum," *The Still Centre*, pp. 58.
19 "Darkness and Light," *The Still Centre*, p. 78.
20 "Variations on My Life—1," *The Still Centre*, p. 91.
21 "Variations on My Life—2," *The Still Centre*, p. 95.
22 *World Within World*, p. 216.
23 "The War God," *Ruins and Visions* (Faber, 1942), p. 30.
24 *Ibid.*, pp. 30-31.
25 "June 1940", *Ruins and Visions*, p. 41.
26 *Ibid.*, p. 43.
27 "The Ambitious Son", *Ruins and Visions*, pp. 49-50.

FREUDIAN INFLUENCES IN WILLIAM FAULKNER'S *THE SOUND AND THE FURY*

(Mrs.) SUNAINA ANAND KUMAR

Research Assistant Dept. of English B.H.U.

The Sound And The Fury was published at a time when everyone in America was aware of the latest theories of psychology and was keen to understand the processes of the unconscious mind that determined the behaviour of the individual. Freud had been vulgarised insofar as a number of books for the layman had been published on his theories and everyone claimed to be a psychoanalyst. Faulkner has often referred to this novel as his greatest failure and yet his favourite work. It is one of the best novels written in the stream-of-consciousnesst technique.

Faulkner admitted to have read and been influenced by Dostoevsky, Conrad, Thomas Beer, Chekov and Eudora Welty. He felt that Henry James was a 'prig'. Faulkner's reading also included the Old Testament, Dickens, Shakespeare, Melville, Tolstoy and most of the Frenchmen of the Nineteenth century. When asked whether he had read Freud and been influenced by him, he said he had not read Freud but felt that if Freudian critics found Freudian influences in his novel they must be there. 'What little of psychology I know the characters I have invented and playing poker have taught me. Freud I'm not familiar with'.[1] And again, 'the writer doesn't have to know Freud to have written things which anyone who does know Freud can divine and reduce into symbols. And so when the critic finds those symbols, they are of course there. But they were there as inevitably as the critic should stumble on his own knowledge of Freud to discern symbol'. (sic)[2]. Since Freud was so well known in America in the' twenties, it is possible that he had imbibed Freud unconsciously. The greatest influence on

[1] Frederick L. Gwynn and Joseph L. Blotner, eds., *Faulkner in the University*, (Virginia : University of Virginia Press, 1959), p.268.
[2] Gwynn, p. 147.

Faulkner was James Joyce, followed by Sherwood Anderson. An extra-literary influence in the novel is that his own daughter was an imbecile.

Freudian influences in *The Sound And The Fury* can be traced at three levels, namely themes, narrative technique and characterization. The theories of Freud which appear to have been made use of here are the interpretation of dreams, the various instincts, the concept of libido as the basic sexual energy, defence mechanisms and the levels of personality. Freud felt that the need for self-fulfilment was one of man's central problems, his problems arising far more from the conditions of existence than from improper upbringing. For Freud the solutions lay mainly in a special kind of emotional experience of a sexual nature.

While it is a tribute to Faulkner's artistry that in the novels the themes, the narrative technique and the characterization are very skilfully woven together, I shall trace the influences of Freud separately at these three levels and attempt, at the same time, to explain the use of these influences.

The themes in the novel are love, sex, the disintegration of the society of the South and the collapse of traditional beliefs and spiritual authority. Guilt and sin, while not overall themes, are sub-themes, to coin a phrase. Freud referred to Biblical injunctions to honour father and mother and said that 'sadly-antiquated' notions for authority were held by middle-class parents especially fathers. The myth of Oedipus represented a literal enactment of those universal dreams and fantasies of family love and hate. The Oedipus complex was thus enlarged to mean a mixture of sexuality and aggression, and Freud felt it was very much present in all family relationships, not only those of mother and son.

Love, of rather the lack of it in most cases, is one of the themes of the novel. Often this cannot be dissociated from sex. Caddy is the central figure in the story and is the focus of most of the love. She and Benjy have a very tender relationship.

Caddy and Quentin also love each other but here the Oedipal variation can be traced. There is a trace of incestuous feeling in Quention's love for her. It has been suggested that Caddy was the mother-surrogate of the Compson family, and therefore the love of Quentin and Caddy falls into this Freudian category. Caddy has proceeded beyond self love to heterosexual relationships, which is the normal thing, according to Freud, but Jason, Mrs. Compson and Uncle Maury are under-developed in this respect. Benjy, while very much an idiot, links love to sexs unconsciously, and attempts to rape a schoolgirl. Perhaps this would lend a handle to Freud's theory of infant sexuality ? Miss Quentin and Jason would seem to be cases of the Freudian concept of 'reaction-formation' more sinned against than sinning that is, pretending they have no use for love, because this instinct or craving goes unstisfied.

The disintegration of the Southern society and the collapse of traditional beliefs and spiritual authority is the overall theme of the novel. Thus the larger aim of the author was to reveal the distorted beliefs of honour and virginity in the South. Uncle Maury has an affair with Mrs. Patterson, Miss Quentin elopes with a circus performer, Quentin claims incest rather that admit his sister's affair with an outsider. The only person left with all the responsibility is Jason. He has to uphold the family Honour, function in society, be responsible for all the members of his family. Freud said that when a person's responsibilities prevented him from fulfilling his own desires his personality got warped. Jason, to my mind, is a person to be sympathised with and is one the few characters who are normal, more or less. The Freudian 'introjection' is very much there. He has inherited but the superficial code and has no religion to sustain him. The Oedipal situations in the novel serve to make a rich montage of experience for the reader and help Faulkner to present many variations on a theme.

Freudian influences in the narrative technique are traceable at several levels. The structure of the novel, the overall dreamlike atmosphere of the novel—which has the semblance of reality,

just as a dream does—the narrative proper, that is, the narrators, the manner of the narration, the use of symbols, metaphors, myths and the language-all show influences of Freudian theories. One may say that in the narration, mainly as a result of the use of free association, there is narration and yet no narration. The elements of continuity, causality, and chronology are violated but Faulkner has found substitutes for them.

Superficially, the first impression the reader has of the structure of the novel is that the first three narrators or sections of the novel would seem to correspond to the Freudian hypothesis of the three aspects of the personality, the id, the ego, and the superego. This is substantiated to a great extent as one probes deeper but after a certain point, Faulkner's artistry takes over. Benjy is the id or the biological aspect, and Jason is the superego or the social aspect. Benjy's preoccupations are food, love and shelter. He is unable to differentiate between space and time differences. Benjy is, however, unconsciously albeit, aware when right or wrong has been done. He is thus more than just an id. Quentin is more than an adolescent but falls very neatly into the psychological category of the ego. He is given to excessive rationalization, abstraction and is half-mad, in Faulkner's own opinion. Jason is the superego which has to be the conscience, to judge, to control the irrational desires of the other two facets of the personality. The Dilsey section is the author himself speaking, and she is all that is normal, sane and affectionate. Faulkner and Freud were both interested in the abnormal mind and perhaps it is because she is normal that her chapter is in the third person.

The dream-like atmosphere of the novel has been created by the use of several narrative techniques. The narrative proper and the atmosphere can not be discussed separately. One of the elements of the dream is symbol—what the object dreamt about stands for. Symbols lead to free association. One fire reminds the 'Dreamer' of another, one bell chiming of another bell that had chimed. Freud influenced the narrative

technique of Joyce who created the stream-of-consciousness technique. He also interpreted the meanings of various dreams.

The use of symbols is of two types, namely thematic and narrative. The thematic symbols contribute to the unity of the novel's theme. Benjy is the symbol of modern man, deprived of love, castrated by modern society, and yet easily consoled. Narrative symbols are those that further the narrative of the story. The narration here is not a linear progression but even so, at all times the reader's perception is being deepened and widened. The water, the fire, Caddy smelling like trees and the clock as the symbol of time reveal to the reader the several occasions when someone waded in the stream, water as the symbol of death for Quentin and of baptism or rebirth for the Christian. Freud's interpretations of these symbols are almost identical to those of Faulkner.

Free asociation is evident in the first three sections of the novel. For Benjy the senses of light and sound and touch are the means of his consciousness crossing spatial and temporal barriers. To a Freudian psychoanalyst the associations formed by Benjy would be merely superficial, and an analysis would reveal that Benjy's mind was underdeveloped and that he was incapable of deeper insights into the meanings of events. That is to say, Faulkner made Benjy capable of only emotional responses to these events and associations. If Caddy smells different Benjy understands that something unusual has taken place and the reader can use Benjy's perceptions to formulate his own judgements. Quentin on the other hand forms associations but his are occasionally intellectual, literary and mythological. The little girl who follows him reminds him of the 'little sister death' of St. Francis. On an emotional level she is associated with the love he feels for Caddy. Time is more than just little wheels. It is clocks and it is also eternity. The fantasy he forms of incest with Caddy leads him to the confession ritual. It then leads him on to the concept of inherited guilt. Freud would interpret these in very much the

same way as Faulkner intended. "That Christ was not crucified: he was worn away by a minute clicking of little wheels. That had no sister.........'[1] By means of the use of free association, interior monologues and symbols Faulker enables the reader to plumb the depths of the nature of man. He can, also, by the use of these, skilfully manipulate the matter that is to be presented and the order in which it is to be presented. The matter need not be chronologically arranged which would mean that the author is not obliged to show causality. Since there is no past or present the continuity is not linear. All events are presented like a montage. Freud had said that man's problems arose from the conditions of existence and that the need for self-fulfilment was greater than social obligations. What Faulkner has achieved is to show all the conditions of existence simultaneously. He does not, however, go so far as to say that all of man's problems can be resolved through healthy heterosexual relationships. He does hint that most of the problems of Jason, Quentin, Caddy and Miss Quentin arise because they have been unable to form such relationships.

The language of the novel changes from character to character. In the final section Benjy's language is simple His perceptions are warped. 'I went away', 'I could smell the bright cold', are but two examples. It serves to convince the reader that it is an idiot talking. The Quentin section has phrases like 'paradoxical reliability' and 'his voice the gabble voice that breathed'. The reader perceives that it is an intellectual speaking but an intellectual who is not normal. The Jason section has words like 'bitch', 'speculation,' and has many references to money. It is the voice of the man who is living in the everyday world of the South. Freud said that one's free associations revealed one's preoccupations and repressions of long forgotten experiences. The vocabulary of each of the characters reveals just these. Dilsey's sections is not being

---

[1] William Faulkner. *The Sound and the Fury*, (Great Britain: Penguin Books, 1976); p. 74,

taken into consideration because the auther was, as it were, standing behind her and speaking.

By using these techniques, namely the structure, the creation of atmosphere, the use of symbols and free association, Faulkner has created his own variation of the stream-of-consciousness novel. Without Freud it would not have been possible for Faulkner to narrate the story in exactly the same way or achieve the same results.

The third level at which Freudian influences are traceable is at the level of characterisation. The novel deals with the idiot Benjy, the neurotic Mrs. Compson, the nymphomaniac sister, the suicidal maniac Quentin who was obsessed with abstractions and totally alienated from practicality, and the only sane figure Jason whose responsibility it ultimately became to present some sort of a decent facade to the world.

Benjy is the Freudian child who has not developed mentally beyond the anal stage. He operates on the level of the 'pleasure principle' and may be the Freudian id. His greates sources of gratification are food, shelter and love. He has no memory, no understanding and only a little intuition. Insofar as this goes he is the typical example of 'Id'. He attacks a passing school girl and is castrated for that. Where he is more than just 'Id' is that he can understand that something is wrong when Caddy cries he cries, when the carriage goes the wrong way he is upset, when Caddy does not smell like trees he is upset. Faulkner has used his consciousness, if it may be called that, to give the reader some idea of the events of the story.

Quentin's chapter only serves to add to the montage effect. He is the Freudian 'Ego'—the adolescent, given to exessive rationalisation, fantasying, abstractions and emotional over-reactions. Freud has postulated two instincts—the 'life' and the 'death' instincts. Quentin is the supreme example of the death instinct. He desires to die. Whether it is because he can thus fix the events before Caddy's escapades when all was pure, or because he does not desire to accept social responsibility

as an adult, or because he wants to take upon himself Caddy's sin has been debated by critics, Freudian and non Freudian. Faulkner admitted that Quentin was half-mad at that time. His awareness of sin is more Biblical than Freudian though Freud has postulated the theory of infant sexuality.

Mrs. Compson is the typical Freudian example of the person who is incapable of positive actions and so retreats, albeit unconsciously, into illness. This is the Freudian' Conversion Hysteria' where a mental conflict becomes converted into a physical symptom. It somehow pays for the patient to be disabled or promises to pay him ; or he escapes from an intolerable situation by means of his disability. She feels she has married beneath her, one son is an idiot, her daughter has an illegitimate child, one son commits suicide, and there is no positive, concrete remedial action possible. If she is sick she will not be called upon to offer even solace.

In the case of Jason the defence mechanism that come into play are 'introjection', 'rationalisation' and 'displacement'. In the first place he assimilates the outlook of his mother that he the only person who is good and dependable. In the second he feels he has not succeeded in life because of his social handicaps, and even when he loses on the stock market he transfers the blame on to the operator. Discovering that Caddy is out of reach, he takes revenge on Quentin, her daughter. His drive for self-fulfilment is genuinely hampered by his various responsiblilites and he is never able to be himself. He is always the responsible son, the bread-winner, the maintainer of family honour and traditions. He may be classified as the Freudian Superego—his character being formed (or warped) as a result of his difficult environment.

Faulkner and Freud were not interested in the workings of the normal mind. Dilsey, Caddy, Quentin, her daughter, and the other negroes are not given a chance to reveal the workings of their minds. Faulkner's abnormal characters serve to give an additional dimension to the story, and through the cons-

ciousnesses of these characters Faulkner reveals his own deep insight into human nature.

Freudian influences having been traced at three levels, it remains to assess the achievement of Faulkner in the novel. The use of Freudian theories and narrative techniques based on these enabled him to reveal the workings of the mind and to enable the reader to partake of the process of creation. He has explored what the mind does with the information concerning external events brought to it by the senses, and thereby explores the nature of reality. By presenting time as 'Is' he has enabled the reader to make sense out of his jumbled mode of narration. The characterisation is skilful and the themes are universal. The reader can judge motives, actions and people. The violations of causality, chronology and continuity do not seem violations after all, and one sees that there is more to the novel than mere 'sound and fury'. The seemingly diffuse events of the story are organised in the Dilsey section which is a straightforward narrative. Freud has been traced at different levels, and the book would not have come into being in the same form had Freud not influenced Faulkner. Faulkner's achievement lies in the fact that even if one does not know Freud, it is possible to appreciate and understand his deep insight and knowledge of the psychology of man and his own humanity.

BIBLIOGRAPHY

Primary Sources :

Faulkner, William. *The Sound and The Fury*. Great Britain : Penguin Books, 1976.

Secondary Sources :

Cameron, Norman. *Personality Development and Psychopathology : A Dynamic Approach*. Bombay : Feffor and Simons Pvt. Ltd., 1969.

Faulkner in the University : Ed. Frederick L. Gwynn and Joseph L. Blotner. Virginia : The University of Virginia Press, 1959.

Gale, Nathan G. *Freud and the Americans. The Beginnings of Psychoanalysis in the United States, 1876-1917*. Vol. I. New York : Oxford University Press, 1971.

Hoffman, Frederick J. *William Faulkner*. 2nd. ed., Boston: Twayne Publishers, 1966.

Humphrey, Robert. *Stream of Consciousness in the Modern Novel. California*: University of California Press, 1954.

McClelland, David C.: *The Roots of Consciousness*. New Jersey: D. Van Norstrand Company, Inc., 1964.

Swiggart, Peter. *The Art of Faujkner's Novels*. Austin: University of Texas Press, 1962.

Van Norstrand's Scientific Encyclopedia. Ed. Douglas M. Considine. New York: Van Norstrand Reinhold Company, 1976.

Volpe, Edmond L. *A Reader's Guide to William Faulkner*. New York: Farrar, Straus and Giroux, 1964.

THE CYNIC IN GEORGE ORWELL

SURYA NATH PANDEY

Department of English

Banaras Hindu University

George Orwell was not happy to have been born in the disturbed twentieth century and lamented the utter collapse of human values. 'Our civilization is dying. It must be dying.'[1] The generation born in the first decade of this century had an acute awareness of and concern for social, economic and political problems as Karl Marx had been the most abiding influence since the close of the nineteenth century. This consciousness grew up during the Russian Revolution and reached its climax at the end of the First World War with the spectacle of what Eliot described as 'the immense panorama of futility and anarchy, which is contemporary history'.[2] An atmosphere of disillusionment and despair enveloped the whole mankind and faith in higher values was rudely shaken. The people were all out in search of a remedy to cure the world's ills. The art for art's sake movement became art for propaganda's sake or politics' sake in the thirties. The great economic depression, symptomatic of 'capitalism-in-decay', mass unemployment and the menace of Fascism on the continent were some of the dark spectres staring the writers in the face. Stephen Spender confesses the complexity of the situation. "The peculiarity of the 1930's was not that the subject of a civilization in decline was new, but that the hope of saving it, or transforming it had arisen, combined with the positive necessity of withstanding tyrannies.[3]

In a different age, Orwell "might have written ornate or merely descriptive books and might have remained almost unaware of my political loyalties. As it is I have been *forced* into becoming a sort of pamphleteer."[4] He had a clear idea of himself as he might have been in a different time. But an inevitable

social and political reality virtually changed the complexion of his natural self and the peculiar condition of the age coupled with the varied experiences of life sharpened and intensified his political consciousness. His birth in England's most uncomfortable social stratum, the poor but genteel 'lower-upper-middle-class' and the bitter feelings of school-days at Eton filled him with resentment against the rich people. The service in the Indian Imperial Police in Burma added immensely to his natural hatred against authority and the vanity of imperialism stood exposed before his eyes. All this gave Orwell an acute political orientation.

The obsession with politics grew so keen indeed that he believed every intellectual of modern age to be fundamentally political in thought and action. He was not at all prepared to believe in the creation of a literary work absolutely free from political bias. He thought of devoting his time and energy to the propagation of his ideas. What prompted him to write was the intolerable dilemma which he wanted to explain to his readers. All through his writings, he most sincerely desired to push the world into a certain direction. He was confident that political involvement could render no harm to aesthetic and intellectual integrity. It would rather add to the dignity of the literary pursuit. Orwell clarified his object in 'Why I write'. "And the more one is conscious of one's political bias, the more chance one has of acting politically without sacrificing one's aesthetic and intellectual integrity. What I have most wanted to do throughout the past ten years is to make political writing into an art".[5]

Orwell's quest for a solution to the fierce problem infesting the world and the experiences of George Bowling, the hero, in *Coming Up for Air* make interesting parallels. Bowling feels disgusted with the meanness of his middle class existence, where jealousy and dishonesty are the infectious diseases fast spreading to consume the human soul. He decides to return to his rural birth place, Lower Binfield, in the false hope to breathe the clear and fresh air, only to discover later that the old town of serenity

had grown into an industrial estate with smoking factories, polluted streams and dirty slums. The sweet memories of his childhood days lie shattered and the troubled Bowling is disillusioned about the decency, dignity and the integrity of the village people. He abruptly returns frustraed wtih the belief that the foul air is his lot. Dissatisfied with the present, he fruitlessly attempts to rebuild the past and is afraid, future might be still more horrid than the present.

Like Bowling, Orwell went on a Quixotic quest for a utopia. In the beginning, he was attracted by communist ideology Recollecting the good old days of thirties, Orwell writes "As early as 1934 or 1935 it was considered eccentric in literary circles not to be more or less 'left'. Between 1935 and 1939 the communist party had an almost irresistible fascination for any writer under forty."[6] He held the belief that communism might help him in doing away with the repulsive forces of violence, injustice and tyranny. The spell exercised by communism was too hypnotic to be resisted and Orwell was over-enthusiastic to live as a member of the proletariat even in the dirty slums of Paris and London. He joined the Republican army and fought the Spanish Civil War which was treated as a symbolic revolt against tyranny and injustice by the writers of the thirties. But the hope that bourgeoisie could be dislodged through armed struggle proved futile. All the writers who had participated in the war, were forced into a process of self-examination. The Spanish war was a 'conflict between a small, ferocious reactionary clinging class and an awakening ignorant, combative proletariat, who looked to the Spanish Republic as the realization of their aspirations.'[7]

Throughout his early writings 'democratic socialism existed as a sustaining vision that kept the author from total despair of the human condition...'[8] Orwell's frustrating experience of the Spanish Civil War and the shock of the Nazi-Soviet pact disillusioned him about the success of the ideals he so enthusiastically strove for. On his return to his country, he regretted the scarcity of literature of disillusionment about the Soviet

Union. He was determined to fill this vacuum with politically-oriented literature with satiric intent. "On my return from Spain I thought of exposing the Soviet myth in a story that could be easily understood by almost any one...."[9] and, he wrote the '*Animal Farm*'.

'*Animal Farm*', he described as "the only one of my books I really sweated over'[10] and 'in which I tried, with full consciousness of what I was doing to fuse political purpose and artistic purpose into one whole.[11] We shall linger a while on this important novel. It is remarkable precisely because he uses the apparently frivolous form of the animal fable to convey, with immense power, his profoundly bitter message. Orwell believed that 'men exploit animals in much the same way as the rich exploit the proletariat.'[12] It is not merely that revolutions are self-destructive. Orwell is painting a grim picture of the human condition in twentieth century, a time which he has come to believe marks the end of the very concepts of human freedom. All the animals unanimously decide to expel their bad master Mr. Jones at the exhortation of Old Major in the hope of leading a much better life. The noble slogans 'all animals are equal, no animal must ever tyrannise over his own kind'[13] are invented to encourage and attract animals. No wonder, the suppressed animals successfully revolt against Mr. Jones and found their own Utopian community—the Animal Farm. The pigs come to occupy the supervising status in managing to repulse the attacks of human beings. The farm is secure from outer invasion and the revolution seems complete ; but as the community develops, there are graver dangers than invasion. The pigs devour all milk and apples and with cool ingenuity seek to justify their action :

> "It is for *your* sake that we drink that milk and eat those apples. Do you know what would happen if we pigs failed in our duty ? Jones could come back."[14]

The farm has grown prosperous now, but the fruits of prosperity never pass beyond Napoleon and his coterie. Snowball and Napoleon may differ over certain problems, but regarding

the appropriation of milk and apples 'all the pigs were in full agreement on this point, even Snowball and Napoleon.[15] All the warnings against imitating man and his vices, given by Old Major, are forgotten very soon. Napoleon tyrannises farm animals and manages to get rid of his opponents like Snowball with ruthless efficiency. He becomes thick-skinned in due course and the defaulting animals are treated with unusual cruelty out of all proportion to their dues. "In the old days, there had often been scenes of bloodshed equally terrible, but it seemed to all of them that it was far worse now that it was happening among themselves.'[16] Orwell exposes the hollowness of the lofty ideals that prompted the animals to dislodge Mr. Jones, as their new boss Napoleon, proves to be infinitely more brutal and unfeeling.

"The most darkly pessimistic aspect of *Animal Farm* is that the animals are unable even to recognize their new oppression, much less combat it."[17] There have been, are, and always will be pigs in every society, which Orwell believes will always grab power. The irony is that everyone, good or bad, deliberately or unknowingly, contributes to the tyranny, but is unable to understand it. At least three animals—Boxer, Clover and Benjamin—are potentially able to stand up to the exploitation, but each of them suffers from some fatal flaw. Boxer has probably enough power and strength to overthrow Napoleon. 'I will work harder'[18] is the motto of his life. But a worker of such an untiring zeal is handed over to a horse-slaughterer. Old Major, in his address to the animals, had pointed out to Boxer that 'the very day that those great muscles of your lose their powers, Jones will sell you to the knacker'[19] and that he should strive to end Jones's oppressive regime. Ironically enough Boxer meets with the same fate at the hands of Napoleon when he is unable to render any active service. "He is carried away on the knacker's van and in a few moments the sound of drumming hoofs grew fainter and died away."[20] That dying sound seems to be the dying hope of humanity. But Orwell does not allow the mood of oppressive sadness to remain unmixed with a leaven of irony, and Boxer is reported to have died in his hospital-bed

with the words 'Napoleon is always right' on his withered lips. Boxer's basic goodness, social self-sacrifice and impressive strength are simply misused and the stupidity which wastes them receives a sombre colouring from Orwell's reputed love of the common man.

Clover is more intelligent and perceptive than Boxer, but lacks strength. Her instincts are maternal and pacifistic. She does feel that the slaughter of animals on such a large scale is tragic but fails to communicate it. She only deplores the miscarriage of the hope with which she had joined the rebellion for the overthrow of Jones's regime. "These scenes of terror and slaughter were not what they had looked forward to on that night when old Major first stirred them to rebellion. If she hereself had any picture of the future, it had been of a society of animals set free from hunger and the whip."[21] Benjamin, who sees and knows most, perhaps all, is physically ineffectual and socially irresponsible. He is not prepared to believe that the building of windmill would bring about any profitable change. Windmill or no, windmill, he said, life would go on as it has always gone on that is, badly.'[22] To him, the social and political situation is irrelevant Human nature suffers and prospers in the same degree no matter who is the master. He believes that "things never had been, nor ever could be much better or much worse, hunger, hardship and disappointment, being, so he said, the unalterable law of life."[23]

Orwell believed that only the very worst is inevitable in life, that change for the better is a mirage and the only alternative is a retreat into social self-pity. The ideals are perverted or eliminated one by one, until all that is left is—'All animals are equal but some animals are more equal than others.'[24] After this it does not look unusual that the pigs take to imitating human beings, that they dress like human beings and invite men to feasts. Finally, all the representatives of the various idealogies are indistinguishable—they are all pigs, all pigs are humans. "The creatures outside looked from pig to man, and from man to pig,

and from pig to man again ; buta lready it was impossible to say which was which."[25]

The failure of the revolution is not seen in terms of ideology at all. Orwell seems to have agreed to Lord Acton's thesis that power corrupts and absolute power corruptsa bsolutely. The incentive behind the revolution might haveb een the realisation of an ideal of good life but the result is alaways the same—tyranny. Major's exhortations had aroused very high hopes in the animals. They had expected freedom from the oppression of Jones, but instead, they got Napoleon, who was much more corrupt and tyrannical than Jones The animals stand disillusioned, as all their aspirations of a better life are shattered to pieces. The Animal Farm becomes again the Manor Farm. To Orwell, Communism is as good or bad as Fascism or Capitalism. Its ideals are illusions fostered by the pigs to satisfy their greed and lust for power.

In the novels written before *Animal Farm,* Orwell had visualised a solution of the pessimistic plight of man through democratic socialism. The *Animal Farm* is a bitter record of his disillusionment with the communist ideals, that had attracted him so powerfully. All the novels before *1984* are based almost on his personal experiences of life and the world. He knew the dangers of the concentration of power fully well and in *1984*, he describes a utopian society, picture of the would-be world, which, however, is haunted by the evils of power and the power-mania emerges as a motiveless search for power, as an end in itself. He cites Burnham as maintaining that "Politics consists of the struggle for power and nothing else.'[26] And the operation of power might result in the very denial of human rationality. "In the end the party would announce that two and two make five and you would have to believe it."[27]

But to tell the truth is not to preach pessimism and Orwell's clear analytical outlook has probably been mis-understood as cynicism. Robert Lee is quite justified in commenting, "There emanates from his writing a sense of sanity welcome in an age that often seems insane."[28] He was convinced thati njustice,

poverty, and corruption were inevitable portions of human existence. As an extremely sensitive man he thought that "the future belongs to the sadists and the fanatics, to the criminally insane, who are fast gaining control over the world, to the mentally unbalanced, who know no morality or decency, to the blind moronic masses, whose life and meagre thoughts are completely controlled by unscrupulous, power-crazed maniacs."[29]

REFERENCE

1 Orwell, G: *Keep the Aspidistra Flyinq* (New York, 1936), p. 21.
2 T. S. Eliot: 'Ullysses, Order and Myth', '*The Dial*' November 1923, p. 480.
3 Spender, S.: *World Within World* (London: Hamish Hamilton, 1951), p. 249.
4 Orwell, S. (ed): *Collected Essays. Journalism and letters of George Orwell, Vol. I* (London 1968), p. 4.
5 Orwell, G.: "Why I Write' in George Wickes's *Masters of Modern British Fiction* (Macmillan Company, New York, 1963), p. 383.
6 Orwell, G. 'Inside the Whale' in George Wickes's. *Masters of Modern British Fiction* (Macmillan Company, New York, 1963), p. 371.
7 Spender, S.: *World Within World*, p. 216.
8 Greenblatt, S. J.: *Three Modern Satirists* (Yale University Press, 1968) pp. 59-60.
9 Orwell, S., *Collected Essays, Journalism and Letters of George Orwell, Vol. III, Ed.* p. 405.
10 Brander, Laurence: *George Orwell* (London, 1954), p. 170.
11 Orwell, George: *Collected Essays* (London, 1961), p. 426.
12 Orwell, S. *Collected Essays, Journalism III Vol.*, p. 406.
13 Orwell George: *Animal Farm* (E. L. B. S.—1969), p. 12.
14 *Ibid.*, p. 32.
15 *Ibid.*, p. 32.
16 *Ibid.*, p. 74.
17 Lee, R. E.: *Orwell's Fiction* (University of Notre Dame Press 1959) pp. 122-123.
18 *Animal Farm*, p. 27.
19 *Ibid.*, p. 10.
20 *Ibid.*, p. 105.
21 *Ibid.*, pp. 75-76.
22 *Ibid.*, p. 46.
23 *Ibid.*, p. 111.
24 *Ibid.*, p. 22.
25 *Ibid.*, p. 120.
26 Lee: *Orwell's Fiction*, p. 133.
27 Orwell, G.: 1984 (New York, 1949), p. 80.
28 Lee, Robert E.: *Orwell's Fiction* p. XI.
29 Greenblatt, S. J.: *Three Modern Satirists*, p. 38.

WILLIAM BUTLER YEATS'S EARLY POETRY: A STUDY OF THE WANDERINGS OF OISIN

Dr. RAMA NAND RAI

Lecturer, Deptt. of English, B.H.U.

W. B. Yeats is widely recognized as the greatest poet of our age. "Some of us", says Stephen Gwynn, "were recognized as counting for something and likely to count for more. But every-one of us was convinced that yeats was going to be a better poet than we had yet seen in Ireland".[1] He has by nature the finest poetic gift in our time and is, by technical discipline, one of the subtlest and surest instruments in the history of English poetry.

While studying the poetry of W. B. Yeats, it is difficult to ignore the fact of his Irish descent. He was rooted in the tradition of his country and accepted his nationalism as the guiding principle of his art. Joseph Hone has rightly said that, "Yeats was not a flower that could flourish on foreign soil".[2] He was a central figure of the Irish Renaissance, which attempted to revive, "the ancient lore and traditions of Ireland in works of literature".[3] He aimed at bringing about national unity and realisation on the part of the Irish people of the old heroic ideals embodied in their myths and in their folk and fairy-lores, which were linked with the hills, rivers and the landscape of Ireland and gave them sanctity and significance. Celtic myth, folk-lore, balladry and old country beliefs and superstitions are frequent parts of Yeats' early work.

Yeats' nationalism was mixed up inextricably with his sense of art. Infact, he believed that art, if it were to flourish, must be upheld by an authoritative ideal of life. Thus, he "served Ireland honestly and fearlessly in serving his art".[4]

---

[1] Quoted in Joseph Hone's *W. B. Yeats: Schooldays*, p. 46.
[2] Joseph Hone: *W. B. Yeats (1869-1939)*, p. 338.
[3] "Notes", *20th Century Poetry and Poetics*, ed. G. Geddes, pp. 600-1.
[4] Rica Brenner: "William Butler Yeats" *Poet of our Time*, p. 13.

The new civilization, which, he imagined, would replace the current tottering christian civilization, was to be the new incarnation of the old Irish ideals. In his last poem, he exhorted the poets and artists of his country to prepare the ground for that desired consummation :

> Irish poets, learn your trade,
> Sing whatever is well made.
>
> (*Under Ben Bulben*, 11-68-69).

Poetry was to Yeats a form of religious magic, a means of conjuring up the beauty and truth of the past, of distilling it and of presenting it in a new form so that it could pass again intofhe general mind of the present. With such an ambition, he commenced writing poetry while he was still a young student at the Dublin Art School. His first publication was *Juvenilia* (1885), which represents the shy and arrested expression of his gentle and youthful fancies. He made his mark as a poet with the publication of his next volume of poems, entitled *The Wanderings of Oisin* (1889). The most important poem of this collection is *The Weanderings of Oisin*, which is a long narrative poem in three parts dealing with the life of the Celtic legendary hero, Oisin, who was enticed away by the fairy Fianna, to a magic land and thus insulated from mortality.

After this brief survey of Yeats's poetry of the Collections mentioned above, I shall now pass on to the consideration of his idea of poetry during this period and then to its application to his early poems in general and *The Wanderings of Oisin* in particular. Yeats regarded this period as the best of his poetic career. This is what he tells us in the Preface to a collection of his letters :

> Burning with hatred and adoration I wrote verse common to every sentimental boy and girl, and that may be the reason why the poems, upon which my popularity has depended until a few years ago, were written before I was twenty seven.[1]

[1] W. B. Yeats,: Proface to *Letters to New Island*, p. xii.

At the beginning of his poetic career, we find Yeats in full agreement with the views of his father that dramatic poetry was to be preferred ,as it was clear and sharp in outline, while the lyric was vague and blurred. In keeping with this theory, he wrote poetic play after play with incoherent rambling plots. His genius, however, was lyrical and it penetrates even his dramas which are essentially elaborate lyrics. Yeats was highly gifted with lyricism and it finds expression in his early poems. For him even the national heritage was dead until it was remoulded by his own personality:

> The poetry of young Ireland, when it was an attempt to change or strengthen opinion, was rhetoric; but it became poetry when patriotism was transformed into a personal emotion by the events of life......... Literature is always personal, always one man's vision of the world, one 'man's experience.[1]

Yeats' *Juvenilia* (1885) belongs to this poetic phase and it consists of a number of poems, inspired by Arcadian and Indian themes, reflective of the harmonious poetic life yeats was leading in those days.

Yeat's early poems deal with phantasy, the dream-world, the Irish country-side, peasant beliefs and traditions. The "intimate use of Irish legendary mythology and symbolism give these poems a new pattern and the earlier dream-reality a new significance".[2] The poet escapes from the world of reality into an ideal fairyworld of Irish mythology. That is why John Eglinton has changed Yeats' early poetry with escapism. But to my mind, yeat's dream-world is merely a beautiful ideal region in the thinned out English romantic tradition which asserts that "poetry should be concerned with a 'beautiful' world of dream, employing a language chosen for its vague emotional suggestiveness and conventional poetic associations".[3]

---

[1] W. B. Yeats, : *Samhain* (1903), p. 115.

[2] V. K. Narayan Menon,: *The Development of William Butler Yeats*, p. 30.

[3] David Daiches in *The Permanence of Yeats*, ed. James Hall and Martin Steinmann, p. 110.

It is tempting to consider Yeat's early poetry as a straight-forward commitment to dream. He himself, writing in 1899 to Katharine Tynan, encourages such a conclusion. Describing a thicket near Howth he utters these revealing words:

> The thicket gave me my first idea of what a long poem should be; I thought of it as a region into which one should wander from the cares of life. The characters were to be no more real than the shadows that people the Howth thicket. Their mission was to lessen the solitude without destroying its peace.[1]

Mosada and the *Island of statues* are two of the poems written in the thicket. The former, with its theatricalities of the Inquisition, death by poison and the infatuated priest, provides an appropriately lurid setting for the imagery of escape. "In the *Island of Statues* a shepherd and a shepherdess overcome an enchantress on an island and find the flower which will restore to life those whom she has turned into statues. Given their choice, between the world and Arcady, the erstwhile statues choose to remain Arcadians".[2]

But gradually his subject-matter becomes more and more Irish as he realises that:

> The Woods of Arcady are dead,
> And over is their antique joy.
>
> ĭ*Crossways*, 11- 1-2)

Yeats delighted more and more in Irish peasant life and was artistically inspired by what may be described as the Celtic spirit, including a sense of the mysterious and the supernatural, a partiality for faintness and half-light, and a strange note of sadness. He discovered an unlimited fund of beauty and truth in his Irish inheritence, in Irish folk-lore, mythology, manner of living, in the very atmosphere of Ireland.

Though Yeats started in the English tradition, he was from the outset an Irish poet. As Grierson has rightly said: "Like the Greek dramatists, atleast till Euripides, and like

[1] W. B. Yeats, : *Letters*, p. 106.

[2] B. Rajan: *W. B. Yeats: A Critical Introduction*, pp. 19-20.

Shakespeare with his tragedies of King and queens and great captains, Yeats turned to the Irish myths".[1] But his Irishness is more than a matter of using Irish themes and an Irish atmosphere. It means that his dream-world is something more than private, personal and literary. It has, as it were, an external validation. It gives him the kind of advantage that he has in mind here :

> I filled my imagination with the popular beliefs of Ireland......... I sought some symbolic language reaching far into the past and associated with familiar names and conspicuous hills that I might not be alone amid the obscure impressions of the senses......... or mourned the richness or reality lost to Shelley's *Prometheus Unbound*, because he had not discovered in England or in Ireland his caucasus.[2]

The Irish quality of Yeat's poetry consists of something more than the Irish natural beauty, geography and people. It is something less tangible ; it represents the spirit of Ireland, its culture, its way of thinking and feeling.

In expressing this spirit, Yeats formulated a philosophy of poetry dependent on a sense of the past. Poetry seemed to him the heritage of the emotional experience of men of gone-by-ages. It should, he believed, find forms and rhythms old enough and familiar enough to become part of the innate rhythm of man. An expression of this belief was his long and ambitious narrative poem, *The Wanderings of Oisin*, published in 1889. This beautiful poem "on a subject from Irish mythology, stains a kind of Shelleyean fluidity with a Keatsian richness of color".[3] It still shows very clearly his early influences of Spenser, Shelley and the Pre-Raphalites, and in its general trappings and looseness of structure displays Yeat's most youthful characteristics.

---

[1] H. J. C. Grierson : Preface to *The Development of William Butler Yeats* by V. K. Narayan Menon, p. xiii.

[2] W. B. Yeats : *Essays and Introductions*, pp. 349-50.

[3] Edmund Wilson in *The Permanence of Yeats*, ed. James Hall and Martin Steinmann, p.14.

Yet this elaborate narrative poem, based on an Irish mythological theme, contains passages of sharp and disciplined wiriting that stand out from the prevailing luxuriance as heralds of the later Yeats. But it was not simply Irish folk-lore and peasant speech that influenced Yeats' poetry at this time. A more important impetus came from his Irish background:

> I think it was young Ireland Society that set my mind running on 'popular poetry'. We used to discuss everything that was known to us about Ireland and especially Irish literature and I rish history. We had no Gaelic, but paid great honour to the Irish poets who wrote in English and quoted them in our speeches.....[1]

Yeats was conscious of his search for a tradition and at the same time keen to use Ireland to help him in his search Among the Irish sources, he continued his search for new myths and a living speech that could be used in poetry. In Irish folk-lore and myth, he found the accumulated treasure of past imagination which became ultimately the source of his poetry.

Like Keats' *Endymion*, *The Wanderings of Oisin* is a very remarkable poem on account of its imaginative strength and artistic capacity. About the source of this poem, Joseph Hone has said that "the poem (*The Wanderings of oisin*) which was intended to be but a beginning of a whole 'Legende des Siedes', is based on translations of an eighteenth-century Irish work and of some poems in middle Irish reporting the dialogue between St. Patrick and the Pagan (Macpherson's Ossian) who has come back, bent, blind but unregenerate, to christian Ireland after three hundred years in wonderland with his fairy birde".[2] The story of this poem is of the pagan, Irish mythological hero, oision, his three hundred years absence from this world in the world of make-believe, and his final return to a christianized Ireland.

The Wanderings of Oisin narrates the experiences of oisin in three Islands of exotic flora and fauna under the compelling

[1] ....: *Essays and Introduction*, p. 3.
[2] Joseph Hone: *W. B. Yeats; London* (1887-91) p. 61.

guidance of Niamh, a fairy-lady of enchanting loveliness, daughter of Aengus and Edain, who happens to conceive a violent passion for the mortal hero and lures him on to the fairy kingdom :

> Where men have heaped no burial mounds
> And days pass by like a wayward Tune,
> Where broken faith has never been known,
> And blushes of first love never have flown.
>
> (*The Wanderings of Oisin*, Book I, 11- 82-85).

Oisin spends one hundred years in each of the three islands which, according to Yeats, represent the three incompatible things which man is always seeking-infinite feeling, infinite battle, infinite repose. These three islands have also been variously interpreted to represent the three ages of man-youth, manhood and old age ; or the three regions with which the poet was associated—Sligo, London and Howth. In *Oisin* itself "the three islands are described as the Islands of Living (later revised to dancing), Victories and Forgetfulness".[1]

None of the islands offers a permanent refuge to Oisin. The staff of a Warrior's lance, recalling battle, breaks the spell of the first island :

> When one day by the tide I stood,
> I found in that forgetfulness
> Of dreamy foam a staff of wood
> From some dead warrior's broken lance :
> I turned it in my hands ; the stains
> Of war were on it, and I wept,
> Remembering how the Fenians stept
> Along the blood bedabbled plains,
> Equal to good or grievous chance.
>
> (*The Wanderings of Oisin*, Book I, 11-364-72).

A beech-bough, suggesting sleep and forgetfulness, shatters the magic-bound capacity of the second island :

> The hundred years had ceased ;
> I stood upon the stair : the surges bore

[1] ....: *W. B. Yeats : A Critical Introduction*, p. 21.

A beech-bough to me, and my heart grew sore,
Remembering how I had stood by white-haired Finn
Under a beech at Almhuin and heard the thin
Outcry of bats—

(*The Wanderings of Oisin*, Book II, 11- 224-29).

Similarly the sheer fact of being human dissolves the enchantment of the third :

She murmured, 'Wandering Oisin, the strength of the bell branch is naught,
For there moves alive in your fingers the fluttering sadness of earth.

(*The Wanderings of Oisin*, Book III, 11- 123-24).

Oisin becomes an old man the moment he touches the Irish soil. Time demands its price which can not be evaded. When Oisin asks at the end of the second book which of the three islands is the Isle of youth, Niamh's response is significant :

'None know', She said ;
And on my bosom laid her weeping head.

(*The Wanderings of Oisin*, Book II, 11- 249-50).

Thus, as Keats was tolled back to the world of human suffering by the single word 'forlorn', the obscure memory of Yeats's earthly life, electrified by the trivial objects of the familiar world, breaks off the magic of the enchanted fairy kingdom and pulls him back to the solid earth, where he finally stands old, decrepit and drooping under the crushing weight of three hundred years.

These significant poems of Yeats' early life, thus, display a gradual evolution of his powers and a consistent advance towards greater individuality. He had told his father that personal utterance was needed in English literature once more. Growth towards maturity of powers is also evidenced by the style and technique of his poetry of the period. In *The Irish Fireside* in March 1887, he published an article on Mangan and relised the need for a style, un-English and yet musical and colourful :

Then with a deliberateness that still surprises me, for in my heart of hearts I have never been quite certain

that one should be more than an artist, that even patriotism is more than an impure desire in an artist, I set to work to find a style and things to write about that the ballad-writers might be the better.[1]

Yeats wanted to introduce a new style in Irish literature. In one of his earliest lyrics, *The Seng of the Happy Shepherd*, he says :

For words alone are certain good
Sing, then, for this is also sooth.

The Song of the Happy Shepherd,
11-43-44).

During this early period 'Words alone are certain good', for the poet and the lure of words carries him off his feet. Yeat's early poetry is mainly Pre-Raphaelite in the Tennyson, Rossetti-Morris tradition. The tapesteries of his early work, 'the pearl-pale hand', 'dream-awakened eyes', 'dew-dropping sky', 'dew-cold 'lilies', and the use of colour-words—'golden' 'silver' 'blue' 'dim' 'grey' 'light' half-light' etc.—all remind us of Keats, Tennyson and Morris. However, the use of such mellifluous, dainty, soft-footed words helps the poet to create suitable atmospheric effects. It is in this way that his landscapes are bathed in cold, uncertain lights and half-lights and an atmosphere of mystery, phantasy and remoteness is evoked. At this stage, Yeats is more concerned to communicate the images themselves than the thoughts behind them.

The style of *The Wanderings of Oisin* is loaded with all the colour ornamentation and languid grace of compound epithets of the late remantic manner, but what is most remarkable here is Yeats' capacity to sustain it with variations in tempo and volume for such a great length, as is evident from the following lines :

'But till the moon has taken all, I wage
War on the mightiest men under the skies,
And they have fallen or fled, age after age.
Light is man's love, and lighter is man's rage ;

[1] W. B. Yeats : *Essays and Introductions*, p. 4.

His purpose drifts and dies'.
And then lost Niamh murmured, Love, we go
To the I'slands of Dancing and of Victories
Are empty of all power'.

(*The Wanderings of Oisin, Book II* 11-240-48).

Moreover, while all possible allowance regarding the subsequent correction, revision and polishing of lines, has been made, the subtle art of the poet in managing the sound-effects, alliteration and assonance, can not but compel our attention. The following two lines are the fine example of alliteration :

Few feathers were on their dishevelled wings,
For their dim minds were with the ancient things.

(*The Wanderings of Oisin*, Book II 11-76-7).

It is a significant specimen of its kind, though it has all the excesses and superfluities of decoration which remind us of the early manner of Keats and to a certain extent of Shakespeare.

What Jars upon our sensibility in *The Wanderings of Oisin* is the complete emasculation of the essential spirit of a heroic legend by a style tinged with the pale cast of romance, quite reminiscent of Shelley, Tennyson, Rossetti and Morris, and at places, of Swinburne'. Colourful descriptions, elaborate portraits, romantic but vague epithets, decorative details, sleepy music abound in the poem and create a visionary atmosphere where human and superhuman figures glide and glance like phantoms lovely and dark. The portrait of the heroine, in the opening section, may be cited as a typical illustration of the manner :

A pearlpale high-born lady, who rode on
a horse with briddle of findrinny ;
And like a sun-set where her lips—
A stormy sun-set on doomed, ships ;
A criton colour gloomed in her hair,
But down to her feet white resture flowed,
And with the glimmering crimson glowed
of many a figured embroidery ;

(*The Wanderings of Oisin*, Book I II 11-20-27).

The poem *The Wanderings of Oisin*, on the whole, proclaims Yeats' rich artistic potentiality and his highly imaginative capacity, but even his rhythms at this stage of his work are half-entranced, like a man walking alone lost in a train of visionary thought, or incatatory as if he thought of poetry as a priestly vocation :

O Patrick : for a hundred years
I chased upon that woody shore
The deer, the badger, and the boar.

(*The Wanderings of Oisin*, Book I,
11- 343-45).

Yeats is, thus an untiring craftsman and a self-critic who respected his own observations and emotions enough to give them artistic shape. He made a conscientious effort to correlate his poetic theory and practice. Infact, there is harmony between his early ideas of poetry and his compositions of the period.

MAN AND HIS DESTINY IN HENRY JAMES

R. K. ASTHANA

The complexity in a James novel is mainly due to the fact that often it is related from more than one point of view, and in the absence of the author's own explicit opinion it becomes difficult for the reader to get at his stance. But howsoever abstracted a novel may be, the rendering of reality in it is ultimately determined by the novelist's assumptions on the purpose and meaning of human existence. The creative writer's concern to render life, says F. R. Leavis, *is* a concern for significance, a preoccupation with expressing his sense of what most matters.[1] Therefore after making due allowance to the situational prejudice of a character when he passes a judgement and relating it to the evidence implicit in the events it is not hypothetical to define James's vision of human predicament on this earth, its width and dimension.

Believing that "Humanity is immense and reality has a myriad forms,"[2] James speaks of the diversity of vision which life offers to a novelist. Drawing upon the analogy of a house and the view around it, he observes :

> The house of fiction has in short not one window, but a million......But they have this mark of their own that at each of them stands a figure with a pair of eyes, or at least with a field-glass, which forms for observation, a unique instrument, insuring to the person making use of it an impression distinct from every other.
>
> He and his neighbours are watching the same show, but one seeing more where the other sees less, one seeing black where the other sees white, one seeing big where

---

[1] *Henry James : Selected Literary Criticism*, Preface : F. R. Leavis, ed. Morries Shapira, Heinemann, 1963, p. xviii.

[2] *The House of Fiction :* The art of Fiction, ed. Leon Edel, Rupert Hart-Davis, London, 1957, p. 31.

the other sees small, one seeing coarse where the other sees fine. And so on, and so on; there is fortunately no saying on what, for the particular pair of eyes, the window may *not* open; 'fortunately' by reason, precisely, of this incalculability of range.[1]

The window which James occupies opens upon a human scene where people are free from the economic contingencies which commonly press upon our day-to-day life. He is interested in analysing men and women after their material needs have been fulfilled. The problem before them is not how to make both ends meet or how to survive as a class or group but how to live as human beings with all the emotional, intellectual, moral as well as aesthetic challenges, the universal constants of human destiny, coming up in the process of living. They are men of fine sensibility, acute feelings, sharp perceptions, and sophisticated attitudes. The interaction of such people inevitably makes the novelist's vision of life a complex one.

James envisages life primarily as a quest for experience. He is conscious of the fact that life is not an unmixed blessing, and generally it tends towards the sad, gloomy, and even sometimes to the tragic; yet to be alive in this world to see, to feel, and to experience is a boon of no common order. He regards 'consciousness' in man that supreme faculty of the mind which enables him to know and understand the entire phenomenon around and even within him in its multiplicity of meaning and suggestion. The more one knows the world and oneself on various levels of seeing and realising, the richer emotional, intellectual, and aesthetic life one has. Life in the Jamesian world is a state of "being"[2] and an act of "seeing."[3] Most of his characters are inspired by this faith and they manifest an infinite urge to feel the thrill of

3 *The Art of the Novel: Henry James:* Preface to The Portrait of a Lady, ed. R. P. Blackmur, Charles Scribner's Sons, New York, 1962, p. 46.

4 Henry James: *The Wings of the Love*, Library Edition, Macmillan, London, 1921-3, p. 30.

Ibidq.

impact of life. Isabel Archer in *The Portrait of a Lady* sums up the Jamesian principle of experience when she intends to accept life as it is lived by mankind in general with both hands :

> I'm not bent on a life of misery......I have always been intensely determined to be happy, and I've often believed I should be.........But it comes over me every now and then that I can never be happy in any extraordinary way ; not by turning away, by separating myself......from life,......from the usual chances and dangers, from what most people know and suffer.[1]

James regards experience as a necessary condition of moral growth in an individual. It is by going through the ordeal of life that one can discover its latent possibilities. J. A. Ward succinctly observes, "Like Milton, James rejected the notion of a 'cloistered virtue', and sent his innocents into the world to prove themselves : not simply to resist temptation but to encounter experience, to face evil, to suffer, to endure, to exercise and retain the morl view of life, and by doing so ultimately to achieve salvation."[2] As such the chief protagonists in his novels are out to encounter life and have their fill of experience in the wide world.

In *The American*, the hero of the novel, Christopher Newman arrives in Europe seeking the biggest kind of entertainment" "People, places, art, nature, everything ! I want to see the tallest mountains, and the bluest lakes, and the most celebrated men, and the most elegant women."[3] It is beside the point how far he is successful in his mission, what he gets and what he fails to get. What is important is his desire to know things for himself, the thought that experience is knowledge.

---

[1] Henry James : *The Portrait of a Lady*, The World's Classics, U.O.P., London, 1964, Ch. XIV, p. 141.

[2] J. A. Ward : *The Imagination of Disaster :* Evil in the Fiction of Henry James, University of Nebraska Press, 1961, p. 14.

[3] Henry James : *The American*, New York Ed., Vol. II (New York, 1907), p. 33.

The character in James's fiction who is most animated by the desire to see the world and meet life is Isabel Archer in *The Portrait of a Lady* (1881). This girl whom her aunt calls "headstrong" is bent upon experiencing life through and through. She goes on rejecting one suitor after another because the man of her fancy has not yet crossed her way. Her friend Henrietta asks her :

"Do you know where you're drifting ?"

to which her reply is

> "No, I haven't the least idea, and I find it very pleasant not to know. A swift carriage, of a dark night, rattling with four horses over roads that one can't see—that's my idea of happiness."[1]

Her effusion is apparently very much similar to that of a romantic heroine in a Scudery-type of romance but it speaks of a dominent trait in her character—the tendency to take life as an adventure, a leap into the unknown.

Milly Theale in *The Wings of the Dove* (1902), hampered by a fatal disease, develops a hankering for life and the experiences it has in store, which makes her pathetic fate all the more touching In a fine picturesque passage the novelist shows her seated at a height as if to choose from the kingdoms of the earth stretching far and wide beneath. The kingdoms are so many alluring vistas of life beyond her reach.

Lambert Strether in *The Ambassadors* (1903) is one of those emotionally and aesthetically starved people in life whom it reclaims with vengeance. It is only after arriving in Paris and seeing so much beauty, grace and refinement around him that he painfully realises what he missed in life. His spirited exhortation to little Bilham in Gloriani's garden to live life marks the revolutionary change in his attitude towards life :

> Live all you can ; it's a mistake not to. It doesn't so much matter what you do in particular, so long as you have your life. If you haven't had that what

[1] Henry James, : *The Portrait of a Lady*, op. cit., p. 177.

have you had ? This place and these impressions—mind as you may find them to wind a man up so ; all my impressions of Chad and of people I've seen at *his* place—well, have had their abundant message for me, have just dropped *that* into my mind. I see it now. I haven't done so enough before—and now I'm old ; too old any rate for what I see. Oh, do see at least ; and more than you'd believe or I can express. It's too late.[1]

He does not want Bilham to lose the opportunities in llfe which he missed. Europe becomes for him the symbol of man at his finest as well as worst, and but for one's experience here life is incomplete.

The zest for experience in the Jamesian world brings the realisation that life is beset with evil which mars the individual's chance for happiness. James commented on the pervasive nature of evil in his essay on Turgenieff : "Life *is*, in fact, a battle. On this point optimists and pessimists agree. Evil is insolent and strong ; beauty enchanting but rare ; goodness very apt to be weak ; folly very apt to be defiant ; wickedness to carry the day ; imbeciles to be in great places, people of sense in small, and mankind generally unhappy."[2] Evil in James manifests itself in various forms and has far-reaching consequences for those who fall within its orbit. It may be inherent either in individual as moral failing of some sort or it may infest a system of religious or social order. James's attitude towards evil is not that of a theologian. He does not consider man sinful by nature, and hence there is no scheme of divine grace and redemption in his fiction. The evil-doers in his novels, as it happens in life, either meet the nemesis of their act or escape it. Sometimes one is even right in his own way but when this excessive self-righteousness interferes with the spiritual or moral progress of another person it becomes an evil. Osmond's imposition of his convic-

[1] Henry James, : *The Ambassadors*, J. M. Dent & Sons Ltd., London, 1959, Book V, p. 129.

[2] F. O. Matthiessen : *The James Family :* Turgenieff, Alfred. A. Knopf, New York, 1947, p. 557.

tions on Isabel is an instance to the point. Thus, according to James, whatever prevents an individual, whether it is internal or external, from the spiritual, intellectual or moral growth of his being is to be called evil.

The Portrait of a Lady is a tragedy of betrayal of innocence. It is an analysis of the clash between innocence coupled with idealism and egotism, a form of moral evil, in the person of Isabel Archer and Gilbert Osmond. The innocent girl takes the world for an Eden where she can pursue her search for happiness and look forward to the fulfilment of her dreams. It is but natural that a person of her open mind should-be unable to suspect any foul play with her by the man who is so refined and cultured in all appearance. By the time she discovers the illicit relation between Osmond and Madame Merle it is too late for her to retrieve her step. The progress of the action in the novel, says Leyburn, is Isabel's "increasing discovery of the-baseness surrounding her."[1] As she sits meditating in the midnight before the dying fire upon what has happened we are made to understand the extent of cruelty and magnitude of deception human life is subject to. It is not Osmond's illicit liasion with Madame Merle which is Isabel's agony so much as his expanding monstrous ego which threatens to obliterate her independent mind, a treasure she values above all. And yet it is this which she must lose to remain with her husband. She discovers that her "real offense was her having a mind of her own at all......He had plenty of contempt, and it was proper his wife should be as well furnished ; but that she should turn the hot light of her disdain upon his own conception of things—this was a danger he had not allowed for."[2] The necessity of surrendering one's own thinking and judgement to that of another, suggests James, is negation of one's being. The horror of Isabel's situation is the impending catastrophe of the extinction of her self.

[1] Ellen Douglass Leyburn : *Strange Alloy :* The Relation of Comedy to Tragedy in the Fiction of Henry James, The University of North Carolina Press, 1968, Op. 47.

[2] Henry James : *The Portrait of a Lady*, op. cit., pp. 469-70.

The Wings of the Dove enters into still darker recesses of moral evil in mankind. The natural human desire of Milly Theale to live is matched by an equally inhuman desire in Kate Croy to watch the swift running out of life in her. In her limitless desire for money and the consequent social status Kate moves like a ruthless automaton using Merton Densher as an instrument of her plan. That a man like him, who has some human core, acts under her spell is indicative of her potency as an evil force. She has a talent for exploitation. It is true that she fails to hit her mark in the end but she has definitely influenced the course other lives have to take.

The Ambassadors explores the evil underlying New England Puritanism which has degenerated into dogma denying wider perspective to individual. It brings to light the evil of industrial system which provides the opportunity of amassing wealth by unethical means. Strether knows the nature of Chad's grandfather's wealth. He tells Maria Gostrey :

> "The source of [Chad's] grandfather's wealth—and thereby of his own share in it-was not particularly noble."
>
> "And what source was it !"
>
> Strether cast about. "Well—practices."
>
> "In business ? Infamies ? He was an old swindler ?"
>
> "Oh", he said with more emphasis than spirit, "I shan't describe *him* nor narrate his exploits."
>
> "Lord, what abysses !"[1]

The moral corruption in human life assumes overwhelming proportion in *The Golden Bowl* (1905) tending to disrupt family life. It is like discovering beneath the smooth surface of the sea tumultuous currents tossing and tearing each other. Maggie Verver faces the hideous truth that Charlotte her friend from girlhood, and now her step-mother, has adulterous relation with her husband Prince Amerigo. Commenting on

[1] Henry James : *The Ambassadors*, op. cit., Book II, p. 36.

Jame's vision Sallie Sears observes, "James shares with Dreiser a profound involvement with the phenomena of cruelty, corruption, and exploitation, which both of them see as integral to the human situation. The difference is that Dreiser sees them as removable, as a function of social conditions, whereas James believes quite the opposite; the "conditions" and everything else, are a function, a manifestation of the troubled depths of the human spirit, engaged against itself in internecine struggle".[1] It is with great effort that Maggie comes out of this struggle, and although she succeeds in sending her father and Charlotte on the other side of the Atlantic, her conjugal relation with her husband remains scarred, the imperceptible flaw in the golden bowl. Prince Amerigo finds that the cup of life is a poisoned one and exclaims in bitterness: "Everything's terrible, cara—in the heart of man."[2]

It is in view of so much evil in life that the spirit which informs Jame's vision of man and his destiny is a tragic one. He wrote to Howells, "........it is the tragedies in life that arrest my attention more than the other things and say more to my imagination."[3] It is loss, non-fulfilment or frustration which forms the *leitmotif* in his novels although he keeps it in the proper key. He studied life as a dichotomy between appearance and reality, the outer manifestation and the inner essence. What appears to be true and beautiful may not be necessarily so. He felt that life was essentially an incongruity between what one aspires for and what one actually gets. Although he grants free will and responsibility to act to individual, he finds that in life situations are usually so rigid and straitening that individual choice becomes nearly meaningless. The disillusioned Isabel tells Henrietta, "One must accept one's deeds. I married him before all the world; I was perfectly free;

[1] Sallie Sears: *The Negative Imagination*: Form and Perspective in the Novels of Henry James, Cornell University Press, New York, 1968, p. 163.

[2] Henry James: *The Golden Bowl*, II, p. 349.

[3] F. O. Matthiessen,: *The James Family*, Alfred. A, Knopf, New York, 1947, p. 501.

it was impossible to do anything more deliberate. One can't change that way."[1] Man drifts helplessly on the current of situations which he may understand to some extent but can control hardly at all. There is a painful recognition that the scheme of life is basically ironic.

Isabel Archer who equates life with liberation and enlightenment is destined at the hands of fate to land ultimately in the house of bondage and darkness to suffer spiritually. James makes us see the real self of Osmond through a symbolic description of his house but duped by mere appearance Isabel fails to see it till she is its secure vicitim. She begins her career as a revolutionary refusing to accept the conventional and commonplace but at the end she conforms to it like any ordinary mortal. Her quest for freedom has ended in nothingness. Her dream of enlightenment has been shattered.

Life's denial and mockery is more thorough in *The Wings of the Dove*. The chief protagonists here have interests opposed to each other. Milly Theale who has been asked to develop a will to live, while driving through Regent's Park identifies her fate, in a moment of extended sympathy, with the human fate in general :

> They could live if they would, that is, like herself, they had been told so ; she saw them all about her, on seats, digesting the information, recognising it again as something in a slightly different shape familiar enough, the blessed old truth that they would live if they could.[2]

But in her case the desire to live is not a matter of her own choice. It depends on Merton Densher's response to her. The most ironical part of the situation is that although she has an intuitive apprehension that he is not completely hers, she does not want to be sure of it. She wants to live as long as she can

---

[1] Henry James : *The Portrait of a Lady*, op. cit., p. 532.
[2] Henry James, : *The Wings of the Dove*, New York ed. (New York, 1909), Ch. XIX, p. 250.

under the illusion of being loved. Kate Croy too, on the other hand, must have Merton Densher for the fulfilment of her being after he has secured Milly's money. But her calculated moves recoil like a boomerang upon her. Merton Densher who has been acting passively under her direction and watching to what lengths she can go is impressed so much by Milly's magnanimity that he falls in love with her memory after her death. Kate discovers to her dilemma that she has lost the stake. There is no point in marrying the man who cherishes the memory of some other woman. Referring to her situation Sallie Sears points out: "Her situation, that of a person whose longings will recognize no limits and yet who is caught up in circumstances that are unusually limiting, is a microcosm of the fundamental situation James deals with again and again. His imagination so orders reality that the possibilities for happiness that face each character inevitably have an either or quality about them, and yet the characters are all the kind of people for whom the alternative to the fulfilment of their desires is an empty, pointless existence.[1]" Kate could have love without money, but in trying to have both she is faced with the mockery of a futile and barren life.

The Ambassadors is illustrative of the ironic turn that life takes. Its basic structure is reversal of situation which is Aristotelian in its completeness. Lambert Strether, through whose consciousness the action mainly unfolds itself and as such who is the framework for interpreting experience, comes to hold by the end of the novel a diametrically opposed point of view from the one he held in the beginning. The apostle of contriteness and self-negation becomes the votary of human urge to live and to feel. Life becomes knowing for him which is not possible without living it in its human obligations. He now comes to believe that actually it is Chad, whom he came to rescue, who has really lived life. His susceptibility to the subtle charm and grace of Madame de Vionnet develops into love giving his life a richness and significance hitherto unknown

[1] Sallie Sears: *The Negative Imagination*, op. cit., p. 72.

to him. But since life seldom grants us our wish it is lack of fulfilment which attends his lot. What pervades the close of the novel like a delicate perfume is his deep but "unacknowledged love"[1] for the graceful lady.

The Golden Bowl seeks to bring out the unforeseen and often the opposite result of our well-intentioned deeds. The harmony of life is broken even when we need and try for it most. Maggie Verver wants to have her father as well her husband with her to be fully happy. But in trying to live up to her desire she gives Charlotte an opportunity for illicit relation with her husband. Now the only way out for her of this situation is to despatch her father with Charlotte to America. The circumstances have contrived to separate the fond daughter from her loving father by an ocean-wide gulf. The ironic vision of human destiny finds another illustration in this novel.

James who defined novel as "a direct impression of life"[2] refused to look at it through "rose-coloured window panes.[3]" He observed it closely in its prismatic colour and was convinced of "the close connexion of bliss and bale"[4] in it. The enigmatic human life, according to him, is like a "hard medal of strange alloy, one face of which is somebody's right and ease and the other somebody's pain and wrong.[5]" He does not work out a positive faith in his novels. He is not a religious novelist as Hawthorne and Dostoevsky are. James was interested mainly in watching intently the human drama which consists of conflict between evil and good. Darkness threatens to engulf light completely but its success remains partial. He recognised love and understanding as the major sustenance

---

[1] F. O. Matthiesson,: *Henry James: The Major Phase*, O.U.P., 1963, p. 39.
[2] *The House of Fiction*: The Art of Fiction, ed. Leon Edel, op. cit., p. 29.
[3] *Ibid.*, p. 38.
[4] *The Art of the Novel*: Critical Prefaces by Henry James, ed. R. P. Blackmur, p. 143.
[5] *Ibid.*

of life, and his chief characters strive for it with passionate intensity but their effort is generally foiled by the vicious in human nature. He found evil rampant in life causing loss, nonfulfilment, and agonizing pain but he saw also the noble in it as the saving grace. If there is egoism, treachery, greed, and lust giving life its fill of sorrow, there is self-sacrifice and magnanimity as well to redeem it. James upholds goodness as the supreme beauty in human life. If Osmand, Madame Merle, Kate Croy, and Charlotte Stant, specimens of fallible humanity, make us suspect life, Isabel Archer, Milly Theale, and Maggie Verver re-pledge our faith in it. Isabel Archer, the victim of cruel deception has the nobility to return to her unhappy home for the sake of Pansy the illegitimate daughter of Osmond from Madame Merle. Milly Theale, even when she comes to know that Merton Densher is not true to her, has the largeness of heart to leave a rich legacy to him. Maggie Verver in spite of the unfaithfulness of her husband, after Adam Verver and Charlotte have left the scene, accepts all that has happened with a sense of resignation because life must go on. Dorothea Krook maintains that the fusion, the co-existence of the noble and the base, the beautiful and sordid is made accessible to us in James in a way which has no parallel in other novelist nor anywhere in European literature except perhaps in the early Socratic dialogues of Plato and in Shakespeare's mature drama.[1]

The unconscious philosophy running like a deep undercurrent in James is that loss, deprivation, and frustration in life can be put up with only if we approach life with a philosophic detachment. The correct perspective towards it is that of an aesthete towards a work of art, and it is shared by all the chief protagonists in his novels, be it Isabel Archer, Milly Theale, Lambert Strether or Maggie Verver. They are in life as well as out of it. They play the part assigned to them by

[1] Dorothea Krook : *The Ordeal of Consciousness in Henry James*, Cambridge University Press, 1962, p. 320.

destiny but they have the detachment and serenity of mind to get out of the tangle of human action to reflect with an aesthetic sensibility on the rich human significance of what has happened. The actors in the drama become spectators whenever they choose to enrich their subjective life, the texture of their experience, by their recognitions, reflections, and emotional responses to what they see and feel. A truly sentient being endowed with the alchemy of consciousness, believes James, accepts the mixed character of life with a painter's interest in diverse hues, tones and effects without which the picture will lose its fascinating appeal to delight and move.

"SAILING TO BYZANTIUM : THE STATIC ACTION"

R. L. BHATTACHARJEE

Department of English,
Banaras Hindu University.

One can very well imagine the fate in modern times of the poet who considered himself one of the 'last romantics' and 'chose for theme Traditional sanctity and loveliness'. Yet Mr. Yeats was no common rhymer. This visionary, who, like Annie Besant, claimed to have communed with invisible Masters was also a man of action in his own special way. He was dismayed by the passing of youth with all its sensuous pleasures and gaiety and saw that love fled into the mountains and 'hid its head among the stars' ; but soon, he discovered the true significance of old age, which by his poetic alchemy he converted into pure intellect. It was thus that he began 'Sailing to Byzantium' in the month of September, 1926.

This poem was started mainly with an envy to his by-gone life of youth—a period of strength and vigour, pleasure and playfulness, courage and romance which he, now being old, lacks, and feels a kind of mental void ; and therefore, his refuge becomes once again the past, the world of the dead, the stage of history and occultism, the land of immortal art and culture—Byzantium. His decision is firm and his choice is quite deliberate, for, Byzantium is opposed to Ireland which is "no country/for old men". Ireland is the land of the young where "The young/In one another's arms," can easily "neglect/ Monuments of unageing intellect". So the immortality seeker, the old poet, having seen and found Ireland an unfitting place to live in, wishes to proceed to Byzantium, but quite with sagacity making a 'therefore' statement in the second stanza of the poem about Byzantium that represents "Monuments of its (the soul's) own—magnificance".

Stanza one represents the rejection of passion and presents art as an inanimate object. This stanza is compact with the

problems of finding a suitable refuge and compensation for the losses suffered in old age—the age which to Byron is :—

> "Though wit may flash from fluent lips, and mirth-
> distract the breast,
> Through midnight hours that yield no more their former
> hope of rest;
> 'Tis but as ivy-leaves around the ruined turret wreaths,
> All green and wildly fresh without, but worn and gray
> beneath.
> Oh could I feel as I have felt, or be what I have been,
> Or weep as I could once have wept o'er many a
> vanquished scene,—
> As springs in desert found seem sweet, all brackish though
> they be,
> So midst the wither'd waste of life those tears would flow
> to me."

(*Youth and Age, lines, 1—20*)

Yet to Yeats it is not so heart-rending as to Byron. So, Yeats is successful in finding a better alternative, seeking which he would immortalize his soul and therefore, is in another way giving an account of the old age as :—

> "......... a paltry thing,
> A tattered coat upon a stick,........."

He rejects this Ireland of mortal life and decides to sail to Byzantium, the city of immortal art and painting. But going to such a place is not a matter of physical means which can easily be at the poet's disposal but the greater problem is to achieve immortality on reaching there by the transmigration of his soul to an artistic object of Byzantium. And therefore, there is the necessity of some kind of ritual or prayer. And this is what Yeats performs, in the shape of an invocation to the sages in the remarkable lyrical third stanza of this poem :—

> "O Sages standing in God's holy fire,
> As in the gold mosaic of a wall,
> Come from the holy fire, perne in a gyre,
> And be the singing-masters of my soul."

Here, it must be mentioned that the poet is in these lines concerned with a doctrine. As to the doctrine, there is no confusion but there is a lot of controversy on the issue of the kind of doctrine being propounded. R. P. Blackmur and many other critics call it a poem of action. Undoubtedly, the poem does refer to action, for, the phrase "perne in a gyre" reflects that idea and by this phrase the poet means probably a kind of circular motion which alone is possible to mortal things. The poet accepts this doctrine of reincarnation and therefore gives it a mechanical device of "perne in a gyre" to the human soul. But in order to be free from this cycle of birth and death, it is essential that he should come out of this circular motion. But there is also another point to note: the poet, getting rid of this circular motion of birth and death, wishes to find shelter in the shape of some Byzantine Art which to his mind is Static and therefore immortal.

Thus the poet immortalizes his soul. So we may even say that Yeats' seeming endeavour to achieve an immortality (that of the elements of 'Perne in a gyre') has failed, and of course the action is also not stopped, for it is continuously rotating on its pivot; but here, we should also note that the ultimate wish of the poet is not to be an element of this moving gyre, but he asks the sages to take him off from the gyre's rotation to the static world of Artifice of Byzantium where he would like to be transformed to a beautiful object or its element which is beyond the time's perishing power. Therefore, it is in this way that this poem does not represent the doctrine of action but there is an assertion merely to the transitory doctrine of action through this symbol of "Perne in a gyre" from which he wishes to retire; for, he now being old is incapable of undergoing the tumultuous changes occuring every now and then with the change of the position resulting from the gyre by its unceasing rotation. So, it is clear that the sages to whom the poet offers prayer would be a means for the poet to go beyond the timelimit factor. And once one is successful to do so, one is said to have achieved immortality, And this is what

the poet wants or prays for in the third stanza. The sages are self-illumined elements of fire and the fire around them is holy for it is devoid of (passion) impurity. But the world in which the poet is living is also in the flames, and these flames owe their origin to passion. The poet now being old wishes to cease burning in this passion's fire, and therefore, calls the Fathers of the pure fire to come and enlighten his calm soul with a spark of their wisdom which is also fire and holy. Now when the poet once achieves this holy fire in him by the kindling of the sages from their own fire, the poet will be able to go beyond the circular path of birth and death to the land of immortality—Byzantium that he has chosen.

Therefore, W. B. Yeats, although he reveals the whole doctrine of transitory motion or action in the phrase 'perne in a gyre' does not actually imply that the poet himself is desirous of this world full of transitory activities and death and regeneration, but what he wishes for himself is to achieve the ultimate, unchanging state of his soul by achieving the Static state by going beyond the time-factor—'perne in a gyre'. Of course, the wish of the poet is not merely to be any static immortal object but specially of the holy city of Byzantium which is an "artifice of enternity". The last four lines of this stanza in which he prays to the sages, will make the idea clear :—

"Consume my heart away; sick with desire
And fastened to a dying animal
It knows not what it is; and gather me
Into the artifice of enternity."

Here the word 'gather' has deliberately been used in order to represent the idea of his wish, the transmigration of his soul to the 'artifice of eternity'; for the transmigration into any worldly object is subject to the elemental gathering which constitutes five elements—earth, water, fire, sky, and air. By the accumulation through natural process of these five natural elements, a 'loving' object is born.

Now the poet's problem of going beyond the nature's wheel—or the 'perne in a gyre'— is resolved in this third stanza

and therefore the fourth stanza opens with the assurance of the freedom of his soul :

> "Once out of nature I shall never take
> My bodily form from any natural thing,"

Except that the poet accepts only to be an artifice of eternity in the holy city, Byzantium :

> "But such a form as Gracian goldsmith make
> Of hammered gold and gold enamelling
> To keep a drowsy Emperor awake ;
> Or set upon a golden bough to sing
> To lords and ladies of Byzantium
> Of what is past, or passing, or to come'.'

This is the artistic creation of this city, which though made in the ages past, survives as if it is still alive. The works of art had been given life by the artists, sculptures and architects of the past age. It is this way that the poet wishes to be One with these artifices and thus share the immortality of this Byzantine art while he too is also transformed into an object of this holy city. So it is clear that the poet is striving to achieve a static, beautiful and also immortal state but certainly not the state of action. For, here in Byzantium, every artifice is of course immortal but is not a living being, rather it is seemingly alive.

Thus W. B. Yeats, in this poem, shows a remarkable liking to isolate himself not only from this transitory world, the world of 'facts and fancies'—the world of changing seasons, but also wishes to move ahead from the death and rebirth cycle of nature on this earth. He desires for his soul's total and permanent isolation to the artistic land of Byzantium from this earthly bondage. We note that the poet's craving to achieve this permanent isolation from this transitory world is itself a token of poet's desire for the achievement of a static and unchanging state which we may call here immortality. Now that the poet, as shown in the poem, wishes to move to Byzantium, does he not also show a longing for the total isolation from the living world represented in the poem through Ireland ?

And for the total and permanent isolation, the poet is to win over the time-factor represented in the poem through the 'gyre' conception. And to come out of this 'gyre' (the time-wheel), the poet prays to the sages of the holy fire of this holy city of Byzantium. The sages would help the poet to move beyond the time-factor or the time-wheel by kindling in him the fire of wisdom.

Therefore, Yeats clearly says that the enlightened wisdom is the only source of power for going beyond the time-wheel and once this is achieved, the soul is immortalized or attains salvation. This enlightenment comes by the touch of holy-fire received from sages such as shown in this poem.

It is in this way that W. B. Yeats in this poem mingles the idea of Isolation and Static achievement for his soul with the aid of wisdom and beauty. And this wisdom and beauty both constitute a kind of Religion for the poet which would bring to the poet his desired goal—the total isolation to the land of Immortal Beauty where Beauty and Wisdom is Religion; a land where he may get salvation by transmigrating into a beautiful object of that place ; a place where he would achieve that beautiful state which would never undergo any mortal change and hence be meaning to the poet an unchanging attainment—the Static State of Immortal Beauty.

To sum up : the chief deciding factor, which is the nature of the symbols, overwhelmingly stresses the Static nature of the poet's final aim. The birds made of gold, are permanent objects of art, so potent that their influence seem to be and is realy active ; they 'keep a drowsy Emperor awake' or 'sing/ To lords and ladies of Byzantium'. There is no contradiction involved, for the 'sages standing in God's holy fire' (another chief image) who have the same posture as 'in the gold mosaic of a wall", (a static posture of permanence) can influence the life of action, can indeed influence the poet also *out of the world of action and lead him to super-action which is the state of a beacon, Static yet guiding.*

———

THE HELLISH CURS AND A DAINTY DOE : A READING OF *TITUS ANDRONICUS*

PRABHAT KUMAR PANDEYA
Department of English
Banaras Hindu University

The young Shakespeare in *Titus Andronicus* (1592) gave all the nuances of violance *a la* Seneca to the Elizabethans and they supped full with horror. Besides the paraphehrnalia of the tragedy of blood, the play is significant for being the breeding ground of the Shakespeare genius : rich in images which are eventually seen to bear significant repctition, and to form, with the presntation of character and action correspondingly developed a more subtle and suggestive unity.[1] In *Titus Andronicus* we come across several images from animal world, a tendency in the dramatist that continues through several plays. C.F.E. Spurgeon has worked on the imagery of Shakespare's plays but she has analysed only one animal image from this play. This essay intends to analyze animal imagery in the play and to find out its relevance and significance in the design of the play. Animal imagery was used by several Elizabethan and Jacobean playwrights. such as Marlowe, Ben Jonson, and Webstcr, but Shakespeare was to give the most subtle images : whereas Marlowe's flea could "creep into every corner of a wench...sometimes...sit upon her brow...hang about her neck... kiss her lips", the Shakespeare fly "had a father and mother" who would buzz lamenting in the air.

The first occurence of animals in the play is through the idea of hunting, "To hunt the panther and the hart with me,/ With horn and hound..."I, i. But it is not the animal hunting that takes place, it is the ravishment and hunt of Lavinia. Ironically, it is Titus who suggests hunting to Saturninus and Tamora. The hart to be hunted is Lavinia, the stricken doe.

[1] Derek Traversi, "Shakespeare : The Young Dramatist," ed. Boris Ford, *The Age of Shakespeare* (Harmondsworth, Penguin Books, 1955), p. 179.

Horses and dogs are part of the hunt. Marcus' dog will "rouse the proudest panther in the chase" and could "climb the highest promontory top." Titus' horse runs "like swallows o'er the plain". But in the hunt it is Demetrius who would succeed, "...we hunt not, we, with horse nor hound,/But hope to pluck a dainty doe to ground." II, iii. Associated with the hunt is the forest ; and the woods in the play "are ruthless, dreadful, deaf, and dull" and "many unfrequented plots there are/Fitted by kind for rape and villainy" "by nature made for murders and rape." It is a place for committing sin, a place to serve lusts "shadowed from heaven's eye." In the forest Lavinia is ravished : Demetrius and Chiron revel "in Lavinia's treasury," they deflower the "poor unseasonable doe." Obviously Shakespeare presents the demonic vegetable world in this play ; it is not the green world of the comedies where the hero disappears in the forest for a while and then returns to the society.[1] Similarly, in *The Spanish Tragedy*, a play that greatly influenced the Elizabethan playwrights, the orchard becomes a place for hanging Horatio. The hunt in *Titus Andronicus* is ironic "as if a double hunt were heard at once," a trap for Titus, his sons and the daughter, "a very excellent piece of villainy". Tamora, the partner of Aaron in the plot and in bed, is tigress. She wants to fulfil her lust with "her raven-colour'd love" in the forest. She finds the forest her pleasure ground : "The birds chant melody on every bush,/The snake lies rolled in the cheerful sun." The hunt is only a cover for her amourous lust, her desire for promiscuity "curtain'd with counsel-keeping cave". For her the hounds and horns and sweet melodious birds are "nurse's song of lullaby to bring her babe asleep." But the plot demands action of another kind, killing and rape. Aaron the arch-fiend who would develop in an Iago[2] takes Tamora from the world of Eros to that of Thanatos. And in a very characteristic animal

[1] Northrop Frye, *Anatomy of Criticism* (Princeton, Princeton University Press, 1973), p. 182.

[2] There seems to be similarities between the two Shakespearean villains, but it is a subject demanding an independent study.

image Shakespeare presents Aaron : "What signifies my deadly-standing eye,/My silence and my cloudy melancholy,/My fleece of wooly hair that now uncurls/Even as an adder when she doth unroll / To do some fatal execution ?" II, iii. The image of hound and stag is played upon by Bassianus with the myth of Dian and Actaeon. The image continues in the speech of Lavinia who speaks out boldly of Tamora's lust and asks : "Why are you sequester'd from all train,/Dismounted from your snow-white goodly steed." But scoundrel that she is, she would be speaking lies to Demetrius and Chiron. It is interesting that the snake that "rolled in the cheerful sun" will multiply into thousands. Tamora uses some animal images to suggest the horror she simulates to have undergone because of Lavinia and Bassianus : "These two have 'ticed me hither to this place :/............/A thousand fiends, a thousand hissing snakes,/ Ten thousand swelling toads, as many urchins" (II, iii) would make one fall mad, or else die suddenly. The snake and the toad image would recur later in the play. The toad image, as here, would suggest repulsion. The snake here suggests fear but later the image would be used for the helpless, miserable Titus. The dainty doe becomes a trull, whom Tamora offers to her sons to deflower, and then is turned into a wasp : "But when you have the honey ye desire,/Let not this wasp outlive us both to sting," II, iii. Lavinia speaks out the truth about Tamora's wickedness, inciting her as though spitting in her face : "When did the tiger's young ones teach the dam ?/O, do not hear her wrath ; she taught it thee ; / The milk thou suck'dst from her did turn to marble ; /Even at thy teat thou hadst thy tyranny." The monther-son relationship is furthered by Lavinia's speech using animal imagery to assert the inherited villainy. When Chiron admits that he is no bastard but evil like her mother, Lavinia says : "Tis true ; the raven doth not hatch a lark :/ Yet have I heard..../The lion moved with pity did endure/To have his princely paws pared all away." But she doubts : "Some say that ravens foster forlorn children,/The whilst their own birds famish in their nests." The animal world is a

frame of reference for human behaviour, their perifidy and sin. Shekespeare would later, as in *The Merchant of Venice*, continue to present his villains as carnivorous animals: "You may as well use question with the wolf/Why he hath made the ewe bleat for the lamb," IV, i. Tamora is a beastly creature. Instead of panther being killed, Bassianus is killed by snake in the grass, "like to a slaughter'd lamb." His murder is thrown on to Titus' sons : "Two of thy whelps, fell curs of bloody kind,/ Have here bereft my brother of his life." II, iii. When Lavinia is ravished and mutilated Marcus cries for the beast who did it.

In III, i. animal imagery continues and the tiger-doe pairing as in II, ii reiterates. The tiger which in the last occurance signified the rapist and murderer now becomes the corrupt Rome. Titus who sacrificed many of his sons and dedicated his life for his country now finds "That Rome is but a wilderness of tigers ?/Tigers must prey, and Rome affords no prey / But me mine ; how happy art thou,/From these devourers to be banished." Titus is exposed now to the greatest shock, conofrntation with Lavinia whose tongue is cut with which she spoke as though singing : "O that delightful engine of her thoughts,/ That babbl'd them with such pleasing eloquence,/Is torn from forth that pretty hollow cage,/There, like a sweet melodious bird, it sung/Sweet varied notes, enchanting every ear." Her tongue is aptly described as a bird in cage, that is the hollow of her mouth. Usually the bird in cage is symbolic of dependence and subjection, but Shakespeare uses it to suggest the tongue. This is how he uses common images for uncommon effect, and one feels agreeing with Traversi that in early plays Shakespeare shows greater resources of imagery than other writers, say Marlow.[1] Lavinia is called doe by Demetrius and deer by Marcus. In this instance the image suggests innocence and the creature's cowering withdrawl. Marcus found her after her ravishment "straying in the park/Seeking to hide herself, as doth the deer/That hath received some unrecurring wound."

[1] *The Age of Shakespeare*, p. 181.

This is the only image from the play that has been analyzed by Spurgeon in her book. Lavinia is Titus' deer.

Aaron the raven-love of Tamora is called by the same name by Titus who sees an Indian summer when Aaron dupes him to cut his hand in order to save the life of his sons. On hearing Aaron he wonders : "Did ever raven sing so like a lark,/That gives sweet tidings of the suns's uprise." The raven image is repetitive suggesting the black colour of the evil Aaron, both physically and metaphorically. The image is associated with black colour and continues in Aaron's speech, "Aaron will have his soul black like face" showing a correspondence between physical and moral blackness. In a similar sense the image of black face would recur in *Othello:* "Her name, that was as fresh/As Dian's visage, is now brimed and black/As mine own face" III, iii. Another image is that of a snake that recurrs in this scene, but not suggesting evil or death but a wounded and defeated man, Titus. When Titus, proffered hand and the severed heads of his sons are brought back to him Lavinia kisses him and consoles in vain : "Alas, poor heart, that kiss is comfortless/As frozen water to a starved snake" III, i.

The Third Act ends with an episode in which Marcus kills a fly. And the killing of the fly is prolonged into an argument. The fly image throws light on Titus' now mellowed heart that would not tolerate a fly being killed. The situation is smoothed out when the fly is known to be black and hence evil like Aaron. The dialogue between Marcus and Titus on the matter deserves to be quoted at length :

Marcus ...I have killed, my lord ; a fly.
Titus Out on thee ; murderer ! Thou kill'st my heart ;
Mine eyes are cloy'd with view of tyranny ;
A deed of death on the innocent
Becomes not Titus' brother ; get thee gone ;
I see thou art not for my company.
Marc. Alas, my lord, I have but kill'd a fly.
Tit. But how, if that fly had a father and mother ?
How would he hang his slender gilded wings,

And buzz lamenting doings in the air!
Poor harmless fly,
That, with his pretty buzzing melody,
Came here to make us merry! and thou hast
kill'd him..

Knowing this Titus is happy and apologizes Marcus and says that he "hast done a charitable deed." Marcus thinks that Titus' equating of the fly with Aaron is symptomatic of his mental confusion, "He takes false shadows for true substances." It is significant that the fly image also occurs in *King Lear* and there too, it is used in the context of Lear's madness (III, vi). (The animal imagery is pervasive in *King Lear* and has been studied by G. Wilson Knight in *The Wheel of Fire* in the chapter "The *Lear* Universe.") Titus' sympathy for the fly is an example of Shakespeare's love for animals and his benevolance, for he knew the sanctity of organic life, human or animal. He knew that the smallest animal suffers the same pain as a giant: "And the poor beetle that we tread upon/In corporal sufferance, finds a pang as great,/As when a giant dies." *Measure for Measure*, III, i. We notice that the black colour of the fly and the raven is associated with Aaron. The fly-killing image is again seen in the common sense of the phrase, as Titus says: "Yet, I think, we are not brought so low,/But that between us we can kill a fly/That comes in likeness of a coal-black Moor." This shows the chagrin and unfulfilled desire of Titus to kill Aaron which would end the play. The same image is used again by Aaron in V, i. when he catalogues his perifidy and villainy that he would perform like "a black dog." Without shame or remorse he admits "Oft have I digg'd up dead men from their graves,/And set them upright at their dead freinds' doors,/ ..../Have with my knife carved in Roman letters,/'Let not your sorrow die, though I am dead.'/Tut, I have done a thousand dreadful things/As willingly as one would kill a fly." (A variation of the same image can be seen in Webster's *The White Devil*, I, i.) The fly-killing is an insignificant thing here. This

image is commented upon by Schlegel who says that in this we recognize the future poet of *King Lear*.[1]

In IV, i Titus compares Tamora and her sons with ferocious animals while speaking to Marcus. The image of hunt is central to the play and continues in the following speech : "But if you hunt these bear-whelps, then beware : /The dam will wake ; and, if she wind you once,/She's with the lion deeply still in league,/And lulls him whilst she playeth on her back." Obviously, the lion is Saturninus, a stock-image for the king also to be found in *Venus and Adonis* (11. 1093-05). The image of hunt refers at various points in the play to trap and kill people. (A comic counterpart of the hunt may be found in *Volpone* and *Bartholomew Fair* where trapping and gulling of characters is central and the villains live by their wits.). In the beginning the hunt aimed at Titus' sons, and now it aims at Tamora, her sons, and Aaron. By the end of the play, as usual in Shakespearian tragedy, the stage would be littered with corpses. The hunt is so important tht Titus calls Marcus "a young huntsman." The epithet is metaphorical and goes with the plot of the play that consists of the hunt of the two groups of characters for each other, one led by Titus and the other led by Aaron. In IV, ii the image of ass is used for a person who is easily duped, "what a thing it is to be an ass." (The ass image is also elaborated with comic-ironic suggestions by Ben Jonson in *Volpone*, I, ii.). In a similar sense Iago would call Othello an ass : "And will as tenderly be led by the nose/ As asses are." I, iii. When the nurse brings the bastard baby born of Tamora, Aaron calls Tamora "The devil's dam." On hearing this Demetrius calls Aaron "hellish dog," and is prepared to kill the loathsome babe since it is black. The idea of repulsion and ugliness of the baby is aptly suggested by the image of tadpole : "I'll broach the tadpole on my rapier's point." The nurse hereself calls the baby repulsive like a toad : "A joyless, dismal, black, and sorrowful issue : /Here is the babe,

[1] William Hazlitt, *Caharacters of Shakespeare's Plays* (London, J. M. Dent & Sons, 1906), p. 257.

as loathsome as a toad." The toad also signifies moral repulsion since the baby is a product of sin. The image is a fit vehicle to suggest ugliness, both physical and moral, and recurs in *Othello*. Othello associates the tadpole with Desdemona's adultery; he compares his heart with a cistern : "Or keep it as a sistern for foul toads/To knot and gender in !" IV, ii. Earlier in III, iii too, Othello uses the image of toad. The same image occurs as a term of contempt in an early play of Shakespeare, *King Richard III*, IV, iv.

Aaron refers to the baby's inevitable black complexion even though born of white Tamora with the help of the image of the swan (a conventional image to denote whiteness that is also used by Ben Jonson in *Volpone*, I, v). Earlier the Moor has defended his black hue : "Coal-black is better than another hue,/In that it scorns to bear another hue." He is taking delight in the fact that white Tamora and the baby cannot help being disasociated from his blackness, both physical and moral : "For all the water in ocean/Can never turn the swan's black leg to white,/Although she lave them hourly in the flood." The image of swan is also used in *Othello*, V, ii but in a different sense. The cunning Aaron calls himself both the lamb and the boar and Tamora the lioness. This refers to his duplicity that helps him in his villainy, for the villain has to be a double-dealer. (Once again one can find a similarity between Aaron and Iago). Aaron craftily tells Demetrius and Chiron : "...when we join in league,/I am a lamb; but if you brave the Moor/The chafed boar, the mountain lioness,/The ocean swells not so as Aaron storms." The boar stands here for brute force suggesting unjust power ; the hugeness of the animal aptly suggests its force as also found in *King Richard III*, III, iv, v; V, iii. The image of the swallow is repeated with the similar suggestion of speed when Aaron says "Now to the Goths, as swallow flies." (In a similar sense the image recurs in *King Richard III*, V, ii.). Aaron kills the nurse who knew the parentage of the baby and calls her pig ; she is like the pig to be

slaughtered and roasted. After killing her he says, "Weke, weke! so cries a pig preapered to the spit." Usually pig is an abusive term, but here it refers to an innocent victim who is killed for nothing, a kind of scapegoat figure.

In IV, iii the Clown is asked by Titus to deliver piegons to Saturninus and look for the reward. Titus also sends through him the honrs of Taurus alongwith as a challenge to the King. The horn here also ironically signifies the cuckold's horns. Saturninus is enraged and calls Titus' action "eagle justice." Saturninus is upbraided and encouraged by Tamora who feeds his ego, coaxing him to crush Titus and his son Lucius. In her reprimanding speech to the King she uses some animal images that are significant :

> King be thy thoughts imperious liky thy name,
> Is th e sun dimm'd, that gnats do fly in it?[1]
> The eagle suffers little birds to sing,
> And is not careful what they mean thereby,
> Knowing that with shadow of his wings
> He can at pleasure stint their melody :
> Even so mayst thou the giddy men of Rome.
> Then cheer thy spirit: for know, thou emperor,
> I will enchant the old Andronicus
> With words more sweet, and yet more dangerous,
> Than baits to fish, or honey-stalks to sheep,
> When as the one is wounded with the bait,
> The other rotted with delicious feed.

In this speech the idea of hunt is obvious and the bait is being thrown to Titus to whom Tamora would go with her sons posing as Revenge accompanied by Rapine and Murder. Tamora's treacherousness is fitly expressed by the baits to animals. She promises Titus to provide "two proper palfreys, black as jet,/ To hale thy vengeful waggon swift away,/And find out murderers in their guilty caves." V, ii. She also wants to ease "the gnawing vulture of thy mind." The image of vulture, a bird

[1] In *Cymbaline* the image of gnat is used to suggest physical smallness, "till he has melted from the smallness of a gnat to air" (I, i), whereas in this play it is metaphorical.

of prey and symbolic of death and destruction, is used here in the sense of all consuming passion of Titus for revenge ; the vulture preys on the cadaver, so does the idea of revenge consume Titus. (The image is metaphorically used in *Venus and Adonis*, l. 551). In V, i the image of bees is used by a Goth speaking to Lucius who is leading them to attack Rome. The image signifies the discipline and following of the Goths who assure him thus : "Be bold in us : we'll follow where thou lead'st,/Like stinging bees in hottest summer's day/Led by their master to the flowered fields,/And be avenged on cursed Tamora." In V, i a Goth uses some animal images to describe the illegitimate child of Tamora, their former queen : "Peace, tawny slave, half me and half thy dam !/Did not thy hue bewray whose brat thou art/........./But where the bull and cow are both milk-white,/ They never do beget a coal-black calf." The animal images are expository here, throwing light on the human with the help of reference to the animal. Aaron calls himself dog twice in the scene, "as true a dog as ever fought at head" and "like a black dog." Later in V, iii Lucius also calls him "inhuman dog." (The image of dog as a term of contempt, as in this play, seems to be favourite with Shakespeare, for it also occurs in *Troilus and Cressida*, II, i and in *King Richard III*, IV, iv ; V, iv. Both the plays have the variations of the image such as cur and hell-hound). Titus calls Tamora and her sons "a pair of hell-hounds and their dam !" She is called "heinous tiger" by Lucius, for "her life was beast-like, and devoid of pity." The raven-love of Tamora, Aaron, becomes the "ravenous tiger," a fit epithet for the cursed villain who is the "chief architect and plotter of these woes." Leaderless Romans are very aptly described by Marcus : "You sad-faced men, people and sons of Rome,/By uproar sever'd, like a flight of fowls/ Scatter'd by winds and high tempestuous gusts." The play ends with a speech of Lucius, the order figure, who restores peace and punishes the offenders. The circle is completed and Tamora and Aaron, the real beasts of the play, have met with their doom. Tamora is killed by Titus. She is the tiger, an image which is

reaptedly associated with her : "As for that heinuous tiger, Tamora,/No funeral rite, nor man in mourning weeds,/No mournful bell shall ring her burial;/But throw her forth to beasts and birds of prey:/Her life was beast-like, and devoid of pity;/ And, being so, shall have like want of pity." Aaron is condemned to die of starvation, "Set him breast-deep in earth, and famish him." And like a true villain he has no remorse, a villain unadulterated : "If one good deed in all my life I did,/I do repent from my very soul." (Once again he reminds one of Iago who when exposed in the end of the play says, "From this time forth I never will speak word," not even to pray).

Animal imagery is recurring in *Titus Andronicus*, sometimes dense, sometimes thin but never totally absent. Generally the images are used as similies and metaphores but sometimes they have also symbolic significance, such as the images of fly and toad. Many of the animal images used in the play may also be found in the works of early phase to which *Titus Andronicus* belongs, such as *Venus and Adonis*, *The Rape of Lucrece*, *King Richard III*, and *Troilus and Cressida*, and would be used later in plays like *Othello*, *King Lear*, and *Cymbeline*. The pattern that emerges from our study shows that besides single images, there is a pairing of animal images-raven and lark, lamb and boar, panther and deer, tiger and doe. This pairing refers to the conflict of the plot ; the two forces in the play, one belonging to Titus and the other to Tamora and Aaron. In the plot Titus and Aaron are the most important characters; Tamora and her sons and the Androniuses act under their influence. The pairing of images also refers to the good-evil dichotomy of the characters. A like pairing may also be seen in *The Rape of Lucrece* where Lucrece is dove and Sextus Tarquinius is the owl (1. 360) and later they become fowl and falcon (11. 499-510). Animal images mostly suggest some quality of the characters, deer suggesting innocent Lavinia and tiger suggesting evil Tamora. Sometime the same image is used differently, such

as the fly image. Besides throwing light on the plot and the characters, animal imagery also provides tone to the atmosphere of the play, heightening the main action in which the characters are hounding each other. The predominance of such imagery fittingly conveys the mood of the play which is bathed in blood and mutilation. It becomes all the more significant when one reads the play with the idea of hunt as the centre : virtually the play is the hunt of Aaron for Titus, and later it is reversed, i.e., the Andronicuses hunting for Aaron and his accomplices. It seems that animal imagery was Shakespeare's favourite aesthetic idiom of expression in the early phase of his career, for it is present in other works of the period as well. In *Titus Andronicus* animal imagery is very much relevant to the requirements of the play, for it is the story of the hellish hounds (Demetrius and Chiron), their dam (Tamora), the hellish cur (Aaron), and a dainty doe (Lavinia).

TAGORE'S 'THE KING OF THE DARK CHAMBER' —AN EXISTENTIAL APPROACH*

MIMI SINHA

M.A. Final (English), B.H.U.

Existentialism deals not with the nature of the universe or philosophical problems (as ordinarily thought of), but embodies an attitude to life or to God. Its essential features may be described as follows: (1) It distinguishes between *essence* that is, that aspect of an entity which can be observed and known and its *existence*, the fact of its having a place in a changing and dangerous world which is what really matters; (2) existence being basic, each self-aware individual can grasp his own existence on reflection in his own immediate experience of himself and his situation as a free being in the world; what he finds is not merely a knowing self but a self that fears, hopes, believes, wills and is aware of its need to find a purpose, plan and destiny in life; (3) but we cannot grasp our existence by thought alone; thus the fact "all men must die" relates to the essence of man but it is necessary to be involved, to draw the conclusion as a person that "I too must die" and experience its impact on our individual existence; (4) because of the preceding, it is necessary to abandon our attitude of objectivity and theoretical detachment when faced by problems relating to the ultimate purpose of our own life and the basis of our own conduct; life remains closed to those who take no part in it because it can have no significance; (5) it follows that the exsistentialist cannot be rationalistic in his outlook, for this is merely an escape into thought from the serious problems of existence; none of the important aspects of life—failure, evil, sin, folly.—nor (in Kierkegaard's view)even the existence of God or the

*Paper read at the first Students' Seminar on Indian Writing in English held at Karnatak University, Dharwar from January 26 to January 28, 1978.

truth of Christianity, can be proved by reason. "God does not exist ; He is eternal," was how he expressed it ; (6) life is short and limited in space and time, and therefore it is foolish to discuss in a leisurely fashion matters of life or death as if there were all eternity to argue them in. It is necessary to make a leap into the unknown e.g. accepting Christ (in the case of the Christian existentialist) by faith in the sense of giving and risking the self utterly. This means complete commitment, not a dependence on arguments as to whether certain historical events did or did not happen.

'To summarize : existentialism of whatever type seems to the outsider to be an attitude to life concerning itself with the individual's ultimate problems (mine, not yours) ; to be anti-rationalist and anti-idealist (in the sense of being as it seems to the believer, practical)—in effect it seems to say "life is too short to fool about with argument, you must dive in and become committed" to something.[1]

This something in the *King of the Dark Chamber* implies a complete submission to God—it is a surrender which is unquestionable and involves nothing but a total acceptance from all points of view. "Tagore's conception of the Absolute is that it is endowed with personality, it is possible to establish a human relationship of love between the Absolute and the Individual.........God manifests himself in the consciousness of the individual as well as in the universe.........The individual is related to God through a perpetual process of realization. The stream of Being is continually merging into the sea of Being'.[2] Tagore elucidates his conception of Truth in *The Religion of Man* : "This means that perfection as the ideal is immovable, but in its aspect of the real it constantly grows towards completion, it moves. And I say of the Super Man, that he is infinite in his essence, he is finite in his manifestation in us the individuals."[3] But what strikes the existentialist is the distinction between the essence and the manifestation. The idea one has about the manifestation rests much upon the

experience of the individual or the impact of experiences upon the individual. That is why different characters in *The King of the Dark Chamber* have different interpretations of the King. The foreigners, having no particular experience as such indulge in arguments which make their quest for the knowledge of the king more and more futile. They are scandalized to see the order and harmony but can hardly prove it as a condition for the existence of the King. Janardan's words are not mere quibbling when he says, "......you know from your experience that there can be chaos and anarchy even if a King be present......"[4] For the citizens of the kingdom the King must be hideous to look at and so he has made up his mind never to show himself to his subjects. But they too indulge in futile arguments and come to nothing.

The case with Surangama was different. She had experienced the nature of the King and had suffered its impact on her own individual being. It is this quality of her individual experience which accounts for her better realization of the King. When Sudarshana asks her about her feelings when her father was exiled by the King, a significant dialogue ensues which is given below :

SURANGAMA

Oh, it made me quite furious. I was on the road to ruin and destruction : when that path was closed for me, I seemed left without any support, without any succour or shelter. I raged and raved like a wild beast in a cage—how I wanted to tear every one to pieces in my powerless anger.

SUDARSHANA

But how did you get this devotion towards that same king ?

SURANGAMA

How can I tell ? perhaps I could rely and depend on him because he was so hard, so pitiless.

SUDARSHANA

When did this change of feeling take place ?

SURANGAMA

I could not tell you—I do not know that myself. A day came when all the rebel in me knew itself beaten, and then my whole nature bowed down in humble resignation on the dust of earth. And then I saw.........I saw that he was as matchless in beauty as in terror. Oh I was saved, I was rescued.[5]

The "main argument against existentialist philosophy is that it often rests on a highly specialised personal experience and, as such, is incommunicable.[6] And this is exactly what transpires between Surangama and Sudarshana. Sudarshana, in spite of being the Queen, is yet to have her own share of individual experience and due to her ever-prevailing vanity and sense of pride she fails to understand the purpose, plan or destiny of Surangama.

Being a Princess, Sudarshana was not acquainted with the miseries and evils of the world and it would have been beyond her endurance to take it all at once. That is why her Kinghusband confined her to the Dark Chamber, so that she could be gradually brought into the revelation of that terrible side of existence which had been altogether alien to her. Abu Syed Ayub, a modern critic of Tagore, has pointed out that the sudden shock of the revelation could be avoided but not the revelation. The Queen had to be acquainted with misery and had to accept the terrifying evil—in order to have a total glimpse of true existence.

Because of her partial view, her love for the King is different from that of the King for her because the King knows her totally. It is her immature or one-sided experience which makes her imagine that false King to be her husband who in the words of Kumbha is "So soft so delicate and exquisite like a waxen doll".[7] And again it is her experience in immense suffering that makes her embrace the truth which, though cruel and hard, becomes wonderful with her touch of love. It is only then that she realizes her true self in complete surrender to love for the sake of love only.

Tagore regards the human life as lived by the average man in this world as not sensitive enough. He makes a distinction between the ego of a man and his 'true-self.' The ego i.e. *ahamkara* or *avidya* is responsible for our unregenerate activities.

Egotism tears us away from our intimate relation to the Lord that is the cause of our fall. It is this false separatist view that makes us see things as evil. Evil is imperfection. It is not absolute, it is relative, and its existence alone can make men's 'freedom of will' meaningful.......... Tagore is not afraid of the problem of evil. He finds its pragmatic function in man's art of self-realisation".[8]

It is noteworthy that neither the King of the Dark Chamber nor his Queen is made absolute, formless and non-existent, Tagore's idea of the King is not one of a blank absolute—but of a being who is both ready to help and is capable of being destructive. When the Grandfather says, "My King has a thunderbolt within a lotus painted on his flag",[9] it is not just a metaphor for the mere identity of a political ruler. The symbol on the banner gives us a complete insight into the character or nature of the King. He is all-loving and kind and as soft as the Lotus, but the core of this love is hard and cruel—it is a force which like a thunderbolt acts without any mercy or consideration. To understand the King one cannot be satisfied with his tender and gentle touch of love, but together with it one has to be acquainted with the powerful and terryfying side of his personality. Hence it is to be an acceptance of both the soft and the hard ; the delicate and the poowerful, the good and the evil, and the beautiful and the wonderful.

According to Tagore, God should not be imagined according to our own liking, but our liking should be in accordance with what God is. One has to prepare one's mind to face the reality and the mind should not only passively endure, but it should love the hardest truth. As Spinoza says, "The truth is cruel but it can be loved, and it makes free those who

have loved it". That is why Gandhi, instead of labelling God as Truth, says, "Truth is God".

The one character in the play who has embraced this hard truth as the be all and the end-all is Grandfather. His is a love which denies the self completely. His replies to the citizens are highly significants:

> "What then? Shall I lose my King too because I have lost my children? Don't take me for such a big fool as that".[10]
>
> "Why, look at me I am toiling and slaving night and day for my King, but I have not yet received so much as a brass farthing for my pains".[11]
>
> "What should I think? Does any one reward his friends? Go, my friends, and say if you like that our King exists nowhere. That is also a part of our ceremony in celebrating this festival".[13]

On one occasion Tagore himself had said, "I am able to love my God for He gives me freedom to deny Him".[12] Hence Grandfather who is dressed up in that attire of the 'Baul' which was so often seen on Tagore's body, is presented more or less as the poet's mouthpiece.

In fact, Tagore was 'blessed with a subtle sense of mystery which on analysis may be found to be a complex emotion compounded of awe in the presence of the unknown, wonder in the presence of the known and an exquistite response to the manifestations of beauty wherever they may be found, that we may call, for want of a better word—rapture. His unusual sense of wonder gave him a niche into the depth of existence."[14]

When Sudarshana first appears on the stage she cries for light inside the Dark Chamber. This cry for light can be interpreted as the hankering of the human heart, but Abu Syed Ayub interprets it as an indication of the Darkness where she can feel everything. The Queen's want of love is satisfied, but she hankers for a glimpse of the manifestation of her love. It is to remove this hankering for the objective that the whole

play is written. That is why Surangama's reply to the Queen hints at an end to that restlessness and an acceptance of that Darkness from which she tries to escape.:

> My Queen, all your other rooms are lighted—will you never long to escape from the light into a dark room like this ?[15]

But before the stage of acceptance, comes the temptation for renunciation. Sudarshana is repelled at the sight of reality. But when she wishes to fly away from her terrible black husband, the King says:

> "I shall leave you free, but why should I let you break away from me ?"[16]

It is not in renunciation that Tagore finds a solution, you cannot break away from the hard side of reality if you have experienced its softer side.

The climax of the play is not when the King opens the doors of the dark room and asks her to "come outside—into the light."[17] But it is in the last lines of the play, when in her total surrender and commitment to the king, she says:

> Before I go, let me bow at the feet of my lord of darkness, my cruel, my terrible, my peerless one.[18]

She steps into the light not to dissociate herself from darkness but to accept both the lighted and the dark aspects of true existence and discern a beauty which puts an end to the distinction between good and evil,—it is all accepted as the beauty of the tragedy of Lear or like the beauty of the storming clouds. It is neither a getting away nor a renunciation.

'The pathway outlined by Tagore for the individual to realise the union with the Infinite is not the via negativa. It is not asceticism nor hedonism. It is the method of joyful acceptance of life and "a reverence for life", in the celebrated phrase of Schweitze Tagore looks upon himself as a perfect instrument for the great muscian the Lord to sing His songs. Unreserved, total surrender to the Lord is what he should do to achieve God-union'.[19] What Tagore has shown in *The King*

of the Dark Chomber is that even this surrendes to the Lord comes after one's own share of individual experience. In other words, it is nothing but a totally personal attitude to God; which has nothing to do with logical arguments and scientific explanations.

References

1 L. Mary Barker (ed), *Pears Cyclopaedia* (Suffolk, 1969-70) pp. J. 15-16.

2 B. C. Chakravorty, *Rabindranath Tagore His Mind and Art* (New Delhi, 1971) pp. 239-240.

3 *The Religion of Man* (fourth impression, 1953), quoted by B. C. Chakravorty op. cit., p. 118).

4 Rabindranath Tagore: *The King of the Dark Chamber* (Macmillan and Co. Ltd., London, 1943) p. 20.

5. Ibid., pp. 42-43.

6 *Pears Cyclopaedia*, op. cit., p. J 16.

7 *The King of the Dark Chamber*, op. cit., p. 34.

8 Dr. P. Nagaraja Rao's 'The Religion of Tagore' in Mahendra Kulasrestha (ed)., *Tagore Centenary Volume* (Hoshiarpur, 1961) p. 85.

9 *The King of the Dark Chamber*, op. cit., p. 35.

10 Ibid., p. 73.

11 Ibid., p. 74.

12 Ibid., p. 75.

13 Quoted in Dewan Ram Prakash (ed.), *Tagore Centenary Souvenir* (New Delhi, 1961) p. 205.

14 Ibid., R. I. Paul's 'The Great World Soul,' p. 205.

15 *The King of the Dark Chamber*, op. cit., p. 39.

16 Ibid., p. 115.

17 Ibid., p. 199.

18 Ibid., p. 200.

19 Mahendra Kulasrestha, (ed.), op. cit., p. 86.

WORDS, WORDS, WORDS

ANJANI KUMAR SRIVASTAVA

Lecturer in English, Dayanand Mahavidyalaya

Have you ever paused for a moment to think how words behave in poetry under the impulse of imagination and passion? Poetry is a form of speech and while its raw material is experience, its medium is language. It is an ordering of words and on this ordering rests the skill of its practitioner. The more skilful the artist the deeper will be the excitement with which he writes. The complete meaning of his composition will be communicated by how he says what he is saying. You cannot express in any other way what is expressed by such words as these from Shelley's *To Night*:

> Blind with thine hair the eyes of Day;
> Kiss her until she be wearied out......

Or, from Tennyson's *Ulysses*:

> How dull it is to pause, to make an end,
> To rust unburnish'd, not to shine in use!
> As tho' to breathe were life, Life piled on life
> Were all too little, and of one to me
> Little remains.

Or, to take an example of a different, graver, even greater kind——Hamlet's dying words to Horatio:

> Absent thee from felicity awhile
> And in this harsh world draw thy breath in pain
> To tell my story.

It is practically impossible to speak that second line without drawing one's breath in pain: substitute any word for 'harsh', and note the difference: the magic, unexplainably, is gone.

It was Hart Crane who said, "One must be drenched in words, literally soaked in them to have the right ones form themselves into the proper patterns at the right moment." A greater degree of this verbal mastery was set forth by T.S. Eliot in his description of the Auditory Imagination: "...the

feeling for syllable and rhythm, penetrating far below the conscious levels of thought and feeling, invigorating every word, sinking to the most primitive and forgotten, returning to the origin and bringing something back, seeking the beginning and the end. It works through meaning certainly, or not without meanings in the ordinary sense, and fuses the old and the obliterated and the trite, the current and the new and surprising, the most ancient and the most civilized mentality." This wonderful fusion can again be put forth in Eliot's words :

> The Common word exact without vulgarity
> The formal word precise but not pedantic
> The complete consort dancing together.

To charge the common words with uncommon force and potency and make them winged enough 'to carry the truth alive with passion' is a familiar feat of the poetic genius, whether you consider Wordsworth's 'Our birth is but a sleep and forgetting', or Keats's 'Now more than ever seems it rich to die', or Shakespeare's 'What a piece of work is a man !', or Thomas Nashe's 'Brightness falls from the air' or we my recollect the numerous intensities in Eliot such as—'I have measured out my life with a coffee spoon' or '...the evening is spread out against the sky like a patient etherised upon a table.' All the words are common enough ; and one may feel either that kitchen coals have turned for a moment into diamonds, or else that a few diamonds have ceased for once to masquerade as kitchen coal. It all depends on what you take to be 'par' in the scale of expressiveness.

There is such a thing as the cumulative power of words and utterances which pass from one writer to another gathering around them complex contextual association with the result that their occurrence in one particular composition vibrates with all the previous contexts and enriches and deepens their significance. This old music ringing and reverberating into our ears with such words in a new context has been aptly described by T.S. Eliot—"...the music of a word is at a point of intersection ; it arises from its relation first to the words

immediately preceding and following it, and indefinitely to the rest of its context ; and from another relation, that of its immediate meaning in that context to all the other meanings which it has had in other contexts, to its greater or less association."

Poets in all ages have availed themselves of this associative background of words in order to deepen the meaning of their expression. We remember that in *The Merchant of Venice*, Jessica says, in that entrancing moonlight scene, which Shakespeare has described in words of magic charm :

"I am never merry when I hear sweet music"

The echo is caught up by Shelley in his *Skylark* where he insists that our 'Sweetest songs are those that tell of saddest thought.' Wordsworth too—who led a calm, even, unruffled life—spoke of 'hearing oft times the still sad music of humanity.'

In the opening lines of his *Nightingale Ode*, Keats writes— 'My heart aches and a drowsy numbness pains my sense' and goes on to say that it is nothing but the excess of hapiness that is responsible for this ache. This 'ache' reminds us of the 'aching joys and giddy raptures' of Wordsworth's *Tintern Abbey*, where the poet's youthful passion for the physical loveliness, form and colour of the natural objects is described. But behind both stands Milton's well known image— 'Laughter holding both his sides.'

Shakespeare says in *Macbeth* :

> Duncan is in his grave, after life's
> Fitful fever he sleeps well.

This 'fitful fever' echoes in Wordsworth's 'fretful stir unprofitable and fever of the world'. And the same echo is caught up by keats in the moving lines of his *ode to a Nightingale* :

> Fade far away, dissolve, and quite forget,
> what thou amongst the leaves hast never known
> The weariness, the fever and the fret.

In coleridges' *The Rime of Ancient Mariner*, the word 'Mariner' has a peculiar ring of sea-melody about it. It is

reminiscent of strange sea faring experience in literature or fables, from Ulysses down-wards. The word 'ancient' too has a peculiar ring of weird, long drawn music about it. It calls up the image of an aged sailor who has journeyed alone through strange seas. It also suggests the age-long mystery in which the Mariner is wrapped. The ancient Mariner then is not of one age but belongs to all time. Ghost-like he glides through the centuries with his tale of wonder and woe.

In poetry, at times, the effect is gained by the employment of a single word, dynamic and sensuous. We can take, for example, Emily Dickinson's description of a snake moving through the grass :

> I more than once, at morn,
> Have passed, I thought, a whip-lash
> Unbraiding in the Sun,—
> When, stopping to secure it,
> It wrinkled, and was gone—

The suddeness and sharpness of the movement here are concentrated in one word—*wrinkled*. Tennyson, we know, made use of the same word to give the suggestion of immense height and distance in his portrayal of the eagle :

> The *wrinkled* sea beneath him crawls ;
> He watchs from his mountain walls,
> And like a thunder bolt he falls.

One can also witness instances when the style is illumined by means of contextual contrast. We know that keats conceived of the nightingale as the symbol of permanence unaffected by the struggle for existence or scramble for power and position, which is fate of 'we mortal millions' :

> Thou wast not born for death, immortal bird,
> No hungry generations tread thee down.

The phrase 'hungry generations' echoes in W.B. Yeats's *Sailing to Byzantium* :

> That is no country for old men, the young
> In one another's arms, bird in the trees
> —Those dying generations—at their song.

Yeats's phrase 'those dying generations' besides casting an ironical light on keats's poetic fallacy, contains a clear hint that generation and death are tied together and what is born is sure to die. Immortality is a dreamflower which does not and cannot bloom in the created universe.

For a more striking example of this contrasted implication we may turn to Eliot's *Waste Land*. The poem begins with the words :

April is the cruellest month.

This 'April' sends our thoughts back to chaucer's 'April with the showers sweet.' The remarkable difference between these two Aprils pinpoints the basic contrast between the two ages, the medieval and modern, the age of faith and that of no faith. In chaucer's *Prologue to the Canterbury Tales*, April is sweet because the resurgence of the life rhythm in nature is responded by a simultaneous kindling of the spiritual impulse which impels men and women to start on pilgrimage to the holy shrine of St. Thomas ạ Becket. This happy harmony between the rebirth in nature and the awakening of the suspended faith in the soul of man offers a painful contrast to the predicament of man in the modern society which has denied faith in Providence.

In the later part of the same poem there is a description of the crowds on the London street as though they were passing through the mysteriously unreal landscape of Hell, in an atmosphere of murk and filth :

Unreal city,
Under the brown fog of a winter dawn,
A crowd flowed over London bridge, so many,
I had not thought death had undone so many.

These words closely reverberate lines in canto III of the *Inferno* in which Dante describes his entrance into Hell. Here, near the very gates, he encounters the horde of souls who 'lived without blame and without praise'. The poet is overwhelmed by their number : 'I had not thought death had undone so many'. Death has undone them in the primary sense that they

have died. But the word has a rich ambiguity, as it also suggests the unwrapping of flesh and bones from the bodiless spirits. And more than this, it suggests the special misery of their present indefinite status.

Repitition of the same word in different contexts in one and the same poem in order to deepen the effect is best exemplified by Eliot's own practice. In the final canto of *The Waste Land*, the poet depicting a journey with its complex implication glances at the Biblical journey to Emmaus, where the two disciples of the crucified christ are furtively accompanied by the figure of their dead teacher. One of them happens to catch a passing glimpse of the mysterious companion and puts the question:

> Who is the third who walks always beside you?
> Gliding wrapt in a brown mantle, *hooded*.

In the words that follow immediately the poem describes the crowds of uprooted humanity—homeless and helpless:

> Who art thou hooded hordes swarming
> Over endless plains, stumbling in cracked earth
> Ringed by the flat horizon only.

The association of the 'hooded' figure and the 'hooded' hordes becomes significant when we remember that Christ, the 'son of man' always identified himself with the poor humanity. The uprooted 'hooded hordes' is symbolic of christ under the predicament of the christian faith in the modern world. The crucified Christ at last rose out of his grave and became the fountainhead of a living faith, but that faith no longer lasts and the Christian god is being thrown away on the open road which leads nowhere.

These, in short, are some of the instances of how words are employed and made to behave in literature by imaginative writers whose simple grouping of a few words take hold of us with a high hand, filling our mind and thrilling it with a poignant ecstasy, a delicious disquiet, akin to the restlessness and the raptures of lovers.

LANGUAGE AND CULTURE

Dr. S. K. ROHRA,

0. The aim of this paper is to discuss the relationship between language and culture. But before dwelling on the relationship aspect, let me say something about language and culture as such.

1. Language is defined as 'a system of arbitrary vocal symbols by which a social group co-operates'. Thus, language has the following characteristics :[1]

(a) *It is a system :*

Language is a system or structure. It is a combination of different elements which work together. Besides, language being a system is not directly observable. We can observe its different elements and its function. For example we hear the particular sounds of a particular language; these sounds are the elements of that language. We also mark that the different combinations of those sounds (i.e. the words, phrases etc.) convey the different ideas ; this is the function of those elements.

(b) *It is a system of symbols :*

Language is a codified system. It is a code. All the elements which form this code, stand for some idea or object. They as such are meaningless.

(c) *The symbols are vocal and arbitrary :*

Language is a code of vocal symbols, i.e. the sounds which are produced by the human vocal organs. These vocal symbols are arbitrary. There is no logical relationship between a vocal symbol (i.e. the sound) and the object or idea for which it stands.

(d) *It is a means of co-operation :*

Language is a code of communication. It is a very powerful source of mutual exchange of ideas.

2. Culture, on the other hand, stands for 'all those historically created designs for living, explicit or implicit, rational, irrational and non-rational which exist at any given time as the potential guides for the behaviour of man'.[2] In a single phrase, culture stands for the total way of life.

We find the following attributes of culture :[3]

(*a*) Culture is a design or structure. It is the combination of different elements. The smallest element of culture is called trait.

(*b*) It is the historically created design. It is handed over from one generation to other. It is acquired by learning.

(*c*) Culture is dynamic and variable. It is dynamic or ever changing because it is given by one generation to other ; as it is learned, it shows variations even within a group, related to a particular culture.

(*d*) Culture can be divided into different aspects like social, economic etc.

(*e*) Culture derives from the biological, environmental, historical and psychological components of human existence.

(*f*) Culture is the instrument whereby the individual adjusts himself to his total setting.

(*g*) Culture shows such kinds of regular patterning so that it can systematically be studied.

3. Now, I move to the basic problem and that is, the nature of relationship between language and culture. But before deciding the nature of relationship, it is imperative to show that language and culture are related.

In fact, language and culture are very closely related. Culture is learned ; it is transmitted from one generation to another, and it is transmitted through language barring, of course, explicit part of culture which may or may not be transmitted through language. It is correct to say that 'language is a social index of cultural background'.[4] 'Language comes in

a peculiar way to serve as a symbol of home, family, state, status and country'.[5] Similarly, it is not possible to fully understand the language of a community without knowing its culture. There is hardly any room for doubt about the close relationship between language and culture.

4. Now, the question arises, what kind of relationship is between the language and the culture? The possible answers are as follows:

(i) One may be part of the other.
(ii) Both may be complementary to each other.
(iii) Both may be causally related.

Let us take each possible answer and examine.

Language may be a part of culture or vice versa:

Culture stands for the total way of life, hence it would not be a part of language, for the latter cannot be expanded beyond the total way of life. Language of course may be a part of culture, and it is accepted almost by all the anthropologists and linguists, yet Voegelin shows his disagreement with the proposition that language is a part of culture. He puts forth the following arguments to support his view-point:

(*a*) if language is a part of culture, linguists should be competent to discuss the other aspects of culture by virtue of their training in linguistics; but they are not;

(*b*) if the language is a part of culture, the primates should be able to learn language as they actually learn the part of human culture when they are trained by primatologists, but they do not.[6]

The arguments, advanced by Voegelin, do not hold water on the following grounds:

It is not necessary that one should be competent in all the related aspects of a discipline. It is quite possible to get an eye-specialist who may not be competent to discuss the skin-diseases; but it would be folly to accept that eye does not come under the scope of

human anatomy. It is not correct to say that the primates learn the part of human culture. In fact the learnt behaviour of a primate is not the actual cultural behaviour, it is merely an mitation thereof. This kind of imitation is possible in the case of language also. We may have seen such trained parrots which can utter not only the simple words but the phrases and sometimes even a full Sloka (i.e. a short poem).

On the other hand, language exhibits such characteristics for which it can be easily treated as a part of culture. For example, culture is historically derived, and is shared by all the members of a given group so is language. Besides, like the other aspects of culture, language is acquired by learning. It is cumulative and ever changing.

Language and culture may be complementary to each other :

There may be controversy regarding the range and grade of complementation, but there is no controversy about the proposition that language and culture are complementary to one other. Following are the areas of their complementation:

(*a*) Language is the cultural marker, hence, it can guide in indicating the cultural boundaries and the spread of a particular culture by the migrations and borrowings. For example, Indo-European family of languages ultimately suggests that the speakers of this family at one time were culturally related and within the large period of time, many great migrations took place amongst the speakers of this family. Thus, this family is spread from Asia to Europe.

(*b*) Language indicates sub-cultures within a culture. That is why one Tamil speaker is able to point out whether other Tamil speaker is Brahman or non-Brahman.

(*c*) The compilation of lexicon is the field in which the linguist and the anthropologist can fruitfully colla-

borate. For example, in the language used by Sema Naga of Assam, the word *aja* is used for 'mother', 'father's brother's wife' and 'mother's sister'. From this single lexical item, an anthropologist may find out that in this community, levirate and sororate forms of marriage are common. In levirate, a woman, after the death of her husband, marries her husband's brother while in sororate, a man, after the death of his wife, marries his wife's sister.)

(*d*) The internal linguistic evidence (i.e. the changes occurred in the Phonology and grammar of language) can be used to set cultural elements in chronological relation with one another ; the language, like culture, is a composite of elements of very different ages. For example, it is linguistically proved that the fricatives f and x in Sindhi have been borrowed from Arabic through Persian. With this kind of linguistic evidence, we can say that the cultural items, containing these sounds (i.e. fanus 'lamp', xarU 'donkey', aribU 'poor') are lately borrowed from Persian.

Language and culture may be causally related

The real problem of realtionship is, whether language and culture are causallly related ? In other words, can we say that a particular linguistic structure is due to the particular cultural pattern ; or a particular cultural design is the result of a particular linguistic system ? I may clear this point with one example. Sanskrit, Tamil, Marathi, etc. languages have three genders, viz. masculine, feminine and neuter ; but Sindhi has no neuter gender. On the other hand, in Sindhi, the pronouns can be dropped by putting the pronominal suffixes along with the verb (e.g. mu khado or khadUmI 'I ate'). This habit is not found in other languages. Now, can we say that these linguistic differences between Sindhi and other languages are

due to the difference between Sindhi culture and other cultures; or these linguistic features of different languages have played a part in shaping the related cultures ?

Here is the place to go through two statements, from which one has been made by a well known anthropologist Whorf and other by an eminent linguist Sapir. Whorf, in his statement says, "One cannot study the behavioral compulsiveness (i.e. the certain action in the certain environments) without suspecting a compulsiveness from the large-scale patterning of grammatical categories......The grammar of Hopi language bears relation to the Hopi culture and the grammar of European languages to European culture."[7]

According to Whorf there is microcosm or thought-world within a person. It includes every give and take between language and culture. Hence, the differences between linguistic structures are due to the differences between two cultures and ultimately due to different thought-worlds.

Sapir remarks, "Nor can I believe that culture and language are in any true sense causally related. Culture may be defined as '*What* a society does and thinks. Language is a particular 'how' of thought.........The drifts of language and culture to be non-comparable and unrelated processes. Thus all attempts to connect particular type of linguistic morphology with certain correlated stages of cultural development, are vain. Rightly understood, such correlations are rubbish."[8]

It looks that these two ideas are two different poles which cannot meet. But, I feel that it is not so. Accodring to my view this too much difference is created by putting emphasis on different aspects of language. Most of linguists consider phonology and morphology (i.e. sound system and grammar) as the central aspects of language. They do not treat the semantic (meaning) aspect as a main or central aspect of language and they consider lexicon as the by-product of language which itself is not a language. On the other hand, the anthropologists put emphasis upon the semantic and lexical aspects

of language because, these aspects can easily be correlated with culture. For example, Sindhi language will have only such lexical items which can be correlated with the ideas or objects which are found in Sindhi culture. Similarly the meaning of any item depends upon the cultural background of that lexical item. For example, the meaning of the word '*father*' in English, would be 'mother's husband'. Because it is a desciptive kinship term (i.e. referring to a single person) in English culture. But in the community where *father* is a Classificatory term (i.e. referring to a class of persons having same status) it may mean 'mother's husband', 'father's brother' etc. I mean to say that in these two fields, (i.e. semantic and lexicon) causal relationship is possible but it is difficult to find the causal relationship between culture and the phonological or morphological systems of language. The clear evidence of this is that the cultural and linguistic areas do not coincide. It is not difficult to find that one cultural area may have many languages or a single language may be used in different cultural areas.

The fact is that these two phenomena (i.e. language and culture) are fundamentally different in their drifts and hence they cannot be put into the causal relationship. Culture is determined by its biological, environmental, historical and psychological components but there is no such kind of determinant for language. It is only a historical accident that a particular community speaks a particular language.

To sum up (i) languge is certainly a part of culture. (ii) Language and culture are complementary to one another, as the knowledge of culture is essential for the full understanding of language and the study of language facilitates the study of culture. (iii) There is no causal relationship between the grammatical structure of a language and culture. (iv) It is possible to correlate the semantic and lexical aspects of language with its cultural set-up.

REFERENCES

1 Bloch and Tragor: Outline of linguistic Analysis.
2 Kluckhohn: The Science of man in the world crisis page (1945, page 97) Edited by Linton Rulph.
3 Melville J. Horskovits: Man and his works. (1956, page 625).
4 Caroll: Study of language.
5 Bossard, James H. S.: "Family modes of expression" (1945) American Sociological Review 10: 226-237.
6 Voegelin, C. F.: "Relative Structurability" word (1949), page 45.
7 Whorf. Benjamin L.: "Four Articles on Metalinguistics" published by Foreign Service Institute, Department of State, Washington, D.C. (1949).
8 Sapir, Edward: "Language—An Introduction to the Study of Speech", pp. 218-219 (1921).

BANGLA DESH : A STUDY IN AMBIVALENOE OF INDIAN DIPLOMACY

Dr. R. H. SHARAN

The policy of non-alignment is once again on the anvil of trial. It has to prove its efficacy in safeguarding as well as promoting the national interests of the country. There is a considerable amount of understanding both among the scholars and the statesmen that in the back-drop of the cold war, theoretically speaking, for under-developed and militarily weak countries, like India, the policy of non-alignment is a right appsoach to international affairs. However, there is equally a great deal of criticism of the diplomacy through which the policy is conducted. The policy of non-alignment, it is said, has floundered many times in the past because of the inapt diplomacy. The acceptance of the ceasefire and plebiscite in Kashmir in 1948-49, Chinese conflict, Indo-Pak conflict, and Tashkent Agreement, to mention a few, were some of the earlier rocks on which the Indian diplomacy got wrecked. The issue of Bangla Desh, which is only a part of the whole complex of the Indo-Pak relations, is the most recent instance of the ambivalence of Indian diplomacy.

Since the dawn of indedendence peace in the Indo-Pak subcontinent has been threatened by the mutual conflict and antagonism between India and Pakistan. Needless it is to enumerate the various, socio-economic, politico-cultural, religio-ethical, geo-political and external forces as reasons for their continued hostility. In the cold war context Pakistan's aligment with the U.S.A.—one of the super-powers of the dominant system—has given her some edge over the non-aligned India. Similarly, Pakistan's treaty relations with Communist China has linked her with the dominant power of the sub-system as well as indirectly to the other super-power of the dominant system. India has none of these advantages. She has to

steer her course in international field alone. Our diplomacy by compromise, conciliation and appeal to reason has been construed by Pakistan as signs of our military weakness. The history of twenty five years of Indo-Pak relations amply demonstrates that India's weak-kneed diplomacy has not paid any dividened. Pakistan has generally adopted an offensive diplomacy against our defensive posture. Only at times when Indian diplomacy was adequately backed by power that Pakistan could understand reason. But it would be too hasty a conclusion that Pakistan's diplomacy has been more effective and appropriate than that of India. In fact Pak military junta and the pressure of the out side powers rarely allow diplomacy play any role; it is 'Power' that counts there. In such a situation Indian diplomacy should have played more effective role, at least in relation to those powers, if not in relation to Pakistan, who rely on diplomacy. But ironically when success of nonalignment policy largely depends upon diplomacy, India faulters there.

In the case of Bangla Desh, it appears, that India has not followed any principled diplomacy. Partly it is due to the external factors and unfavourable circumstances and largely due to her own doings. Success of diplomacy in general depends upon two factors: (*a*) sagacity and astuteness of diplomats, (*b*) effective power to back diplomatic moves. In the case of Indian diplomacy, unfortunately, both these essentials need vast improvement. As such, if our diplomacy very often fails to come up to the expectation, one is not to be surprised. However, from the newspapers reportings and the speeches of the Prime Minister and other Ministers it is very obvious that the Government of India and the people of the country are in sympathy with the aspirations of the people of Bangla Desh and support their demand for autonomy and the restoration of civilian rule. There seems to be no gainsay in accepting these facts in the interests of India. It may also be presumed that inspired and emboldened by the high sounding notes of the leadess of India supporting their right cause and the favourable

response from the Press and the public alike that the people of Bangla Desh launched their movement for freedom from the thraldom of the West Padistani military junta. Such a support by India from long term interests might be appropriate. But such a sympathetic attitude towards the issue of Bangla Desh could have been considered helpful in furthering the cause of India's interest provided the platitudes are sincerely backed by power which is significantly witheld. From the experiences of Goa, Daman and Diu the Government of India should have taken a lesson that in this world of power politics, words must be followed by action or atleast a show of possible action. In its absence empty support is likely to do more harm than good to the cause concerned. Precisely in the case of Bangla Desh India's white-pegion and glib diplomacy pitted against the naked power of the Pak military dictatorship and the Big Powers seem to have proved costly both for India as well as for Bangla Desh. For India Bangla Desh has become a nightmare, a possible casus belli, a source of disruption of economy and social harmony and a threat to her security because of the possibility of a war with Pakistan and the involvement of Communist China which might like to fish in the troubeld water of Bangla Desh. Indian diplomacy finds itself in the quagmire of shilly-shallying. It has led to her isolation in relation to the equation of power-politics and Bangla Desh.

The Super-Powers, namely, the U.S.A. and the U.S.S.R. both for their own reasons consider the Bangla Desh issue as an internal matter of Pakistan and hence are reluctant to intervene. It appears that it is neither in the interests of America nor is in favour of Russia to see Bangla Desh as an independent unit. For the U.S.A. its emergence as an independent entity in the Indo-Pak subcontinent is likely to alter the power position which might not be favourable to Pakistan—an ally of the U.S.A. It might favour India—a non-aligned country. But the official reason given till 10th of July was that any political pressure on Islamabad would be more dangerous as it would force Pakistan to go into the arms of the Communist

China. But such a plea seems to be a naive explanation. American military and financial aids to Pakistan could not keep her away from signing the treaty of friendship and mutual help with China. So, what guarantee is there that stopping of aid at this juncture would necessarily force Pakistan into the arms of China? Indian Government's all request to stop arms aid to Padistan went unheeded till 10th July. After this it is the pressure of the American Congress and the categorical denial to grant any aid to Pakistan that a change could be noted in American policy. Otherwise, Indian diplomacy failed to impress upon the American government the need of supporting the cause of Bangla Desh.

It is a sad commentary on Indian diplomacy that after spending so much of money on the globe-girdling tours of Ministers and of Sri Jayprakash Narain, neither India could convince the world powers the need of stopping arms and other aids to Pakistan nor could evoke any favourable response worth the name from any important power. However, the protogonists of Indian diplomacy may come forward with the plea that as with the U.S.A. our relations have never been cordial, Bangla Desh is not to be singled out for criticising Indian diplomacy. Failure to get favourable response from the American Administration is not so much due to the shortcomings of Indian diplomacy as much it is due to the intransigence of the power-intoxicated hawks in the U.S.A. But the apologists fail to notice that even with those countries with which the Government of India claims to have established most cordial rapport, like the U.S.S.R. and the U.A.R. there too our diplomacy has not gained any success in convincing them the justness of our stand. The U.S.S.R. is equally not prepared to put political pressure on the Yahya Khan's government. In the wake of the Sino-Russian cold war, Russia, only at great risk, would like to antagonise Pakistan by overtly supporting the cause of Bangla Desh. Russians interests' lie in seeing the tension in the sub-continent persists as it will give her an opportunity to maintain her position in the politics of

the sub-system. Her lukewarm approach to the Bangla Desh issue is also due to her fear that any support to Bangla Desh might unleash the chain reaction of separatist movement in the Soviet bloc. As here Indian and Russian interests do not coincide Indian diplomacy without power and without being in position to create a favourable situation could not win Russians.

Similarly, Indian diplomacy assiduously tried to maintain a facade of cordial relations with the Arab countries, especially with the U.A.R. (even at the cost of Israel's friendship). But with all the fanfare of the government of India about good relationship with the Arab world, the poverty of Indian diplomacy becomes clear. In the past also, Indian diplomacy could not score points on the issue of secularism and suffered rebuffs at a number of times. The Rabat Conference was the recent instance. On the question of Bangla Desh the U.A.R. and her friends have maintained a discreet silence. Their primary loyalty seems to be towards Islam, and, as such, General Yahya Khan's julum in Bangla Desh, besides being an internal matter, is to be construed an act of Jihad against the Kafirs of the Bangla Desh. Here again Indian diplomacy could not prove its salesmanship in selling the policy of non-alignment and secularism.

In the case of Communist China Indian Diplomacy right from the beginning suffered set backs. On the issue of Bangla Desh, China has kept the door open. She has neither covertly supported Bangla Desh as it might encourage separatist tendencies in China itself nor did she overtly come out in favour of the Yahya Khan's military atrocities, though her aids to Islamabad clearly shows where her interests lie. But this double-edged diplomacy of China is like a sword of Democles hanging over India's head. In China finally decides to come to the help of the people of Bangla Desh India's security would be in danger. India has not been able to bring forth this aspect of Bangla Desh clearly to the notice of the world powers. In view of the American pingpong diplomacy it may be that she

would not come to the assistance of India at her time of need. India may find herself then in a precarious situation.

Thus it seems that at present India is faced with the question of supporting the people of Bangla Desh unilaterally or letting them down which would mean letting herself down. But the question is: Is India prepared for this role? India's resources are already over-taxed. To feed the 70 million refugees is not a matter of joke. Her economy is likely to get a rude jolt. Uptil now India has not been able to convince the world powers and the United Nations that unless a political settlement is arrived at and confidence is created in the refugees, they would not go back to Bangla Desh. Pakistan is not willing to create such a situation. On the contrary, she wants to give an impression to the world that it is India that has created the problem by interfering in the internal matter of Pakistan. Yahya Khan's recent call for meeting with Mrs. Gandhi is a trap for India. Thanks god that Indian diplomacy met the challenge here squarely. But otherwise India is too chary about the susceptibilities of the Arabs, the reactions of the world powers, the reaction of the U.N. Our diplomacy could not invoke the U.N. Its representative, Dr. Aga Khan's role could not be considered worthy of an inter-national civil servant. But India there too could not get friends to deplore the role of the U.N. in a humanitarian cause. The quantum of aid which India is receiving from the U.N. and the world powers also shows that our diplomacy could not soften the hearts of the die hards for humanitarian cause. What is wrong with India? What should be done? Does it mean that India should march her military into Bangla Desh and declare war on Pakistan? Not necessarily. India should first make the world know that on Bangla Desh she needs bussiness. She should come out without reservation in favour of all support to the people of Bangla Desh. On 12th July only Sri Jagjiwan Ram, Defence Minister, for the first time officially pledged "all sympathy and support" to the people of Bangla Desh. India should have made it clear long time back. If Pakistan

for this reason might have gone to war with India she should have fought it out. It would have been a defensive war for consolidation. If India, as alleged, could be a shopping centre for the purchase of arms and munition for the Nepali Congress during the late forties, why should it not be the same for the Bangla Desh in the seventies ? India should raise the issue in the U.N. True it is that she will not get the support of other members on this issue but there is no harm in trying it. It will moblise the opinion of the people of the world in favour of Bangla Desh. India should raise the issue of genocide and discrimination against the Hindus in the U.N. Human Rights Commission. If Pakistan can falsely accuse India on minor incident in Ahmedabad of genocide why should not India pay her in the same coins on genuine ground ? It will be in the fitness of things to suggest that now it is high time when Sri Swarn Singh's call for re-appraisal of India's attitude towards the Bangla Desh issue should be made. India should unilaterally put economic sanction against Pakistan followed by breaking off diplomatic relations with her. Unless India diplomatically creates a situation which is likely to change the power-distribution in the sub-continent, world powers are not likely to put political pressure on Pakistan. Mrs. Gandhi seems to be right in pointing out to Dr. Kissienger, Advisor to Mr. Nixon, that India's patience is coming to an end and time is fast running out but she should have told him that time has already run out and India is contemplating action. Ambivalence in foreign affairs always do not pay. Sometimes it leads to self—deception leading to destruction, chaos and hardship. Ambivalence should be substituted by unequivocal action.

———

WOMEN IN INDIA

DR. (MISS) PADMA AGRAWAL

Head, Department of Psychology.

The status of women in most of the South East and Asian countries has been inextricably interwoven with religion. Arab is ruled by Islam, islamic law drawn from koran. Islam has been influential in determining the position of women in Turkey, Iran, Syria and Egypt. In India like other countries of Middle East and South Asia the attitude to women in all ages—vedic, epic i.e., Ramayan and Mahabharat or puranas—is related to the religio-philosophico system of the country. Average woman was a housewife. Actually the position of woman is still traditional; she is primarily a housewife and secondarily a career woman.

Vedic Age :

Vedic society was primarily patriarchal; polygamy was not in vogue. At the time of marriage oath was taken by the husband "Not make mention of other women". Marriages were settled by parents with the help of friends. There was no freedom of marriage. The birth of the son was being celebrated; the birth of the girl was referred to as 'only a girl after all'; prayers offerings have been of no avail.' But in vedic age we find woman orators, woman warriors, woman engaged in military and administrative fields. There was the system of participation of women in public life and there was no purdah system in vedic age.

Post Vedic Society :

In post vedic society from 300 B.C. there was compilation of Hindu Law and Manu was the law-giver. Hindu orthodoxy demand obedience and servitude on the part of wife to her husband. Women may be independent in religious field, but is dependent in all other matters. The women of India identified their religion with the very act of living and sublimated their duties into sacremental rites. The inner character does not change easily and in this context a reference can be made to

Ahalaya, Sita, Gandhari, Damyanti, Shakuntala, Rani Lakshmi Bai in Indian mythology.

In 1800 ideologically, legally and morally no importance was given to women. Then there came the abolition of Child Marriage (1860). The abuse of child bride raised the legal age of marriage. Widow Remarriage Act was passed in 1856 and satipratha disappeared. Married Woman's property act of 1879 protected woman's right. Sarda Act (1929) prohibited the marriage of girls under 14 throughout India. Special marriage act of 1954 introduced that marriage can be contracted by registration.

In the 20th century equality of sexes has become an accomplished fact in all areas—academic, social, economic and public. In Indian constitution the sanctity of equal rights have been given recognition. In India women to-day have two distinct roles (*a*) the role of a householder and (*b*) of a career woman. Both married and unmarried women can take up career. It is only during last 50 years that career women came up. Agriculture is the most common occupation in rural areas. In urban areas women do work in industry, in small trades, teaching and medical field. We find women lawyers, women magistrates, engineers, journalist, architects, although the number is exceedingly limited. Women are indiscriminately participating in social services, contesting seats in Loksabha and are participating in village panchayats.

We may summarize that the progress has taken place in view of (*a*) woman's right to property, (*b*) girl education, (*c*) working conditions, (*d*) marriage system, (*e*) woman's role in the family (*f*) woman's political right (*g*) woman's leadership and at present there are a number of women organizations to fight for women rights and welfare. There is enough of independent-minded and achievement-oriented woman in India. Our Prime Minister is the symbol of equal right and emancipation of women in India.

OFFICE OF THE OMBUDSMAN

RAJANI RANJAN JHA
Lecturer in Pol. Sc., Banaras Hindu University,

A new enthusiasm, almost a new religion, which has been sweeping through the democratic countries is what has been called Ombudsmania.[1] The Swedish word 'Ombud' simply refers to a person who acts as a spokesman or representative of another person.[2] But, it is now identified with an officer of parliament whose job is to investigate complaints from citizens about the way they have been treated by government officials, and when he finds it necessary to recommend remedial action.[3] According to the International Bar Association Resolution of 1974, "the office of the Ombudsman......should be in accordance with the following definition : An offiee provided for by the constitution or by action of the legislature or parliament and headed by an independent high level public official who is responsible to the legislature or parliament, who receives complaints from aggrieved persons against government agencies, officials, and employees ,or who acts on his own motion, and who has the power to investigate, recommend corrective action and issue reports." Thus, the Ombudsman is established as an instrument of Parliament for the supervision, and control of the administration. In the discharge of his duties he is independent not only of the government but also of the parliament. The parliament or legislature is only entitled to lay down the general rules for his activities.

The U. N. Seminar on Judicial and Other Remedies Against the Abuse of Administrative Authority, held in June 1962, in Stockholm, Sweden, listed the following features of the Ombudsman institution :—

(1) The Ombudsman was not only an instrument of parliament for supervising the administration' but also a protector of the rights of the individual. The institution not only afforded a fulfilment of

the sense of justice and fair play inherent in every individual, but also provided supervision on behalf of the people of the day-to-day activities of their government even if the government were elected by the people at specified periods.

(ii) There was the principle of impartial investigation by an authority entirely independent of the administration.

(iii) An investigation could be started by the Ombudsman not only on a complaint by an individual but also on his own initiative as a result of information he might acquire from inspections, press reports or other sources. Courts, on the other hand, were seized of a case only upon complaint of the interested parties.

(iv) The investigations of Ombudsman were conducted informally. In investigating complaints, the Obmbudsman had free access to all the files of the administration and he could demand explanations from the officials or authorities concerned. Administrative tribunals and courts on the other hand, were bound by formal rules in hearing cases and had more limited powers of inspection.

(v) The Ombudsman had considerable flexibility in the form of action which he could take in a given case. Various forms of action were open to him. If after investigation he found that an official had handled a case wrongly or unjustly or made an erroneous or improper decision, the Ombudsman could demand that proceedings he instituted against such an official or he might administer a reprimand and include the case in his report to the parliament. His intervention might also take the form of persuation instead of a critical report.[4]

The agrument for the Ombudsman derives from the fact that in the twentieth Century there has been a shift from the

laissez-faire state to the welfare state. With the change in the nature of the state there has been tremendous increase in the number and varieties of governmental activities. This has also increased the possibility of its abuse. In the age of the welfare state, thousands of administrative decisions are made each year and if some of these decisions, it is said, are arbitrary or unjustified there is no easy way for the ordinary citizen to gain redress.[5] The courts are too costly, cumbersome and slow. Other traditional methods, for seeking the redressal of grievances are also not effective today. Hence, the office of the Ombudsman seems to be the only answer.

Today an Ombudsman has become the standard part of the machinery of government in democratics countries. He is essentially the people's watch dog over the activities of the officials. He is more a teacher than a governor and his function is to persuade and not to command. He supervises the work of officials but does not interfere. "He stands on the side lines of the government, to observe, to appraise and to censure. He looks with sympathetic attitude towards persons perplexed by life and victimised by officialdom. He is, as it were, the auditor-general of human relations accounts.[6] The Ombudsman's primary power come from his ability to harness public opinion and bring it to bear on the government. Basically this is not a legal power at all -it is the same sort of power as is exercised by a member of parliament by putting questions to a minister. The powers given to an Ombudsman by law are his secondary powers of investigation, procuring evidence, and so forth. But the whole conception of the office is of great importance for lawyers, because it takes up the business of controlling administrative malpractice at the point where the law leaves off. The limits of what the law can or should do may thus be affected by the powers of the Ombudsman.[7]

The actual experience of the working of the Ombudsman in some countries has shown that the initial apprehension that the office will undermine the authority and moral of officials, thereby leading to the further deterioration in the quality of

their work, has proved unfounded. In Denmark, in the beginning the civil servants were suspicious even scared of the Ombudsman but lateron instead of fleeing from Ombudsman, they have flocked to him. To quote a judge of Denmark, 'It is rather striking that so many complaints originate from civil servants themselves.[8] An investigation by an Ombudsman is generally preferable to a public enquiry by a Commission of enquiry under a statute. His investigation is conducted with far less injurious publicity than the results obtained from enquiries under a statute. He can get an evidence from places where others cannot reach.[9] The Ombudsman has become a household word in almost all democratic countries. It has added new dimension to the business of ensuring that the powers of government are exercised, fairly, humanly and reasonably.

History

The institution of Ombudsman as a mechanism for handling of grievances of the public against administrative impropriety and insensitivity was first created by the Swedish constitution in 1809. From Sweden the idea spread to other Scandinavian countries, Such as Finland (1919), Denmark (1954) and Norway (1962) where similar institutions were established. It then spread to other countries such as New Zealand (1962), the states of Alberta (1967) and New Burnswick (1967) in Canada, Hawaii (1969), Guyana (1966), Tanzania (1967) Great Britain (1967), Fiji (1970) Australian State of New South Wales (1974), Federal Republic of Germany (1959), Israel (1971), Northern Ireland (1969), Mauritius (1970), Switezerland (1971) and Zambia (1973).[10] The number is still increasing and is quite exhaustive.

Apart from the above list, institutions akin to the office of the Ombudsman, but with restricted powers and functions, exist in many countries. In the U.S.S.R., Czechoslovakia and Yugoslavia there is the institution of the Procurator ; in Spain, the Commission of Legislative control and the office of the Fiscal and in Austria, there exists a court of Accounts, an organ on

behalf of Parliament to exercise control over the administration similar to that of the Ombudsman.[11]

Sweden :

The Swedish Ombudsman exercises general supervision over virtually all government departments to ensure the observance of the law and the constitution. Since 1968 three Parliamentary commissioners having the same rank but responsible for different spheres of supervision are functioning in Sweden. In May 1972, the Riksdag appointed a committee to examine the Ombudsman institution, its principles and problems. The committee in April 1975, presented its report. Among its recommendations are the 'authority' to dismiss complaints if of minor importance ; a complaint of a matter more than two years old should not be handled unless an enquiry is essential in the public interest ; authority to refer complaints to another authority to a greater extent than at present etc."

Denmark, Norway, Finland and New Zealand :

The Denish Ombudsman is responsible for investigating any complaint against the public official concerned for abuse of power, negligence or abuse of trust. Denmark and Finland have taken the Swedish Ombudsman as the model.[12] But the jurisdiction of the Swedish and Finnish Ombudsman is more extensive than that of their Denish, Norwegian and New Zealand counterparts.[13] In Sweden and Finland the Ombudsman supervises not only the administration but also the courts. The Dinesh Ombudsman's task is first of all to supervise all state administration. This is not the task of the Norwegian Ombudsman. He may investigate, on his own initiative any administative case. But his principal task is to deal with complaints from individual citizens only. He can make no administrative decisions and has no authority to give instructions general or particular.[14] In New Zealand the Ombudsman is empowered to investigate any administrative decision, recommendation, act or omission of any department or organisation under the purview of the Ombudsman, or of an officer,

employee, or member thereof if it affects any person or body of persons in his or its personal capacity. He has not to be concerned with the question of illegality which is for the courts, nor of policy which is for parliament ; his jurisdiction is confined to the acts of omission and stops at the recommendation made to the Minister, or the Prime Minister and lastly to Parliament.[15] The Swedish Ombudsman himself initiates criminal proceedings against a civil servant if he finds that a breach of law has been committed. The Denish Ombudsman can in the same circumstances demand that criminal or disciplinary proceedings be initiated, while in Norway and New Zealand be may only recommend this.[16] In Finland, Sweden and Denmark local government authorities come under the jurisdiction of Ombudsmen there. In Norway and New Zealand they don't fall under his jurisdiction. The Judicial authorities come under the supervision of the Ombudsman in Sweden and Finland but not so in Denmark, Norway and New Zealand. In New Zealand the Ombudsman has power to investigate cases where discretionary power has been exercised for an improper purpose or on irrelevant-ground. In Norway he has been given this right in a restrective way.

Great Britain :

In Great Britain the office of the Parliamentary commissioner was established in 1967 through an act of parliament. The Key word in the British Act of 1967 is 'maladministration'. The task of the parliamentary commissioner is to investigate and report on complaints by members of the public (through members of the House of commons) who claim to have 'sustained injustice in consequence of maladministration'.[17] His powers of investigation extend to actions taken by central government departments in the exercise of their administrative functions, but not to policy decisions (which are the concern of the government and can be questioned in Parliament). Certain administrative actions outside his jurisdiction include matters affecting relations with other countries and the activities of British official outside the United Kingdom. In the performance of

his duties, he has access to all departmental papers and reports his findings to the member of parliament who presented the case. The Parliamentary commissioner reports annually to Parliament and may submit such other reports as he thinks fit. A Select Committee considers these reports.[18] The office has functioned quite successfully. The first Parliamentary Commissioner Sir Edmund Compton developed this office into repute through his skill and care of investigations. The concluding observation of Sir Alan Marre, the second Parliamentary Commissioner, in his final annual report (1975-76) about the works of the Commissioner that "the whole series of improvements in administrative practices and procedures which have been in part or in whole on the results of our investigations" and in the "undoubted influence though it cannot be measured, upon the way departments work",[19] speaks in volume the contribution of the office towards administrative efficiency in Britain. At present Sir Idwal Pugh is the Parliamentary Commissioner in Britain.

U.S.A.:

In the United States of America the term Ombudsman is used in a very comprehensive term to mean any complaint handling system whether governmental or non governmental.[20] In the U.S. therefore one finds Ombudsman for Navy, Consumer Protection, Local Government, Business, education and so on. In almost all states one or the other types of Ombudsmen are functioning. The American Bar Association in a resolution adopted in 1969 and amended in 1971 has not only expressed concern over the indiscriminate use of the word Ombudsman for any complaint handling mechanism but has also recommended certain essentials for the office of the Ombudsman in the U.S.A. which are more akin to the idea prevalent in other parts of the world.[21]

India:

In India the idea of an Ombudsman started gaining interest after the publication of Whyatt Report in Britain.

Since then the office has been recommended by various bodies through Seminars, conferences etc. For the first time the idea was discussed in Lok Sabha on April 3, 1963 during the debate on the Demands for Grants of the Ministry of Law.[22] The Rajasthan Government appointed an eight member committee headed by Sri H. C. Mathur, in 1962 to suggest administrative reforms. The Committee recommended on the lines of the institution of Ombudsman in other countries.[23] Then came Santhanam Committee reports for the prevention of corruption. It was the Administrative Reforms Commission (ARC) that recommended in its interim report in 1966 the establishment of institution of Lokpal and Lokayuktas. Those recommendations were accepted by the Government and a Bill for the purpose was introduced in the Lok-Sabha in May 1968. It was passed by the Loksabha in 1969 and 1971 but it lapsed on both occassions for one reason or the other.[24]

Lokpal Bill, 1977 :

The Janata Party, in its election manifesto, had declared its firm determination to establish the institution of Lokpal. A new Bill known as the Lokpal Bill, 1977 was introduced in the Loksabha on the 28th July, 1977 and was referred to the Select committee. In the statement of objects and reasons it has been explained that under the new scheme the jurisdiction of the Lokpal will cover any complaint of misconduct against a person who is or has been a public man as defined in clause 2 (*g*) of the Bill, which includes the Prime Minister, Members of Parliament and Chief Ministers of States etc. Allegations against Civil servants will not come within the purview of the Lokpal, and grievances as distinct from allegations of misconduct, will be excluded from his jurisdiction. The Select Committee suggested certain changes in the Bill, about which A. G. Noorani has remarked that "There must be very few important Bills in recent Parliamentary history which have emerged from a Committee of Parliament in such a battered shape as the Lokpal Bill.[25] Many points can be raised for an against but the Bill has not yet been passed by the Parliament.

In the meantime the office of the Lokayukta has been quite successfully functioning in the states of Bihar, Rajasthan and Maharastra Since 1973. In U.P. it is functioning since 1977. The first Lokayukta of Bihar Dr. S. V. Sohani did commendable work in the removal of certain grievances of the people.[26] The Report of the Lokayukta in Maharashtra sparked off controversies regarding the role of the Lokayukta and the then Chief Minister called the 'report motivated'.[27] The indifference of state Government towards the Lokayukta is truly tragic because as it is, he functions under severe limitations.[28] It can not prove effective unless the office is provided with separate investigatory agency and its reports are binding on the government.

References

1 H.W.R. Wade, "The Ombudsman : The Citizen's Defender", in Dr. L. M. Singhvi & others (Ed.), *Law and the Commonwealth* (National, Delhi", 1971), p. 3.

2 R. L. Narasimhan, "The Indian Ombudsman Proposal : A Critique *Inid.* p. 24.

3 Donald. C. Rowat, "The Parliamentary Ombudsman : Should the Scandinavian Scheme be Transplanted ?" *International Review of Administrative Sciences*, XXVIII, No. 4, 1962, p. 399.

4 U. N. Seminar, *Judicial Remedies*, 1962, p. 17.

5 Rowat, *op. cit.* p. 402.

6 *Quoted by* R. L. Narsimhan *op. cit.* p. 26.

7 Wade, *op. cit.* p. 4.

8 Cited by Narsimhan, *op. cit.* 27.

9 Narasimhan, *Ibid.* p. 27.

10 Based on 'Ombudsman Survey' by Bernard Frank, July 1, 1974—June 30, 1975, (International Bar Association, Ombudsman Committee, U.S.A.)*d*

11 "U. N. Seminar," *op. cit.* pp. 16-18.

12 *Indian Express*, Delhi, 31st August, 1977.

13 Rowat, *op. cit.* p. 400. Also see the *New Zealand Parliamentary Commissioner Act*, 1962.

14 Terje Wold, "The Norwegian Parliamentary Commissioner for Civil Administration," *Journal of the International Commission of Jurists*, Vol. II (1959-60) No. 2, p. 27.

15 J. F. Northey, "A New Zealand Ombudsman," *Public Law*, Spring 1962, pp. 43-51. and *New Zealand Act*, 1962, *op. cit.*

16 "U. N. Seminar," 1962, *op. cit.* p. 14.

17 *Parliamentary Commissioner Act*, 1967, s 5(i) (a).

18 *Britain*, 1976, *An Official Handbook*, (The Central office of information, London, 1976), p. 39.

19 Donald Shell & others, "British Constitution in 1976", Parliamentary Affairs, Vol. XXX, No. 2, Spring 1977, p. 154.

20 Bernard Frank, "Ombudsman Survey", p. 2.

21 For details see the "Resolution of American Bar Association" (1971) *Ibid.*, p. 50.

22 *Lok Sabha Debate*, Vol XVI, dated 3rd April 1963, cc. 7592-93.

23 *Statesman*, September 23, 1963.

24 *Indian Express*, New Delhi, 31 August, 1977.

25 *Sunday Standard*, New Delhi, Aug. 20, 1978.

26 See the *Annual Report* (1974-75 and 1975-76) of the Lokayukta of Bihar, (Secretariate Press, Patna).

27 *Patriot*, New Delhi, August 6, 1977.

28 *Times of India*, New Delhi, May 21, 1978.

NOBILITY UNDER ALAUDDIN KHALJI (1296–1316 AD)

DR. K. L. SRIVASTAVA, *M.A., Ph.D.*
Department of History Banaras Hindu University

With the help of the disaffected nobility at the Court, Alauddin succeeded in assassinating Jalaluddin Khalji at Kara[1] and capturing the throne (1296). Malk-i-Jahan's[2] plan of elevating her youngest son, Qadra Khan to the throne miserably failed.[3] Even Arkali Khan, who was at Multan, did not realise the gravity of the situation and failed to put up a united front against Alauddin. Finding the political situation out of her control, Malka-i-Jahan summoned her son, Arkali Khan from Multan. But he declined to move and said, "As the nobles and their retainers have all gone to the enemy, what would be the good of my coming ?"[4] The Jalali nobles led by Malik Ahmad Chap could not forge unity among themselves. On the other hand Alauddin won over the sentiments of 'the young Khilji party'.[5]

As there was no way out, Malik Ahmad Chap and other members of Jalaluddin's family secretly fled[6] and joined

---

[1] Kara had become a centre of rebels and nobles opposed to the Sultan found refuge with Alauddin.

R. P. Tripathi, *Some Aspects of Muslim Administration*, Allahabad, 1956, p. 47.

[2] Malka-i Jahan, the wife of Jalaluddin was advised to place Qadra Khan to the throne as it would be too late to wait for Arkali Khan to arrive from Multan.

[3] Jalali nobles like Tajuddin Kuchi, Amaji Akhurbeg, Amir Ali Diwana, Usman Amir Akhur, Amir Kalan, Umr-Surkha and Hiranmar who had gone to resist the advance of Alauddin's army to Delhi, joined Allauddin. They got 20, 30 and even 50 *man's* of gold individually as their price for desertion. A Jalali soldier, who deserted, was offered 100 tankas as bribe. (Barani, *Tarikh-i-Firuzshahi*, pp. 245-46).

[4] K. S. Lal, *History of the Khaljis*, Allahabad, 1950, p. 973.

[5] R. P. Tripathi, op. cit., p. 48.

[6] A. Badaoni, Ranking, vol I, p. 245.

Arkali Khan at Multan Alauddin was overjoyed at this new development and entered Delhi where he made elaborate arrangments for his coronation. He was a farsighted ruler who immediately formed a Coalition ministry of some Jalali nobles and his own trust worthy men to administer the country.[1] A large number of key posts in the administration was filled up.[2] Dr. I. H. Siddiqi observes "With the advent of Alauddin Khalji the nobility became more broad-based as the expansion of the Empire had necessitated the recruitment of large numbers of people for its army and administration. It now included common people as well as men of noble birth".[3]

Alauddin wanted to eliminate from the political scene the sons of Jalaluddin and a section of Jalali nobles who had made Multan a centre of their activities. Ulugh Khan[4] and Zafar Khan were ordered to lead the expedition against them. Their task was made easier by the intervention of Shaikh Ruknuddin Multani, who wanted to avoid bloodshed between the warring groups. The Shaikh arranged a meeting between Arkali Khan and Ulugh Khan in the latter's camp. When once Arkali Khan and his party came in the clutches of Alauddin, they could not escape. They were probably put to death on

[1] K. S. Lal, op. cit., p. 73.

[2] Khwaja Khatir who held the post of the Prime Minister Since the time of Balban was confirmed. Qazi Sadra-i-Jahan Sadruddin Arif became *Qazi-i-Mumalik*. Malik Umdatul Mulk was entrusted to the office of *Diwan-i-Insha* and his sons Hamiduddin and Aizuddin were also taken into the State sevices, Saiyyad Jalal retained his old post of Shaikhul Islam, Nusrat Khan became the Kotwal of Delhi. Malik Fakhuruddin Kuchi became *Dadbeg-i-Hazarat*. Malik Abaji, the noted Jalali noble and Malik Hiranmar were made *Akhurbeg* and *Naib Barbak* respectively. Zafar Khan became *Ariz-i-Mamalik*. Ziauddin Barani's father Muyidumulk and uncle Alaulmulk were appointed as Mayor of Baran and Governor of Kara respectively. Malik Juna retained his old post of *Naib Vakil-i-dar*. (Barani, p. 247-48).

[3] *Some Aspects of Afghan Despotism in India*, Aligarh, 1969, Introduction, p. vii.

[4] On becoming Sultan, Alauddin conferred the title of Ulugh Khan' on his younger brother Almas Beg.

the orders of Alauddin.[1] On the advice of his brother, Alauddin punished all those Jalali nobles, who had joined him in return for gold. They were blinded and ther wealth was confiscated by the state.[2] By his ruthless behaviour, Alauddin suppressed the refractory nobles and created a new class of nobility which was subservient to him.[3] These measures not only succeeded in the suppression of nobility but brought gains to the royal treasury.[4]

Alauddin was soon confronted with the revolt of the Neo-Muslims near Jalor (1299). They refused to pay the *Khums*[5] on the booty obtained by them in the Gujarat expedition. The imperial generals used force to realise the amount from them which precipitated the crisis.[6] The Neo-Muslims[7] conspired to kill the army officers.[8] Having failed in their

---

[1] Arkali Khan, Qadra Khan, Mali Ahmad Chap, Malik Alghu (Son-in-law of Jalaluddin) were blinded and they were cut off from their families : Later on Arkali Khan and Qadra Khan were killed by the Kotwal of Hansi. (Barani, p. 249 ; Ferishta, p. 102 ; Badaoni, Ranking Vol. I, p. 248).

Malka-i-Jahan, Malik Ahmad Chap and Malik Alghu were handed over to the custedy of Nusrat Khan and their fate is not known. Probably they were killed (K. S. Lal, op. cit., p. 80, f.n.).

[2] With the exception of three Jalali nobles such as Malik Qutbuddin Alvi, Malik Nasiruddin and Malik Amir Jamal Khalji, who did not accept gold from Alauddin, all others were incrcilessly treated. (Ibid., p. 81).

[3] K. S. Lal, op. cit. p. 81.

[4] It is said that a crore of rupees was collected by resorting to these penal measures. (Ibid.).

[5] It was a tax equivalent to one-fifth of the war booty which was realised from the Muslim soldiers by the Islamic state.

[6] They were beaten with iron rods and given inhuman corporal punishment to ascertain the exact amount of wealth acquired by them. (*Tarikh-i-Mubarakshahi*, p. 76).

[7] According to Isami the leaders of the conspiracy were Muhammad Shah, Kahbru, Yalhaq and Burraq. (*Futuh us Salatin*, p. 244).

Yahya gives the names of the rebels as Iljak, Kasri, Begi, Tamghan, Muhammad Shah, Timur Bugha, Shadhi Bugha and Qutlugh Bugha, (*Tarikh-i-Mubarak Shahi*, p. 76).

[8] Malik Aizzuddin the *Amiri-i-Hajib* and Nusrat Khan's brother were killed by the Neo-Muslims. Some how the imperial generals escaped and marched to Delhi viaMathura where Ulugh Khan constructed a mosque. (*Epigrahia Indo Moslemica*, 1938, pp. 59-61.).

objective the rebels fled to Rajasthan.[1] In a spirit of retaliation, Alauddin punished their wives and children who were in Delhi.[2]

After his victory at Ranthambhor (1301). Alauddin seriously considesed the problem of nobility in the state.[3] While the Siege of Ranthambhor was continuing, he was confronted with a series of revolts led by Sulaiman Shah Ikat Khan, a nephew of the Sultan,[4] Umar Khan and Mangu Khan, the governors of Badaon and Awadh,[5] and Haji Maula.[6] The recurrence of revolts led him to think about the relations of the nobles with the Sultan. He also discussed the various factors responsible for the defiance of royal authority by the noblity with his favourite nobles like Malik Hamiduddin, Malik Aizzuddin, Malik Ainul Mulk Multani and others. He came to

---

1 Muhammad Shah and Kahbru got asylum in Ranthambhor while Yalhaq and Burraq took shelter with Rai Karan, the fugitive King of Gujarat who was a guest of Raja Ram Chandra Deva of Deogiri (*Futuh usSalatin*, pp. 244-45).

2 Alauddin ordered that the wives and children of the rebels to be seized. Nusrat Khan with a feeling of vengeance handed over these women to the sweepers and the little children were cut to pieces before their mothers. Barani is indignant over the punishments given to them which 'have never been allowed by any code of religion'. (Barani, p. 253; see also K. S. Lal op. cit. p. 88).

3 It is said that after the conquest of Ranthambhor Alauddin was so apprehensive of his safety in the capital as a result of the revolts of the nobility that he had not the courage to enter Delhi. He spent most of his time in hunting in the vicinity of the city. (Barani, p. 283; *Futuh us Salatin*, p. 269).

4 Ikat Khan was the son of Muhammad, the younger brother of the Sultan. He held the post of *Vakil-i-dar*.

5 Umar Khan and Mangu Khan were the sons of the Sultan's sister.

6 Haji Maula was the slave of Kotwal Fakhruddin. He held the post of Chief *Shahnah* of Delhi in the time of Sultan Jalaluddin. (Ferishtah, p. 107;) Haji Maula was the Superintendent of *Khalsa* land at Ratol (15 miles north-east of Delhi) when he revolted. He was supported by by Ilbaris. (K. S. Lal op. cit., p. 108).

the conclusion that there were four basic reasons for the disloyalty and hostile attitude of the nobles towards the Sultan[1]:

1. The indifference of the Sultan towards his subjects and nobles.[2]
2. The use of wine encouraged refractory elements to flock together.
3. The unrestricted association of the grandees of the empire and the union of powerful houses by matrimonial alliances which help in forming confederations against the Sultan.
4. Wealth, being the root cause of all troubles, made people arrogant and fostered rebellious tendencies.

After the conquest of Chittor (1303) Alauddin enforced drastic steps to curb the power of the nobility. Meetings and drink-parties were prohibited by the Sultan. The nobles could not enter into matrimonial alliances without the prior permission. These regulations were rigidly followed.[3] Alauddin's next move was to make the nobles poor. All the lands previously assigned to the nobles, government employees and wealthy persons as *milk* (property), *Waqf* (gifts) and *Inam* (rewards) were confiscated by the Sultan and converted into *Khalsa* (Crown) land.[4]

It appears that the practice of landgrants was not altogether griven up.[5] The wealthy Hindus having large tracts of land and Hindu employees working in the revenue department such as Muqaddams (Chief men), *Khuts* (Small Zamindars)

---

[1] K. S. Lal. op. cit., p. 227.

[2] Barani, p. 282.

[3] K. S. Lal, op. cit., p. 228.

[4] Barani (p. 309) writes that the nobles who had no landed property were given grains from the state grenaries in times of emergency. It is, therefore, evident that there must have been a class of nobility possessing land grants (see also K. S. Lal op. cit.;— p. 243).

[5] Malik Qabul Ulugh Khani, the *Shahnah* of the grain market, was assigned a landed estate. (Barani, pp. 250-51).

But Alauddin generally offered salary to the government employees in cash. Amir Khusrau received a fixed amount, (I. H. Qureshi, *The Administration of the Sultanate of Delhi*, Lahore, 1942, p. 119).

and *Balahars* (farmers) were also impoverished.[1] The *Khuts*, *Muqaddams* and *Chaudhris* had adopted much of the Muslim aristocratic culture. They rode horses, wore fine garments chewed betel and held wine-parties.[2] The Sultan reduced the status of nobility to that of slaves and many disabilities were imposed on them.[3] The enforcement of these rules had the desired effect. The nobility became fearful and submissive to the authority of the Sultan.[4] The suppression of the nobility helped a great deal in the smooth functioning of the state administration.[5]

Alauddin discussed the position of Hindus with his advisers and wanted suitable measuses to be adopted against them. He believed that the wealth of the Hindus was also a cause of rebellion as in the case of nobility. The Sultan could not tolerate the prosperity of the Hindu landed aristocracy and the privileges enjoyed by those working as revenue officials.[6] These employees were exempt from the payment of taxes such as *Kharaj*, *Jizya*, *Kari Charai* etc. They were allowed to charge *Khuti* (Collection Charges) from the peasants. They were arrogant and disloyal. They never attended the office of the Diwan. Alauddin passed a rigorous and uniform legislation applicable to both the Zamindars and the cultivators.

---

[1] Barani, p. 287-88.

[2] Ibid., p. 291.

[3] Alauddin imposed three conditions of slavery on the nobles: Firstly in the event of noble's death his property would lapse to the state, Secondly, no marriage settlement could he made by nobles without Sultan's sanction and lastly the sons of the nobles would become the slaves of the Sultan. (K. S. Lal, op. cit, p. 228).

[4] It is said that the nobles became so docile that none had the couragetotalk loudly in the court. They conversed only in whispers. (Ibid.).

[5] Ibid.

[6] A Hindu named Sadharna was appointed as treasurer (*Dhanadh Karan*)—*Journal of Indian History*, August, 1936 p. 183. One Devchand was appointed as Diwan of the *Muqta* of Kara in 1309 *Ijaz-i-Khusraur*, Eng. Tr. Prof. Hasan Askari—*Medieval India—A Miscellany*, Aligarh, Vol. I, pp. 16-17.

It was the policy of the Sultan that the Hindus should not have so much wealth to enable them to put on fine garments, ride horses and live luxuriously.[1]

On consolidating his position, Alauddin pursued a vigorous policy against the nobles. He did not tolerate any rivalry and opposition to his authority. He destroyed even powerful nobles, if he had some doubts against their sincerity.[2] Personal jealousy among the barons was also noticed.[3] By the year 1315 the sultan's health began to decline and his temperament became very harsh. In his last days, Alauddin was only surrounded by his flatterers. The loyal nobles like Alaul Mulk Nusrat Khan and Ulugh Khan were no more. The Neomuslims were becoming restless as a result of heavy taxation imposed on them. They were rendered homeles by the conversion of all jagir lands into *Khalsa* land. The execution of their leader Abaji Mughal during the Sultan's expedition to Maabar precipitated the crisis. They conspired to murder the Sultan and hoped that the people in general and Mongols who were being tyrannised would support them.[4] The secrets of this conspiracy some how leaked. In retaliation a large number of Mongols were killed and their wives and children were delivered to their murderers.[5] According to Barani twenty to thirty thousand

---

[1] Barani, pp. 287-88.

[2] Ulugh Khan was poisoned to death (1301) on his way to Delhi from Ranthambhor. It is said that during the revolt of Ikat Khan, Ulugh Khan had declared that if the Sultan was no more, his brother was there to take his place. Alauddin grew suspicious about his brother's designs and caused his death. (*Futuh us Salatn*, pp. 272-73).

Barani is silent on this episode. According to him Ulugh Khan was mobilising a huge force for fighting against the Mongols when he suddenly fell a victim to cruel fate. (Barani, p. 299).

[3] Zafar Khan's bravery in his expeditions against the Mongols incited the jealousy of Ulugh Khan who brought about his fall in not providing timely help to Zafar Khan in his fight against the Mongols led by Qutlugh Khwaja (1299). The Mongols surrounded Zafar Khan and killed him in a fierce engagement. (Ibid., pp. 160-161).

[4] Barani, p. 365 ; *Futuh us Salatin*, p. 288-91.

[5] Ibid., p. 335-336.

Mongols were slaughtered[1] who were mostly ignorant of any such conspiracy.

Malik Naib Kafur who was closely attached to the Sultan[2] perpetrated horrible tyrannies over the nobles in order to satisfy his lust for power. Loyal and efficient nobles were removed from the state administration.[3] Kafur wanted to assassinate Alp Khan, the governor of Gujarat who had close associations with the Sultan's family.[4] One day, while he was entering the palace, Kafur got Alpkhan murdered.[5] Kafur also poisoned the ears of the Sultan against the Princes Khizrkhan[6] and Shadi Khan and the Sultan's wife Malka-i-Jahan. He got the royal orders issued for their confinement.[7] The report of the rebellions in various parts of the empire roused the anger of the Sultan. All his life's work appeared to be lost. Amidst

---

[1] But Ferishta (p. 120) gives the figure as fourteen to fifteen thousand.

[2] S. B. P. Nigam, *Nobility under the Sultans of Delhi*, Delhi, 1968, p. 65.

[3] Malik Hamiduddin and Malik Aizzudin were dismissed and Sharf Qayani was murdered. With their exit, the important departments like *Diwan-i-Vizarat*, *Diwan-i-Rasalat* and *Diwan-i-Insha* passed into the hands of Kafur. (Barani, pp. 334, 337).

[4] A. See *Futuhus Salatin*, pp. 329-30.

[5] Alp Khan's sister Malka-i-Jahan was married to the Sultan. He also married his two daughters to the two Princes Khizr Khan and Shadi Khan. Alpkhan was very popular in Gujarat. People of Gujarat revolted under the leadership of Haider Vazirak when they knew about the assassination of Alpkhan. Kamaluddin was sent to suppress the revolt but he was killed by the rebels. (K. S. Lal, op. cit. p. 325).

[6] Khizr Khan was declared heir apparent—(Barani, p. 367-68).

[7] Malkai-iJahan was imprisoned in the Red Fort of Delhi. Khizrkhan and Deval Rani were sent to Gwalior. Shadi Khan was confined to Kaushak-i-Siri.

According to Amir Khusrau, the Sultan wept bitterly. When Khizr khan was being sent to Gwalior, Alauddin remarked that it was not he but the cruel fate which was punishing his son (Deval Rani, p. 250).

Barani (p. 372)) writes that by a royal decree Khizr Khan was disqualified for succession of the throne and Shihabuddin (a boy of 5 or 6 years)son of Alauddin was declared heir—apparent. iSee also *Futuh us Salatin*, pp. 335-36.

these developments and anarchical state of affairs, Alauddin died on January 6, 1316.[1]

Malik Kafur declared Shihabuddin Umar Khalji,[2] a minor son of Alauddin to be the Sultan of Delhi and he kept the Regency with himself. The nobles were summoned to the court and were asked to pay homage to the new Sultan.[3] Kafur began his rule by perpetuating cruelties on the nobles. He pressumed that all the nobles were loyal to him. On his orders khizr Khan and Shadi Khan were blinded in the forts of Gwalior and Kaushaki-Siri respectively.[4] Malka-i-Jahan was sent to Gwalior after being deprived of all jewellery and gold. Kafur captured other sons of Alauddin viz. Farid Khan, Usman Khan, Muhammad Khan and Abu Bakr Khan.[5] In the court, Kafur used to address the nobles after the style of Alauddin. During the night, he used to play dice and gamble in the company of his favourites[6] and chalk out programmes to root out othr influential members of Alauddin's family.[7]

Kafur's activities were being closely watched by a section of the nobility who were being annihilated by his nefarious designs. The crisis came when Kafur sent four *paiks* (footsoldiers) to blind Mubarak Khan.[8] Mubarak Khan reminded those *paiks* of their duty towards the members of the family

---

[1] According to Amir-Khusrau, the Sultan was poisoned by Kafur— (*Deval Rani*, p. 259).

[2] He was the 7 year old son of Ramchandra Deva's daughter who was married to Alauddin (Ferishta, p. 123; R. P. Tripathi, op. cit., p. 50).

[3] Barani, p. 372.

[4] Sunbal was sent to blind Khizr Khan in Gwalior Shadi Khan was also deprived of his sight in Kaushak-i-Siri. *Futuh us Salatin*, pp. 337-38; *Deval Rani*; p. 261 sunbal was to be rewarded by elevating him to the post of *Barbegi* in the court. (Barani, p. 373).

[5] *Futuh us Salatin*, pp. 341-42.

[6] S. H. Hodivala, *Studies in Indo-Muslim History*, Bombay, 1939, pp. 283-84; K. S. Lal, op. cit., p. 321.

[7] S. H. Hodivala, op. cit., p. 284.

[8] The names of the *paiks* were *Mubshar*, *Bashir*, Saleh and Munir. *Futuh us Salatin*, pp. 342-43.

of their master, Alauddin and incited them to murder Kafur. Mubarak Khan also gave a jewelled necklace to those *paiks* in reward for their services in this regard. The *paiks* were so overwhelmed by the discourse of Mubarak Khan that they immediately proceeded to the royal palace and killed Kafur.[1] Mubarak Khan was then taken out from his confinement. He became the Regent of the infant Sultan, Shihabuddin Umar Khalji.[2] After consolidating his position, Mubarak Khan deposed Shihabuddin and styled himself as Qutbuddin Mubarak Shah Khalji, the Sultan of Delhi.[3] Mubarak Shah Khalji got the *paiks* beheaded as they had become arrogant and they openly boasted of murdering Kafur and elevating Mubarak to the throne.[4]

The rise of Alauddin Khalji filled the hearts of younger section of nobility with new aspirations of conquests and expansion.[5] He gave a new dimension to the role of nobility as compared to Jalaluddin who followed only the beaten track of the Ilbari Turks. Alauddin created a new class of nobles loyal to him. It was on account of his devotion and loyalty to the Sultan that Alauddin did not like the campaign of vilification of Malik Kafur against Alp Khan. But Alauddin did not allow thir younger class of nobility to have any upper hand in the slale administration. At times he grew suspicious against the designs of Zafar Khan and Ulugh Khan. The death of Zafar Khan at the hands of the Mongols was deliberately planned by Ulugh Khan who refused to provide military help to him in the hour of need. Ulugh Khan's casual reamrks about his title to the throne in the event of his brother's death brought about his fall.

---

1 S. B. P. Nigam, op. cit., p. 62.

2 Ferishta, p. 124.

3 In formulaltng this scheme of bringing Mubarak Khan to power and removing Kafur, the military officers supported the *paiks* (K. S. Lal, op. cit., p. 321).

4 Shihabuddin was blinded and sent to the fort of Gwalior two months after Mubarak Khan's assumption of royalty. (Barani, p. 377).

5 K. S. Lal, op. cit., p. 322.

Alauddin did not dislodge the older section of nobles as is evident from the continuation in office of nobles like Alaul Mulk,[1] Khwaja Khatir[2] Fakhruddin Kuchi and others. The methods adopted by Alauddin in gaining power after murdering Jalaluddin started a chain of reaction among the nobles. Ikat khan, Umar Khan and Mangu Khan unsuccessfully tried to adopt the same method in capturing the throne. In the beginning of his reign he only crushed the power of the Jalali nobles. But in the long run Alauddin could not conceal his abhorrence for the Neo Muslims. It is significant that after the couquest of Gujarat, *Khums* was demanded only from Neo Muslim military officers who were subsequently forced to rebel. The Sultan's retaliatory steps against these rebels and the members of their families shocked the conscience of his contemporaries.

Though illiterate Alauddin was far more practical in his dealings with the nobility, as is evident from a series of regulations passed by him in curbing their power. To keep the nobility under subjugation, he employed spies against them to report about their day to day activities. In the last days of his life, Alauddin's close attachment to Kafur brought about the destruction of nobles who were loyal to him. Malik Kafur eliminated the powerful barons from the political scene who were obstacles in the fulfilment of his ambitious designs. Although Malik Kafur did not hold the throne for himself, his nefarious designs are clear in the imprisonment and blinding of royal princes. The nobility loyal to Alauddin coul heave a sigh of relief only on the death of Kafur.

-----

[1] Alaul Mulk was holding important post in the time of Kaiqubad.

[2] He held the post of Vazir since the days of Balban and Alauddin did not disturb him in the initial stages.

EARLY MEDIEVAL ECONOMIC LIFE IN SOUTH RAJASTHAN

DR. RAJA RAM,

Deptt. of History, B.H.U.

In treating the economic progress during the early medieval times in South Rajasthan, it is imperative to begin with the nahral resources.

1. *Agriculture*

The Sarnesvara inscription[1] of 951 A.D. gives us some important information about the agricultural products, viz., Cotton, oil, flowers and grains. Further an inscription[2] of 996 A.D. mentions the following produce: betel leaves, wheat, barley, Cotton, saffron, gum, pura ie.e. Guggulu, madder, mung, rala, etc. In addition to the above another record[3] of 1146 Ao. belonging to the reign of a fludatory local Guhilot king ruluka of Mangrol give a long list of agricultural products viz., betel leaves, fruits, beletnuets, and all sorts of grains. These references show the fertility of serl and rich cultivation in south Rajasthan. (known as Mahapiata in those days. Cotton was produced in large quantity and is mentioned among the articles of export from Bharoch by Màrco Polo[4] upto the thirteenth cutung Ao.

The dense forests abounding in the trels of shav, Khadira, Asoka, Palàsa, Tilaka, Mango, Champà, Kesara and Vineyards are mentioned in the Rasiari's Chhatri inscription[5] of 1274 Ao. The timber and fruits of these trees must have added to the wealth of the land.

2. *Mineral Resources*

The fertility of the with Rajasthan soil compares unfavaurably with that of the alluvial Gangetic plains, but the comparatively meagre wealth, that was available from agriculture, was supplemented by the mineral prodects. Copper, silver and gold were precious netals used in the manufacture of ornaments,

utensils, and coins. Gold was perhaps in abundance, for the locit kings had developed general practice of making gifts of gold to the temple. The Abuiscription of 1285 Ao. informs us that "king Samarasimha caused high golden staff to be made for Achalessare" ?[7] The Custom of Tuladàna (gift of one's weight in gold) mentioned in the Ekalingaji inscription[8] tends to show the richness and prosperity of the land in precious metals.

There are some traces of mines of silver[9] and lead[10] in jàwar (18 miles from Udaipur), of Copper[11] in Boraj, Anjani and Rewàdà, of iron in Pala and Anjani (at a distance of 24 miles from distance of 24 miles from Chitor) and those of some valuable stones viz., marbles, black marbles and rock crystals in Chitor.[12] These rocks and minerals must have, supplied enormons building materials enabling the brisk construction of lofty temples and magnificent forts mentioned in the eontemporary epigraphic recrords.

3. *Industries*

The most important consequence of the ever increasing agricultural products and minerals was that it powerfully stimulated the industrial arts. The merchal associations or guieds took keen interest in the development of industries and engaged themselves in many other occupational activities. The Sarnesvara inscription of 951 Ao. informs us that Ahàd was the centre of industries visited by the merchants from distant parts of the country e.g., Karnàta the part of Karnàtaka between Ràmnàd and Seringapàtam), Madhyadesh (the country bounded by the river, Saraswati in Kurukshetre, Allahabad, the Himalaya and the Vindhyà), Làta (southern Gujaràta including Khandesh situated between the river Màhi and the lower Tàpti), and Takkà (the country between Vipasa or the Bias and the Sindhu rivers in the Panjab).[13] The same record gives a picture of busy market in which there were, shops of confectioners, carpenters, ornaments, flowers, milk, clothes, grains and oil-mills in Ahàd. It indicates that quite a large number of industries developed in the town. This uninterrupted expansion of both

industry and craft-guilds signified a grawing urban population as well as a steadily increasing trade and Commerce.

The brisk construction of temples such as the temple of Ekalingaji (8th Century A.D.), Sas Bahu temple (11th century A.D.) in Nàgadaj there Vaíshunawa and five jain temples of Parshwanàtha in Bijolian (10th century A.D., Jain temples of Abü, Siva temple of Bàdoli (10th century A.D., Vàràha temple in Ahada (10th century A.D.); temples of Yogesvara and Yogesvari (13th century A.D.) and Vishnutemple in chiràwa and the construction of great forts like chitor, Kottadaka, Ahàd etc. must have given sufficient impetus to the development of building in dushy during the ears merivol times in South Rajasthan.

Indigenous industries were of much advanced type. The use of iron implements in agriculture, arahatta[14] (Persian Wheel), oil mills, and other articles like sound, spear, dagger etc. mentioned in the contemporous inscription expresly show that iron industry was efficiently working in those days.

4. *Guilds*

As some contemporary epigraphic records show, persons following the same occupation hormally formed themselves into corporations for regulating their business. For example, the Sarnesvara in cription[15] of a king Allata refers to some gosthikas entrusted with the administration of a temple and the Delvàla insinphin[16] of 1231 Ao. on the mount Abà mentions sence Shrenis (Guilds) taking part in religions and social functions. Such guilds must have been of benefit to the state, in as much as they certainly fostered a law observing spirit in the interests of the conmunity, and thus facilitated the task of government, besides rendeing useful service in organising societs and administering justice in internal affairs.

5. *Weights and measures*

The Sarnasvara incription of 951 Ao. mentions several weights and measures. Some of them were Tula,[17] Adhaka[18]

and Pala.[19] Tulà[20] was a measure of weight of gold and silver weithing 100 palas or about 145 ounces. Adhaka was a measure of grain weighting one-eight of a orona or 64 seers. Pala was a shall ladle containing about two and a half tolas. We also learn from the Hasti Kundi inscription[21] of 996 Ao. that Adhaka was meant for weighing wheat and barley, Bhàra was meant for heavy materials such cotton, copper etc. and Mànaka and Drona were weights for weighing wheat, barley, mung, salt, ràla etc. Karshà and Pala were ladles for measuring oil and liguid.

The Amara Kosh a[22] gives the following equivalents of weights and measures :

5 dhàna (rice grams)	= 1 Gunjà
16 Gunjàs	= 1 Karshà
4 Karshàs	= 1 Pala
100 Palas	= 1 Tulà
20 Tulàs	= 1 Bhàra
10 Bhàras	= 1 Achitah
4 Mushka pala	= 1 Kudava
4 Kudavas	= 1 Prasthà
4 Prasthàs	= 1 Adhaka
8 Adhakas	= 1 Drona

The modern equivalents of these weights and measures are as follows :

1 Pala	= 4 Tolàs	= 48 Grammes
1 Karohà	= 1 Tola	= 12 grammes
1 Tulà	= 5 Seers	= 4.5 Kilograms
1 Bhàra	= 100 Seers	= 90 Kilograms/
1 Achitah	= 25 maunds (Mànakas)	= 32.5 Kilograms
1 Kudava	= 16 tolàs	= 192 grammes
1 Prastha	= 64 Tolàs	= 768 grammes
1 Adhàka	= 256 tolas	= 3072 grammes
1 Manak	= 40 Seers	= 37.3 Kilograms.

Thus the above references furnish evidence of the developed condition of agriculture, in dustry, trade and commerce in South Rajasthan in the early medieval times. Form this it is rea-

sonable to infer that the high level of economic prosperity prevailed generally among the proble in those days.

6. *Taxation*

The principal sources of revenue on which 'depended the stability and strength of the state in the early medieval thus in South Rajasthan were the land revenues and Sulka taxes. Sulka[23] monelly means the tolls or custom duties levied from sellers and purchasers on merchandise exported from or imported into the country or from district to district. The Sulk was collected by custom houses known as 'Sulka-Mandapikas' at prominent places. The Sodhàdi Vàs inscription[24] of 1146 Ao. refers to the two custom houses at Mangalapura and Vàman-sthali.

Gifts and fines for offences were other sources of income of the state. Besides these, the state laid claim to mineral products, forests and animals. The Sarnesvara inscription[25] of 951 Ao. mentions the following taxes for purposes of worship : one dramma on every elephant brought for sele to the market; two Rupakas of silver on every horse ; one fartieth of a dramma on every horned animal ; a small pail of milk) from the shop of confectioners ; one bag from gambless ; a pala-ful from every oil mill ; a silver Rupaka per mensem on every shop of dressed food ; a four stringed garland from every seller of flowers every day.

7. *Currency*

The early medival state in South Rajasthan minted in all the three metals—gold, silver and copper. The gold and silver coins vary in their types and values. One specimen[26] of gold Coins of king Bappà (728 A.o.) weighing 115 graims has been discovered. On the top of the obverse of this Coin is the legland "Sri voppa" ; below this to the right is a trident ; by its side is a 'linga' and to the right of it is the bull couchant and below the bull the sigure of a man lies prostrate on the ground ; On the reverse of the coin, there is a folded chamara, a cross enclosed

in the circle ; to the right of this symbol is the handle of a chhatra ; below this is the representation of a "Cow suckling its calf" ; below the cow are parallel lines ending on the right with a fish. There is also a pod or vase to the right of the Cow and four dots are below the parallel lines.

This shows the efficiency of minting process of the Coin. Two thousand silver Coins and one Copper coin of another ruler of the period bear beantiful characters 'Sri Guhila"[27] on them. The Saruesrara inscription of king Allata (951 Ao.) mentions two types of Coins viz., Dramma and Rupaka.[28] of gold and silver respectvely. We also learn from the Hasti Kundi inscription of 996 A.o.[29] the prevalence of silver vimsopaka Coins. A record of the king Mulaka mentions a Karshàpana[30] Coin of Copper.

8. *Standard of living*

A general pisture of the cities and the standard of living is depicted in the Rasiaji's Chhatri inscription[31] of 1274 A.o. which describes that "the beautiful Mevàdadesh Covered over with palaces of pilgumage that give pleasure to the mind and are like the caves of the Mandarachala mountein, with large cities that bear the beauty of the wealth of heaven ; with lakes that are as pure as white jewels and are as it were the looking glass of heavenly Lakshmi, and which is the sole abode of female beauty, stands prominent. The horses of Mevala are as if dus out of miner ; the men are as if the sons of Gandharvas, the Cows are as of brought from heaven, the beautiful eyed ones are as it were the damsel's of paradise, those who bear arms are like lions.

Women were fond of Various kinds of ornaments. The above record[32] mentions that females were fine clothes and necklaces and decorated themselves, in attractive manner. They applied leaf like marks on their forehead, dyed their feet with colour, and besmeared sandal-wood on their bodies. The forest women were recklaçes of Gunjas (abrus precatorions). The Abu inscription[33] of 1285 A.o. records that women usd to

apply Kumkum (saffron) on their breasts and Collyrium in their eyes. The Kankanas (Wristles) adorned the delicate writs of women and Sindura (mercuric oxide) was an essential powder to be applied by that married women on their fore-heads. Women also decorated themselves with garlands of flowers. All these ordaments and toilette were used only by married women with their husbands alive. The Abu inscription[34] of 1285 Ao. informs us that widows had to remove ornaments on account of their separation form their husbands.

This indicates that the standad of living prevailing among the upper classes was formily high and that it reached a level of some magnificence among royal families.

References

1 Indian Antiquary, Vol. LVII, pp. 161-62 ; Bhavnagar Inscriptions, pp. 68-69.

2 Epigraphia India, Vol. X, p. 17.

3 Bhavnagar Inscription,s pp. 159-60.

4 Marco Polo, Vol, II, p. 393.

5 Bhavnagar Inscription, pp. 79-80.

6 Ibid., pp. 68-69.

7 Ibid., p. 95.

8 Ibid., p. 107.

9 Rajputana Gazetter, Vol. II-A, p. 10.

10 Ibid., Vol. II-A, p. 10.

11 Ibid., Vol. II-A, p. 10.

12 Ibid., Vol. II-A, pp. 53-54.

13 Bhavnagar Inscriptions, pp. 68-69 ; Indian Antiquary, Vol. LVIII, pp. 161-162.

14 Indian Antiquary, Vol. LVIII, pp. 161-62.

15 Bhavnagar Inscriptions, pp. 68-69.

16 Ibid., p. 221.

17 Ibid., pp. 68-69.

18 Ibid., pp. 68-69.

19 Ibid., pp. 68-69.

20 Ibid., p. 69.

21 Epigraphia Indica, Vol. X, p. 17.

22 Amarakosh, pp. 33031.

23 Sukraniti, Vol. IV pt. 2, pp. 212-213.

24 Bhavnagar Inscriptions, pp. 156-159.
25 Ibid., pp. 68-69.
26 Nagari Pracharini Patrika Vol. I., (New Edition), pp. 241-85.
27 Archaeological Survey of India, Report. IV, p. 95.
28 Bhavnagar Inscriptions, pp. 68-69.
29 Epigraphia Indica, Vol. X, p. 17.
30 Bhavnagar Inscriptions, p. 160.
31 Ibid., p. 78.
32 Ibid., p. 79.
33 Ibid., p. 91.
34 Ibid., p. 92.

———

ORIGINAL MEANING OF SANSKRIT VṚṢAN

Dr. SATYA SWARUP MISRA
Dept. of Linguistics, B.H.U.

Sanskrit *vṛṣan* (including its late derivative or secondary form *vṛṣa*) is normally understood as having the primary meaning "bull' and secondarily it is often rendered as 'masculine' or 'strong'. A comparative study of the forms in Rigveda explicitly illustrates that the original meaning was not 'bull'. But the original meaning was 'high' or 'big' and the secondary meaning 'mighty' or 'strong' can be better derived from this primary meaning. Sāyaṇa has almost always traced the origin of this form from *vṛṣ* 'rain', but *vṛṣan–* is not connected with *vṛṣ* '*rain*'.

Vṛṣan– has been freely used as an epithet of several gods, various animals, and sometimes also of human beings, and sometimes of inanimate objects like mind, nave, chariot etc. In RV I. 109.3 even the *yajamānas* are also honoured with this epithet. Indra, however is most fsequently addressed with this epithet, as a result of which *vṛṣā* (Nom sg *vṛṣan–*) has become a synonym of Indra. But in Rigveda this is merely an epithet of Indra. Otherwise, if *vṛṣā* is a synonym of Indra, *vṛṣāyamāṇaḥ* which is also used for Indra would be meaningless :

> vṛṣāyámāṇo avṛṇīta sómam
> tríkadrukeṣu apibat sutásya
> ā sā́yakam maghávā datta vájram
> áhann enam prathamajā́m áhīnām.
> [RV I. 32.3].

Here *vṛṣāyamāṇaḥ* means 'feeling vigorous'. Sāyaṇa translates 'acting like bull'. Griffith also almost follows him : 'Impetuous as a bull'. But Indra's actions such as drinking soma, or taking up the thunderbolt or killing *Vṛtra* has nothing to be compared with a bull.

Vṛṣīyamīṇaḥ is a participial form related to the present form *vṛṣāyate* beside active *vṛṣaṇyati* which is a denominative verb from *vṛṣan*– 'big' mighty'. Macdonell in Vedic Grammar translates *vṛṣāyate* as 'acts like a bull in p. 399 and as 'causes rain' in p. 400. The Pada Text always renders *vṛsāyate* as *vṛṣayate* as if from a stem *vṛṣa* 'bull'. But *vṛṣa*-'bull' is a late form and is never found as a stem in RV. *vṛsa* is attested in RV only as first component of compounds and this can always be derived from the stem *vṛṣan* meaning 'high, big or mighty'.

All the compound forms occurring in RV may now be scrutinized in the light of the proposed meaning.

Vṛṣakarman– (RV I 63.4 & I. 130.10) doing mighty deeds. Sāyaṇa : rain-maker. Griffith : strong in act.

Vṛṣakratu– (RV V 36.5 & VI 45.16) 'strong minded or high-minded. Sāyaṇa 'rain-maker'.

Vṛṣakhādi– (RV. I. 64.10) having large rings or bracelets (*khādi*=bracelet Monier William) Sāyaṇa : *Vṛṣā indraḥ khādir āyudhasthānīyo yeṣām te tathoktā yad vā vṛsā somaḥ khādiḥ khādyaḥ peyo yeṣām te*—Griffith : with strong men's rings.

Vṛṣagaṇāḥ (RV. IX 97.8) having large groups used as epithet of *haṃsāḥ*. Sāyaṇa : sages with such name. (Griffith etc. also follow Sāyaṇa).

Vṛṣacyuta– (RV IX 69.7) highly excited : Sāyaṇa : *Vṛṣabhiḥ Somasya dātṛbhiś cyutāḥ paristutāḥ*.

Vṛṣayuti– (RV V.35.3 & VIII 33.10) having great impulse or speed. Sāyaṇa : *varṣaṇagamanaḥ* (V. 35.3), *Vṛṣṭibhiś cākṛṣṭaḥ* (VIII. 33.10)

Vṛṣaṇaśvaḥ 'having strong or big horses' Sāyaṇa (B RV I. 51.13) 'a name', (VIII. Zo. 10) 'with horses able to shower seed'.

Vṛsaṇvat 'possessing the strong or big one'. Sāyaṇa : (I. 100.16) *vṛṣṇā sektrā indrena yuktam*, (I. 122.3) *varṣaṇavān* (I. 173.5), *varṣitā*, (I. 182.1) *abhimatavarṣaṇavān*.

Vṛaṣṇvasu– having much wealth. Sāyaṇa: (I. 111.1) *secanasamarthena dṛḍhatareṇa dhanena balena vā yuktaḥ,* (II. 41.8) *dhanasya varṣitā.*

Vṛṣanābhi– (VIII. 20.10) with a strong name or big name (epithet of chariot). Sāyaṇa: *Varṣaka-nābhi-yukta-.*

Vṛṣanāman (IX 97.54) famous (lit. with a big name). This mantra is obscure; even Pada Text does not analyse *vṛṣanāma.*

Vṛṣantama– greatest or mightiest. (Ocurs is I. 10.10 twice, I. 100.2, V 35.3 & VI 57.4) Sāyaṇa (I. 10.10) greatest showerer of desired objects.

Vṛṣandhim (IV 22.2) possessing a strong one, strength or causing strength. The word is not analysed by Pada Text. Sāyaṇa interprets as 'causing rain'. Wilson & griffith have followed him.

Vṛṣa-patnī– (VIII. 15.6) (epithet of Waters) to be mastered by the mighty one. Sāyaṇa: *vṛṣā varṣitā parjanyaḥ patir yāsām.*

Vṛṣaparvan– (III. 36.2) having strong joints. Sāyaṇa: *vṛṣāṇaḥ phalasya varṣakāḥ parvāṇi.........yasya.*

Vṛṣa-pāṇa– (I. 51.12 & I 139.6) strong drink (so also Griffith). Sāyaṇa: (I. 51.12) *secana-samarthasya somasya pāna,* (I. 139.6) *abhimatavarṣaṇena pātavyā.*

Vṛṣa-pāṇi– (VI. 75.7) having strong hoofs (lit palms). (epithet of horses). Sāyaṇa (Griffith): with hoofs raining dust.

Vṛṣa-prabharman– (V. 32.4) with a strong support or strong stroke or strong bearer (epithet of Indra). Sāyaṇa: *varsanaśīlasya prahartā.*

Vṛṣa-prayāvan– (VIII. 20.9) 'going with might or one strong in movements or having a strong path'. Sāyaṇa: *sektāraḥ prakṛṣṭagantāraḥ marutaḥ yasmin.*

Vṛsa-psu– (VIII. 20.7 & 10) of mighty appearance or form. Sāyaṇa: with raining form. Griffith 'Bull-like'.

Vṛṣa-bhara– (X 63.3) bearing might. Sāyaṇa: bearing rain.

Vṛṣa-maṇas– (I. 63.4, I. 167.7 & IV 22.6) having a wide heart. Sāyaṇa: having a desire to shower.

Vṛṣa-manyu– (I. 131.6) having a wide heart (epithet of yajamāna) Sāyaṇa: *amitavarṣaṇāya tvām eva manyamānāḥ.*

Similarly—

Vṛṣāyudh (I. 33.6) fighting with might (ep. of foes of Indra).

Vṛṣaratha– (I. 177.2, V 36.5, VI 44.19) having a big or strong chariot.

Vṛṣārava– (X. 146.2) one who makes a loud (lit. big) sound.

Vṛṣāraśmi (VI. 44.19) having strong or long reins.

Vṛṣala (X. 34.11) the mighty one or (sattirically) the mighty small one? (This word means *śūdra* in later literature; the exact original meaning is obscure because of the single occurrence in RV). Sāyaṇa: acting like a śūdra (vṛṣalakarmā). Griffith: outcaste, Macedonell (Vedic Reader p. 193): beggar.

Vṛṣavrata– (IX. 62.11, & IX 64.1) having a strong or mighty rule.

Vṛṣavrāta– (I 85.4) having a big host.

Vṛṣaśipra– (VII. 99.4) having big (thick) lips.

Vṛṣaśusma– (IV. 36.8) having much strength.

Vṛṣasava (X. 42.8) pressed out by the mighty.

Vṛṣastubh (X. 66.6) praising the mighty or praising highly or loudly.

Vṛṣākapi (X. 86.1 etc) perhaps name of a tribal chief (lit mighty ape).

Vṛṣākapāyī (X. 86.13) fem < *Vṛsākapi*—

In all the above forms, as shown above *vṛṣan*– can easily be interpreted as big, mighty or strong. Besides comparative, *varṣīyas*, 'bigger' and superlative *varṣiṣṭha*– 'biggest' are related to *vṛṣan*– 'big'. After *vṛṣan* ceased to signify 'big' in classical Sanskrit, these comparative and superative forms are anomalously attached to *vṛddha.*

The original sense of *vṛṣan*– is attested in its cognates in other Indo-European languages. Cp. Lithuanian *virszus* 'upper part', Armenian *ver* (<*vers*—) 'up, above', Old Church Slavic *vrĭchŭ* 'top' ; Besides Lat *verrūca* 'lump' also may be related.

The word *varṣa*– 'rain' is from a different root *vṛṣ* 'rain', which is also supported by cognates in other Indo-European languages cp Greek *érsē* 'dew'. But side by side there was a word *varṣa*– 'big' as attested in Vājasaneyi Mādhyandina Saṃhitā VI. 11. (=Kāṇva IV. 2.8 and Śatapatha Brāhmaṇa III. 8.1.11). (For details vide Misra: A Critical & Comparative study of Uvaṭa and Mahīdhara on Vājasaneyī Saṃhitā see typescript p. 177) The variant reading of the same in Taittiriya Saṃhitā is *varṣīyas* 'bigger'. This also confirms the earlier existence of *vṛṣan*–, *varṣa*– etc meaning 'big'.

The word *varṣa*– 'country' as in *Bhārata-varṣa*, *Kuru-varṣa*, *Hiraṇmaya-varṣa-*, *Ramyaka-varṣa*, *Ilāvṛta-varṣa*, *Hari-varṣa-*, *Ketu-mālā-varṣa*, *Bhadrāśva-varṣa*, *Kimpuruṣa-varṣa* etc. may also be explained from *varṣa* 'big' > big area' as opposed to *deśa*– used for a small area.

The word *Vṛṣabha-* of course means 'bull'. This is quite old since it is of very frequent use with about 200 occurences in this sense in Rigveda. On the other hand the word *ṛṣabha*— 'bull' occurs only four times in RV (VI 16.47 & 28.8 and X. 91.14 & 166.1). Although both signify 'bull' they are of two different sources. The suffix– *bha* (=Indo-European *–bho*) is very frequently used to form names of animals. Thus Sanskrit *ṛṣa-bha*— is from Indo-European *ṛsn̥-bho* up Avestan *arṣan* – 'male', Greek *ársēn* 'male', thereby *ṛṣabha* – originally means the most masculine animal. *Vṛṣa-bha-* is from Indo-European *wṛsn̥-bho* – and has the original meaning signifying the big animal.

The original sense of [illegible] is retained in its cognates in Indo-European languages [illegible] [illegible] other [illegible] Armenian [illegible] [illegible] 'above', Old Church [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]
[illegible]

The word [illegible] — [illegible] is from a different root meaning [illegible], which is also supported by cognates in other Indo-European languages [illegible] [illegible] [illegible]. But side by side there was a word [illegible] [illegible] in Vājasaneyi [illegible] [illegible] VI.1 [illegible] IV.2.8 and Śatapatha Brāhmaṇa III. [illegible] (For details [illegible] : A Critical & Comparative study of [illegible] and [illegible] on Vājasaneyi Saṃhitā [illegible] p. [illegible]). The [illegible] of the same in Taittirīya Saṃhitā [illegible] [illegible]. This also confirms the earlier existence of [illegible] [illegible] 'hip'.

The word [illegible] — [illegible] in [illegible] [illegible], [illegible] [illegible], [illegible] [illegible], [illegible] [illegible] [illegible] etc. may also be explained from [illegible] 'hip' > 'hip' area as opposed to [illegible] used for a small area.

The word Ṛṣabha of course means 'bull'. This is quite [illegible] since it is of very frequent use with about 230 occurrences in this sense in Ṛgveda. On the other hand the word [illegible] — 'bull' occurs only four times in RV (VI 16.47 & 28.8 and X 91.14 & 166.1). Although both signify 'bull' they are of two different sources. The suffix — bha (=Indo-European — bho) in [illegible] is frequently used to form names of animals. This suggests that [illegible] is from Indo-European [illegible] as [illegible] in Avestan [illegible] — 'male', Greek [illegible] 'male', thereby [illegible] originally means the male [illegible] animal. [illegible] [illegible] from Indo-European [illegible] [illegible] the animal [illegible] signifying the [illegible].

A FRESH LOOK AT GITA*

C. P. M. NAMBOODIRY

The *Bhagavad-gītā* has sometimes been described as the Bible of the Hindus. Though this comparison rather unjustifiably imports into the Gita many of the features that are peculiar to the sacred books of monotheistic religions like Christianity or Islam, it cannot be denied that it contains an element of truth. The Hinduism of the ordinary people, as different from the Hinduism of the philosophers or scholars, is very much based even today on the teachings of the Gita. Most of the fundamental tenets of popular Hinduism like the theory of Karma, the belief in transmigration and rebirth, the doctrine of *avatāra*, are most succinctly set forth in the Gita. It could truly be said that no other religious work has made such an impact on the minds of the Indian people as it has done over the centuries.

And yet, traditionally Gita has not been accepted as a revealed text, *śruti*; it has never been viewed as an esoteric doctrine or commandment that was communicated to a mystic or a sage. In fact one of the major characteristics of the Gita is its complete lack of any tendency towards mystification, be it religious or intellectual. The Gita, on the other hand, is classified as a *smrti*, that is to say, as a work which relies more on reason and tradition than on intuition and revealation. Its style of delivery is coherent, its method of exposition argumentative. In other words, it does not seem to have been the intention of the author (or authors) of the Gita that its teaching should be accepted as something (God) revealed, and therefore unquestionable as the *samhita* (veda) is, or as something mystical and secret, and therefore to be followed or even learnt only by the select initiates, as is the case with the Upanishads. The message of the Gita is on the contrary universal, and the practice of its teachings require no special pre-requisites other than what is possessed by an average intelligent human being.

*Based on a talk delivered before the Gita Samiti, B. H. U.

All this is very well brought out by the dramatic context in which the delivery of the Gita is made. The place is a battle-field, and not the secluded spot in a forest normally associated with such religious instruction and contemplation. The occasion too is stunning : the start of one of the most momentous wars in epic India, with all the tensions that are inherent to such an undertaking. The participants in the drama of Gita are no less incredible. Arjuna, in spite of the liberal education that he has received as befitted an ancient Indian prince, is still a soldier, a man of almost inexhaustible verve and energy—a less fit person for a religious or philosophical discussion can hardly be imagined. The teacher Srikrishna, though an avatar of Vishnu, was one of the most able administrators and statesmen of the time, some of whose recorded exploits make one even to wonder whether for him the end justified the means.

Such is the remarkable context that the author of the Gita has chosen for its delivery. The situation is highly dramatic and crucial, and one which calls for an instant decision. After months of negotiations and preparations, the two opposing armies of the Pandavas and the Kauravas have assembled on the battle-field to decide which of them is to rule Bharatavarsha. Then, just before the first arrow is shot, the virtual commander-in-chief of one of the armies puts down his bow as if in a nervous fit, and announces to his charioteer that as far as he is concerned the war is over and that he cares a hoot which side wins. One can very well imagine the demoralisation such a step, if allowed to pass, would have caused in the ranks of the Pandava forces. The situation is apparently hopeless in that Arjuna, the greatest warrior of the day, is giving up the fight neither from a lack of confidence in the possible outcome of the war, nor from a passing mood of pacifism. Arjuna's despondency is, on the contrary, born out of a genuine and deep feeling of a void within, and from the sense of unreality that flows from such a feeling. A war is any day a dirty affair involving as it does much blood-shed and terrible suffering. It becomes doubly abominable when the parties to the conflict form members of the same family.

One might win the war and become the master of the world. But of what use is the paramountcy of the world to one who feels the worthlessness of the whole thing in the depths of his own consciousness ? If the whole world is a dream-play, it is not much consolation to be told that you are the king in the show. Rather, it only helps to bring into sharper focus your own impotence.

Arjuna finds himself in a similar situation. He had launched the preparations for the war with a definite end in view. He campaigned for months to seek revenge for the many injustices that had been perpetrated on his kith and kin by the despotic Duryodhana. He had many ambitions and everything looked bright for their realisation. He had definite plans of action and was fully confident in their proper execution. Now however, all this falls to the ground with one stroke. His long-cherished ambitions turn out to be worthless and his plans irrelevant. Love and hate, friend and foe, all seem to him alike. He sees no value in any of the worldly pursuits, and is only too ready to repudiate his life if necessary. He cannot anymore see what is right for him to do. (*dharmasammūdhacetāh*)

Arjuna's cry, 'why should I fight ?', seems deceptively naive, and has therefore escaped the attention of many. Yet it is not difficult to recognise in it the tragic cry of man down the ages that symbolises the basic human tragedy. To do that, we have only to look beyond the actual drama of the moment.

Considered in this light, each one of us is an Arjuna, and the world in which we live the battle-field of Kurukshetra. After almost three centuries of unprecedented advance in human knowledge, the modern man finds the same perplexity facing him that was once the lot of Arjuna to face. The frontiers of knowledge have kept receding all the while, and often it seems that the solution to the mystery of the universe cannot be very far away. Man has conquered the oceans, subdued the

skies, and has come close to the colonisation of space itself. On the other side, his probings into the complexities of the personality mechanism have revealed many a structure therein that were little thought of by his predecessors. Sociology and anthropology have laid bare the dialectical forces which go to procure for him the stability of a collective existence. So much so that there has never been a time such as this in the history of mankind when so much knowledge was at man's disposal, nor was there any time when he was as strong as he is today. Yet, in spite of all this tremendous advance in human understanding and capability, it is not infrequently that one finds oneself in the curious predicament of the well-known hero who knew all the rules of swimming without having ever touched water.

Nor has there been any dearth of panaceas to cure the ills that afflict man with atavistic regularity. Psychoanalysis promises a harmonious personality ; democracy and the concept of the welfare state should have put an end to exploitation and inequality a long time ago. But, in a personal crisis, the modern man is as animal-like as when he took refuge in trees from predators; in a national crisis like a war or famine, it is the same old ethics of brawn that dominates. The tragic thing with these and other panaceas is that they seem to fail just when their need is the greatest. Having abolished the God of the old as a failure in the task of solving the problems of humanity, the modern man finds to his horror that the ones he invented to do the job fare no better. The paradox of the situation is this : the old religious solutions, though they may be workable, have lost all meaning in the modern era ; but the meaningful solutions of the period often turn out to be no solutions at all. The twentieth century man is torn between these equally irrelevant alternatives, and often ends up with losing faith in both. Shortly cynicism sets in, and is made out to be the highest intellectual virtue. It is then that he asks, 'why should I fight ?' ; why should one unnecessarily exert oneself in the task of improving man and society, given the futility of these

attempts ? If man is basically incurable, is it not ridiculous to talk of his salvation ? Is it not better to leave things as they are and allow them to take their own course ? Like Arjuna, the modern man also employs many subtle arguments and specious excuses (*prajñāvāda*) in support of his contention. He would even build up systems of philosophy on those foundations. But essentially it remains the same old cry of defeatism, the basic slogan of escapism.

The situation in modern India is only much worse, although the full impact of modern science and industrialisation is yet to be recorded. And it is also true that we have only just begun our experiments in modern democratic social institutions. But the faint murmerings of defeatism can already be heard. Further, in so far as these methods have scarcely any indigenous content—industrialisation and democracy have very little in common with *sanātana dharma*—it is very tempting to project the source of all one's ills on the 'devilish' foreigner. Thus the controversy rages : on the one extreme are those who hold that our salvation lies in a return to the old blessed order ; on the other are those who find the same order to be the one stumbling block in India's path of progress.

The net result of this controversy has been that the ordinary man in India has been eqully losing faith in ancient ideals and in most modern institutions. Both seem to him to be not suited to the job at hand : if one is irrelevant, the other seems impracticable. Only a third might give the clue. But, since cynicism makes a lesser demand on intelligence and industry, thought naturally turns to it. A kind of fatalism that comes very naturally to the believers in karma theory slowly creeps in. Here too, the slogan is 'why should I fight ?'. The world has its course neatly charted out, and only that which is destined will ever happen. If this is granted, it follows of course that all attempts to influence the course of destiny has necessarily to end in failure. Resignation seems to be the only intelligent attitude, and the ancient cry of Arjuna echoes in the minds of his countrymen once again.

But if we do not grant it, if we do not accept that the world and man are condemned to a fatalistic illusion, there is no reason why we should take succour in this happy stupor. The problem begins when we are ready to declare that we alone are responsible for our destiny, and that we have ourselves to chart out our course of development. (This attitude is not necessarily anti-theistic but only anti-fatalistic). The path is naturally fraught with dangers. One might flounder on the way, one might err in one's judgement, one might even end up in a total failure. But the satisfaction that comes from the thought that the decision was ours, and that an honest attempt was made, is any day preferable to the lethargy of fatalism. As Srikrishna tells Arjuna in his own characteristic way : "If you are slain, paradise is yours ; and if you gain the victory, yours is the earth to enjoy."

But the question of Arjuna remains unanswered. If one is convinced in the total worthlessness of the end that is being striven for, what further incentive can there be to continued activity. That to do something is better than waiting with fingers crossed might be granted. But what sort of action should it be ? If all my hopes have been belied in the past, should I still go on repeating the same old pattern ? What guarantee is there that these methods, which have often come to nought in the past, will be any more successful now ?

The questions seem almost unanswerable. Yet it should be realised that they are based on certain presuppositions, and hence can never be answered—but only without considering whether the latter are as justified as they at first appear to be. That is why, beginning with the third chapter, the Gita undertakes a very detailed analysis of the philosophy and psychology of human activity. We cannot enter into those questions in detail, nor is it entirely necessary either. Indeed, it might also be that many of those suggestions are not strictly speaking relevant in the kind of social situation in which we find ourselves today. This is a matter of no surprise. Like any

other ancient religious text, the Gita, too, belongs to a particular social clime. Though the essential message of these works may be independent of the peculiarities of this social context, it is not as certain that the particular expression of the message could remain unaffected by at least the most influential currents in the latter.

However that may be, the initial puzzlement that Arjuna felt is still fresh. To say that action is inescapable is one thing ; to say what kind it should be, quite another. The analysis of the Gita is impeccable in this connection. Most of our actions, it points out, are performed not out of any conviction in them ; rather, they are mere products of habit or convention. We do not reflect on them, we do not normally consider why such an act should be done, but machine-like go on performing it. Moreover, quite often we are also made to act in direct opposition to our convictions and tendencies. There are many occasions in life when, despite our conviction that a certain act is bad or wrong, we are forced to do the same, either because it is commonly done or because of more insistent social compulsions. The soldier who is forced to fight notwithstanding his moral objections against all forms of violence, the politician who goes on promising knowing only too well that he would never be able to fullfil them, could be given as outstanding examples. In reality, however, the phenomenon is familiar to each one of us.

Situations like the above would have remained as mere illustrations of the irrational side of man, had it not also given rise to a peculiar kind of conflict between the intellectual and active forces within us. Nor is the conflict confined to these factors either. For convictions are not the only elements which interfere with the normal and behavioural course of actions. The additional factors could be summarised as centering upon questions of motive. The consideration here is not whether we know the full implication of our actions, but whether we had any objective in undertaking to perform them. Here too, it is true that many of our activities are performed without any

objective in mind, or it may be that we are unconscious of them. However, if we take pains to analyse the whole gamut of our daily activities, it could be found that a large percentage of them are motivated by self-interest. Either we have our own welfare in view or the welfare of our dear ones. This is not to say that self-interest is either wrong or immoral: the instinct for self-preservation is after all inherent in all living beings. But, in the case of a rational being like man, this self-interest often clashes with certain other interests, for instance the interest of the community or society. The clash here is not only between our convictions and actions—for, as a social being, man is often compelled to allow the conventions of the society to supercede his own convictions—but between the emotional and intellectual sides of man. The question here is basically one of loyalties: to whom should he be more loyal, to himself or to the society which he forms a part of. And loyalty is at bottom a matter of emotional attachement.

Thus we find that in many of our activities there occurs a tension among three of the most important sides of the human personality, viz. convictions, actions and emotions, roughly corresponding to the 'faculties' of old psychology—cognition, volition and affection. So it often happens: what one believes in, one cannot do; what he does, he does not believe in; and what he both believes in and does is not agreeable to him. Such conflicts have been there all along the history of man, and is by no means a modern malady; it could even be argued that it is a part of man's mental constitution itself. But in modern times, such conflicts have been brought into sharper focus and also with increased intensity. Partly this is due to the enormous increase in human knowledge, but the more crucial factor seems to lie in the comparatively rigid social conventions of modern times. It is undeniable that man's social obligations have increased manifold over the years, and this is reflected inversely in the decrease in individual autonomy. The conflict that Arjuna experienced is repeated a thousand times in the life of every thinking individual in every modern society. And the

same cry of anguish that broke out from the son of Kunti can be heard amplified many times over in a variety of situations.

Is there no escape from this situation ? Is man condemned to suffer these paralysing conflicts all his life ? Could there be some way by which these tensions could be neutralised ? The Gita believes that there is such a way. And it also believes that it is the only way through which all the inherent capabilities of man could be brought to blossom. But it is no magic wand that would transform all of us into supermen overnight ; rather, it is a tedious discipline which demands great powers of attention and application. In essence it consists of an attempt to harmonise the three conflicting forces in man, not by destroying or suppressing any, but by trying to achieve an equilibrium amongst them. It is also an attempt to cleanse ourselves from the sediments of unbelief which have come to overlay the true vision into our nature. In outline, its method is to understand ourselves better through introspection, and thereby to usher in a fundamental change in our mental make-up. I understand this to be the meaning of what Gita calls *yoga*. As such it could be described as a radical form of psychoanalysis.

It was earlier noted that these conflicts and tensions spring from the three facets of man's personality ; that is, from the mutual incompatibility of our ideas, our actions and our emotions. It therefore follows that the solution to the conflict should proceed along the same lines. The *yoga*, if it is to bring about a fundamental change in man, has to concern itself with the three foundational aspects of human personality. For, otherwise, the treatment will be only partial, and this, far from bringing about the expected resolution, might actually result in an intensification of the conflicts themselves. In fact one of the main weaknesses of many modern solutions has been a certain overplaying of one of these factors to an at times total neglect of others. Philosophy, science, and many other disciplines based on them, seek to bring about a change in the ideas of man. But they have little to offer as far as the active or emotional sides are concerned. Political systems go a long way in introducing new norms in

the conduct of man and in determining its social implications, but it is only rarely that they succeed in satisfying his intellectual and emotional sides. Psychology and allied disciplines used to concentrate almost exclusively with the emotional side, though lately they too have come to realise the truth that man cannot be considered in fractions. The rationale behind these attempts is obvious: it is that out of the above-mentioned aspects one is taken to be more fundamental than the others. But that is only to beg the question.

The Gita warns us from the beginning that such partial methods are no solutions at all, and that they are bound to end in failure. ("Only the simpletons see *sāmkhya* and *yoga* as different, never the wise......he alone is the seer who sees them in unity.") After all, personality cannot be considered in parts; and, in so far as it is a unity, any approach to it should also be unitary. Hence it is said: "wholeness is yoga". (*samatvam yoga ucyate*) To bring about a total resolution of conflicts, it is essential therefore to take into account all the factors that go into the complex personality of man.

Since man is above all a rational being, and since a large part of his activity is to a great extent determined by what he believes in, it is only appropriate that the Gita devotes the greatest attention to bringing about a change in our ideas. Out of any individual's stock of knowledge, the major part is constituted by what is handed down to him by tradition or what he has accepted by rote. In neither case has it been subjected to any conscious scrutiny. Normally, of course, this does not present any problem, since most of it affects only the periphery of man's personality. But where the very core of his being is involved, and where it cosses into his actional sphere, it does create difficulties, For the moment it begins to act as an impediment to his volitional freedom, man is often too ready to repudiate such knowledge. This results in the well-known phenomenon of loss of faith with its attendent consciousness of alienation. Faith is commonly understood in the sense of un-

questioned acceptance of whatever is communicated. But this is not the only form of faith, nor is it very fair to the faithful to take them to be devoid of every form of criticism. True faith, the faith that moves the mountains, is not unaccompanied by critical enquiry, but more often than not is preceded by it. And there can be no doubt that this is the kind of faith that is demanded by the author of the Gita. From this perspective I would understand the *jnāna yoga* to embody the following injunction : 'Do not accept anything unless you are convinced of it ; discover your truth and be true to it'. Neither reverence to authority, nor the natural bias of the mind for smart solutions, should be the criterion here. This of course does not imply that we should at once turn into rebels and repudiate all traditions. Nor does it also mean that we should turn reactionary or revivalist and condemn every progressive idea. All that it means is that we should turn forever reflective, that we must develop the capacity to judge for ourselves. In short, one must try to cultivate an outlook on life. What this outlook would turn out to be depends on what type of person is in question, what kind of natural inclinations he has, and what level of intellectual achievement he is capable of. The Gita itself, being no partisan work, has given expression to various alternative outlooks.

But to have a reflective mind is not enough for a harmonious personality. Since we live in a world of action and not of ideas alone, it is also necessary to have the capacity to translate these ideas into action. If action without ideas is blind, ideas without action remain mere moon-shine. The Gita itself is no mere speculative doctrine ; in form and content it embodies a philosophy of action. The translation of our ideas into action not merely provides a test for our capability—this is vital, no doubt—but a test for the workability of our ideas too. To do this, we have to perfect our instruments of action, both physical and mental. As the Gita says, victory is only for the brave and strong, not for weaklings. In this context I would like to think that the essential message of *karma yoga* is to develop a strong correspondence between our ideas and our actions,

For, unless we have the courage and the means to do what we believe, and to believe what we do, tensions and conflicts are bound to occur. The injunction in this connection should be: 'be true unto thyself, be authentic in your behaviour'. Again the Gita seems to leave open the kind of action an individual ought to perform to the person concerned and to his inborn proclivities. The only restriction is that it should be *svadharma* and not *paradharma* : it should be an expression of one's own personality and not another's.

But while the correspondence between ideas and activities is important, a far greater need there is to adjust both of these to our emotional satisfaction. One may have well thought out ideas, one may even have the capacity to translate these into action, but if for some reason or other it is not agreeable to him the whole enterprise is bound to fail. The situation is not as abstract as it appears to be.. It is not infrequently that one finds oneself in the predicament of being convinced of the rightness of a certain course of action, having it within one's power to bring it about, but yet turning away from it in sheer despair. In a modern urban society this kind of conflict is all too common. Most people, for instance, are convinced that hoarding of foodgrains leads to scarcity and increase in prices, and most can also do without such a surplus stock, but the emotional satisfaction that comes from the sight of a full cupboard defeats every intention to the contrary. Similarly, it is inevitable that individual freedom would be partly curbed in the organied set-up of any modern society. And the individual often resents such incursions and even tries to get out of such shackles. Even if this does not always lead to any violent confrontation, the resulting tension and conflict not only tells upon the actional efficiency of the individual, but the cohesiveness of the social frame-work too suffers. The antidote to this does not seem to lie in loosening the grips of social control, as it is sometimes facilely assumed—for it leads to the disintegration of society itself, and with it of the individual too—but in trying to bring about a change in the whole perspective on the freedom of the

individual. But this is not a matter for intellectual realisation as much as it is one of emotional adjustment.

In other words, any change in the individual-collective relationship implies also a change in the emotional bonds which bind them together. What seems to lie at the root of the problem is the kind of satisfaction that the individual derives from his activities. Normally an action or event is felt as agreeable or satisfactory in terms of the beneficial results accruing to the performer or observer. 'This is what I like' most often means 'this is the most profitable to me'. It could be granted that without some such profit-motive there cannot be any incentive to action. However, it is another question whether the profits should always be counted in terms of the selfish interests of the one who performs the deed. The Gita believes that action need not always be profit-motivated. It is also a matter of experience that at times all of us do act without any thought of profit. Take for instance the mother's care for the children, the self-sacrifice of the soldier on the battlefield, or even the spontaneous help that we extend to a needy one. None of these could be said to be profit-motivated. What if we could extend the same spirit to all our actions ? It is difficult, but not necessarily impossible. Of course it does not mean that we should not have any eye for profit—that would be asking for the moon. But we could, if we try, make our activities not wholly dependent on profit ; or alternatively, we could cease from insisting that the profit should invariably accrue to the one who performs the action. A sense of duty or spirit of service could also serve as incentives to action. The emotional disagreement or maladjustment noted above could be mitigated to a great extent by these methods, since, from the widening of the ego-perspective, many of our activities could be seen to acquire new and hitherto unrealised dimensions.

The Gita offers another solution too. This is to perform all our actions as a sacrifice to God. Here too, the ego-centric perspective is sought to be submerged in a wider whole, thereby to acquire a new standpoint from which we may evaluate our ac-

tions. Essentially, it is a call to make of work a form of worship. This is eminently suited to those whose faith in the religious outlook has been strong enough to survive even the most devastating climate of scepticism.

Such, in outline, is my understanding of the path shown by the Bhagavadgita. Of course, I am not unaware that there is much else besides this in the great work. But my purpose here has been only to highlight the spirit in which a modern Indian could still approach the Gita. For one should not be blind to the fact that much time has elapsed since the time the Gita was written, and that mankind, for good or bad, has not remained static during the interrugnum. Hence it is not necessary that what was true over two millennia ago should be entirely so today. It is inevitable, therfore, that such ancient works would come to be interpreted in the light of the prevalent social realities and individual convictions. But that is the highest tribute to the Gita, that it still provokes us into thought. Only a living work is capable of doing that, not a dead one.

———

INDIAN CONCEPTION OF PERSONALITY: AN OVERVIEW

CHANDRA BHAL DWIVEDI,

Department of Psychology, Banaras Hindu University, Varanasi.

Man has devoted a major part of his developmental history in the quest of understanding himself. The Indian emphasis on the need for 'self-realization' and the dictum of 'know-thyself' of the Greeks represent the manifestations of that same attempt. The earliest attempts were made by the philosophers and it is rapidly becoming clear now that some of the insights presented by those seers in the prescientific phase—eventhough lacking in scientific verification—are more revealing of human nature than some of the so-called scientific attempts. "The ancient Indian writings are replete with insights regarding the nature and functions of the human mind. Yet the psychological research has not taken advantage of it. The modern concepts, theories and models have been uncritically accepted and adopted for the study of the human behaviour..... The current research in personality has no indications of a promise at theorizing or at a breakthrough in the vertical development of psychological knowledge. Yet it should be possible to build up a body of scientific knowledge that could become the Indian contribution towards understanding human nature and development. Delving deep into the ancient texts one can unearth ideas which could be converted into testable hypotheses and verify scientifically" (Krishnan, 1973, p. 15). The present paper aims at studying some of the theoretical concepts which could, if tried with an unbiased and pure scientific zeal, be tested scientifically and which will really be a worthwhile and praise-worthy Indian contribution to modern psychology.

The word 'personality' has been used in different senses right from layman's definition to the most scientific ones; for getting oriented towards the concept of personality a very

common definition may be accepted as "the dynamic organization of an individual's characteristic ways of responding to himself and to his experiences" (Sorenson *et al.*, 1971, p. 304).

It would be clear from this definition that the personality has acquired a privileged place and some specific qualifications of its own. Even this definition includes terms of great significance like dynamic, organization, responding and characteristic ways. An individual acquires his personality through three influences which act as basic factors to the development of personality, viz., his capacities and potentialities, what he learns through his experiences, and his self. His capacities depend on his structures, his brain and the rest of the nervous system, his muscles, glands, senses and all that make up the human body. Intelligence, talents, sensory acuteness or failure, muscular coordination, appearance and health, all influence his development of characteristic ways of responding to himself and to his environment. His infinitely varied experiences provide the ways of learning as to how to see himself, how to regard others, how to meet difficulties, how to feel about all of the different objects and places in his life. And finally, his self, at each point of experience, provides the interpretation and use that will make that experience a part of his personality.

The Indian conception of personality concentrates mainly on the discussion of the self. We will have occasions to review briefly some of the important Indian points-of-view regarding the concept of self and personality.

Dimensions of personality : Samkhya view-point :

Samkhya system of thought—the oldest of Indian schools of philosophy, which paved the path for the development of the scientific way of looking into the problems—provides us with a brilliant exposition of personality. It accepts the essential characteristic of an individual as his self-consciousness. But this self-consciousness is also not a bare or undifferentiated unity of an essence or of a substance but a complex or differentiated unity of a system or a world. Thus, a person is a

self-conscious system or world of diversified elements. Again, this system or world is not stationary. It is progressive. Thus a better definition would be that a person is 'an active form of the whole'—a unique living centre of activity on the part of the Absolute. He is a free and voluntary agent in so far only as his freedom and initiative is nothing but the inherent effort of mind in the direction of unity and self-completeness, i.e., individuality (cf. Majumdar, 1929, p. XIII).'

The foregoing implies that *Samkhya* accepts the consciousness as the basic element of all evolutionary processes. In course of evolution it emerges first of all, but it does not, however, involve differentiation of any type. This stage, due to preponderance of *sattva*, renders *prakriti* objective to *purusha* and the latter becomes experiencer thereby. The aspect of consciousness inhering in the organism is styled as *buddhi*. It should be clear that *mahat* and *buddhi* are coined to denote the consciousness in two contents, viz., universal and the individual, the latter being of specific interest to the psychology of personality.

The organism emerges as a fundamental urge for differentiation—with the baseline for such a differentiation as the consciousness. When the newborn babe is introduced initially into the world of multitudinous dimensions, its first response is bound to be the amorphous experience of an undifferentiated environment. The babe is very much aware of the objective impact, but the stimulations are not specific. In course of time the general consciousness gets individuated and acquires a subjective frame of reference. This state, *ahamkara*, may be designated as self-consciousness with its real import lying in 'utterance', 'ejaculation', 'cry of I' (cf. Buitanan, 1957). The importance of this expression appears to consist in the emergence of experience as bipolar in its process : one side tending towards the 'source of consciousness' and the other towards the 'environmental presentations. (Rao, 1962, p.41).

The main function of the self-consciousness is said to be self-assertion or the imposition of ego on experiential modalities.

The ego being an evolute from the general consciousness is really an important conception. Still more important is the treatment rendered to individual self or *jiva* which is the outgrowth of *purusha* with ego. Despite the object orientation and the ego, experience crystalizes with the mind only, alongwith five perceptive and five active organs. These are evolved directly from self consciousness and their main functions are to receive impulses from the environment and to transmit them to the consciousness for experiencing.

All the ten organs, five sensory and five motor, are considered outward, whereas mind has no specific organ located in body. Without the conjunction of mind the organs fail to function. However, this is not accepted unanimously. In some commentaries the direct cognition has also been attributed to the organs, with the function of mind restricted to desire, doubt and imagination. Still others believe and emphasize the role of mind in arranging the sense data in definite patterns. It not only transmites the impressions received from the perceptive organs into ideas, but prompts also the active organs into their function. Thus, apart from functioning as a *sensorium communae* mind constructs the world as an organized affair of ideas, ends, decisions and desires.

The interaction between these aspects of personality may be consumated as the man employing his outward senses to receive the impinging stimuli. This reception is followed by a consideration of the sense data with his mind. This considered opinion is referred to his ego and finally a decision is arrived at as to what to do with his consciousness. Thus in actual personality dynamics all these dimensions participate in the final consumation.

The personality dynamics: Yoga view-point:

The *Samkhya* was preoccupied with the theoretical formulations only, whereas *Yoga* system of Patanjali, was practical in its orientation. In *Yoga* system, the attention was focussed on the cognitive structure, its motivational dynamics and the

training possibilities. The cognitive structure (*citta*) was viewed as endowed with such energy as operates in the ordinary individuals automatically, unconsciously and often erratically.

But it was deemed entirely possible by efforts to introduce inhibition or restraints in its function, so as to render it deliberate and efficient. The methods of imposing these restraints effectively and categorically constitute the central theme of the *yoga* practice. "An examination of such a hypothesis of inhibition (nirodha); which, when practiced, was deemed to provide a rejuvenation or reintegration of personality; in the light of modern theory of inhibition and the factors that facilitate it at different levels might be very much heartening" (Krishnan, 1973). A scientific study of *Yoga*, which is essentially a system of psychodynamics and which teaches elaborately the methods of deconditioning of the mind from the yoke of unconscious impulses, may unearth concepts which may also throw better light on the potentialities towards higher development.

Yoga aims at transforming the normal cognitive structure into a stable tranquility. This goal is reached by a patient and persistent cultivation of all faculties. While formulating the techniques of reintegration of personality, *Yoga* emphasizes the psychodynamic character of the human being. A man is said to possess a material constitution and a storehouse of instincts as also the constitutional possibilities of balance and understanding. These bimodal aspects of life are required to be harmonized.

Yoga catalogues five types of mental actions. They are: cognition (*pramana*), illusion (*viparyaya*), imagination (*vikalpa*), sleep (*nidra*) and memory (*smriti*). Cognition is further analyzed into observation, inference and authoritative types. Illusion is an erroneous knowledge. Imagination or abstraction is the functioning of mind without 'real' and it involves an element of creation. Sleep is also considered as a positive mental action while memory is a mere recollection.

These mental actions are necessarily influenced by the impressions (*Samskara*) left behind by some earlier similar action. We are normally unaware of them, since they lie dormant and whenever a suitable condition is aroused, they emerge again into action. These impressions are essentially unconscious, but at times they are also brought to consciousness, and then it is referred to as *vritti* (Structure). Yoga accepted the existence of subconscious state also, where some of the impressions jumble and each stays there in conflict with the other.

Two types of mental actions have been enumerated: afflicted by impressions (*klista*) and unaffiicted (*aklista*). *Klista* is whatever hinders, thwarts, affects the progression of the person. The conglomeration of such afflictions motivate us in our daily life. Five such afflictions are grouped which operate in different conditions, viz., the dormant, where they may exist as only potential force, the attenuated, and the isolated. The interplay of these conditions shape various states or expressions of the cognitive structure in daily life. Five such states or expressions of consciousness are described: Restless (*ksipta*), infatuated (*mudha*), distracted (*viksipta*), concentrated (*ekagra*) and restrained (*niruddha*). All these occur in every individual, but the superior persons tend to eliminate the first three and cultivate the last two. These five states of cognitive structure alongwith the four states of consciousness, waking (*jagrata*), dream (*swapna*), fast asleep (*sushupti*) and enlightened (*turiya*) may enrich our information and generate further research in shedding more light on the dynamics and classification of personality.

Personality Types: Jaina view-point:

The problem of personality types has occurred to the Indian mind again and again. Right from the *Upanishads* we find hints about temperamental traits, *Samkhya* provides a full exposition of its development and classifies on the basis of *gunas*, *Yoga* further classified it on the basis of cognitive

structure and the *Jainas* formulated six-fold division of mankind in terms of character—colours (*leshya*).

Leshya signifies the character types of human souls and there is an elaborate description of the differentiated nature of these types. *Jainas* believe that human actions generate a variety of subtle matter called *Karma*. Passions attract this *karma* matter which pours into the soul and sticks to it. The soul as a cumulative result of the sticking *karma* gets coloured and this colouration indicates the character of the man. It is important to note that the colouration determines and is determined by action and emotion and that is why it is not inherent but depends upon external conditions. These six kinds of *leshya* supply us a classificatory system of human nature on an ascending scale of ethical perfection, i.e., the first *leshya* denotes the lowest type of man, whereas the last denotes the highest type of human psyche (Dwivedi, 1970).

Six human types are enumerated and designated by name of colour. This typology of *Jainas* is motivated by ethical consideration, but from a psychological view a different classificatory device is put forth. Though *Samkhya* and *Yoga* systems also talk of three gunas—also bearing colours—and the combination thereof may also make the six colours, as referred to above, it is the *Jaina* school which provided a detailed description of them.

Patterns of personality : Buddhist view-point :

Buddhism drew inspiration from other sources and arrived at the psychological theory of personality patterns based on temperamental types. Human beings were classified into six types according to the conduct (*charita*). Conduct includes bodily, vocal and mental behaviours. The classification, however, was not on the basis of observable behaviour, but on the determining tendencies within the individual. These tendencies are : attachment (*raga*), aversion (*dvesa*), dullness (*moha*), faith (*saddha*), rational thinking (*buddhi*) and imagination (*vitakka*). Attachment and faith, aversion and rational thinking, dullness and imagination are said to be related.

These dispositions reveal themselves in one's actions, modes of eating, ways of looking at things and traits peculiar to an individual. Thus the three groupings, referred to above, represent three major patterns of personality. Individuals characterized by faith, rational thinking and imagination are akin to the individuals characterized by attachment, aversion and dullness respectively in matters of posture, actions, food habits and reclination. However, these six are accepted as but provisional types and that there are in actuality numerous types resulting from the combination of these six dispositions.

The foregoing could be tested with a suitable design and unbiased attitude. Some attempts (Krishnan 1957, 1960) were made and a close resemblence has also been noted between some of the modern psychological findings and ancient Indian concepts. A thorough study of classical Indian texts may reveal more areas than one where a correspondence of view-points could be ascertained. Such a verification on empirical lines will also add to the existing body of knowledge.

References

1. Buitanan, J. H. B. Van. Studies in Samkhya : II *J. Amer. Orient. Soc.*, 1957, *77*, 15-25.
2. Dwivedi, C. B. A neglected field of Indian psychology : The Jaina Yoga. *J. Orient. Inst.*, 1970, XX, 1, 27-32.
3. Krishnan, B. The Geeta and non-authoratarian type of counselling. *Psychol. Stud.* 1957, *2*, 2.
4. Krishnan, B. Typology in Indian thought. *Psychol. Stud.* 1960, *5*, 2.
5. Krishnan, B. Personality : Organization and Development. Presidential Address, Section of Psychology and Educational Sciences, *Proceedings of the Indian Science Congress Association, Chandigarh, 60th session*, 1973, 1-18.
6. Majumder, A. K. *The Sankhya Conception of Personality*. Calcutta : University Press, 1929.
7. Rao, S. K. Ramchandra. *Development of Psychological Thought in India*. Mysore : Kavyalaya Publishers, 1962.
8. Sorenson, H., Malm, M., and Forehand, G. A. *Psychology for Living* (Third Edition). Bombay : Tata-Mc' Graw Hill, 1971.

APPROACHES TOWARDS GEOGRAPHY OF HEALTH : A SYNOPTIC REVIEW

PROF. R. L. SINGH, Dr. RANA P. B. SINGH and Dr. B. P. SINGH*

The mechanism which causes the growth and variation of the diseases within a spatial unit has recently drawn the attention of geographers. In fact, such variations are primarily governed by the socio-economic and behavioural factors—the aspects which are mostly neglected by medical scientists. To emphasize these aspects, a new methodology has been advanced, being expressed as the geo-medical approach. The conclusions derived from such analysis will provide a base for planning postulates so that the health of human being can be improved through preventive measures rather than medical treatment to a considerable extent.

Progress of Studies

The ancient medical literatures of India and Greece have mostly dealt with the causes and variation of diseases within environmental perspective, but they are lacking the spatial treatment. Ancient Indian Scholars of the Ayurvedic medicine like Susruta (1500-1000 B.C.), Charak (c. 1000 B.C.), Kasyap, Bhel (c 700 A.D.), Harit and others,[1] have described the regional patterning of the various diseases ; for example in such texts it has been indicated that in the eastern and northern part of India there is a preponderance of thyroid disorders.[2]

Among the ancient Greek scholars, credit goes to Hippocrates (400 B.C.) for presenting the spatial patterning of diseases within the context of geographical factors like place-identification, topographical characteristics, climatic variations, etc. For the

*Dr. R. L. Singh is retired Professor & Head, Dr. Rana P. B. Singh is Lecturer and Dr. B. P. Singh is Research Scholar, Department of Geography, Banaras Hindu University, Varanasi—221005.

first time he has been able to divide diseases into two broad types: (i) *endemic* diseases which are always present in the human body, and (ii) *epidemic* diseases which due to environmental hazards become more frequent at certain period of time.[3] Camparing the pre-requisite conditions prevailing in a city and a village, he has also emphasized the behavioural factors, e.g., perception of space, pollution-resistant power, attitudes and thinking, as one of the most significant factors which control the level of the health disorders.

The works done between Hippocratic era and 19th century, have been reviewed by Howe, who grouped these works into two time scale—the works done before A.D. 1848, mostly emphasizing the physical aspects in a generalized form, and the works done after A.D. 1848, which considered the spatial approach alongwith their representation over the map.[4] The first map of this kind has been prepared by Shaptner[5] using dot method to show the distribution of death caused by Cholera in Exeter during 1832. This approach has been followed and advanced by J. M. May, Rodenwaldt, and Jusatz,[6] who have taken rather large geographical area for mapping, as such these maps show heterogeneity in environmental conditions as well as the prevalence of the disease.

The issue to consider regions or nations as the most viable units for mapping has been raised by Howe,[7] the founder of the school of medical geography in U.K. While preparing the 'National Atlas of Disease Mortality in U.K.', he has considered many diseases like cancer, diseases of circulatory system, diseases of respirating system, etc. for two periods of time-1954-58 and 1959-63. The concept of mapping as propounded by Howe, has been further advanced by Stamp during 1964-65. According to him the analysis of causal factors in context to disease is the fundamental concern of medical geography.[8] Learmonth, the pioneer in the field of Indian medical geography, has observed that every Indian village is unique in its socio economic and landuse patterns, as such one can see a village in itself as the distinc-

tive unit. Through the superimposition of maps showing spatial variation of various diseases and the physico-cultural characteristics, it has been concluded by him that there is no distinct correlation among these attributes.[9]

The German school of medical geography was founded after IInd World War at Hiedelberg. Using medico-Cartographic techniques, the scholars have prepared detailed Atlases showing spatial variations of selected diseases. Under their series of 'World Atlas of Epidemic diseases, they have published four volumes edited by H. J. Jusatz,[10] i.e., Libya, Afghanistan, Ethopia, and Kenya.

Medical geography in the U.S.S.R. claims a far longer basis of research experience than in other European countries, and it is now independent branch of science. The Russian School has paid much emphasis upon the studies of multi-factorial disease complexes as well as upon public health as a contribution to the productivity of labour alongwith promotion of its quality, and hence to the development of national economy within socialistic approach. Ignatyev has prepared a series of medico-geographic maps showing the relationship between natural territorial complexes and health attributes.[11]

By the end of 1968, the subject was recognized by the I.G.U., hence a new Commission was formed at the New Delhi venue under the chairmanship of A.T.A. Learmonth. The Commission had given particular emphasis upon the environmental and ecological system[12], because they have considered this theme as the fundamental base for the development of geographical pathology, so called as geomedicine or medical geography[13] or most recently as 'Geography of Health'. This discipline provides a scientific basis for the understanding of the wholeness of life which needs "medical care and insight wedded to a knowledge of environmental circumstances that make for health."[14] During 22nd IGC (Montreal, Canada), the following four topics had been considered for special attention : (i) health and environment, (ii) training of medical geographers (iii) models

and theories in medical geography, and (iv) application of medical geography in positive health measures[15]. The scope of the subject has been further widened during IGU Regional Conference, New Zealand (Dec. 1974), where special attention was paid to human nutrition and etiological problems. Due to increasing impact of theoretical-cum-empirical methodology, three main themes are selected for the symposium on Medical geography during 23rd IGC (Moscow, U.S.S.R., July 1976), i.e. (i) testing and methods of medicogeographical forecasting, (ii) general results and prospects of the application of mathematical and cartographical methods, and (iii) the role of medical geography in the study of the causes and underlying conditions associated with cardiovascular, oncological and major contagious diseases[16]. During this congress, the title of the working group—'-Medical geography' has been renamed as 'Geography of Health'.

The contributions and approaches of different schools of medicogeographical research has shown many deviations in their methodology and techniques, but the prime goal has always been maintained, i.e., the scientific understanding of the human health problem, so that the policies and practical application can be formulated for preventive measure and medical care to promote the quality of life.

Conceptual Frame

It is clear through the foregoing that the prime concern of medical geography is the observations pertaining to the problems of *health*, defined as 'a state of complete physical, mental and social wellbeing and not merely the absence of disease and infirmity[17]. It has been further stressed that health is directly or indirectly controlled by the ecological factors and environmental setting. That's why if any disturbance in the environmental or ecological balance takes place that causes the growth of disease. The level and intensity of disease depend upon the resistant power of the human body. In case where the human redjustment alongwith resistant power is high, naturally there

will be healthy human life[18]. This idea is further supported by the studies like mortality due to deseasonality in Japan[19].

Most of the studies done by bio-scientists and medical scientists are related with the human ecology and its problems, i.e., deviations and levels of readjustment within the environmental setting, but in contrast it has also been observed that health imbalances are not uniformly distributed over the earth surface. In fact, some diseases are very widely spread, e.g., Cholera. With this identification, it is needed to justify as to what extent the relationship can be observed between the dispersal and spread of diseases and health-ecological attributes. To solve this challenging problem, *geography of health* provides an interdisciplinary platform for the study of scientific and spatial reasoning working behind, as Howe has put it that this field concerns with the cause effect relationship of human health problems with physico-bio-socio-cultural environment within spatio-temporal frame[20]. The basic drawback of Howe's conception is that he has given much emphasis upon the problem of disease prevailing in the study area, rather than the attitudes towards prevention or their solutions[21].

Geography of Health : The Internal Dialogue

The debates and conceptions as postulated by various scholars through various dimensions can be categorized into three groups :

(1) *Ecological Approach*

Most of the medical scientists first seek the vectors of health imbalances in '*pathogens*' (i.e., pathological enquiry), but the human ecologists are first concerned with the etiology of disease within environmental perspective, so called as '*geogens*'. According to May, the founder of American school of medical geography, geogens are responsible for the pathogenesis of disease[22]. He defined disease as 'an alteration of living cells or tissues that geopardizes survival in their environment'[23]. His concepts of disease ecology are process oriented and he has paid particular attention to natural environmental risk factors. Elaborating

his theme he remarked that three factor-groups converging into spatio-temporal frame and causing the growth of disease, are: (i) stimuli from the environment, (ii) response from a host, and (iii) conglomeration of thoughts and traits (cultural).

It is evident through many empirical studies that environmental factors are very important in the understanding of health problems. For example, a Japanese study has demonstrated strong associations between mortality rates for heart diseases and stroke and seasonal temperature variations[24]. And Howe observed that debilititating effect of polluted air is one of the responsible factors for the growth of cancer[25]. Pyle concludes that the diffusion of cholera had followed the water routes in 19th century U.S.A.[26] Similar observations have also been made in the case study of diffusion of cholera/influenza in England and wales during 1957[27].

Ignatyew, the leader of the Russian school, has advocated that there may be certain natural pre-requisites within a territory which cause health imbalances. These pre-requisites" consist of certain properties of geo-system that assume the form of pathological states when interacting with the human organism. These manifestations take place under certain conditions dictated by the reactivity of the organism and by character of man's economic activities[28].

(2) *Spatial Approach*

Although the ecological bases provide a more scientific reasoning for the analysis of problems, yet it lacks the regional identification. This gap has been fulfilled by Hiedelberg School of medical geography[29]. In England, it has been initiated by Stamp, who stated that with the help of maps 'a medical geographer can analyse environmental relationship of an organism either in disease etiology or in health ecology'[30]. According to Jusatz "the best way to describe the various correlations of environment with the incience of disease and epidemics as well as their vectors in a country is the medico-cartographical method. Without the help of geomedical maps we shall not be able to

develop a regional geomedical study"[31]. Jusatz's views have been further supported by McGlashan and Harington, who stated that "since pattern affinities should form the begining of aetiological search, it must be followed by a rational plan of environmental monitoring[32]."

With the growing interest in computer techniques, scholars have become conscious about the computer graphics as well as statistical testing. For trend surface analysis complicated isopleths are being used, notable as example are the medicostatistical maps of Australia prepared-by Learmonth and Nichols[33]. Using standard deviation of the arrays of rates, Armstrong prepared the mortality-maps with the help of computers.[34] Some scholars have used computer graphics for various type of map preparations like droughting, diabetes mellitus, mortality ratios etc[35]. The remark of Howe is notable in this context that "regional variations in the distribution of diseases may reflect the habits, the tempo, the mental tensions and the anxieties of our twentieth century existence, our diet or the increasingly sedentary nature of our work[36]." Such maps will provide the territorial pattern which will show entirely consistent incidence ingradient of the local population, and thus it may throw light upon the spatial aspects of human health problems[37] & [38].

(3) *Eco-Spatial Approach*

Increasing interest of scholars of different disciplines paid special attention towards the spatial perspective, thus has grown the concept of multidimensional analysis. The basic assumption of the ecological approach is the environmental imbalance as the causative factor. Some studies reported that technological advances bring more environmental control[39], while some other studies observed that some technological attainments have caused the growth of different health problems[40]. According to Doll, the findings of geographical pathology never prove to be a medical truth in an individual case since such findings necessarily represent community generalizations. Irrespective of individual proof, finding on these geographical bases represent the ecological context of disease occurence and as such, represent one step

towards the alleviation of overt human suffering[41]. Through the geographic scale of spatio-temporal frame, the cause and effect relationsip of human health problems could also be analysed in a more scientific way[42]. Furthermore, it is notable that some cultural groups have particular behavioural habits which can be directly associated with specific diseases. Mc-Glashan correlated the incidence of esophageal cancer in southern Zambia and south-eastern Malawi with the use of contaminated alcoholic spirits[43].

At a particular point in the society reaches the point of socio-cultural complexity where in certain aspects the man-environmental relationship changes to cultural behavioural identifications which within space become more apparent[44], which is also to be studied by geographers through their medico-geographic techniques, thus finally one can find more about the etiology of a particular disease[45]. Within this perspective medico-geographers have shown their interests towards empirical-inductive approach, formerly developed by Hirsch during 19th century and later advanced by Markovian[46]. This approach has provided a new stimulation for model building and theory construction in the geography of health, through which the epidemiological as well as environmental hazards could be understood very clearly[47].

At present even the ecologists have also drawn their attention towards the spatial approach. This approach can be depicted through the model showing the anatomy and physiology of environment—its structure, processes and pathways of energy transfer. According to Dansereau the environmental regimes can be classified into three groups –minerotropy, phytotrophy and zootropy, in which the circulation system is processed by metabolism, elaboration, excretion, death and weathering. The pathway of energy transfer within each level and between levels result in storage, reinvestment and loss (Fig. 1) ; as such at a certain period of time, due to environmental imbalances within a particular space, diseases start growing.[48] This model can be transformed within the geographical scheme of environ-

mental arrangement which concern with the range of physical, physico-human, and human environments.[49] The latter two may be subdivided into four groups—(A) environmental, (B) biotic, (C) behavioural, and (D) socio-economic, which are

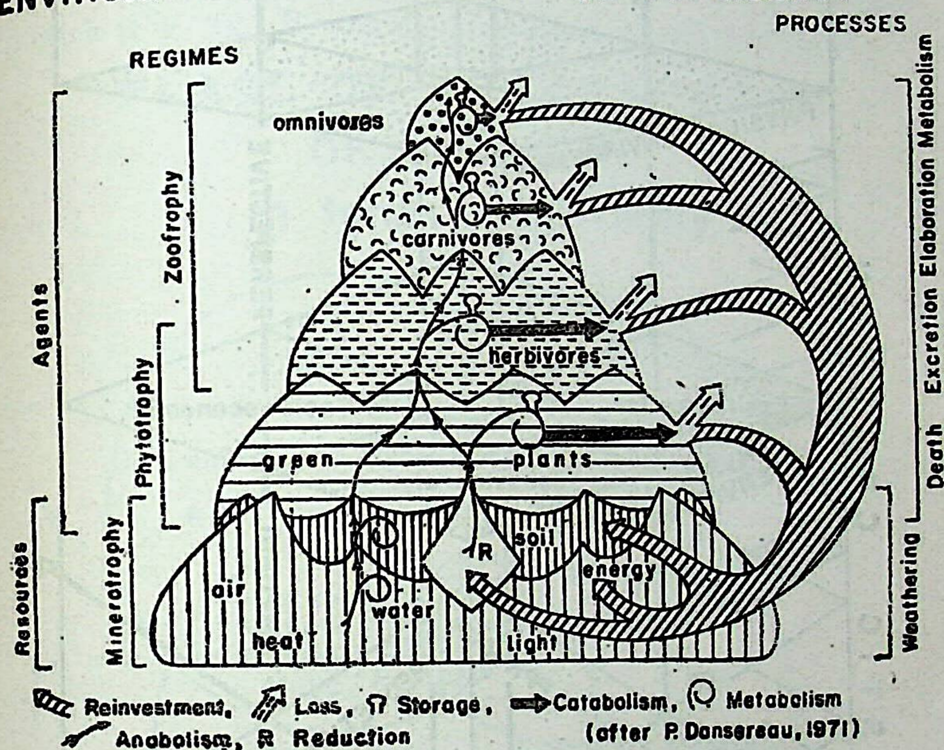


FIG. 1

analysed through the four approahes—analytical, theoretical, spatial, and applied. All the three environments are joint together with the human dimension in the core and temporal dimension around that (Fig. 2). If any distrubance takes place at any level in any period of time, that will create a disturbance in the human life cycle. Here the eco-spatial approach is fundamentally needed because it is the only way which can provide the findings dealing with the association of disease with environmental and ecological variables.

The Place of Geography of Health

The emergence rate of diversification and multidimensional analysis in such a newly advanced field is so high that now it becomes difficult to define and place the subject. To define the

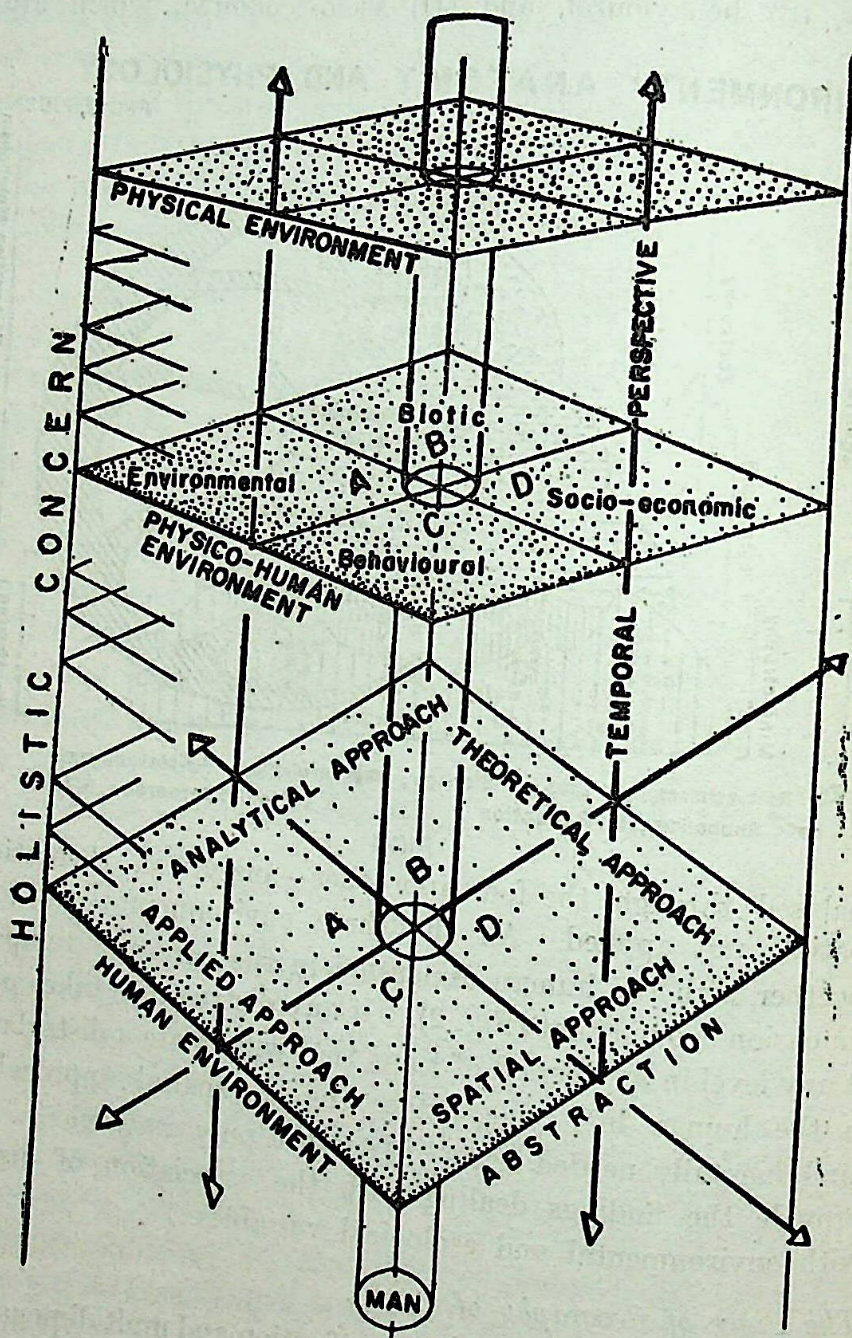

GEO-SPATIAL ENVIRONMENTAL SYSTEM
PHYSICAL ENVIRONMENT
HOLISTIC CONCERN
TEMPORAL PERSPECTIVE
Biotic
B
Environmental
A
D
Socio-economic
C
PHYSICO-HUMAN ENVIRONMENT
Behavioural
ANALYTICAL APPROACH
THEORETICAL APPROACH
B
A
D
C
APPLIED APPROACH
SPATIAL APPROACH
HUMAN ENVIRONMENT
ABSTRACTION
MAN
[modified after P. H. Nash, 1973]

FIG. 2

core concern of the *Geography of Health*, the help of set theory and venn diagram can be taken ; thus four sets of factor-group have been considered which also contains different elements in themselves ; these are (A) environmental, (B) biotic, (C) behavioural, and (D) socio-economic. The study area of these factor-groups jointly forms the core concern of the geography of health (Fig. 3). By overlapping allied interdisciplinary dis-

PLACE OF GEOGRAPHY OF HEALTH in terms of Set Theory

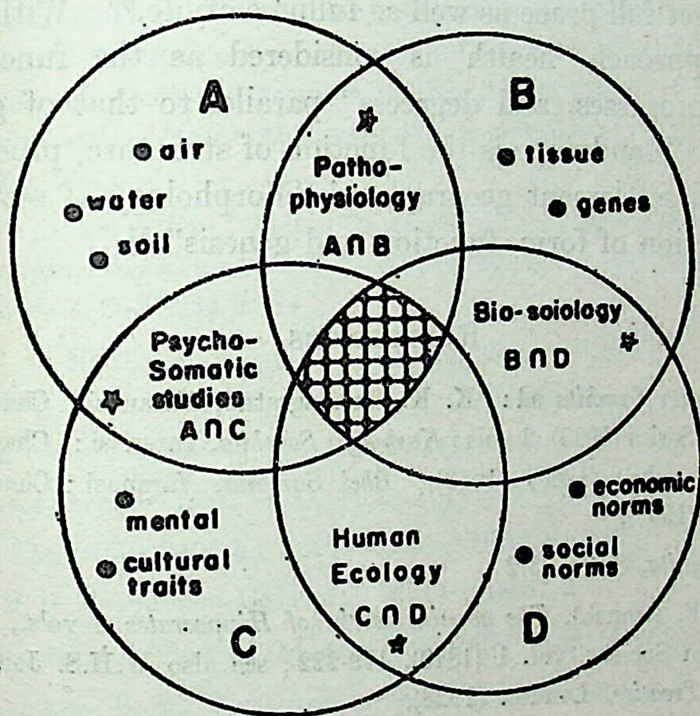




FIG. 3

ciplines can also be placed, e.g., Pathophysiology, Psycho-somatic studies, Bio-sociology, and Human ecology, etc. Taking this view in a broader sense, the Geography of Health can be defined as "*the orderly description and interpretation of the causes, processes, patterning, interrelations, and the spatial organization of human health attributes, with varying distribution over the earth surface in the frame of environmental, ecological, and behavioural perspective*". This definition represents the concept of 'holistic' approach. Consequently this discipline is interpreted as the study of total eco-spatial system. Moreover, in its own way it works towards the search for such an ideal environment, where man will get full peace as well as fullness of life.[50] Within this holistic approach 'health' is considered as the function of 'pattern, processes, and degreess" parallel to that of geomorphologists' "Landscape is the function of structure, process and stage" and settlement geographers' "Morphology of settlement is the function of form, function and genesis".[51]

References

1. See *Susruta Samhita* ed: K. K. Bhishagratna, Varanasi: Chaukhamba Sanskrit Series (1963), 2 vols; *Kashyapa Samhita*, Varanasi: Chaukhamba Vidya Sanskrit Series (1953); *Bhel Samhita*, Varanasi: Chaukhamba Bhavan (1959).
2. *Bhēl Samhita, Sutra* 13/2
3. Adams, F. (transl.), *The genuine works of Hippocrates* 2 vols., London-Sydenham Society, vol. 1 (1849), 179-222; see also W.H.S. Jones, *Hippocrates Treatise*, London (1923).
4. Howe, G. M., *National Atlas of Disease Mortality in U. K.*, 2nd ed., London-Nelson (1970) 10-12.
5. Shapter, T., *History of the Cholera in Exeter in 1832* (1849), quoted in G. M. Howe, *ibid*, p. 12
6. See J. M. May, "Atlas of Diseases" *Geog. Review*, 40-4 (1950), 17 plates; E. Rodenwaldt and H. J. Jusatz, *World Atlas of Epidemic Diseases*, Hamburg-Falk-Verlag, Hiedelberg-Acad. of Sc. (1952-1961).
7. Howe, G. M., op. cit., ref. 4, p. 1
8. see L. D. Stamp, *Some Aspects of Medical Geography*, London-Oxford Univ. Press (1964); *idem. The Geography of Life and Death*, London-Collins (1964)

9. see A. T. A. Learmonth, "Medical geography in India and Pakistan", *Geog. Jl*, 127 (1961), 10-26 ; *idem* "Health in Indian subcontinent 1955-64" *Occasional Papers* No. 2, Australian National Univ., School of General studies, Canberra (1964)

10. Jusatz, H. J. (ed.) *Geomedical Monograph series, Regional Studies in Geographical Medicine.* Hiedelberg-Acd. of Sc., Berlin, Springer-Verlag, vol. I Libya (1967), vol. 2 Afghanistan (1968), vol. 3 Ethopia (1969), vol. 4 Kenya (1970).

11. see V. P. Byakov, *et al., Soviet Geography : Accomplishments and Tasks,* New York : American Geog. Soc. (1962) ; E. I. Ignatyev, "Medical Geography and Practice" in J. Ducolot (ed.) *Melanges de Geographic offerts a M. Omer Tulippe, Liege,* Gembloux (1966) ; V. V. Vorobyev, *et al* ; *Principles and Methods of Medical Geography, Mapping,* Irkutsk (1968) ; E. I. Ignatyov, *Key Problems in Mapping in the Field of Medical Geography* Washington, Deptt. of Army transl. No. J-6384 (1969) ; A. A. Shoshin, *Fundamentals of Medical Geography,* Washington-Dept. of Army transl. No. J-5264 (1968).

12. see N. D. McGlashan "Medical Geography : An Introduction in "*Medical Geography, Techniques and Field Studies,* ed. N. D. McGlashan, London-Methuen & Co (1972), 13-14.

13. se N. D. McGlashan and J. S. Harington, "Some Techniques for Mapping Mortality "*South African Geog. Jl.*, 58-(1976), 18-24.

14. *Newsletter-Commonwealth Human Ecology Council,* No. 3(May, 1976).

15. *General Circular,* 22nd I.G.C., Montreal, Canada (1972), 31.

16. see, *Third Circular,* 23rd I.G.C. Moscow, U.S.S.R. (1976).

17. *W. H. O. Constitution,* Genewa : W.H.O. (1964), 3.

18. Howe, G. M., "Plotting the scale of diseases" *Geog. Magazine,* 44-5 (1972).

19. Momiyama, S. M. "Signs seen in Japan of Deseasonality in Human Mortality, "*Papers in Meteorology and Geophysics,* 26 (1975), 9-34.

20. Howe, G. M., "Some Aspects of Medical Geography of the United Kingdom" Paper read in *I.G.U. Commission on Medical Geography,* 21st I.G.U., New Delhi (1968).

21. Howe, G. M., "The Geography of Death in England and Wales" *The Lancet,* 1 (1963), 818 ; *idem, National Atlas of Disease Mortality,* ref. 4.

22. see J. M. May, "Medical Geography—Its method and Objectives" *Geog. Review* 40 (1950), 9-41 ; *idem* "Medical Geography" in *American Geography : Inventory and Prospects,* ed. P. E. James and C. F. Jones, Syracuse University Press (1954).

23. see J. M. May "The Ecology of human Diseases "*Annals, N. Y. Acd. Sc*, 84 (1960), 789-94.

24. Katyama, K. and M. M. Sakamoto, "A Biometeorological study of Mortality from Stroke and Heart Disease "*Papers in Meteorology and Geophysics*, Tokyo, 21-2 (1970), 127-139.

25. Howe, G. M., "The Geography of Long—Bronchus Cancer and Stomach Cancer in the U. K." *Scottish Geog. Magazine*, 87-3 (1971), 202-220.

26. Pyle, G. F., "The Diffusion of Cholera in the United States in the nineteenth Century" *Geog. Analysis*, 1 (1969). 59-75.

27. Hunter, J. N. and J. C. Young, "Diffusion of Influenza in England and Wales "*Annals, Asso. Am. Geog.*, 61-4 (1971), 637-653.

28. see T. M. Gelyakov, et al. "The Present State of Medical Geography in U.S.S.R." *Soviet Geography*, 8-4 (1967), 228-234 ; also E. I. Ignatyev, ref. 11 ; *idem*. Medical *Geography in U.S.S.R.* Paper read in 23rd I.G.C. Moscow (July 1976).

29. see H. J. Jusatz, op cit, ref. 6 and 10.

30. Stamp, L. D., "Geography in the Modern World" *Geog. Magazine*, 37-3 (1972), 165-167 ; also G. M. Howe, ref. 4.

31. Jusatz, H. J. "Method for the Compilation of a regional geomedical study" in *21st I.G.C. 1968, Selected Papers, vol. I Physical Geography*, ed. S. P. Chatterjee and S. P. Dasgupta, Calcutta-N.G.C. (1970), 413.

32. McGlashan, N. D. and J. S. Harington, ref. 13 ; also M. J. Joshi and C. D. Deshpande, "Geographical Distribution of Some Disease Common in Southern Asia" *Geographia Medica*, 3 (1972), 5-29.

33. see A. T. A. Learnmonth and G. C. Nichols, "*Maps of Some Standarized Mortality Ratios for Australia 1959-1968*, Canberra : A.N.U., Dept. of Geog. (1965).

34. Armstrong, R. W. "Standarized class intervals and rate computation in statistical maps of Mortality" *Annals. Asso. Am. Geog.* 59 (1969), 382-390.

35. see R. A. Armstrong and J. Strock, "Medical Section", *U.S. National Atlas*, Washington, D. C. Govt. Printing Office (1970), 251-254 ; also N. D. Mc-Glashan and D. H. Bond, "A Method for using Computer assistance in mapping geographical synoptic Data" *Die Erde*, 98(1967), 292-7 ; G. M. Howe, "Some Recent Developments in disease mapping" *Royal Scottish Health Jl.* 90(1970), 16-20.

36. Howe, G. M. op cit., ref. 4, p. 1.

37. Rose, E. F. and N. D. McGlashan, "The Spatial Distribution of Oesophageal Carcinoma in the Transkei, South Africa" *British Jl. of Cancer*, 31(1975), 197-206.

38. see J. M. Hunter (ed) *The Geography of Health and Disease.* Chapel Hill-Univ. of North Carolina, Deptt. of Geog., Studies no. 6 (1974).

39. see R. Doll (ed) *Methods of Geographical Pathology*, Oxford: Blackwell (1959).

40. Banks, A. L. "The Study of Geography of Diseases" *Geog. Jl.*, 125 (1959), 199-210.

41. Doll, R. op. cit., ref. 39.

42. Harington, J. S., "A Spatial and Temporal Analysis of Four Cancers in Africa" *British Jl. of Cancer*, 31(1965), 665-678; also K. M. Kwofie, "A Spatio-temporal Analysis of Cholera Diffusion in Western Africa" *Econ. Geog.*, 58-2 (1976), 127-135.

43. McGlashan, N. D. "Esophageal Cancer and contaminated Alcoholic Spirits, An exercise in Medical Geography" *International Pathology*, 9-3, 4 (1968), 50-51.

44. Pyle, G. F., "Introduction: Foundation of Medical Geography" *Econ. Geog.* 58-2 (1976), 99; *idem Measles as an Urban Health Problem: The Akron Example.*" Paper presented in 22nd I.G.U. Commission on Medical Geography (1972); also G. M. Howe and J. Loraine (ed) *Environmental Medicine*, London—Heinemann Medical Book Ltd. (1974).

45. Armstrong, R. W. "Medical Geography—An Emerging Speciality" *International Pathology* 6 (1975), 61-63.

46. Hirsch, A., *Handbook of Geographical and Historical Pathology* 3 vols., London—New Sydenham Society (1833, 1885, 1886); also A. P. Markovian, "Historical Sketch of the Development of Soviet Medical Geography" *Soviet Geog.* 8, (1962), 3-19.

47. see A. A. Brownlea "Modelling the Geographic Epidemiology of Infectious Hepatities" in *Medical Geography* op cit. ref. 12, pp. 279-300; P. Haggett "Contagious Processes in a Planer Graph: An Epidemilolgical Application" in *Medical Geography*, op. cit. ref. 12, pp. 307-324; R. W. Armstrong "The Geography of Specific Environments of Patients and non-patient in Cancer Studies with a Malaysian Example" Econ. Geog., 58-1 (1976), 161-170.

48. Dansereau, P. "Dimensions of Environmental Quality" *Sarracenia*, 14((1971), 9-24, 78-79.

49. see P. N. Nash, "Emerging Trends in Environmental Training of Geog.-graphy in North America: Antipode to Academiasis and Diplomania" in *Applied Geography and the Human Environment*, ed. R. E. Preston, Waterloo—Deptt. of Geog., Univ. of Waterloo (1973), 326-329.

50. see R. P. Mishra, *Medical Geography of India*, New Delhi: N.B.T. (1970), 9; also Razia Khan, "Purpose, Scope and Progress of Medical Geography" *Indian Geog. Jl.*, 46 (1971) 1-9.

51. see R. L. Singh, K. N. Singh and Rana P. B. Singh, eds, *Readings in Rural Settlemtnt Geography*, Varanasi—National Geog. Soc. India, Res. Pub. no. 14 (1975), viii.

POPULATION/RESOURCE REGIONS OF BAGHELKHAND*

CHANDRA BAHADUR SINGH & ANIL KUMAR SINGH

Research Scholars, Department of Geography, Banaras Hindu University, Varanasi-5.

Introducing the Area :

Baghelkhand region (80° 32′E—84° 5′E and 21° 30′N—24° 40′N) covers an area of 42,289 km² and population, 32,88,256 (1971). It is situated in the north-eastern part of the Peninsula and comprises the districts of Sidhi, Shahdol (excluding Pusprajgarh Tahsil), Surguja (Madhya Pradesh) and area lying south of the Son River in Mirzapur district (Uttar Pradesh).

The delimitation of Baghelkhand region on the basis of physico-cultural unity has already been carried out by Prof. Singh.[1] But in the present study, its boundary differs at some places in Sidhi district only because administrative boundary has also been taken into consideration for planning purposes. It is notable here that Singh & Singh[2] have taken Southern scrap of Vindhyans on Son river to delimit the northern boundary of the region, while in this study the administrative limit of Sidhi district has been considered which presents slight deviation.

Some Regional Distinctiveness :

This is a region with strong and diversified natural resource base, yet it is considered to be one of the backward areas of the country. Its industrial infrastructure is relatively weak due to undulating plateaus possessing bare, stony and forested regions

---

* This paper was presented before the Research Unit of Department of Geography on November 13, 1975.

[1] Singh, R. L. (ed) *India : A Regional Geography*, Varanasi : N.G.S.I. (1971) p. 39.

broken often by hills. These natural obstructions are also reflected in the distributional pattern of human resources and have rather hindered the development of the existing natural resources. An attempt has been made here to delineate the region into Population/Resource Regions with the help of the analysis of interaction of population resources with the other natural resources. This will specify the economic level and weaknesses of such regions so as to provide a guide line for planners to develop the area to its optimum level, quite in accordance with its resource potentials without disturbing the ecological balance and keeping pace with the technological development.[3]

The Present Approach :

Human resource is of vital importance because it is the most dynamic force in every field of the socio-economic development of a region. "Man not only determines the pattern of resource use but himself is also a dynamic essential resource",[4] which provides the required labour force and skill to plan the entire cyclic process of resource utilization. Because 'the interplay of man and resources determine the level of development'.[5]

The under-utilization of human resources causes the slow progress in economic development. In an under-developed area like 'Baghelkhand' having big population, the effective manpower planning and optimum development of human resources should be emphasized. In this context it will be a significant step to provide facilities that non-working man power may gain better economic efficiency as well as better social facilities,

---

[2] Singh, Kashi N. and Kl. N. Singh. Ibid., p. 644.

[3] For similar remarks and statement of various scholars, see, UNO, *The determinants and Consequences of population trends*, New York, 1973, Vol. 1, pp. 369-70.

[4] Peach, W. H. and James A. Constantin, *Zimmarman's world Resources & Industries*, Harper & Row, London, 1972, p. 37.

[5] Deittrich, S. D., "Florida's Human Resources', *Geographical Review*, Vol. 38, (1948), Pt. 2, p. 278.

the main goal of optimum level. In the present study, for the regionalization purpose, the population attributes—density, growth, composition, structure, literacy and level of urbanization have been considered on the one hand and the combined effect of resource potentiality and level of socio-economic development on the other. The latter level may be clearly indicated by the combined effect of the above variables and three levels, i.e. level of high development, Medium development and low development have been worked out as already dealt with in the sequal.

Spatial Structure of Demographic Elements

Population Distribution :

Baghelkhand region with its rugged topography has uneven distribution of population. Its population density is quite low (76 persons/km²) as compared with Madhya Pradesh (94 persons/km²) and India (167 persons/km²). Its population density differs from Tahsil to Tahsil ; Roberts Ganj and Manendragarh Tahsils are high densily populated while Baharatpur, Samari and Pal Tahsils have low population density. Thus Baghelkhand may be devided into three population density zones— High, low and very low density areas.

Area of High Density :

Robertsganj (population density 140 person/km²) is the most densely populated Tahsil followed by Manendragarh Tahsil (131 persons/km²) and Baikunthpur (125 persons/km²). The main cause behind this high density is the higher degree of urbanization (14.42%, 35% and 12% respectively) and industralization (as 3.1%, 3.8% and 3.1% people are engaged in industries in these Tahsils respectively). Another important factor is the availability of higher percentage of arable land, e.g. 70% in Robertsganj and 50% in Baikunthpur Tahsil. The only exception lies in Manendragarh (36%) where Kursia, Amali, Burhar and Manendragarh urban-cum-industrial centres attract the people from other areas thus giving higher population density.

Areas of Low Density :

Due to less developed transportation, bad topography, low soil fertility and less available land for agriculture areas like Singrauli-Dudhi-basin, part of Sohagpur and Surguja basins show low density of population. High percentage of forest coverage (about 40%) also results in low population density. Most of the regions enjoy low density as out of 15 Tahsils of the region 10 are in this category e.g. Ambikapur (100 persons/km²), Sohagpur (94 persons/km²), Gopadbanas (93 persons/km²), Sigrauli (73 persons/km²), Surajpur (74 persons/km²), Dudhi (84 persons/km²), Samari (60 persons/km²) and Beohar (65 persons/km²) Bandhogarh (56 persons/km²) and Deosar (52 persons/km²). (See table 1).

Table—1

Tahsils	Popu. density (persons/km²)	Decinial growth rate (%) (1961-71)	Literacy (%)	Level of urbanisation	Percentage of S.C.	Percentage of S.T.	workers (% of popu.)	Non-ag. workers (% of popn)	Ag. workers (% of total workers)
Beohari	65	21.44	12.20	4.75	6.83	43.35	38.43	3.68	94.3
Bandhogarh	56	20.72	14.79	9.72	7.14	40.50	35.43	4.65	86.9
Sohagpur	94	24.97	16.46	17.14	6.05	46.92	37.29	7.89	78.8
Gopadbanas	93	32.42	12.77	1.71	8.66	28.64	36.76	3.89	88.1
Deosar	52	38.95	7.80	..	10.28	46.69	41.37	3.02	92.6
Singarauli	73	31.77	9.40	..	13.70	44.86	39.61	3.94	90.2
Bharatpur	16	26.02	13.01	..	4.98	65.22	40.08	5.24	86.8
Bakunthapur	125	28.14	18.01	8.68	6.00	43.00	35.75	6.24	82.3
Surajpur	74	25.65	10.60	1.55	4.65	47.13	35.46	2.71	92.3
Pal	50	39.43	9.35	2.42	4.06	61.71	37.75	2.92	91.5
Manendragarh	131	23.74	22.59	35.01	7.48	45.82	33.82	15.44	54.3
Ambikapur	100	26.77	11.67	6.28	4.05	61.94	35.33	5.26	89.4
Samri	60	31.17	10.05	..	4.61	75.82	39.79	2.88	92.7
Dudhi	84	8.98	10.18	17.18	58.82	0.80	34.47	3.76	89.1
Robertsganj (partly)	140	34.42	9.79	14.42	60.30	..	36.69	4.42	88.9

Source : Computed by the author from Census of India (M. P. and U.P.) 1971.

Areas of Very Low Density:

Bharatpur (16) and Pal Tahsil (50) come in this category. The main causative factor behind this very low density are rugged topography, least develop transport net, higher forest coverage (65.9 persons in Bharatpur and 53.5 persons in Pal Tahsil) and least (7.6% and 19.5%) arable land. It is also notable that there is no urban centre in Bharatpur.

Population Growth:

The growth rate of population affects the economy of the region in two ways—first, it adds new mouths to be feed, i.e. population pressure increases on existing resources; secondly, it adds new hands i.e. more work is needed to employ them or more work which can exploit more resources. Hence high growth rate in backward regions creates acute problems.

The growth rate of the region varies from Tahsil to Tahsil: it is highest in Pal Tahsil (39.43% in 1961-71) and lowest in Dudhi Tahsil (8.98%) as against 28.67% of M.P. and 24.66% of India for the same period. Considering the spatial variation in growth rate, the region can be devided into the following growth rate categories:

Areas of Very High Growth Rate (>33%):

It occures in Pal (39.43%), Deosar (38.95%) and Roberts Ganj Tahsils (34.42%) mainly because here the people are poor, backward and illiterate. The attitude that more children produce more work is the leading factor giving such high growth rate as most ot the population is engaged in primary activities.

Areas of High Growth Rate (25–33%):

It prevails in Singrauli, Gopad Banas, Bharatpur, Surajpur, Ambikapur and Samari Tahsils. (See tablel 1). Here illiteracy, low level of urbanization, high percentage of Scheduled caste and Scheduled tribe population help to accelerate growth rate.

Areas of Moderate Growth Rate (17–25%) :

It occurs in Beohari (21.44%), Bandhogarh (20.72%), Sohagpur (24.97%) and Manendragarh (23.74%) Tahsils. These tahsils consists of relatively less tribal population, higher literacy (>15%) and comparatively high degree of urbanization and industralization, whose combined effect may be seen in moderate growth rate in the area.

Areas of Low Growth Rate (<17%) :

It occurs in Dudhi tahsil (8.97%) only. The majority of its population is concentrated near Rihand Dam Area. Here literacy (10%) and urbanization (17.8%) are relatively higher It is very ineresting to note that here in and out migration trends can be observed. Infact, poor males of the adjacent areas come to get employment in Dudhi-Rihand-Renukut area, and also a considerable portion of the male population of this area migrates to Sigrauli Coal fields for better opportunities of jobs. All these together are responsible for this low growth rate.

Sex-Ratio :

The census reveals that female ratio (number of female/1000 male) has been continuously declining since 1921 in Sidhi, Shahdol and Mirzapur districts (from 1000, 998 and 1058 in 1921 to 961, 955 and 903 in 1971 respectively) while it is more or less fluctuating in Surguja districts (from 959 in 1921 to 961 in 1971).In urban areas, females are comparatively less because a considerable portion of male population has migrated from rural areas to urban one.

Distribution of Scheduled Castes and Scheduled Tribes :

Scheduled castes and tribes which are still 'treated as untapped human reserves'[6] are predominant in the region. They account for 54.6% of the total population of the region.

---

[6] Mitra, Ashok in *Economic Regionalization of India, Problems and Approaches* : P. Sen Gupta & G. Sadasyuk : Census of India, 1961, Monograph series Vol. 1, No. 8, Appendex p. 226.

They are concentrated in Samari (83.43%), Bharatpur (70.4%), Pal 65.76%), Ambikapur (66%), Robertsganj (60.30%) and Dudhi (58.90%) Tahsils. (Table 1). The tahsils having less than 50% of scheduled castes and tribal population are Baikunthpur, Sohagpur, Bandhogarh, Beohari, Gopadbanas and Singarauli. Hence the tahsils having high percentage of this population are bound to be stagnant in development.

Characteristics of Occupational Structure :

The region is predominently rural in its economic characters. The ratio of working people as well as the percentage of working people engaged in agriculture (either as cultivators or as agricultural labourers) differ from tahsil to tahsil. The working force is highest in Deosar Tahsil (47.37%) of the population), followed by Bharatpur (40.08%), Samari (39.79%), Singrauli (39.61%), while it is lowest in Manendragarh tahsil (33.82%). An analysis of non-agricultural workers (a parameter of development) will represent interesting features. It is notable that the Manendragarh tahsil having lowest percentage of workers has highest percentage of non-agricultural worker (15.44%), while Deosar tahsil having 47.37% workers has only 3.02% non-agricultural workers; it denotes that here majority of workers are engaged in agriculture either as cultivators or as agricultural labourers. (Table 1). It is also worthwhile to mention that here the combined impact of non-agricultural workers has been considered only because no tahsil has significant development in non-agricultural sectors, viz. livestock, fisheries and hunting; Mining and quarrying, Manufacturing and processing; construction; trade and commerce, transport and storage and other services. Hence the non-agricultural force, indicating the level of development in these sectors, is highest in Manendragarh (15.44%), followed by Sohagpur (7.89%) and Baikunthpur tahsils (6.24%). This percentage is quite low in Surajpur (2.71%), Samari (2.88%), Pal (2.94%), Deosar (3.02%) and Gopadbanas (3.89%) tahsils.

Level of Urbanization :

The whole Baghelkhand region is less urbanised (8.0%) as compared to state average of Madhya Pradesh (16.3%), and national average (19.91%) of India (1971), although there are some small patches of urban concentration. Manendragarh tahsil is most urbanised (35.01%) in the region because there are many coal fields which attract the people. This is followed by Sohagpur (17.14%), Robertsganj (14.42%), Dudhi (18.17%), Tahsils. Singrauli, Deosar, Bharatpur and Samari tahsils have no urban centres.

Literacy :

The percentage of literates varies from tahsil to tahsil as Sohagpur (16.5%), Manendragarh (22.4%) and Baikunthpur (18.0%) tahsils are relatively highly educated areas. Deosar (7.8%) is the low level literate tahsil followed by Robertganj (9.79%), Singrauli (9.40%) and Pal (9.35%) tahsils. Beohari, Gopadbanas, Bandhogarh, Bharatpur, Surajpur, Ambikapur, Samari and Dudhi tahsils have 10–15% people as literate (Table 1).

Resource Potentiality :

The region has high resource potentiality. Many mineral resources like copper, coal, bauxite, fine clay, corundum etc. and other resources such as forest and water resources (Hydro-electricity) are the main resources of the region. Resources are well distributed in the region except few concentratin of some resources ; coal for instance is concentrated in Singrauli and Sohagpur basins and bauxite in Main pat area.

Forests are wide-spread in the region covering about 40% of the total area. Bamboo, Sal, teak, tendu are the main commercial tree species. Ukiliptus is being planted to fulfil the need of raw materials in paper industry in place of bamboo. Sal and teak are used in house building and other works while tendu leaves are used in Bidi-making. At present full exploitation of forest resources is however, not possible due to inacessibility.

Coal is the domonating mineral in the region. The main coal fields are Singrauli, Sohagpur, chirmiri and Bishrampur.

Coal fields	*Reserves (Million tones)*[7]
Singrauli	9000*
Sohagpur	4000
Umaria	48
Johila	48
Bishrampur	235
Jharkhand, Chirmiri and Kursia	485
Sonhat	99
Jhilmili	238

In 1973, district wise production and values of coal is as follows :—

Districts	*Output (thousands tons)*	*Value (thousand Rupees)*
Sidhi	1430	45760
Mirzapur	476	16021
Shadhol	3705	148380
Surguja	3267	104558

Bauxite is more important in Surguja district, where it is found in main pat area having the reserve of 8,999,000 tons. This bauxte is of better quality with 52-67.5% of aluminium content.

Thus it is clear that some areas have high resource potentiality like Sohagpur, Manendragarh, Baikunthapur, Sigrauli, Dudhi and Samari tahsils, while other areas like Pal, Deosar and Bharatpur tahsils have less potentailities.

Levels of Socio-Economic Development :

The level of socio-economic development is assessed by different variables. Level of urbanization, literacy and per-

[7] Source : *India's Coal Reserves, Geological Survey of India*, 1957.

* Estimation of 1976, See "AAJ" 14th Sept. 1976.

centage of non-agricultural workers, directly affect the economic efficiency of the people. High growth rate and high percentage of Scheduled castes and Scheduled tribes in a region like Baghelkhand denote its backwardness as they are mostly poor people depending upon primary activities like agriculture, forestry, mining and quarrying etc. They are mostly land-less people. Three levels of developments can be visualised as high in Southern part of the region covering Sohagpur, Manendragarh and Baikunthpur tahsils moderate in western and north-eastern part of the region covering Beohari, Bandhogarh, Gopadvanas, Singrauli, Robertsganj, Dudhi and Ambikapur and Surajpur tahsils, low level in eastern part covering Pal, Samari, Bharatpur and Deosar tahsils.

Present Methodology adopted for Regionalization :

A. Mitra, Sen Gupta and others have adopted emperical methodology for dividing India into population resource regions[8]. By giving weightage to the variables related they have distinguished population resource/regions.

In the present study, considering all aspects and attributes of population, an attempt has been made to divide the area into different regions with the help of the 'Deviation System' in which all the aspects have been measured in terms of their deviation from the regional mean level.[9]

In the weightage system of regionalization there is no standard measure to give the value to a variable, so in the case of multivariables, it gives some times contradictory results. Some scholars have attempted to solve this problem on the basis of highly complicated statistical methods like multivariate analysis, etc. The adopted method will also give a similar result without using such statistical techniques.

[8] Ibid., pp. 90-91.

[9] Adopted from R. L. Singh, Rana P. B. Singh, C. B. Singh, "Baghelkhand Region, A Study in Population/Resource Regionalization and Development Medels" *National Geogr. Jl. India*, vol. 22(1976), pp. 7-14.

In present study, every indicator or deviation index for every tahsil has been calculated. Except the index showing the level of deviation of scheduled castes and scheduled tribes from the regional mean, all the variables have direct relationship among them. But in the case of scheduled castes and scheduled tribes, the high index will denote the low development ratio, because it further denotes the dependency on the primary sector. Except variable f (Table 2) all the variables were grouped in four groups as high, medium, low and very low. It means that the level of development is the function of different variables (a to e in Table 2) Symbolically represented as El=f (a, b, c, d, e). The tahsils, having high index (>1.25) are dynamic, having medium index (0.75—1.25) are prospective and of low and very low index (<0.75) are problematic regions. The Robertsganj is only exception having index 1.31 yet treated as prospective because low level of resource potentiality and moderate level of development.

Table—2

Deviation Indices—(Regional Mean index=1.00).

Tahsil	Popu. density (a)	Growth rate (b)	Level of Urbanisation (c)	Literacy (d)	Non-Ag. workers (e)	Average Index (a-e)	Scheduled caste and Scheduled tribe (f)
Beohari	0.84	0.79	0.59	1.01	0.71	0.76	0.90
Bandhogarh	0.73	0.76	1.21	1.23	0.70	0.97	0.85
Sohagpur	1.23	0.92	2.14	1.27	1.53	1.44	0.96
Gopadbanas	1.21	1.20	0.21	1.06	0.75	0.89	0.65
Deosar	0.70	1.44	..	0.65	0.58	0.67	1.01
Singarauli	0.96	1.17	..	0.78	0.76	0.77	0.67
Bharatpur	0.21	0.96	..	1.08	1.01	0.65	1.25
Baikunthapur	1.64	1.10	0.78	1.50	1.21	1.25	0.87
Surajpur	0.98	0.95	0.19	0.88	0.52	0.75	0.94
Pal	0.66	1.46	0.30	0.78	0.57	0.70	1.17
Manendragarh	1.72	0.87	4.37	1.88	3.00	2.37	0.96
Ambikapur	1.31	0.99	0.78	0.97	1.02	1.01	1.16
Samari	0.79	1.15	..	0.83	0.56	0.67	1.43
Dudhi	1.10	0.33	2.14	0.84	0.73	1.03	1.05
Robertsganj (partly)	1.84	1.27	1.80	0.81	0.85	1.22	1.07

Source : R.L. Singh, Rana P.B. Singh, C.B. Singh, (1976), *op cit*, ref. no. 9, p. 9.

Dynamic Region :

The dynamic regions 'are those which support advanced industrial areas and predominently urban population with scientific and technological components that push knowledge everforward and continually transform the untapped resources for diverting population from Crowded rural areas[10]'. Three tahsils of the study region i.e. Sohagpur, Manendragarh and Baikunthpur show such characteristics. This area has abundant quantity (about 5000 million tons) of coal reserves. Therefore, here many towns have been developed as mining centres. There are some industrial towns also viz. Amali, Kursia and Manandragarh. Here a good net of rail road has developed to serve the need of the region. These highly urbanized tahsils (in regional respect) attract the people from neighbouring rural areas and provide better opportunity for employment. Besides this, the area is comparatively highly literate and here agriculture is practiced by modern tools and techniques as it can be observed in the relatively high double cropped areas, e.g. in Sohagpur, Baikunthapur and Manendragarh tahsils the percentage of doubled croped area to net sown area are 20%, 18% and 18% respectively. With the impact of modernization as well as due to the advancement of technical know-how, the people of this region are continuously exploiting untapped natural resources.

Prospective Region :

Such regions denote vast resource potentiality, while due to less developed technical know how and socio-economic obstacles the utilization and transformation of resources are interposed.[11] Robertsganj, Dudhi, Singrauli, Gopadbanas, Beohari, Bandhogarh, Surajpur and Ambikapur tahsils are treated as prospective regions. Though these tahsils are rich in mineral and forest resources (Fig.), Yet due to poor transport infrastructure, low level of urbanization (<8%) and indus-

[10] ref, no. 7 p. 90.

[11] Ibid, p. 90.

trialization (only about 3% workers are engaged in industries) low level of literacy (<12%) and low percentage of double cropped area (<6%) except in Robertsganj 39.5%; Dudhi 19.25% and Gopadbanas 9.25%), this area is not succeded to develop the characteristics of a dynamic region. It is notable that Dudhi-Singrauli basin i.e. Roberts-Ganj, Dudhi and Singrauli tahsils, is developing with the collaboration of U.S.S.R. mainly in the form of technical assistance. The completion of Ban Sagar Project, in Beohari tahsil, will certainly bring some additional change in the area. But the majority of tribal population (about 50%) doing traditional agricultural practice with their low socio-economic status, hinder the speed of development. The rugged and undulating tarrian further present obstacle in the growth of the transport net. The construction of railway line linking Chopan to Katni via. Singrauli will be a significant factor for the development of this region.

Problem Region :

The problem regions are those 'which show little promise at least for the immediate future.[12] The Bharatpur, Deosar, Samari and Pal Tahsils are considered under problematic regions though their problems are slightly different. The Bharatpur tahsil (Population density 16 persons/km²) having 7% of net sown area and 0.73 per cent of doubled cropped area, is mainly covered by forests (65.9%) and its population is mostly tribal (65%). The Samari and Pal tahsils also denotes similar characteristics, where the population densities are 60 and 50 persons/km² and net sown area and double cropped areas are 29, 19% and 1.73, and 2.83% respectively and tribal population accounts 67 and 62% respectively. In another tahsil i.e. Deosar, which represent slightly different character, the percentage of tribal population is 46.7 and net sown area and double cropped areas are 26.86 and 8.34% respectively having forest coverage of 41.18%. It is also notable that there is no any industrial or urban centre of considerable size in this region except a town

[12] Ibid, p. 90.

i.e. Ramanuj-Ganj (population 3878, 1971) in Pal tahsil which mainly functions as a centre of trade and commerce. Most of the parts of these tahsils are in accessible. Due to heavy pressure of tribal population, the region show low level of socio economic development. Poor soil and rugged topography are the additional causative factors which bound the region for stagnant development.

ACKNOWLEDGEMENTS

The authors are highly obliged to their supervisor Prof. R. L. Singh, retired Prof. & Head, Department of Geography, Banaras Hindu University for his critical comments and inspiration given throughout the writing of the paper. They are also grateful to Dr. Rana P. B. Singh, Lecturer in the same department for his valuable cooperation through various ways.

PHYSIOGRAPHIC REGIONS OF UTTAR PRADESH

OM PRAKASH SINGH, M.A., Ph.D.

Lecturer in Geography, B.H.U.

Uttar Pradesh (U.P.), the largest Indian state in terms of total population size (88,841,144 in 1971) and with 9.2% of the total area of the country (ranking 4th),[1] consists of 55 districts (including the newly created district of Lalitpur). Physiographically, the state is situated in between the Himalayas on the north and the Satpura-Vindhyan ranges of the Deccan plateau on the south (Fig.1). Most of the state is constituted

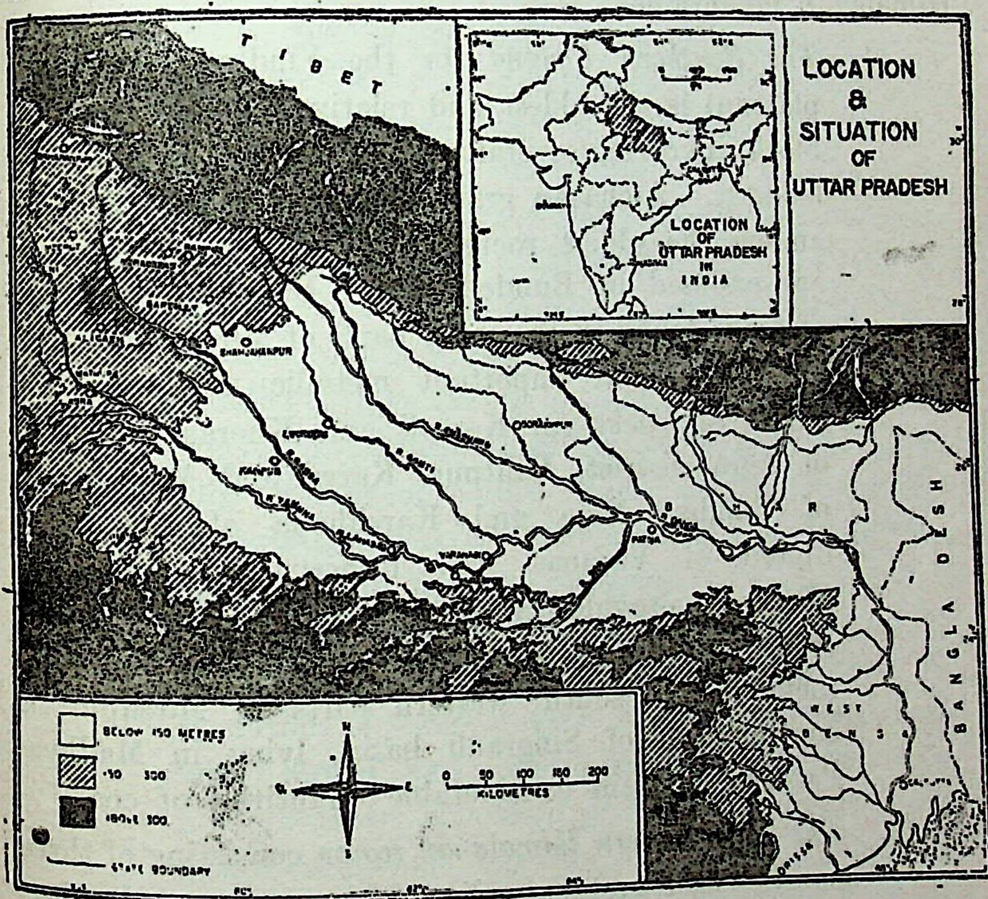


Fig. 1

[1] For a brief introduction of the state as well as its cultural setting, see Singh, O.P., "Cultural Geography of Uttar Pradesh", Prajna (Banaras Hindu University Journal) Vol. 18, part II (March, 1973), pp. 136-160.

by the plain formed by the Ganga and its tributaries, but the other two broad physical and tectonic divisions of the Indian subcontinent are also represented by Kumaon Himalaya or Garkhum Himalaya (U.P. Himalaya) in the north and a part of the peninsular plateau in the south.

Geological Base :

Depending upon lithological, tectonic and sedimentational Chronology, U.P. can be divided, from south to north, into three distinct and broad geotectonic divisions : (1) The Southern Upland, or the peninsular foreland of the Gondwana block, (2) The Indo-Gangetic trough or plain, and (3) The young folded Himalayan mountains.

1. *The Southern Upland* (or the Vindhyan hills and plateau) is the oldest and relatively stable and firm block, involving several types of landforms and relict features. Archaean granites and gneisses which are among the oldest rocks of the earth's outer shell, are exposed in Bundelkhand. Dharwarian system of rocks found in the inner parts of Mirzapur district provide certain important metallic minerals. The Vindhyan rocks (in Keraoli and Kheragarh tahsils of Agra district, Lalitpur, Karwi and Mau tahsils of Banda, Meja and Karchhana of Allahabad, Chakia of Varanasi and Robertsganj tahsils of Mirzapur) provide certain valuable qualities of sand-stone, shale and limestone. The lower Gondwana rocks in the south western parts of Mirzapur, a continuation of Singrauli basin, lying in Madhya Pradesh, contain considerable quantities of coal.
2. *The Northwestern Himalayan region* consisting of three parallel east-west extending folds was created, after remaining for long under the sea water of 'Tethys' geosyncline existing in the Mesozoic era, in the famous Himalayan orogeny which happened in the Tertiary times, when a series of tectonic movements causing

upheaval or uplift of the Tethys took place mainly in distinct phases or stages separated by quiescent intervals :—

(1) *First phase of Folding*, when the Greater Himalaya came into being during Eocene-Oligocene periods. The movement might have started in Cretaceous, as a few geologists (viz. de Terra) state, and might have continued upto Oligocene.

(2) *Second phase of Folding* of the remaining parts of the Tethys (filled with sediments), in Miocene period, when the Lesser Himalaya was created towards the south of, and parallel to, the Greater Himalaya which was further upheaved.

(3) *Third stage of Upheaval*, which took place during pliocene-Pleistocene periods. After the completion of the first two phases of folding, sedimentation by the Himalayan and other rivers continued in the remaining narrow water of the Tethys existing in the form of either a narrow geosyncline or a river or numerous elongated lakes. Siwalik ranges were created, south of the lesser Himalaya and almost parallel to it, as a result of this third stage of folding, when alluvial deposits of the Tethys (or continuous alluvial fans or natural levees along the Siwalik or Indo-Brahm river) were uplifted, causing further uplift of the first two ranges.

A few tectonic troughs created in and even outside the Himalayan region in the process of operation of these orogenic forces were later filled with fluvial and glacio-alluvial deposits. The mountains are composed of the rocks of different geological periods, but the backbone of this mountain system, which is the highest such chain of the world, is formed by Archaean granites.

3. In between the above-mentioned two very important regions lies a vast and simple expanse of *alluvial plain*

which is the youngest and geologically the least interesting part of the country. It was created in a process of alluvial sedimentation of the Indo-Gangetic trough during pliocene-Holocene periods by the Ganga and its tributaries originating in the Himalayan region and the southern plateau. The alluvium is uniformly and immensely thick almost throughout the plain.

Physiographic Regions :

Conterminous with the major geotectonic divisions, there are also three distinct physiographic units or landform regions in the state (figs. 1 & 2), which can best be explained on Davisian principle as the composite outcomes of the structure, process and stage. The bulk of the state is constituted by the Ganga plain. A soil map of the state has also been provided, so that the various soil characteristics of the physiographic provinces mentioned may be clearly understood.

1. The Northwestern Mountains or the Himalayan region :

Parts of the Himalaya lying in Uttar Pradesh are denoted by the terms 'U.P. Himalaya', 'Kumaon Himalaya' or 'Garkhum Himalaya : which comprises the districts of Uttar Kashi, Chamoli, Pithoragarh, Tehri Garhwal, Garhwal, Almora and Dehra Dun, Naini Tal Tahsil and northern parts of Haldwani tahsil (Naini Tal district), amounting to about one-sixth of the total area of the state. Hardwar (79,727 persons in 1971) in Saharanpur district and Ramnagar (17,495), Kathgodam (52,205), and Tạnakpur (6,003) in Naini Tal district mark the southern limit of this region from where the plains begin. The 800 metre-contour may be taken as the separating limit between the mountains and the plain.

The mountainous region of the U.P. Himalaya ranges in height from about 300 metres to more than 7,000 metres. The general pattern of drainage is transverse to the ranges, i.e. from north to south, cutting deep valleys and gorges. These

mountains form a part of the highest, folded Tertiary mountain chain of the world—the Himalaya. Most of the towns, larger settlements and other centres of population are found in river valleys or lower basins, and means of transport (roads) also run in and along the valleys. A great contrast in elevations of valley bottoms and mountain peaks can be observed almost everywhere in the region.

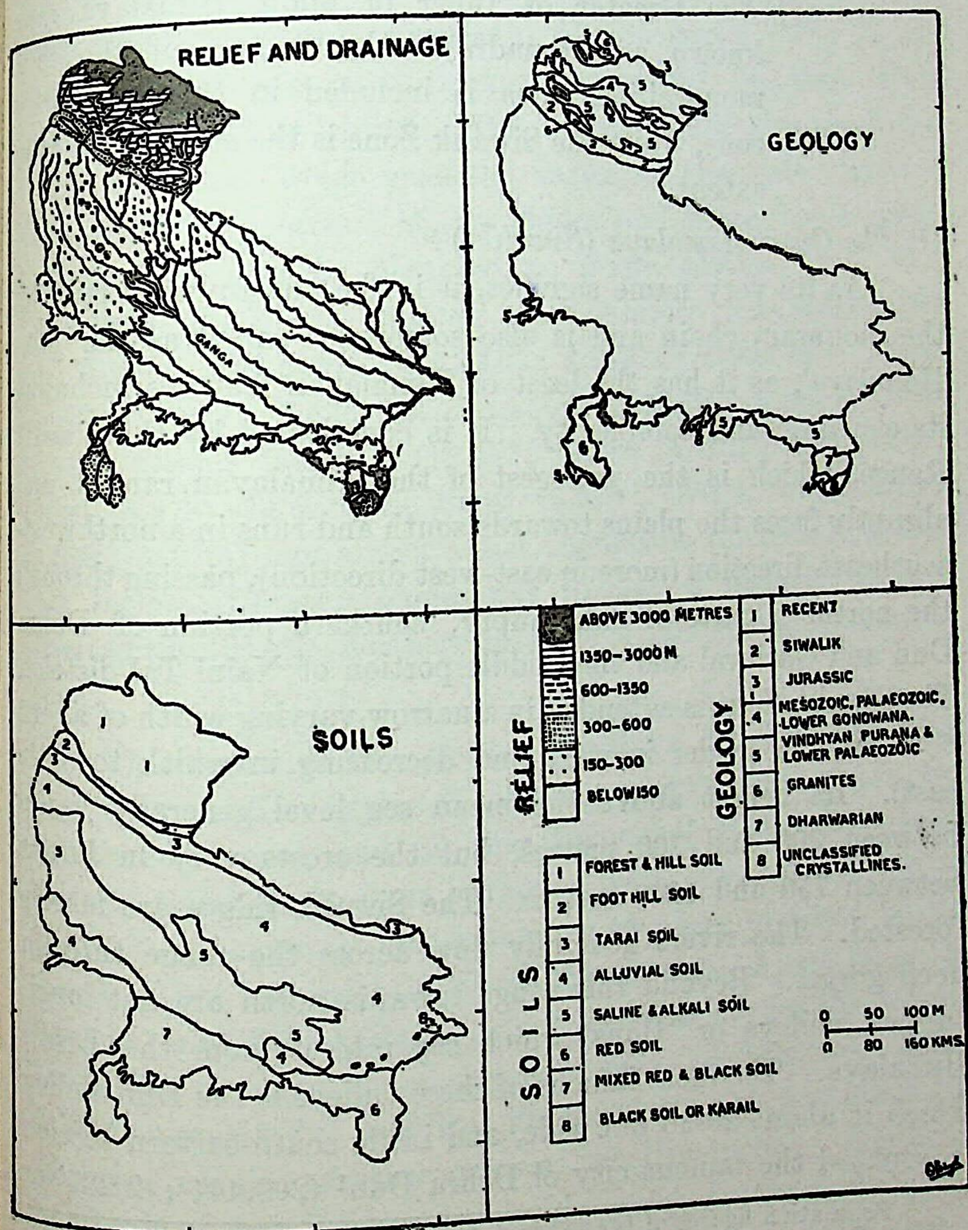


Fig. 2

On the basis of elevation, complexity of physical features or land forms, and geological chronology and structures, the region can be further divided, from south to north, into three parallel zones or regions (or ranges) :—

(1) The outer Himalaya or the sub-Himalaya or the Siwalik range,

(2) The Lesser or Lower or Middle Himalaya (also known as 'Himanchal'),

(3) The Greater or Inner or Main Himalaya (also known as 'Himadri'). Almost half of the total mountainous area is included in the Himanchal zone, while the Siwalik Zone is the smallest in areal extent.

(1) The Outer Himalaya (Siwaliks) :

As its very name signifies, it is the outermost portion of the mountain chain and is also sometimes called as the 'sub-Himalaya', as it has the least of Himalayan features including its elevation and complexity. It is constituted by the Siwalik Range, which is the youngest of the Himalayan ranges, and abruptly faces the plains towards south and runs in a northwest-southeast direction (more in east-west direction), passing through the northern parts of Saharanpur, southern portion of Dehra Dun and Garhwal and the middle portion of Naini Tal district. The Siwalik Zone is extended in a narrow varying width of about 6 to 30 Km (wider in west and decreasing in width towards east). Its height above the mean sea level generally varies between 300 and 700 metres, but the crests vary in height between 750 and 1200 metres. The Siwalik ridges are largely forested. The rivers generally flow across the range through deep gorges. Beyond this range towards north are flat longitudinal valleys or 'Duns' which separate it from the Lesser Himalaya. The most famous of these valleys is the Dun Valley which is about 20-30 km wide, and in its south-eastern section is situated the famous city of Dehra Dun[1] (203,464 ; 2,237′ or

[1] Population figures of the referred towns have been given everywhere within brackets and these figures belong to the year 1971.

682 m), the biggest city of U.P. Himalaya and a terminus of the Northern Railway. Rishi kesh (17,646), Clement town (11,898) and Kotdwara (11,457, 396m) are also situated in the Siwalik zone.

(2) *The Lesser or Middle Himalaya* (*Himanchal*) :

This zone enjoys all intermediate aspects of the Himalaya and extends in a varying width of about 60—90 km (more than 100 km towards east) between the valleys and Siwaliks to the south and the Greater Himalayas to the north. The Lesser Himalayas are separated from the Siwaliks by the 'Main Boundary Fault' or 'thrust'. One observes here also an abrupt rise in elevation, which generally varies, in this zone, between 1000 and 3000 metres. Higher ridges and much lower valley bottoms can also be observed at many places. Two very important towns are situated here—Almora ((20,881; 5,499′ or 1,676 m., and Naini Tal 23,167 ; 6,345′ or 1,934 m). Pithoragarh (11,942 ; 1,636 m), Mussoorie (18,038 ; 6,935′), Tehri (5,480 ; 778 m), Ranikhet (13,917 ; 58,980′, Uttar Kashi (6,200), Pauri (8,878), Lansdowne Cantt (6,670 ; 6061′), and Srinagar (5,566 ; 550 m) are among other significant towns situated in this region. Chamoli Gopeshwar (6,354), a district town is situated towards the northern margins of this Lesser Himalayan Zone.

This region of the Lower Himalaya can be subdivided into two smaller types of physiographic regions : (1) the Himanchal ranges, and (2) the Himanchal valleys and Lake basins. Some of the most attractive features of the Himanchal are its lake basins or 'tals' extending in a belt of about 25 km length and 4 km width in Naini Tal district. Apart from the famous Naini Tal lake basin (which provides site for the famous Naini Tal twon), some of the other lakes or 'tals' are : Bhim Tal, Naukuchia Tal, Sat Tal, Puna Tal etc. A few lakes can be observed also in other parts of the Himanchal. Again, on the basis of river basins separated by water dividing crests, this region can be divided into four sub-regions, which from west to

east are : (1) Tons-Yamuna Basin, (2) Bhagirathi—Alaknanda Basin (the largest and most important), (3) Ramganga—Kosi Basin, and (4) Sarju—Kali Basin.

(3) The Greater or Inner Himalaya (Himadri) :

As we move from Siwaliks towards north, we find a continuous rise in elevation till we reach the central Himalayan crests, which form the water parting between U.P. and Tibet. This is the oldest and the most complex of the young mountain series. This Zone of the Greater Himalaya has a varying width of about 40-60 km (the greatest width lying in eastern and western margins of Chamoli district, where it is about 70-75 km). The 'main central thrust of Himalaya' separates it from the LesseriHimalaya. Its altitude above sea level ranges generally between 3,000 and 7,000 metres. Except the lower valleys, this zone is always clad with snow. Here also, like the Lesser Himalayan Zone, the main ridges have many south projecting spurs separated ny the head streams and tributaries of the three important and main rivers, viz., the Ganga, Yamuna and Kali (known as 'Sarda' in the plains). These rivers have deeply cut the region to make the topography highly dissected and rugged and to render the area generally inaccessible. The valleys afford the main routes as well as the main passes between U.P. and Tibet.

In this region are situated some of the highest and glacier-garlanded Himalayan peaks, of which Nanda Devi (7,817 m or 25,645′) is the highest. Some of the other high peaks include Kamet (7,756 m), Badrinath (7,138 m), Trisul (7,120 m) and Dunagiri (7,066 m), all of them including Nanda Devi lying in Chamoli district. A few other important peaks are: Chaukhamba (7,138 m), Kedarnath (6,940 m), Nandakot (6,861 m), Gangotri (6,614 m) and Bandar Punch (6,315 m). From the Gangotri glacier[1] (5,611 m) and the Jamnotri glacier (6315

[1] Gangotri Glacier is situated to the east of Gangotri peak and south east of the holy place of Gangotri, which is located 15 km north of the peak (all the three in Uttar Kashi district).

m), both in Uttar Kashi district, respectively originate the most sacred rivers of India—the Ganga (known here as 'Bhagirathi') and the Yamuna (or 'Jumna'), which alongwith their tributaries make a long tortuous journey through the mountains and then flow down into the plains, providing to the latter a perennial source of fertility, irrigation, power and transport. Most of the highest peaks of U.P. Himalaya are situated in eastern, northern and western parts of Chamoli district. Badrinathpuri,[2] stated as an uninhabited town (Notified Area) in the Census of India (1971) and one of the most sacred places of pilgrimage for the Hindus (one of the 4 Dham's) is situated in this very region (Chamoli district). Joshimath (5,852) is the only real town which may be said to be situated in this region (Chamoli district).

Glacial landforms can be observed in fully developed forms generally above an elevation of 3,000 m. (more particularly above 4,000 m), but evidences of glacial features can also be observed in lower valleys (upto 2,000 m) in a few cases. Gangotri glacier, having a length of about 25-30 km and width of 2 km, is the most important glacier of U.P. Himalaya. Milam (19 km long) is also a very important glacier of this region. Pindari, Kamet glaciers, Kedarnath and Jamnotri are among other glaciers, which are more extensive in three regions of the Himadri: (1) Gangotri, Kedarnath, Badrinath region, (2) Nanda Devi, Trisul, Dronagiri region, and (3) Kamet region. Mana and Niti are two important passes of the region, located on the international border (with Tibet) in the Kamet region.

The Himadri region can be easily sub-divided into two types of physiographic units: (1) Himadri ranges, and (2) Himadri valleys. Among the ranges, which are separated by deep transverse gorges, three sub-regions are more significant:

[2] The holy place of Badrinath is located in Vishnu Ganga valley, 20 Km east of Badrinath peak, and Kedarnath is located 8 Km south of the Kedarnath peak. Both the holy places lie in Chamoli district, but the two peaks of Badrinath and Kedarnath are situated just on its borders with Uttar Kashi.

(1) Nanda Devi-Trisul Dronagiri region, (2) Gangotri Kedarnath Badrinath region, and (3) Kamet region, all the three regions lying in and on the borders of Chamoli district (respectively towards eastern, western and northern sections). The other two such regions are (1) Bandarpunch region (Uttar Kashi district), (2) Lipulekh Kalapani region (Pithoragarh district). The Nanda Devi—Trisul region is separated from the Kamet region ny Dhauli Ganga (west) river, while the Kamet region is separated from the Gangori—Badrinath region by Vishnu Ganga.

2. *The Ganga Plain :*

Uttar Pradesh includes the upper Ganga valley and almost half of the middle Ganga valley from Saharanpur to Ballia, and 43 out of 55 districts of U.P. are covered by this vast homogeneous alluvial plain. Its northern limit is marked by the sharp rise of the Siwaliks (300 m contour), and the Ganga and Yamuna flow through its southern portions, where the rugged surface of the southern plateau irregularly intrudes into the alluvial tract. The slope of the land varies imperceptibly in conformity with which is the general direction of the main drainage channels i.e. from northwest to southeast. The gradient of slope is more pronounced in the northwestern parts and decreases from northewest to southeast , and in the entire central and eastern stretch, it averages to about one metre in five kilometres (i.e. 1/5000). The altitude above sea level rises from about 200′ in the southeast to 900′ and more in the northwest. Drainage lines form the most conspicuous element in the featureless even monotony of the plain. Other noticeable features are the dead arms and 'jhils' in the flood plains and belts of ravines and bad lands resulted in the process of river erosion. Bad lands and ravines are most extensive along the lower Chambal and the Yamuna, where their extent goes even upto 3 or 4 miles from the main stream.

The Ganga plain constitutes the central segment of the great Indo-Gangetic Plain, which was created by 'the infilling of a foredeep warped down between the stable Gondwana block

and the advancing Himalayas'.[1] A continued long process of alluvial deposition by the Ganga and its tributaries from Ploicene-Pleistocene to the recent times, has created an immense thickness of alluvivum in the plain and the alluvial depth is greatest here in the whole Indo-Gangetic Plain.[2] The thickness of the alluvial silt or detritus of which this plain is formed increases eastwards perhaps owing also to the passage of the old 'Indo-Brahm' (or Siwalik') river of which the present Ganga is said to have formed a portion. The thickness of alluvium decreases towards the southern and the northern margins.

The Gangetic alluvium is often divided in two categories: (1) The older alluvium or 'Bhangar' or 'Bangar' and (2) the newer alluvium or 'Khadar', occupying respectively the higher and more distant tract lying beyond the normal flood line, and the inundable low lying areas along the rivers. The 'Bangar' contains salt and hard nodules or 'kankar', while the 'Khadar' consists of fine silt. Considering the various hydrographic features (particularly the rivers) locational aspects, nature of the subsoil, surface and slope, the Ganga Plain can further be subdivided into the following regions:

(a) The Sub-montane plains :

The northern strip of the Ganga Plain which is transitional in nature in between the alluvial plain and the Himalaya is included in this region, which has certain very peculiar characteristics of its own. It can again be divided into two distinct parts :

(i) '*Bhabar*' (meaning porous and locally known as 'Ghar' in the Ganga-Yamuna Doab), which is a narrow piedmont zone lying immediately below the Siwaliks and extending in Saharanpur, Garhwal, Bijnor, and Naini Tal districts, between Yamuna in the west and Sarda in east. The 'Bhabar' is well marked in Naini Tal district and continues thereafter penetarting eastwards into Nepal. This zone is about 32 km wide in the west but

[1] Spate, O.H.K., India and Pakistan, London, 1954, p. 34.

[2] Vide Wadia, D.N., Geology of India. 1953, p. 391.

narrows eastwards. 'Bhabhar' is composed of coarser materials (viz., boulders, gravel, pebbles, coarse sand) brought down by the swift-flowing torrents from their upper mountainous courses. The rivers, as they rush from the steep slopes down into this zone, suddenly flatten out, deposit the coarser sediments and completely disappear excepting the larger streams or except when in spate. The whole drainage, therefore, becomes underground. The land is porous and largely wooded.

(ii) '*Tarai*' : Adjoining the 'Bhabhar' and also parallel to it, lies on the south a wider belt of damp and marshy land covered largely, except where cleared, with thick forest and tall grasses. This zone is formed out of finer materials (fine sand, silt and clay) which the rivers deposit, as they reappear on the surface and convert the area into swamps. 'Tarai' zone extends in the northern parts of Saharanpur, Bijnor, Moradabad, Rampur, Bareilly, Pilibhit, kheri, Bahraich, Gonda, Basti and Gorakhpur districts and in the southern part of Naini Tal district. The original Tarai region extending in the west previously in 50-60 miles width and getting narrower eastwards, has now been greatly reduced owing to various measures of reclamation, Settlement and deforestation. The climate of this region is not healthy or is rather malarial.

(*b*) *The Ganga-Yamuna Doab* :

The land lying in between the two famous rivers, the Ganga and the Yamuna is called the Ganga-Yamuna Doab, which varies in elevation from about 300′ to about 900′. The adjoining portions of Mathura and Agra districts lying beyond Yamuna can be included in this region from locational point of view, although the extreme western parts lying on the state boundary with Madhya Pradesh are slightly different in geological nature. Ravine lands along the Yamuna, riverine low tracts formed of newer alluvium or Khadar along the two rivers, upper Bangar tracts of older alluvium between the two, traversed at places by low sandy ridges or 'Dhus' in the northern parts and spread of saline and alkaline soils (or patches of 'Usar') are dis-

tinctively characteristic to this zone, which again can be sub-divided into two—the upper Doab and the lower Doab, being tentatively separated from each otehr by a line joining Etawah and Fatehgarh.

(c) The Ganga-Ghaghara-Divide or Doab

A vast and most fertile alluvial expanse of land exists between the Ganga and the Ghaghara rivers. It can again likewise be divided into upper and lower sections tentatively separate by a line joining Allahabad and Faizabad.

(d) The Saryupar Plain :

The plain existing to the north of the river Ghaghara or 'Saryu' is known as the Saryupar plain (or trans-Ghaghara plain), which is marked at places with dead arms of rivers, lowlying features and malarial climate and heavy rainfall and is one of the richest areas in cultivation of rice and sugarcane.

(e) The Yamunapar Plain (or the trans-Yamuna Plain) :

As the name indicates, it is a narrow east-west extending plain south of river Yamuna, gradually merging with Bundelkhand Uplands (hills and plateaux) in the south.

(f) The Gangapar Plain (or the trans-Ganga plain) :

It extends in a narrow strip between the Ganga and the Vindhyan uplands of Mirzapur district.

DEVELOPMENT AND INTENSIFICATION OF RESEARCH IN EARTH SCIENCES

Dr. M. N. MEHROTRA

Professor of Geology, Banaras Hindu University

The paper discusses the various aspects for proper development and intensification of research in geosciences : It evaluates research in the past, compares it with the research in the present and offers suggestions for development of research in future. It emphasizes evaluation of each Ph.D. program, stresses inter-institutional cooperation, cooperation between universities, government and industrial laboratories and favours a close link of the research and development programs with economic growth.

An independent planning committee of Earth Scientists is advocated by the author, which may also be supplemented by a science parliament where the strategy of planning could be discussed.

Introduction : Definition and purpose of Research

Research is devotion to purpose, meditation for a goal and in its true sense service to mankind. It is the search for knowledge i.e. search for truth, nothing but truth and this is the watchword of the researcher. (सत्यमेव जयते नानृतं। सत्येनैव पन्था विततो देवयानः) (Truth alone triumphs and not untruth. Through truth alone the way to Devaiyana lies). The main purpose of research is to serve mankind. The concept may however be modified by individuals or communities for social or political gains, but the main stream of research is truth. Aldous Huxley (1970) has rightly warned "Science is dangerous, we have to keep it most carefully chained and muzzled." A researcher works with the motto 'work is worship.' He has

besides the thrill of investigation, a kind of personal satisfaction in his work.

Kinds of research :

Research is generally classified into pure and applied resarch. Pure research is generally called fundamental research. In the modern world fundamental research is also given an orientation, thus fundamental research has two broad divisions-free fundamental research and oriented fundamental research. Like-wise there is applied research and developmental research. In the recent past there has been a unhappy controversy on the importance of applied vs fundamental research. Nothing can be more erroneous than the belief that one is superior to the other.

Today both technology and science are interdependent. Necessity in one contributes to progress in the other and vice versa. The technologist is dependent on the pure scientist for basic development and the pure scientist on the technologist for the material resources he needs to pursue the process of discovery (Birch, 1972).

Research in Retrospect :

In the past all basic research was being carried out by individuals or by a group of individuals under the guidance of a single leader. The work was much handicapped due to limitation of equipment and assistance. The research was being conducted in "parallel" (Kaula, 1970) i.e. the same type research was being carried out in several places with no coordination. During the middle of the 19th century basic research in science came closer to technology. It was then realised that each stimulated the growth of the other, with result that today research is being conducted in "series." Team work is encouraged. Interdisciplinary and border line schemes are being developed. There are projects with large budgeted amounts and with hundreds of scientific workers engaged in scientific work. "Research under contract" has premeated in several organizations, especially in the matter of defence (Kaula, 1970).

Development of Research : Research Scholar

For promotion and proper development of research certain prerequisits are a must. Research is a specialized form of intellectual life for which carefully selected students should be given training in the methods and principles of research. They must not be mere compilers, chroniclers or technicians but scholars and scientists possessing imagination, vision and a very good grasp of the problem which they are likely to handle (Tondon, 1970). It is only through good students that progress is made in science. In selecting research students their aptitude for work should be given primary consideration ; particularly in a field science like Geology, those who can stand the rough outdoor life away from the facilities of cities and towns, should be preferred to others who crave for city life. Besides, a geologist should be a keen observer of facts and briefly should know the language of the stones.

Research Guides :

Eligibility of guides is an important point worth consideration. In Germany, the student is known by the Professor with whom he has worked and not by the institution where he has worked. Just as the child inherits the virtues of his parents, the research student is in very close contact of the guide and inherits his spirits. The moral qualities of a scientist are not aquired so much from books as from the personal discourses of the teacher and the example that he sets to the younger generation.

Aim of Ph.D. Training :

During the research training emphasis should be laid not on cramming but "on making the research students understand generalizations which enable them to know what facts to look up and above all how to make use of these facts."

"Research training should be aimed to produce people who can solve problems, not ones who are just trained as some kind of adjectival scientists in a narrow area of speciallization. The

general processes of problem solving are much the same, whatever the problem" (Birch, 1972). The developing countries can not afford the luxury of specialists eg. pyroxene or amphibole experts.

Further, 'having found a creative man, nothing is so disheartening as to put him in a position where he can not be creative. Unless he is a very strong character, he is likely not only to be wasted in the short term, but spoiled in the long term' (Birch, 1972).

Research Methodology :

There is practically total ansence of traning in research methodology imparted to our students. In some universities where dissertation is a compulsory part of the M.Sc. degree, the student learns the A B C of the research methodology, while in a few universities a separate degree of M.Phil., after post-graduation i.e. M.Sc., has been introduced for the purpose. Both the above are insufficient and do not minimise the need of proper training in research methodology. For that purpose and in order to make research meaningful, courses in research methodology should be introduced at the Hons. level or Post graduate level and a programme for training for a short duration of 10 to 12 weeks or so, be made compulsory for all research students. Arrangements should also be made at selected centres of higher learning for advanced courses in research methodology. Further, scientists should be aware of this problem and should continuously endeavour to improve their methods of research. This would give a great uplift to research activities.

Library Facilities :

The resources available at a research centre are none the less important. They include both the library and the laboratory facilities. It is well known that much of the scientific research in natural sciences, more so in Earth Sciences, is carried out in the field and the laboratory by planned action and that literature search has a secondary importance. This is not very encouraging. Literature searching in itself is a research activity

and should be given due importance. A proper classification, indexing and abstracting system would save a lot of time and serve the need of the research worker better and would contribute a good deal to the intensification of research. For that purpose there is a necessity of the establishment of regional and national documentation centres for indexing, documentation and tabulation of research materials. In addition it would be worthwhile to develop at the centre of documentation a section "Encyclopedia Cinematographica" containing scientific and technological films, as at Gottingen and other centres of learning in the west.

Laboratory Facilities :

The laboratory facilities in India are not well utilized. There is a demand in large numbers of sofisticated costly instruments eg. X-ray units, Electron Microscope, Nuclear Magnetic Resonance, etc. In some big universities one can find several X-ray units, quite a few Electron Microscopes, NMR, etc. etc. One would not mind the multiplication of such apparatus provided it is put to use. On the other hand the real picture is that of dismay. The equipments are only partly used, some of them have not come into commission since their inception, quite a few years back. These instruments require handling by an expert, the Earth scientist has to satisfy himself by obtaining an X-ray photograph, a diffraction pattern or an electron microphotograph, without having a detailed knowledge of the apparatus, but possessing the ability to interpret it.

I know one of the richest technical universities of West Germany (The Technical University of Aachen) which has two electron microscopes serving the need of all the Departments including that of the Department of Geology and that of Mineralogy and Economic Geology. The equipment is well utilized and the investment on it is recompensed several times over. However, this is not so in our institutions. One should not waste one's time fighting unnecessarily the disadvantages, rather should make use of the advantages, the situation provides,

A word about space. In our own Department a proper orientation within the allotted space has brought in fruitful results. The need of the research worker at the bench should not be neglected.

Contrary to what I have stated above, there is an example of one of the greatest scientists of the world, who was denied a small room in the Sorbonne, still she carried out research in a dilapilated stable, worked as scientist, technician, laboratory assistant, carpenter and mason and gave the world the most celebrated discovery 'Radium'. This may be considered as an exception but it certainly points out what determination and will can achieve, even under adverse circumstances.

It would be advantageous if workshops are attached to the science departments. Herein the students can learn minor trades which would help them in ordinary laboratory repairs, for want of which some times the equipment remains idle and the work remains suspended. It would also encourage improvisation and even fabrication. It is truely said "cultivation of experimental ability need not solely depend upon sophisticated equipment or ready made apparatus. Improvisation is what should be encouraged, it is this which leads to innovation and often to discoveries" (Atma Ram 1968).

Proper Emoluments : Right Climate & Leadership :

The Researcher should be provided emoluments so that petty worries do not disturb or detract him. Monopolistic attitude in the laboratories should be done away with. The right type of climate/environment in the research centre, the cooperative hand of the administrator and dedicated leadership, would go a long way in the development and intensification of research.

Team work and Coordination of Research :

It is well realised that modern research is a team research, although the team is generally guided by an individual. The success of the team work very much depends upon the planning and organisation skill of the leader. The place of the individual

scientist in the team is important, for "ideation is essentially the result of individual intelligence" (Atma Ram 1968).

In our country research is still being conducted in "parallel". There is a lack of team spirit, a lack of cooperation and collaboration. And above all there is a lack of national resolve to the dedication of science.

Could not the work of the various organisations carrying out geological investigations in the country be coordinated? Has not one observed in a 'phosphorite area' different teams working with different objectives and keeping the results secret from each other and that is so when all the three organisations belong to the Central Government!

Could the work of the three different teams (not necessarily governmental) working in a region in eastern U.P. one carrying out geomorphological studies, the other geological investigation and the third ground water problems of the region, be not coordinated for fruitful results.

The greatest mountain range of the world is being worked out by different universities, different organizations, and work at times being multipled and repeated in some cases. Could it not be planned to coordinate their work in the interest of nation as also that of quick geological survey of these hitherto little known areas. The establishment of the Wadia Institute of Himalayan Geology is a hopeful sign in this regard.

There are several geology departments whose research work is secreted in the files. Many do not give adequate information, material and data obtained during their routine work inspite of the fact that they are unable to process the same. As a result the information and the data get lost or become so obsolete as to remain of no value at all. The author while working in the Technical University of Aachen, was given the core materials collected by D.E.A. (Now Deutch Texaco), allowed all facilities to work in the 'Haupt Laboratorium' of the company at Wietze. And in his own country he could not succeed in getting the material and data from the national

organization. It is only one instance, several others may be quoted. Dr. Dey (1972) has stated that "unless this selfish and antinational policy is done with, no great progress in science will be made readily. Our national organizations which cannot make use of the materials collected during the course of their work should collaborate with institutions where equipments and personnel to work on them are available."

Utilisation of Research :

Prof. P. M. S. Blackett, President of the Royal Society, London, in his Nehru Memorial Lecture stated "The present poverty is so great and the task of dealing with a rapidly rising population is so formidable that almost everything must be sacrificed to economic growth. Economic growth is not every thing, but today in India it is almost every thing".

Some one has rightly remarked 'all geology is applied'. It is true that a major part of research in geology is connected directly or indirectly with the development of the country. However, in the light of Prof. Blackett's remarks we have to give it a direct economic bias. In the universities we have to evaluate each Ph.D. programme. In this connection the soviet scientist Prof. Murin stated 'The expensive effort on dissertation is largely wasted. The dissertation is just put on the shelf to become, as Mark expressed it, a victim of the nibbling criticism of mice". The same is true of most of the dissertations in our universities.

There is another point worth consideration i.e. the problem of divorce in research. Many research scholars leave the research projects in the middle (incomplete) to join some post. And the guide, on humanitarian grounds, particularly during these days of unemployment has no option but to release him.

Pause and think! Can this poor country afford large sums for the development of science and research which has hardly any tangible results. Our research institutions and national laboratories are spending millions of Rupees each year only with very little return. A time may come soon when

an enlightened citizen may question the budgets of the universities and national institutions and ask what they should be paid for ? What have they done for the common man ?

With rapid development of several borderline and interdisciplinary subjects there is all the more necessity of team work—not only within a department but also with other departments and research laboratories, eg. soil rock relationships with special reference to fertility problems can be best solved by the joint teams of geologists and agriculturists. The names 'mining geology' and 'engineering geology' should be amply justified by deeper collaboration of the respective scientists. The problem of sedimentation in reservoir (silting in basin) can be best solved only by joint efforts of engineers and sedimentologists. For the purpose instead of one subject M.Sc. course, combination courses should be organised jointly by the departments concerned. There is another suggestion that specialized one year postgraduate diploma courses be started, where in according to necessity even more than two departments may participate. Such a diploma course e.g. in ecology is being run at B.H.U. with the collaboration of several departments viz., Geology, Geography, Geophysics, Botany Zoology and others. A research student with this back ground would be more useful in solving problems of environmental pollution in which Geology has also to play its significant role.

In some developed countries, universities and institutions are effectively participating in the field of research. Several Petroleum companies are supporting various geological research projects in the universities. In many universities abroad the professors provide a consultancy service. In West Germany industrial research institutes have been set up in collaboration with some of the university departments and are working successfully on many projects.

Industries are interested in applied research, they want quick results, hence fundamental problems of a difficult nature are not attended by them. Such problems should be commu-

nicated to the universities, where brilliant young men can take up these challenges and submit the whole or part of the work for the research degree. The industries should also financially contribute the solution of these problems. May I invite the attention of the various geological organisations like N.C.D.C., N.M.D.C., M.M.T.C., Indian Mineral Corporation, Hindustan Zinc and a host of others, to collaborate with Geology Departments of the Universities. And the latter should also stand by them. To meet the above demand coordination bodies be established at the national level. In this context reference may be made to 'IRPOS' Inter-disciplinary Research relevant to Problem of our Society established by the National Science Foundation of U.S., and of the Centre of Interdisciplinary Research (ZiF) of the Federal Republic of Germany.

Publication of Research Work:

Dale Carnegi in his book "How to Win Friends and Influence People" writes 'a man's name is to him the sweetest and most important sound in the language". But by bringing out irregular publications of journals or their late publication we discourage the research worker. Besides, there is the priority problem, which is in general important but more so in paleontological research. Thus we have to arrange for quick publication of the results of research work that is being carried out in the different geological laboratories of our country. May I offer an humble suggestion, an ideal suggestion (ideals more often are not attained) which I have borrowed from my revered teacher late Prof. Dr. Rajnath, i.e. of region-wise journals giving the information and publishing the results of the work carried out in that region, to be followed by a coordinating central journal. This is not regionalization, this is only to facilitate the publication in such a vast country.

Monopolistic attitude not only in the laboratory but also in the holdings of publication be done away with. There are examples where good research papers have been returned after preserving them for six months to a year and the same papers

have found proper space in journals of importance viz. international journals. There is time to value the negative results of publications or else it would discourage the research worker and retard the wheel of progress of research work.

A word more about the publication of research work. One should be beware of bogus research. It has various kinds, varying from plagiarism through minor modifications in the research work of others, to a pure compilation from a few research papers. For that purpose, an excellent abstracting service, to which reference has been made earlier, is what is needed. Could the National Committee on Geology arrange through proper media the filling up of this gap. Recently there has been ample criticism of the approach paper prepared by NCST and the NCST has lately but rightly regretted the omission of acknowledgement of source publications. However, such a behaviour of the top organization of the country may set bad precedents for future, particularly for the young who generally emulate the elders.

Seminar and Conference :

Seminars give incentive to research. Here the scientist gets an opportunity to come into contact with each other, know each other's views and discuss subjects of mutual interest. In this direction the Earth Scientists of India have shown a great interest and several symposia or seminars are being organised in geosciences with the help of U.G.C. and other Organisations. This is a happy sign, however a still better planning of the subjects of seminars and symposia may be more helpful.

Exchange of Personnel :

Exchange of Scientific personnel between different organisations is the need of the day. This exchange area should include the Universities, National Laboratories, other Government Organisations and independent research institutions and industrial laboratories. This would offer a real opportunity for mutual discussion. Recently an attempt was made by a primary geological organisation for exchange of personnel

but it could not be successful because of several obstacles. The University teachers can not be expected to suspend without complications, their many fold duties and tasks-teaching, administration, specialised research, etc. There is in general no regular alternation of teaching and research at the universities, where professors could dispose of their work in annual rotation mainly in research or in teaching, as it is in Bilefeld University of West Germany. These stumbling blocks in the way of exchange of personnel must be removed and converted into stepping stones for the development of science.

Grants :

Much has been done in this regard by U.G.C. and C.S.I.R. by way of scholarships and fellowships, grants to teachers and institutions but much more has to be done. In this connection, I need only quote a sentence from COST report on science and technology, 1970. "It will also be seen that the inputs for research and development in certain sectors such as geology...... have not been commensurate with their activities or their responsibilities. Those sectors should have received higher priorities in the context of the goals set for them and the programme that have been sought to be implemented" (Atma Ram 1972).

The essentiality of planning for development is well established. It is all the more important for a developing country like ours. I consider a developmental strategy for the survey and exploitation of the natural resources, particularly the mineral resources to be given the first priority. For that purpose the scientist should not only be consulted, he should also participate in decision making. It would be very necessary that the various scientific bodies, societies and associations are consulted before taking important decisions.

In the end I would like to advocate the setting up of an independent planning committee of earth scientists to look after the over all development of earth sciences in our country and it might be supplemented by a science parliament where the strategy of planning could be discussed.

REFERENCES

Atma Ram 1968: Science in India—Some aspects. Presidential Address, 55th Ind. Sci. Cong. Varanasi.

Atma Ram 1972: Science Policy—Time to think. Guha Memorial Lecture, Everyman's Science vol. VII, Number 2, PP. 57-67.

Birch, A. J., 1972: The Scientist in developing countries. Everyman's Science Vol. VII. Number 2, PP. 68-75.

Creutz, E. 1971: Scientists in changing societies. Everyman's Science Vol. VI, Number 3, PP. 103-110.

Dey, A. K. 1971: A proposal for coordination of scientific research in India. Everyman's Science Vol. VI, Number 3, PP. 95-103.

Ganzhorn, K. 1971: Research scientists demand their say in Planning. German Research Service, Vol. 10, Number 10, P. 12.

Huxley, Aldous 1970: Brave New World. Pengiune Books. P. 179.

Kaula, P. N. 1970: Research in social sciences and its problems in India. 'Prajna' Jour. of Banaras Hindu University, Vol. 16. Number 1, PP. 248-273.

Kothari, D. S. 1966: Education and national development. Report of Education Commission 1964-66. Govt. of India, New Delhi.

Mreschar, R. I. 1973: Common theory for mathematics and linguistics. German Research Service Vol. XII, Number 3, PP. 10-12.

Tondon, O. P. 1969: A review of Ph.D. courses in university and their re-organization to suit modern conditions. 'Prajna' Jour. of Banaras Hindu University, Vol. XV, Number 1, PP. 191-196.

West, W. D. 1972: Geology in the service of India. Presidential address, 59th Ind. Sci. Cong. Calcutta.

REFERENCES

Atma Ram [illegible]: Science in India—Some aspects. Presidential Address, [illegible] Ind. Sci. Congr. [illegible].

Atma Ram 1972: Science Policy—Time to think [illegible]. Memorial Lecture, Everyman's Science Vol. VII, Number 2, PP. [illegible].

Bose, [illegible] 1972: The Scientist in developing countries. Everyman's Science Vol. VII, Number 2, PP. 63-75.

[illegible], [illegible] 1972: Scientists in changing societies. Everyman's Science Vol. VII, Number 3, PP. 103-110.

Dey, A. K. 1971: A proposal for coordination of scientific research in India. Everyman's Science Vol. VI, Number 3, PP. 98-100.

[illegible], K. 1971: Research scientists demand [illegible] say in Planning. [illegible] Science, Vol. 10, Number 10, P. 13.

Huxley, Aldous 1950: Brave New World. Penguin Books, PP. [illegible].

[illegible], R. K. 1970: Research in social sciences and the problems in India. Journal of Banaras Hindu University, Vol. 16, Number 1, PP. 228-[illegible].

Kothari, D. S. 1966: Education and national development. Report of Education Commission 1964-66. Govt. of India, New Delhi.

[illegible], R. K. 1975: [illegible] for teachers [illegible]. [illegible] Series Vol. XII, Number 3, PP. 10-15.

[illegible] 1969: A review of Ph.D. courses in university and their [illegible] to modern conditions. Jour. of Banaras Hindu University, Vol. XV, Number 1, PP. 125-130.

[illegible], M. S. [illegible]: Geology in the service of India. Presidential address, [illegible] Ind. Sci. Congr. Calcutta.

POPULATION PROBLEM AND INDIAN CONTEXT

DR. RAJESHWAR UPADHYAYA,

Reader in Education, Faculty of Education, B.H.U.

Population trends and their implications are perhaps receiving more attention now than at any time before. Malthus's prediction that human population tends to outrun the means of its subsistence and that masses of mankind are doomed to increasing misery may come true inspite of scientific and technological developments since the industrial revolution. It is apprehended that if the present 2 precent annual population increase continues, twice as many people will be living on the earth in the year 2000 as there were in 1960 and ultimately within 800 years there would be one person for every square foot of land on the globe. What would be its implications for the welfare of mankind and the quality of human life, this is a question mark ?

In the words of U. Thant, Secretary General of the United Nations :—

> "Too rapid population growth seriously hampers efforts to raise living standards, to further education, to improve health and sanitation, to provide better housing and transporation, to forward cultural and recreational opportunities—and even in some countries to assure sufficient food. In short, the human aspiration, common to men everywhere, to live a better life is being frustrated and jeopardized."

Although population problem is the world's problem it has become greater concern of 'have not' nations of Asia, Africa and Latin America. Asia is the biggest contributor to the increase in world population and in absolute growth of population in Asian countries, India stands first. In India, present rate of growth of population is 2.5 percent. According to March

1971 census, the population of India was 547 million. At present India's population is estimated to about 62.7 crores. With only 2.4 percent of the world's total land area, India has to support 14 percent of the worlds' population. At this high rate of increase India may surpass the one billion by the end of the century which is really a disasterous phase.

This phase has focussed the attention of our hlanners, nation builders and educationists towards two major facts. Either the rate of production in every sphere should be mobilised to the extent so that it may be sufficient to meet out the comforts of every individual or the present birth rate be reduced to the desired level.

So far as the first aspect is concerned, in our country since independence many developmental programmes have been undertaken by the Government in the form of five year plans, yet the progress does not seem to be satisfactory. The population increase has outstripped much of our developmental gains. The fact is obvious by the following figures given by S. Chandrashekhar :—"Though the production increased by 17 million tons during the period 1951-1965, the per capita food availability has dropped from 12.8 ounces to 12.4 ounces. This is because the population increased by about 140 million during this period."

The result of population growth is obviously reflected on the economic development of the country when we see that during the period 1948-67 the per-capita income increased from Rs. 248—Rs. 297, a meagre 19.76 percent. India's per-capita income is the lowest in the world because the rate of growth of income over the last two decades is insignificant. It, therefore, reveals that in our country it is not possible to make such effective economic progress which may be at par with the rate of population growth.

Hence the only effective way to bring prosperity to our country is to curb out the population explosion which is possible only by controlled birth rate and this was, perhaps, the emergence

of the concept of "Family Planning". On this very concept our Government launched the National Family Planning Programme in 1952, the first nation to have an official policy and programme for population control. The family planning programme in India gained momentum only in 1966. But this momentum is mostly apparent from the side of the Government and not from the side of the general public. It is not unique in the case of our country only. It has been portrayed in sociological and demographic literature that in the developing societies there is generally a tendency to desire and have many children. It is interesting to note that when the people give answers to the questions about ideal family size, they have the number of surviving children in mind and not the number of births. S. Chandrashekhar's observation is that in a society where child and infant mortality is very high, ranging according to one estimate from 109 to 186 per 1000 live births in different states in India, it is quite understandable that they will produce a large number of children in order to assure the survival of the number they consider ideal. It may, therefore, be assessed if poeople are not sure about the control of death rate they may not be affected by the arguements in favour of family planning.

The traditional religious and cultural values in India also favour raising of many children. According to Kapadia, one of the important aims of Hindu marriage is progeny while sex is its least desirable aim. In Vedas it is written : 'एकादश पुत्रान् लभेमहि' i.e. you have to produce 11 sons/children. Moreover Barrenners among the women in India are considered the greatest misfortune and often the cause for ostracism.

The need of the hour has changed, which is realized by everybody. But in any society, social change is harder to bring about than any other kinds of change, because it involves new orientation to the habits, customes, traditions, alterations in several social institutions. The most powerful tool for planned social change is education. The teacher occupies a key position for the success of any education programme. His role will be

vital if population education based on family planning and health education is introduced in our school curriculum so that future adults from the very beginning may be oriented, motivated and inspired towards the benefit of small families. In this context John Edlefren may be quoted when he says "what is suggested is that world's young people, who will become parents of the next generation, should be made aware of the mangitude of the population problem and educated to recognize that a small family is not only proper but highly desirable and easily obtainable".

The hindrance in Indian context for introducing family planning aspect of population education should also be realised before taking fruther step in this direction. Many people are against this introduction and they are of the view that this state of affairs may affect the piousity and morality of our children. Really this is not something to be ignored. Its far reaching consequences should also be studied and assessed. Here there is a need that regional studies based on the different areas of population education may be carried out first and their results may be analysed and they may be implemented if found favourable from cultural, moral and ethical points of view.

Some of the types of studies may be noted as follows :—

1, Exploratory studies—Knowledge and attitude towards population problem of the groups such as teachers, pupils, parents and decision makers at different levels may be explored and measured.

2. Studies related to curriculum development—It may include following aspects :—

I. Whether population education should be introduced in school curriculum. If yes, from which level.

II. What type of contents should be included.

III. How will it be beneficial for improving our present education system.

IV. What role will it play in country's economic growth.

3. Method of Instruction—What appropriate method will suit to the children of a particular age group. Will it be directly taught to children or through indirect approach e.g. through science teaching or through citing examples of other countries.

4. Researches on the rapid implementation and advantages of adult education programme so that population education may be a part of only non formal or informal education programmes.

References

1. The Journal of Family Welfare: Vol. XXIV No. 4, June 1978, Bombay.
2. The Journal of the Institute of Educational Research Vol. 1, No. 1, Jan. 1977, Madras.
3. National Seminar on Population Education (Bombay) NCERT., 1969.
4. Rao, D. Gopal: 'Population Education' Sterling Publishers Pvt. Ltd., New Delhi, 1974.
5. Chandrashekhar, S.: 'Facts About Population and Family Planning in India' Govt. of India Press, New Delhi, 1967.

ROLE OF ANTIBIOTICS IN PLANT DISEASE CONTROL

D. K. ARORA & Dr. A. N. SUKLA

Department of Botany, B.H.U.

In modern terminology the term 'antibiotic' may be defined as the chemical subtance produced by living cells which has lethal effect on microorganisms. The pathogen causing the plant diseases had established themselves on this earth so firmly that eradication of even a single pathogen will be a great contribution to crop production and crop health. These pathogen minimizes crop yield as well as causes severe injury to the crop plants. Several reports have been made by Indian and foreign research workers to cure these hazards by using different antibiotics. Antibiotics are commonly produced by bacteria, actinomycetes, yeasts, moulds, by some fungi and by some plants. The actinomycetes have been reported to yield a variety of antibiotics in comparison to the other groups of microorganism.

The period 1885-1939, may be regared as the time of foundation and gradual advancement in the field of antibiotics. Since the isolation of 'penicillin' by Sir Alexander Fleming from *Penicillium notatum* was recognised as an antibacterial agent, the work in this field advanced with great potency. The last two decades in the field of medical, agricultural and biological sciences may be rightly said as an 'era of antibiotics'.

Antifungal Antibiotics :

The antifungal antibiotics were amongst the earliest invented antibiotics. For many plant disease control, very few antifungal antibiotics have been used, though several have been reported to decrease the intensity of disease under field and experimental conditions.

Griseofulvin :

The activity of griseofulvin was found highly effective against many pathogenic fungi such as *Botrytis tulipae*, *B.*

cinerea, Sclerotinia fructigena and *Odium chysanthemi* etc., causing diseases in tulip, lettuce, apple and chrysanthemum respectively. This antibiotic is produced by several species of Penicillium including *P. nigricans, P. griseofulvium, P. patulum* etc. Griseofulvin consists of remarkable fungicidal activity which seems to depend on the ability to cause hyphal deformity in several fungi with chitinous cell wall. It is found active against many fungi which causes diseases of hair, skin, and nail in man and ringworm in animals.

Pentaene G8 :

This is a polyene antibiotic isolsted from the mycelium of *Streptomyces anandii*. This is found active against stem-rust of wheat, chilli seed microflora, sannhemp mosaic and tobacco mosaic viruses. In the stem rust of wheat it checks the development of pustules and also inhibits the uredospore germination. It reduces the growth and sporulation of some pathogenic fungi like *Botrytis cinerea, Coniothyrium sp., Mycogone sp., Colletotrichum capsici, C. falcatum, Helminthosporium sativum* and *Ustilago scitaminea.*

TABLE I

Antifungal activity of Pentaene G8

Fungi tested	Inhibition	Reference
Rhizophus nigricans	nil	
Pythium debaryanum	nil	
Mucor hiemalis	nil	Batra and Bajaj. (1967)
Puccinia graminis tritici	complete inhibition of spore germination.	
Chaetomium sp.		
Dipodascus uninucleatus		
Colletotrichum falcatum		

TABLE II

Effect of aureofungin against fungal pathogens

Plant diseases	Pathogens	Methods of control	References
Citrus gummosis	*Phytophthora citrophthora*	Spraying with aureofungin solution (20 µg/ml)	Desai *et al.* (1967)
Apple powdery mildew	*Podosphaera leucotricha*	by spraying	Agrawala (1967)
Dutch elm disease	*Ceratocystis ulmi*	by absorption and translocation of aureofungin	Bendict (1968)
Blast disease of rice	*Piricularia oryzae*	by spraying and seed dressing (0.05 to 0.1 µg/ml)	Thirmulachar (1967)
Loose smut of wheat	*Ustilago tritici*	by seed dipping (0.05 to 0.1 µg/ml)	Thirmulachar (1967)
White rot of apple	*Dematophora necatrix*	by spraying	Dharam Vir *et al* (1967)
Helminthosporium disease of rice	*H. oryzae*	by seed dressing	Dharam Vir *et al* (1967)
Rot of mango and tomato	*Diplodia natalensis and Alternaria tenuis*	500 to 1000 ppm solution of aureofungin for 20 min. (fruit dip and wrap treatment)	Dharam Vir *et al* (1966-
Sclerotinia rot of peach	*Sclerotinia* sp.	by spraying	Wilkie (1965)
Covered smut of oat	*Ustilago hordei*	by seed dressing	Dharam Vir *et al* (1965)

Aureofungin :

It is new heptaene antibiotic produced by *Sreptomyces cinnamoneus* (Thrimulachar *et al*, 1964-66) was found useful against several plant diseases. Table II shows the effect of aureofungin against many fungal pathogens.

Nystatin :

It is a polyene antifungal antibiotic produced by *S. noursei.* Rao and Thrimulachar reported usefulness of nystatin against root rot disease of cotton incited by *Colletotrichum indicum.* It has also found effective against anthracnose of bean, downy mildew of cucumber, stripe disease of barley, peach brown rot, anthracnose of banana and fruit and seed rot of stratberries.

Cyclohexamide :

It has been reported to be highly active for many fungi but found phytotocxic, if used frequently. It has proved useful to control some plant diseases such as post harvest rot of strawberries (by *Botrytis sp.* and *Rhizophus sp.*), powdery mildew of grape (by *Uncinula necator*), covered smut of oat (by *Ustilago hordei*), bunt of wheat (by *Tilletia sp.*) and brown rot of peach (by *Sclerotinia fructicola*).

Bulbiformin :

It is a polypeptide antibiotic produced by *Bacillus subtilis.* Bulbiformin when taken up by root of pigeon pea noted effective against *Fusarium udum* without showing any phytotosxic effect.

Blasticidin S :

It is a pyrimidine glycoside produced by *Streptomyces griseochromogenus.* It has been used extensively in crop protection. In Japan it was found effective against rice blast disease incited by *Piricularia oryzae.*

Miscellaneoiis antibiotics :

Citrinin has marked effect on the morphology of fungi narrowing the growth of hyphae in many species. It inhibits

the growth of *Eremothecium ashbyii* causing the leakage of riboflavin and produces dimorphic change in *Paecilomyces vivdis*. Antimycin, streptomycin and strendomycin were found effective against several plant diseases. Reduction of *Helminthosporium vitoriae* on oat were found when the seeds were soaked in a solution of antimycin (Lebean *et al* 1963). Sendomycin and antimycin-A had some effect in eradicating the wheat mildews. Streptomtcin has been reported to be active against hop downy mildew through the metabolic pathway of host plant. Venturicidin had proved effective for scab and powdery mildew of apple. Ascochitine produced by *Ascochyta fabae* has a wide antibiotic spectrum inhibiting the some mycelial pathogenic fungi. Some genera of family polyporaceae (bracket fungi) such as *Daedalea, Fistulina, Fomes Poria, Gandoderma, Polyporus etc.* produces antibiotic subtances found active against few fungi (Bannur, 1967). Thiolutin controls the diseases like potato blight, tobacco blue mould and downy mildew of broccoli. Endomycin produced by and downy mildew of broccoli. Endomycin produced *S. endus* found effective against rust of wheat and fruit rot strawberries.

Antibacterial antibiotics :

Several antibiotics are used to cure the plant diseases incited by bacteria. Antibacterial activity of steptomycin and chlorotetracycline hydrochloride has been reported against several pathogenic bacteria. High activity of criculin *in vitro* have been reported against several gram negative bacteria, viz., *Erwinia amylovora*, *E. atroseptica*, *E. caratovora*, *Xanthomonas beticola*, *X. campestris*, *X. phaseoli* and *X. translucens*. Klemmer (1955) noted that use of oxytetracycline hydrochloride, chlorotetracycline hydroxide and chloromephenicol at 20, 50 and 125 μg/ml. concentrations respectively checks the gall inhibition without any toxicity to normal plants. The bacterial spot of tomato incited by *X. vesicatoria* can be controlled by using agrimycin.

Rangaswamy *et. al* (1959) have reported that Citrus-canker incited by *X. citri* can be controlled by spray of streptomycin sulphate (500-1000 ppm). Phytomycin was also found effective against the same disease (2,500 ppm). Thirumualachar *et. al.* (1956) reported the activity of streptomycin, pencillin, chloromephenicol, aureomycin and tetramycine against the thirty species of *Xanthomonas* commonly occurring in India. Desai (1967) reported that streptocycline inhibits the growth of all the bacterial plant pathogens of *Xanthomonas* and *Pseudomonas* genera.

Bacterial blight of rice caused by *X. oryzae* was first reported in India by Srivastava *et. al.* (1959). Srivastava and Rao (1964) has noticed that application of agrimycin has checked the disease, if the seeds are soaked in a solution of 0.25% agrimycin and 0.05% cresan and then transferred to hot water (50—54 C) for half an hour. Streptocycline has also been effectively tested against this disease. Okimato and Misato (1964) reported that cellocidin totally inhibits this pathogen at 4 ppm concentration in shake cultures. Penicillin C at a concentration of 100 ppm. showed maximum inhibitory effect against X. *oryzae.*

Pentaene G8, an antibiotic of *streptomyces anandii* have been tested against many bacteria and fungi (Table-III).

TABLE III

Antibacterial activity of Pentaene G8

Bacteria tested	Effect	Reference
Straphylococcus aureus	+	Batra and Bajaj (1967)
Micrococcus citreus	+	
Bacillus subtilis	+	
B. mesentricus	+	
B. megetherium	+	
Corynebacterium tritici	+	

A few member of Polyporaceae also produces antibiotics substances which are highly active against some bacteria like *Staphylococcus aureus*, *Streptococcus viridans*, *Solmonella typhose*, *Escherichia coli*, *Shiegella flex-neri*, etc.

Antibiotic Research in India :

The search for antibiotics in India began in 1942. The first antibiotic isolated in India was from *Polyporus sanguineus*. Bose and Chaudhuri (1944) coined the name 'polyporin' for this antibiotic. Later in 1945 he reported 'campestrin' from another Basidiomycetes. Mazumdar and Bose (1958) isolated mycobacillin from *B. subtilis* and studied its chemical nature. Another antibiotic B (X) was isolated from same bacterium by Sen and Nandi (1953). Both the antibiotics were found antifungal in nature. Many antifungal antibiotics have been isolated from *Streptomyces* sp. by the workers of Hindustan Antibiotics, Poona. *Hamycin* shows strong antifungal properties. Thirumulachar (1961) and his colleagues have extensively studied its physical, chemical and microbiological aspects. This antibiotic has been found very effective againt trichophytosis. Aureofungin, which has been successfully used against many crops diseases, reported from the research team of Hindustan Antibiotics.

Mitra (1963) isolated 'Jawaharene' from *Aspergillus niger*. and Rangaswami (1966) isolated 'Mycothricin' from *Streptomyces lavendulae*. Both are active against fungal and bacterial plant pathogens. *Champamycin* was isolated from *S. champavati sp. novo.* by Narisimha Rao and Uma (1958). Various other antibiotics viz., Pentaene G8, Ac 203 (neomycin complex). rubidin polyene and necrocitin have been isolated from different species of Streptomyces by our Indian team of workers.

Recent trends in the field of antibiotics :

The microbiologists are now interested in isolating new strains of antibiotics producing organisms and investigating the effect of antibiotics on the genetic system. The treatment

of the test organism with X-rays, γ-rays, neutrons and ultra-violet rays has developed new mutants. These mutants have been used for isolating new antibiotics. Dunaney (1951) has reported eight fold production of antibiotic from the mutated strain of *S. griseus*.

Effect of mutagenic chemicals has also been reported to increase the production of antibiotics. Gene mutation in *S. aureofocins* causes extraordinary high production of antibiotics.

The workers testing the effect of antibiotics on the genetic material has found that it inhibits the DNA dependant RNA system. Some antibiotics like Actinomycin and Daunomycin have been found to effect the transcriptions of genetic information. Cordycepin, Hadacidin, etc. have been found to inhibit the purine nucleo tide system.

Further Readings

Bannur B. B., G. M. Purandare and M. J. Thirumalachar (1967): Indian Phytopath. *20* : 308.

Dharam Vir, and Rauchaudhuri (1967): Hindustan Antib. Bull. *10* : 319.

Nandi, P. N. (1968): Presidential Address in Fifty-fifth Indian Science Corg., Varanasi.

Advances in Mycology and Plant Pathology edited by S. P. Raychaudhuri, Anupam Verma, K. S. Bhargava and B. S. Mehrotra.

Thirumulachar *et al.* (1956): Phytopathology, *46* : 486.

———

INFECTING AGENTS, CHEMOTHERAPY AND ALLERGY :

SHYAM JI TRIPATHI

Man, animals and plants are constantly liable to attack by many lower forms of life namely, bacteria, fungi or molds and protozoa. These letter are the infecting organisms in some of the most virulent of human disease, such as malaria, amebic dysentery, African sleeping sickness, etc. Bacteria and fungi belongs to lower orders of the vegetable kingdom. Protozoa are unicellular animal forms.

The viruses, another large group of infecting agents are the cause of a number of well known diseases, such as, measles, mumps, chickenpox, small pox, influenza, one type of pneumonia, anterior poliomyelitis, rabies, psittacosis and the common old. They are also responsible for several diseases of plants and even attack bacteria. It is the general opinion that viruses are living organisms, or relatively large protein bodies on the border lines between the living and the non living. They are of minuti size, as compared with bacteria, most are the invisible under the ordinery microscope and pass readily through a fine filter. Unlike bacteria they can not be grown apart from living Cells. The intensely infective nature of these agents is evident from the fact that, in the case of one at least, the particular disease of which it is the cause can be transmitted by as small an amount as i.c.c. of a solution Containing it in a dilution of only 1 part in 10 billion.

The types of bacteria are innumerable, but fortunately only a small proportion cause disease. Also, only a relatively few kinds of fungi and protozoa threaten man or animals. Several bacterial form are actually beneficial to man and some are even essential for human walfare. Those, for example, which inhabit the intestinal tract effect the final breakdown of food

material with the formation of gas which, together with the bulk by which the bacteria themselves add to the feces, stimulate the bowel movements.

Other bacterial forms present in the intestine are capable of synthesizing several factors of the vitamin B Complex as well as vitamin K . From others again, and from molds, anti infective substances of various kinds have been isolated.

The Commoner types of disease—producing bacteria can be classified, on a basis of their microscopical appearances, into four main groups, cocci, bacilli, spirilla and spirochetes.

The cocci are dotlike bodies which appear singly, in pairs, in clumps, like grapes (Staphylococci), or in chains (Streptococci). These last two types are the cause of acute pyogenic inflammatory Conditions. One strain of streptococcus is the cause of scarlet fever.

The bacilli are rod shaped organisms, examples of which are the typhoid, tetanus, and diphtheria bacilli and the tubercle bacillus. Spirilla are slender organisms possessing a shape like the shaft of a cork screw.

The spirochetes, one genus of which is the cause of syphilis, have a slender spiral structure.

Chemotherapy :

This is the treatment of disease by the administration of a chemical compound, in many instances synthetic, by means of which the causative micro organisms are destroyed within the body of the patient, or their multiplication arrested. The science of chemotherapy has made enormous strides within the last fifteen or twenty years. The aim of the investigator in this field is to prepare a chemical compound which is selectively active against one or more types of pathogenic organism, but in the dosage used, exerts little or no toxic action upon the patient.

Paul Ehrlich, the founder of the Science of chemotherapy, introduced some forty years ago on arsenical compound having a destructive action upon the spirochetes of syphilis. It was

named salvarsan or arsphenamine. It was also commonly known as "606" (Six-O-Six) because it was the lost of the long series of the compounds which had been experimented with in the search of a cure for syphilis. Several compounds of arsenic and antimony have since been synthesized which are active against the protozoan organisms of Malaria, African sleeping sickness, and other tropical diseases.

The "sulfa" drugs. In 1928 it was discovered by Domagk, a German scientist, that prontosil, a red dye when administered to mice enabled them to withstand an injection of pathogenic bacteria which was ordinarily lethal. It was found later that a chemical group containing sulfur was the active antibacterial agent. This compound was prepared separately, it is colorless and known as sulfanilamide. The use of this drug and its derivatives—the so-called to "sulfa" or sulfonamide drugs—has opened up a fresh vista in chemotherapy. Several bacterial diseases from which the death rate was extremely high have been treated with these compounds with spectacular success. A large number derivatives of sulfanilamide have been synthesized such as sulfapyridine, sulfathiazole and sulfadiazine to mention those in most Common use. The sulfonamides are not equally active against different bacterial forms. One drug may be active against one group of bacteria but fails against another group.

Antibacterial agents such as the "sulfa" drugs do not kill the bacteria, like antiseptics or other chemicals, such as the arsenical compounds. They prevent the bacteria from multiplying. They are bacteriostatic rather than bacteriocidal.

Antibiotics :

An entirely new class of highly effective antibacterial agents has been discovered within recent years. These substances, known as antibiotics, are obtained from other living organisms, especially fungi, molds and bacteria. It was through a happy accident and alert observation that the first of these priciples was discovered. In 1929 Dr. (later sir) Alexander

Fleming an english bacteriologist, noticed that the growth of a culture of staphyllococci which had been exposed to the air of the room was arrested in the neighbourhood of a growth of a mold which had fallen upon the same culture plate. He suggested that the mold had produced a substance inimical to the bacteria. Dr. (Later Sir) H. Florey and his associates at oxford instituted a series of experiments during the second world war which resulted in the isolation of the antibacterial principle from the mold. The mold had previously been identified as penicillium notatum; the active principle was, therefore, called penicillin. Both fleming and florey recieved the Nobel prize in 1945.

A number of antibiotic principles have since then been isolated from various molds and bacteria. The most valuable of these agents are streptomycin, auromycin, and tyrothricin streptomycin is obtained from the funguslikebacteria, streptomyces; it is active against the tubercle bacillus and a number of other pathogenic bacteria. Auromycin is furnished by another virus infections species of streptomyces; it is active against some and several types of bacteria. Tyrothricin is derived from a bacterial form found in milk and soil; it is especially valuable for local application in staphylococci and streptococci infections of the skin. Most of antibiotics are bacteriostatic in their action, but some are also bacteriocidal. Others are active against pathogenic fungi.

Pathogenic organisms show a remarkable adaptability to the action of various agents employed against them. They tend to become gradually resistant and can then tolerate larger doses of the antibacterial substance. When this occurs, the physician's strategy, when feasible, is to attack with some other antibacterial substance. Another person may become infected with the resistant bacteria. When, for example, infection is derived from a patient with tuberculosis treated with strepto mycin, the effectiveness of this very valuable drug, in so far as the second infected person is concerned, is very greatly reduced.

Allergy :

When an antigen combines with an antibody while in direct contact with cells, the reaction usually damages the cells at the same time, causing swelling or even destruction of cells, followed by release of several different substances including histamine, heparin, leukotaxine, Proteolytic enzymes. These substances then diffuse into the surrounding fluids and throughout the body to cause secondary reactions. The substance that causes the most serious effects is histamine.

Weak immunity as a cause of allergy :

Most antibodies are "bivalent" which means that they have two reactive sites for combining with antigens. However, when antibodies are formed, one of these valencies is formed first and the other later. Some times the plasma cells empty univallent antibodies into the body fluids before they have formed the second reactive site. This is particularly true when a person has been exposed to very weak antigens that are poor initiators of the immune process. Univalent antibodies have a special propensity for attaching themselves to tissue cells throughout the body.

Therefore, there is far greater chance of immune reactions taking place in Contact with tissue cells when univalent antibodies are present than when bivalent antibodies are present.

Allergens :

The human body is continually exposed to many substances that cause very weak immunity but not strong immunity. These include such substances as partial proteins, conjugated proteins on drugs that can combine weakly with proteins in the body. Among the most common of the poorer antigens are pollen, industrial chemicals, animal dander, feather protein, certain food extracts and drugs. Since there have a tendency to cause allergy, especially in those persons who are normally predisposed to allergy, they are called allergens.

Predisposition of certain persons to Allergy—

Allergic person :

The allergic person has a hereditary tendency to produce a higher proportion of univalent antibodies than is true in normal person. This obviously predisposes such a person to allergy.

Different types of Allergic Reactions

Primary allergies :

Many different types of allergic reactions can occur, some of the more important types of which are the following :

Anaphylaxis :

Anaphylaxis results from injection of an antigen intravenously into a person who has previously been strongly immuonized against the antigen. The direct reaction of the antigen and antibody in the blood stream and in tissues closely adjacent to the blood causes intense cellular damage and release of large quantities of histamine into the circulation. The histamine causes the capillaries to become very permeable to fluid so that plasma leaks into the surrounding tissues, there by reducing the blood volume, and it causes the blood vessels to become markedly dilated, which causes pooling of large quantities of blood in the peripheral vasculature. The net result is a drastic fall in cardiae output, a condition called anaphylactic shock that can cause death in few minuts. Also other tissues closely allied to the circulatory system become seriously damaged. For instance, bronchiolar spasm in the lungs frequently makes it very difficult for the person to breathe.

Urticaria :

Means the development of "hives" on the skin. It results *from much* the same type of reaction as that which causes anaphylaxis except that it takes place in many small localized areas throughout the body rather than everywhere, presumably at points where large quantities of the univalent

antibodies are attached to the tissues. At these places the skin first becomes hyperemic because of arteriolar dilation. This is followed by increased leakage of fluid out of the capillaries into the tissues, resulting in large welts all over the surface of the body. These effects result mainly from the release of histamine by the damaged cells, antihistaminic drugs are extremely effective in preventing urticaria.

Hay Fever :

It results from antigen antibody reactions in the nose that probably cause both direct local tissue damage and histamine included secondary damage. The histamine causes arteriolar dilatation in the local blood vessels, with resultant high capillary pressure and leakage of fluid into the tissues. The tissues become so edematous that the person has difficulty breathing through the nose.

Asthma :

It is usually caused by an allergic reaction to pollens in the air. The reaction causes spasm of the bronchioles, thus impeding air flow into and out of the lungs. For reasons that are not too clearly understood, the outward flow of air through the bronchioles is obstructed more than the inflow, which allows the asthmatic person to inspire with case but to expire with difficulty. As a result, the lungs become progressively more and more distended, and with repeated asthmatic attacks year in and year out, the prolonged distention of the thoracic cage causes the chest to become barrel shaped. Asthma rarely becomes severe enough to cause serious anoxia, but it does cause severe dyspnea. Asthma can usually be treated by administering drugs, especially epinephrine, that relax the bronchiolar musculature. Also, it can often be prevented by desensitization to the causative pollens. As a matter of fact Asthma results from bronchiolar constriction, usually following respiratory exposure to antigens to which the person is sensitive. Antigens such as ragweed pollen, horse's dander, or even dust in the air can be breathed into the laungs where localized antigen

antibody reactions occur. This in turn causes intense bronchiolar constriction, often making it almost. impossible for the person to breathe and almost suffocating him.

Desensitization as a Physiological means of treating Allergy :

Most types of allergy, with the exception of anaphylaxis, are caused by weak immunity to an allergen in which case the person has many univalent antibodies spread throughout his tissues, a state that predisposes to serious allergy. The person can frequently be made non allergic by the process called desensitization. This is accomplished by injecting minute quantities of the allergen either intracutaneously or subcutaneously, a small amount every few days, until the person builds up increased immunity to the allergen. Once this has occurred, enough bivalent antibodies float around in the body fluids to destroy the allergens before they can ever reach the univalent antibodies attached to the tissue cells. Thus an allergic reaction is prevented.

IVORY CARVING IN ASSAM

DR. R. DAS GUPTA,
Deptt. of Art & Architecture, B.H.U.

In a mountainous region with large forest tracts like Assam industries dependant up on forest products naturally developed to great perfection. Of the forest products the most expensive and attractive was ivory. Often the rhino's horn was also as much valued as the ivory.

The antiquity of the Assamese ivory industry goes back to the days of the Mahābhārata in the opinion of V. S. Agrawala. "According to the Sabhā Parva Bhagadatta brought to the court of Yudhisthira some presents including fleet horses, utensils of Jade (asmasāramaya bhānda) and swords with hilts of white ivory (Suddhadanta Sabha 43.14.)[1] The same had been said by Dr. Moti Chandra. "Ivory handles of the swrods probably show that the ivory carvers' art was highly developed in Assam at least two thousand years back[2]. The Harṣacharita of Bāṇa-bhaṭṭa also records the splendid presents sent by Bhiskara-varman the king of Assam to Harṣa of Kanauj. "The last-item refers to round earrings made of the long tusks of sea-elephants (jala-hastin). This seems to refer to walrus ivory which had been a favourite item of trade in antiquity, being in great demand from the Chinese to the Roman world, also known in the mediaeval times as "ser-mahi" used for making handles of daggers and a variety of purposes. The head-bones of such large long-tusked aquatic animals were turned on the lathe for making round beads which were bored and stringed as necklaces possessing the charming translucent shine of pearls. The earrings sent as presents were beautified with pendants of such pearly beads (muktāphla-dāma-danture)[3].

---

1 *Agrawala, V. S.:* Presidential Address, All India Oriental Conference, 22nd Session, Gauhati (Assam), p. 3. 1965.

2 *Das D.:* Assaman Hati-datar Silpa; Asam Bani Jan. 6. 61.

3 Agrawala, V. S.: op. cit. pp. 6-7.

During the long history of the Ahoms (13th—19th century) ivory objects were exported from Assam and were also sent to neighbouring lands as presents to rulers by the Ahom monarchs. King Jayadhwaj Singha's (1654-'63 A.D.) presents to the Mughal Emperor included mats, combs and back-scratchers made of ivory . Kamaleswar Singha (1795-1811 A.D.) of same dynasty also sent to the king of Bhutan : boxes, bedesteads and other objects made of ivory . During the last phase of Ahom rule ivory objects worth Rs. 6500/- were annually exported from Assam at the check post of Hadira-chowki[1].

Apart from hilts and handles of weapons and legs of furniture, ivory was used for making various kinds of boxes, containers, cylinders (chungā) for keeping letters and scrolls, back-scratchers, fans, combs and pins for the coiffeure, shuttles and combs for the loom, pieces of ornaments, icons, dices and men for chess and other board-games. Small stools or Pirās, Sarais or "dish-on-stand", mats and even manuscript folios were made from ivory.

The Auniati Sattra in upper Assam has a fine mat (Dhārī or Pāṭī) made of thin ivory strips cut to simulate cane. In the Hajo temple there are fine ivory replicas of elephants. The Barpeta Sattra is fortunate enough in having an ivory-hilted knife made during the days of Srī Mādhavadevā (16th century). The Prince of Wales Museum, Bombay, has an excellent ivory panel, evidently part of some box belonging to the early 18th century, though it is labelled as a Deccani product of the 17th century. It shows a prince and a lady in embrace standing face to face and framed-by a shape derived from the Mihrabi design. The outer frame is rectangular and four rosettes occupy the inter junction of the rounded edges of the inner frame and the rectangular edges of the outer. The figures though not minutely carved for details are boldly conceived. The direct manner of presentation and the simplicity of composition along with a plain background make this piece unmistakably Assamese.

[1] Handiquo, B. C.: Purani Asamar Silpa; p. 59.

The prince is clad in a long full sleeved Jāmā reaching down to the ankles, a Paṭkā and a 'Moglai-tupi' or the Chajjedār-pagrī of the later Mughal period. A shawl drapes his chest and falls at the back. The lady is clad in the native Assamese Rihā—Mekhelā suit and a choker of large beads decks her slender neck. The brushed back hair terminating into a looped coiffoure is exactly in the manner shown in queen Ambikā Devī's portrait in the Hastividyārnava manuscript of the early 18th century. The lady also carries a curved sword on her shoulder. Does the sword indicate that she is a Ligirī or palace maid ? Can this pair represent the young prince Siva Singha and Phuleśwarī, the Ligirī of whom he was enamoured before they became king and queen after the death of the former's father king Rudra Singha ? The treatment of the body in alomost a single plain, the tasselled ends of the scarves and the puonced design, all remind one of the terracotta plaques from Ghanashyām's House at Jaysagar near Sibsagar. The "House" also belongs to the period of Rudra Singha. Bāhādur Gāonburhā was a famous ivory carver during the last phase of Ahom rule[1].

The museum of the Indian Institute of Art in Industry, Calcutta, has a fine ivory loom-comb. It is used for combing and seprating the threads arranged in the loom. The long comb has as its handle a frot-work design of the Gaja-Simha. The elephant is realistically treated but the crouching loin alomost the size of the elephant, is the 'Ahom-lion' so commonly met with in Assamese art. The details are picked out in crimson paint while the entire comb is left in its original ivory colour. Assam State Museum Gauhati has a Chungā or cylindrical letter container, a fan and a shuttle. The shuttle is from Kamarkuchi village.

Technique of treating ivory :

Ivory tusks are straightened in the following manner. A thick coating of clay is applied to the tusks and then they are slowly heated. Thus they get soft and are pliable and hence

---

1 Ibid: p. 59.

are easily straightened. After that the tusks are left to cool and the clay coating removed. From these tusks thin strips are extracted for making ivory mats or Dhārīs. These thin strips are similar to the cane strips with which normal mats are woven. The technique of weaving ivory mats is the same as that of cane mats[1]. For making other objects the tusks are cut into required shapes and sizes after being straightened in the above manner.

During the Ahom rule ivory carving was an important industry and was practised by a group of Khanikars (crafts men). Writing in the 19th century Hamilton had indicated royal patronage of this art. "The king has, in his house some men who make very fine mats, fans, and head scratchers of ivory, all Chinese art[2]". But gradually the industry declined at such a speed that by the time the statistical Account of Assam by W.W. Hunter (1879 A.D.) and the Census of 1891 were produced it was almost an extinct art in the Assam valley. In 1891 only three workers in Kamrup and one in Sibsagar were recorded. In 1900 there was only one Muslim ivory worker in Jorhat named Fiznur[3]. "Once an important art in the days of the Ahom rajas, ivory carving has, since Assam came under British rule gradually declimed[4]". This was the case with most of the native arts in Assam though the establishment of British rule in other parts of India did not have so acute an effect on the native industries. "The gradual dying out of ivory carving in Assam since the cessation of the rule of Ahom rajas is attributed to the consequent removal of the incentives due to direct royal patronage, assuring regular occupation and a stated salary or recompense to the individual carvers. Moreover, the main sources of supply of ivory have been cut off by the strict enforcement of Elephant Preservation Act, as now only the tusks of dead elephants found in the jungle are available, while in former days a plentiful supply of ivory was secured from the elephant herds

1 Ibid: p. 60.
2 Das, D.: op. cit.
3 Handique, B. C.: op. cit. p. 59.
4 Hamilton, Buchanan: An account of Assam, p. 46.

kept by the rajahs, as well as from the tusks of wild elephants slaughtered by hunters[1]". The socio-economic set up of Assamese life was also responsible for the acceleration of the process of decline. Being primarily agriculturists the Assamese took the earliest opportunity fo shift to agrarian life. The followig observations by Donald clearly bring out the point. "Here the Assamese character asserted itself. Under the rajas the work was not altogether an optional one. There was a compulsory element. Care was taken to see that each man was kept busy at his trade, while at the same time the means of livlihood was certain. With the disappearence, however of the rajahas their influences ceased. The carvers, who had land and capital, settled down principally to life of agriculture-a life involving little labour on their part yet ensuring a comfortable living. Not pressed by want, or compelled by force, to earn his livilihood, the ivory carver took no steps to push his industry or to create a demand. An occassional order for an article in ivory would be executed generally at a profit so considerable that the worker could afford to lay aside his tools for sometimes before undertaking another commission. What was the result of this? What was spasmodic in the past became despised by the child, he saw in it merely a secondary means of livilihood demanding long and much preservence, with no immediate prospect of prosperity[2]"......It has now reached the point of extinction, not so much because there is no demand, but rather because the workers, from want of energy or material, have so hidden their talents that but few know of their existence[3]". But historical factors are equally responsible for this sad state of affair. The last days of Ahom rule witnessed the decline of conomic life and the breaking of the aristocratic families and the general impovershment of the land due to the long drawn Moāmariā rebellion,

---

1 Donald, J.: Ivory carving in Assam; Jn. of Indian Art and Industry, Vol. IX, No. 75, p. 57. 1901 July.

2 Ibid: p. 57.

3 Kunz, G. F.: Ivory and the Elephant in Art, in Archaeology and in Science; p. 117, New York, MCM XVI.

the Burmese invasions and the final occupation of Assam by the British. All these factors conspired for the conplete economic collapse of Assam from which she has not yet been able to recover. Under all these conditions no art or industry can flourish or continue. During the Ahom rule state had separate department for looking after and collection of forest products including ivory. Workers in forest products like ivory, hides and skins, feathers and bones were also grouped under Khels or guilds with their respective Baruās or superintendents. Among these were the Pākhi-mariā Baruā (superintendent of feathers), Hāti-Baruā (incharge of elephants) and Nomālar Baruā (incharge of furs)[1].

In Assam ivory carving has declined much since the last century. The products today are mainly small icons of Hindu gods and goddesses, the Buddha and imaginary female studies. All these figures are in the round. Other objects include pens, paper knives, back scsatchers, cigarette holders, photo-frames and trinket jewellery like bangles, necklces, ear ornaments, finger rings and brooches. Of these, brooches are the most popular and they are designed as elephants, rhinoceroses, and flying dove. The dove-brooch some years back caught the eyes of the noted film star Balraj Sahani and he took a large number of these for distribution to friends in his cultural and frendship tours of the world[2]. At present Barpeta and other centres in Kamrup district are the only places producing ivory objects in Assam.

Atmaram Das was a member of the last generation of ivory carvers of Assam. He was an amature carver and was attached as a herald to the Barpeta Sattra or Vaishnava monastery. His pupil was Radhakanta Das Mistry. The latters descendants are still famours for this craft. Among them his son Jagannath

---

[1] Donald, J.: Ivory Carving in Assam, p. 57.
[2] Ibid.: p. 58.
[3] Handiqui, B. C.: Purani Asamar Silpa, p. 60.
[4] Das, D.: Asamar Hatidatar Silpa; Asam Bani Jan. 6, 1961.

is famous for creating the Dove-brooch which impressed Louis Fischer as a symool of universal peace. Walking sticks made by Jagannath also become popular in London for which he was awarded a GoldMedal by the then British Prime minister. His other famous creation is the figure of the Natarāja.

Ladies combs in various designs constitute the largest volume of ivory work of Assam today. But the most common ones are about 7″ long and 2″ broad. The top is decorated by deeply cut designs of floral and vegital scrolls. Sometimes the designs have a lacelike quality as the ivory between the designs is cut off by perforation or fret work device. Human or animal figures are not usually met with in such designs. Since the designs are folk in nature they are similar to those on folk textiles of Assam which are produced by Assamese women.

A BRIEF ACCOUNT OF KASHMIRI PAINTING FORM 15TH TO 19TH CENTURY

SUNIL KAHOSA

Research scholar Deptt. History of Art, Banaras Hindu University.

History reveals that Hindu rule came to an end after the fall of Kota Rani in 1338 to 39 A.D. resulting in the establishment of Shahmir dynasty. This celebrated dynasty produced the wisest and a powerful king. Sultan Zain-ul-Abidin (1420-1476 A.D.) popularly known as Badshah, was the most out standing king. After his death this dynasty declined and the power was transfered to Chaks who ruled over Kashmir till Akbar conquered Kashmir A.D. 1586.

The beginning of the Islamic rule in Kashmir caused some distrubences in the art of Painting, due to the orthodoxy of the early rulers. In spite of all hardships painting was practised by the Hindus of the valley. To cope up with the new situation artists turned to manuscript and miniature paintings in place of murals which could be detected. In the 15th century during the rule of Sultan Zain-ul-Abidin painting along with other arts received a new lease of life. This was an era of assimilation of styles and ideals in art. Indian, Central Asian and Persian elements mingled and produced an art which was ultimately Kashmiri in nature.

During the reign of Sultan Zain-ul-Abidin the art of painting found expression in various patterns on the printed textiles. These included circular designs, plant depiction, figures of men gods and goddesses (Durga). We have references in the Ain-i-Akbari that a famous painter Mulla Jamil Hafiz lived in the court of Zain-ul-Abidin and was so efficient in his art that he rendered one of the themes into twelve different illustrations. He often received kind favours from the Sultan. It is not improper to say that the artists clustered around the royal court, Sultan Zain-ul-Abidin attracted artists from

different countries by giving favours and appropriate places in the society. Being liberal he allowed the painters to make drawing of all sorts of human and animal figures to be painted. There is a reference to a portrait of Sultan Zain-ul-Abidin which his son Haji Khan kept for his consolation after his fathers death .

The only surviving specimen of painting are those founded on the ceiling of the Madani mosque , Srinagar. However the most important piece of art of this are the painted tiles used on the walls of the Madani Tomb. These are characterised by varrious themes, patterns and animal figures. The colours used are red, blue, yellow, indigo, light and dark green, brown and reddish brown. One of the tiles, which has now disappeared had the floral pattern interwoven with the heads of donkeys and lions. However one of the important specimen was discovered by the Nichools, of the archaeological survey of India, unfortunately that is not extant now. A thorough description is given by N. K. Zutshi in his book Sultan Zain-ul-Abidin. "It was a well executed representation of beast with the body of Leopard. It is changed at the neck into trunk of a human being. It was portrayed as shooting apparently with a bow and arrow at its own tail, while a fox was quitely looking on among flowers and cloud forms. The beast was about four feet long, and was striking quite a heraldic attitude. The human chest, shoulders and head were already missing when Nichools made a survey, the tail of the beast ended in a kind of a dragons head. The background of the picture was blue, the trunk of the man was red, the leoperds body was yellow with light green spots, the dragons head and the fox were reddish brown and the flowers were in different colours. " The portryal of this representation is of great significance because of the fact that it was purely un-Islamic and perhaps it is a solitary example in the Muslim architecture. secondly coloured froms are peculiar to the chinese and Persian influence on Kashmiri art. Thirdly the depiction of dragon is perhaps chinese influence. See plate first.

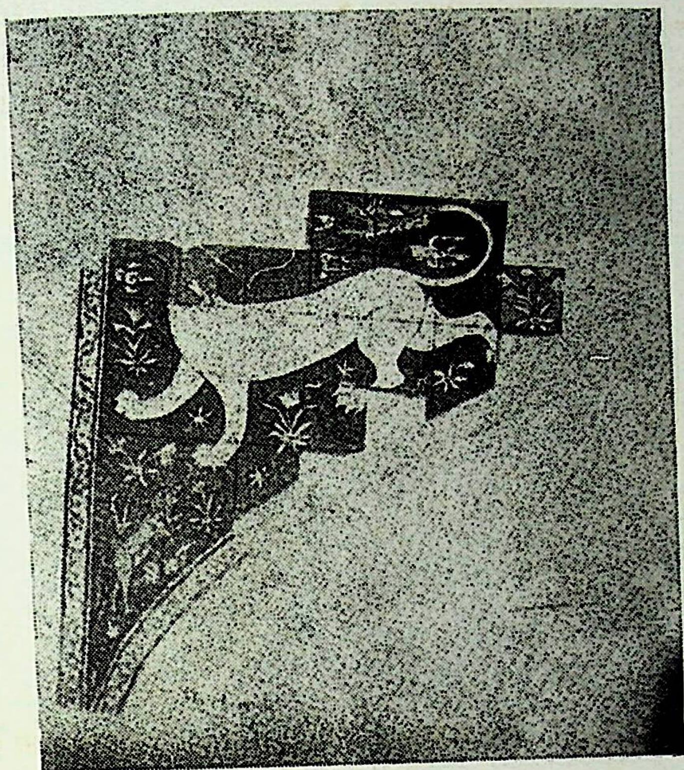


Plate 1

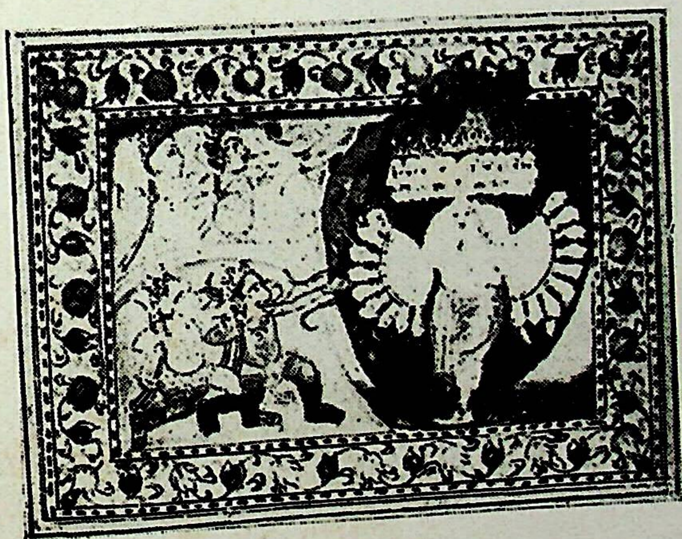


Plate 2

After the death of Sultan Zain-ul-Abidin the delineation of living forms receeded to background till the advent of Mughal rule. We for certain know that the art of painting was given a royal patronage by Akbar. Blockman, in his book written in 1873 on the life of Akbar, declares that the great emperor Akbar by way of explanation for shutting his eyes to hitherto accepted ruling said "It appears to me as if a painter had quite peculiar means of recognising god; for a painter in sketching anything life feel, that he can bestow individuality upon his work, and is thus forced to wod, the giver of life, and will thus increase in knowledge".

He boosted the art of painting in the Iranian style. In the Victoria and Albert Museum, London, there are twenty four large paintings on cotton cloth, which experts declare were made in Kashmir about the middle of 16th century. These are said to have been the illustration of book of stories. The best preserved of these paintings has a garden with chinar trees; the rock like mountain, most cartainly like that of Kashmiri. Abul Fazal, the author of the Ain-i-Akbari, refers in his work that Mulla Jamil, a singer in the court of Zain-ul-Abidin was "the foremost among his contemporary in the art of painting", but Abul Fazal does not tell about the wall decorations in the palaces. In the old summer houses there still remain portions which are claimed to be the original paintings.

During the reign of emperor Akbar many of his important painters were Kashmiris. Though most of them were muslim possibly some of them were Hindus. For instance Muhammad Hussain Kashmiri along with other artists Ali Chamman Kashmiri, Muhammad Murad Kashmiri, Mulla Baquir Kashmiri, Ahamad, Haider, Ibrahim, Kamal and Yaquib evolved a new style of sketching of paintings. They allowed water to stand until it had completely evaporated, thus depositing a slight sediment. The process known as 'abina' gave a charming tone to picture. "Water" says G.M.D. Sufi, "was, of course, the principal medium through which all the pigments were applied,

but with this certain fixatives were mixed, such as gum, glue, raw sugar and linseed water".

The Kashmiri Artists always tried to bring in their paintings the beauty and grandure of Kashmiri landscape. Several paintings show some local peculiarities in Social customs, dresses and costumes and economic condition. For instance in the painting of Sheikh-Nur-Din Wali, the artist of this painting has depicted these faithfully, stream, a chain of hills, more over, we find the depiction of the Kangri, the wooden sandals, the 'Pheran' or the pattu garment and the grass matting which gives us a clue to the social and economic conditions in which the artist lived.

Apart from this type of illustration we find the artists portraied Hindu Philosophic conception also. A typical example is the Siva as Nataraja and Sakti seated on a lotus throne in the bosom of the snow-clade Himalayas watching the dance of her Lord . The depiction of Kashmiri dress, landscape and the forms of figures cannot evade notice.

With the accession of Aurangzeb to the imperial throne in 1658, a sudden death knell was rung for the artists, as he himself was a sunni orthodox. He removed all the artists from the imperial court and discouraged all type of artistic activities.

From 18th century, we come across a large number of illustrated Hindu test in sharda script, where we can identify some thing that is definitely Kashmiri. These identifications are based on colour scheme, line drawing figures and local figures and local details of vegetation, architecture and some times the local costume makes its appearence. See plate two. During this period romantic tales were also illustrated. There are two illustrated Shahnama. One is in the S. P. S. Museum Srinagar and the other one in in the Persian manuscript library, Lal Mandi, Srinagar. The one in S.P.S. Museum is illustrated by the Kashmiri artist and the other one in the Persian manuscript library is said to have been made in 10th century.

The Shah Nama is the epic creation of the doyen of Persian literature, "Fardusi whose real name was Abul-Karim-al-Mansur, was born in the village of Shadab, in the district of Tus and province of Khurasana about the year of the Hejira (Hijri) 320 (A.D. 932) and took the name of Fardusi either because his father was the gardner of a garden Fardus (Paradise) or from the exclamation of Sultan Mahmud, when he visited the court of the latter at Gazni, on hearing some extemporised verse he recited in praise of Ayaz a favourite slave of the Sultan; Thou hast made my Court as resplendant as Fardus".

The Shah Nama, a literary work was widely aclaimed by the Muslims of Kashmir, like other epics. It became so much popular that copies of it were abundantly made. This work "which had inspired painting in Iran and many other Islamic centres in Central Asia, also inspired Indian book illustrators from the early period of Islamic rule in the country". Producing this type of illustrated romantic manuscript had been very much successful besides signifying the secular nature of the Islamic art of Kashmir. During this period we come across a peculiar type of painting which are almost in size of reels of photographic films of today and the subject matter of such reels is invariably the Bhagvat Gita. These were popular due to their portability. By the 18th century Mughal school started making its influence felt over the Kashmiri school as it had on the other schools of India.

References

1. Srivara, I, vii, st30, 32.
2. Ain-i-Akbari, p. 384.
3. Bani Prasshad, Tabqat., III, p. 657, 2n.
4. Nazimuddin, page, 647.
5. Srivara, I, vii, st. 224.
6. The mosque of Sayyid Muhammad Al-Madani at Madin Saibh near Hawal, Srinagar, was built in 848 A.H/1444 A.D.
7. Sultan Zain-ul-Abidin, N. K. Zutshi, 1975, p. 380.
8. Political Social and Cultural HISTORY OF KASHMIR p. 578(73).
9. Brown, P. Indian Painting Under Mughals P. 103.
10. R. Das Gupta, Bharata Manisha Quarterly, vol, ii no. 3, oct. 1976.

विश्वविद्यालय के उद्देश्य

१. अखिल जगत् की सर्वसाधारण जनता के एवं मुख्यतः हिन्दुओं के लाभार्थ हिन्दू शास्त्र तथा संस्कृत साहित्य की शिक्षा का प्रसार करना, जिससे प्राचीन भारत की संस्कृति और उसके विचार-रत्नों की रक्षा हो सके, तथा प्राचीन भारत की सभ्यता में जो कुछ महान् तथा गौरवपूर्ण था, उसका निदर्शन हो।

२. साधारणतः कला तथा विज्ञान की समस्त शाखाओं में शिक्षा तथा अन्वेषण के कार्य की सर्वतामुखी उन्नति करना।

३. भारतीय घरेलू धन्धों की उन्नति और भारत की द्रव्य-संपदा के विकास में सहायक आवश्यक व्यावहारिक ज्ञान से युक्त वैज्ञानिक, तकनीकी तथा व्यावसायिक शिल्प कलादि संबंधी ज्ञान का प्रचार और प्रसार करना।

४. धर्म तथा नीति को शिक्षा का आवश्यक अंग मानकर नवयुवकों में सुन्दर चरित्र का गठन करना।

OBJECTS OF THE UNIVERSITY

1. To promote the study of the Hindu Shastras and of Samskrit Literature generally as a means of preserving and popularizing for the benefit of the Hindus in particular and of the world at large in general, the best thought and culture of the Hindus, and all that was good and great in the ancient civilization of India,
2. To promote learning and research generally in Arts and Sciences in all branches.
3. To advance and diffuse such scientific, technical and professional knowledge combined with the necessary practical training as is best calculated to help in promoting indigenous industries and in developing the material resources of the country: and
4. To promote building up of character in youth by religion and ethics as an integral part of education.

विशेष कार्याधिकारी—भरतनारायण गुप्त, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय प्रेस, वाराणसी।